एक दृष्टिमें प्रस्तुत ग्रन्थ—

जैन साहित्यका इतिहास एक पीठिका और दो भागोंमें समाप्त है।

(i) **पीठिकामें,** जो ७७६ पृष्ठोंमें है, लेखकने जैन-धर्मके प्राक् और वर्तमान इतिहासको 'जैनधर्मके इतिहासकी खोज', 'प्राचीन स्थितिका अन्वेषण', 'ऐतिहासिक युगमें' और 'श्रुतावतार' शीर्षकों द्वारा अनुसन्धानपूर्ण एवं तटस्थ लेखनीसे प्रस्तुत किया है। प्रत्येक विषयकी गम्भीरता, विशदता और विस्तारसे शोध की है।

(ii) **प्रथम भागमें,** प्रथम अध्यायके प्रथम परिच्छेद-में मूलागम-साहित्यके अन्तर्गत कसाय-पाहुड, उसकी विषय-वस्तु, उसके कर्ता आदिका विशद विवेचन है। द्वितीय-परिच्छेदमें छक्खंडागम (षट्खण्डागम), उसकी विषय-वस्तु और कर्ता आदिका, तृतीय परिच्छेदमें महाबंधका विस्तृत परिचय है। द्वितीय अध्यायमें चूर्णि-साहित्यका ऊहापोह है। तृतीय अध्यायके प्रथम परिच्छेदमें धवला टीका, उसकी विषय-वस्तु और कर्ता आदिका प्रतिपादन है। द्वितीय परिच्छेदमें जयधवला-टीका, उसकी विषय-वस्तु और कर्ता आदिका विस्तृत कथन किया गया है। चतुर्थ अध्यायमें अन्य प्राचीन कर्म-साहित्यका निरूपण है। पंचम अध्यायमें उत्तरकालीन कर्म-साहित्य विशदतासे विवे-चित है। इस प्रकार इस खण्डमें मूलागम और और उनके टीका-साहित्यपर विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है। यह भाग ५१० पृष्ठोंमें पूरा हुआ है।

(iii) **प्रस्तुत द्वितीय भागमें,** उत्तरवर्ती शेष साहित्य-का विशद अंकन हुआ है। दिगम्बर साहित्य क्या और कितना है, इसका ऐतिहासिक आकलन इन दोनों भागों तथा पीठिकामें सम्प्राप्त है।

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला–२७

जैनसाहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

•

लेखक
सिद्धान्ताचार्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री

•

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला प्रकाशन

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
सम्पादक और नियामक
डॉ० दरबारीलाल कोठिया

●

प्रकाशक
मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला
१/१२८, डुमरॉव कॉलोनी, अस्सी
वाराणसी–५

●

प्रथम संस्करण : ११००
वी० नि० सं० २५०२
श्रावणशुक्ला ७ (पार्श्वनिर्वाण-सप्तमी),

●

मूल्य : बीस रुपये

भगवान महावीरकी पच्चीसवीं निर्वाण-रजतशती
तथा वर्णी-शताब्दिके मङ्गल प्रसङ्गपर

●

मुद्रक
वर्द्धमान मुद्रणालय
जवाहरनगर कॉलोनी
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी–१

प्रकाशकीय

नवम्बर १९७५ में जैनसाहित्यका इतिहास भाग १ का प्रकाशन हुआ था और उसके प्रकाशकीयके अन्तमें आशा की थी कि उसका दूसरा भाग भी दिसम्बर १९७५ तक प्रकाशित हो जायगा। किन्तु जो सोचा जाता है वह पूरा नहीं होता। इस दूसरे भागके प्रकाशनमें दिसम्बर १९७५ के बाद ७ माह तो पूरे लग ही गये हैं।

इसमें सबसे बड़ा बाधक कारण अर्थका अभाव रहा है। यह उसी प्रकार जिस तरह मजदूर जितना कमा लेता है उतनी गुजर-बसर कर लेता है। और यदि नहीं कमा पाता है तो उसे भूखा रहना पड़ता है। यही हाल इसके प्रकाशनका रहा है। प्रेरणा या प्रयत्नसे जो आर्थिक सहायता मिली वह कागज तथा छपाईमें दे दी। पिछले दिनों बा० नन्दलालजी कलकत्ताने स्वयं और अपने मित्रोंको प्रेरित कर २३५१ रुपए की ग्रन्थप्रकाशन-सहायता तथा ५ संरक्षक-सदस्य बना कर भिजाये। अभी हालमें बाहुबली (कोल्हापुर) जानेपर श्री ब्र० माणिकचन्द्रजीके चवरे कारंजाने भी हमारी प्रेरणापर कुछ लोगोंको संरक्षक सदस्य बनाकर सहयोग प्रदान किया तथा प्रयासशील हैं। इसी शृंखलामें दान-शीला श्रीमती कुसुम बेन मोतीचन्दने भी ५००)को प्रकाशन-सहायता प्रदान की है।

हमें इतनी ही प्रसन्नता है कि श्रद्धेय पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री वाराणसीका वर्षों पूर्व किया गया परिश्रम सफल हो गया और उनका यह 'जैन-साहित्यका इतिहास' भाग २ भी, जो अन्तिम है, छप गया है। इसके लिए श्रद्धेय पण्डितजीके तो कृतज्ञ हैं ही, सहायतादाताओं, उसके प्रेरकों और वर्द्धमान प्रेसको भी धन्यवाद देते हैं, जिनके समवेत प्रयत्नोंसे यह कार्य सम्पन्न हो सका।

यह ग्रन्थ भी भगवान् महावीरकी २५००वीं निर्वाण-शतीका एक सुखद, सुन्दर और ज्ञानमय उपहार है, जो निश्चय ही पाठकोंका विशेष ज्ञान-सम्बर्द्धन करेगा।

पार्श्व-निर्वाण-सप्तमी, वी० नि० सं० २५०२ (डॉ०) **दरबारीलाल कोठिया**
२ अगस्त, १९७६ ई०, मंत्री, श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैन ग्रन्थमाला

लखकका वक्तव्य

जैन साहित्यके इतिहासके दूसरे भागको पाठकोंके हाथोंमें देते हुए मुझे परम प्रसन्नताका अनुभव होना स्वाभाविक है। वर्णी-ग्रन्थमालाने सन् ५३ में इस योजनाको हाथमें लिया था। और मैंने लगभग सात वर्षमें इसके तीन भाग लिखे थे। प्रथम तो पीठिका भाग है। उसका प्रकाशन सन् ६३ में हुआ था। शेष दो भाग बारह वर्षोंके पश्चात् वर्णी-ग्रन्थमालाके मंत्री डा० दरबारीलालजी कोठियाके अथक प्रयत्नसे ही प्रकाशित हो सके हैं। पीठिकाके पश्चात् प्रथम भागमें कर्म-सिद्धान्त-विषयक साहित्यका इतिहास है। इस दूसरे भागमें भूगोल, खगोल, तथा द्रव्यानुयोग (अध्यात्म और तत्त्वार्थ) विषयक साहित्यका इतिहास है। इन भागोंके अध्ययनसे विज्ञ पाठकोंको करणानुयोग और द्रव्यानुयोग विषयक मौलिक ग्रन्थोका विषय-परिचय भी ज्ञात हो सकेगा और वे उनके रचयिता आचार्योंके सम्बन्धमें भी जान सकेंगे। साहित्य देश, धर्म और जातिका जीवन होता है। अतः उसका इतिहास भी उतना ही उपयोगी है जितना किसी राष्ट्रका इतिहास।

जैसा मैंने ऊपर कहा है कि यह इतिहास पन्द्रह वर्ष पूर्व लिखा गया था, अतः इसमें कुछ स्थल विचारणीय हो सकते हैं। उदाहरणके लिये द्रव्यसंग्रहके टीकाकार ब्रह्मदेव और कुन्दकुन्दके टीकाकार जयसेनके पौर्वापर्यका विचार। मैंने इनमें जयसेनके पश्चात् ब्रह्मदेवको बतलाया है। किन्तु यथार्थमें ब्रह्मदेवके पश्चात् ही जयसेन हुए हैं। उनकी पञ्चास्तिकाय-टीकाका द्रव्यसंग्रहकी टीकाके साथ मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्मदेवजीकी टीकामें पद्मनन्दी-पंचविंशतिकासे कोई उद्धरण नहीं लिया गया है, किन्तु पञ्चास्तिकायकी टीकामें लिया गया है तथा उसके बादके आचारसारसे भी उद्धरण लिया गया हैं। अतः निश्चय ही जयसेन बादके हैं। तथा आशाधरके अनगारधर्मामृत (१।११०) की टीकामें द्रव्यसंग्रहकी टीकाको अक्षरणः अपनाया गया है, अतः आशाधरने ही ब्रह्मदेवजीका अनुकरण किया है, इतना संशोधन अपेक्षित है। इसको दृष्टिमें रख-कर ही उस प्रकरणको पढ़ना चाहिये।

अन्तमें मेरा कर्त्तव्य है कि मैं उन सब आधुनिक विद्वान् लेखकोंका आभार स्वीकार करूँ, जिनकी कृतियों और लेखोंका उपयोग मैंने अपने इस इतिहासमें किया है।

उनमें सबसे प्रथम मैं पं० जुगलकिशोर मुख्तार, श्री नाथूराम प्रेमी, डा० हीरालाल और डा० ए० एन० उपाध्येका स्मरण करता हूँ, जो अब इस संसारमें नहीं हैं। जैन साहित्य और उसके इतिहासके सम्बन्धमें जो कुछ ज्ञान आज उपलब्ध है वह इन्हीं मनीषियोंकी देन है। इनके पश्चात् मैं अन्य सबका आभार स्वीकार करता हूँ।

देहलीके लाला पन्नालालजी अग्रवाल एक ऐसे सज्जन पुरुष हैं जिनके द्वारा दिल्लीके शास्त्रभण्डारोंसे प्रतियाँ घर बैठे उपलब्ध हो जाती हैं। इसी तरह श्री महावीरजी अतिशय क्षेत्र कमेटी जयपुरके मंत्रीजोकी कृपासे डा० कस्तूरचन्दजी काशलीवालके द्वारा प्रतियां उपलब्ध होती रहती हैं। अत इन सबका भी मैं आभारी हूँ।

वर्णी-ग्रन्थमालाके मंत्री डॉ० कोठिया तथा श्री बाबूलालजी फागुल्लके प्रयत्नसे ही यह भाग शीघ्र प्रकाशित हो सका है। अतः उनका भी आभार स्वीकारता हूँ।

भाद्रमास २५०२
भदैनी, वाराणसी

कैलाशचन्द्र शास्त्री

विषय सूची

[अध्यात्मविषयक टीका साहित्य १७२ से २०९]

[तत्त्वार्थविषयक मूल साहित्य २१० से २७२]

[तत्त्वार्थविषयक टीका साहित्य २७३ से ३८१]

जैन साहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

प्रथम अध्याय

भूगोल-खगोल विषयक साहित्य

जैन साहित्यमें भूगोल-खगोल विषयक साहित्यका पारिभाषिक नाम 'लोकानुयोग-साहित्य' है। इस अनुयोग-साहित्यके अंतर्गत द्वीप, समुद्र, पर्वत, नदियाँ, क्षेत्र एवं नगरादिके साथ सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र, तारा आदिका भी वर्णन आता है। यह ऐसा लोक-साहित्य है, जिसमें आधुनिक ज्योतिष, निमित्त, ग्रह-गणित और भूगोलका समावेश हो जाता है।

भारतमें प्राचीन कालसे ही वैदिक और श्रमण इन दोनोंने जीवनके विविध सम्बन्धों और कारण कलापोंका निरूपण करते हुए भूगोल और खगोल सम्बन्धी समस्याओं पर भी विचार किया है। ऋग्वेदमें भूगोल और खगोल सम्बन्धी जैसी चर्चाएँ उपलब्ध होती हैं वैसी ही इस लोकानुयोग-साहित्यमें भी। श्रमणोंकी यह विशेषता रही है कि वे प्रत्येक मूल मुद्देका तर्क पूर्वक विचार उपस्थित करते हैं और प्रत्येक कारणसूत्रके साथ उनकी 'वासना' भी अंकित करते जाते हैं, जिससे उनका पूर्वाग्रह व्यक्त नहीं होता।

जिस कार्यको सातवीं-आठवीं शताब्दीके वैदिक विचारकोंने 'वासना' के विश्लेषणके रूपमें उपस्थित किया है उस कार्यको लोकानुयोग-साहित्यके रचयिताओंने ईस्वी सन्‌की आरम्भिक शताब्दियोंमें ही सम्पन्न किया था।

श्रमणोंकी भूगोल-खगोल सम्बन्धी अनेक मान्यताएँ वैदिक पुराणों और तद्‌विषयक अन्य साहित्यसे भिन्न हैं। हम यहाँ ग्रन्थक्रमसे विषयका निरूपण करते हुए उसका सांगोपांग इतिवृत्त प्रस्तुत करते है।

पहले लिख आये हैं कि करणानुयोगके अन्तर्गत जीव और कर्मविषयक साहित्य तथा लोकानुयोग विषयक साहित्य गर्भित हैं।

लोकानुयोगका मतलब लोक रचना सम्बन्धी साहित्य से है जिससे आजके शब्दोंमें खगोल और भूगोल लिया जाता है।

भगवान् महावीरकी दिव्यवाणीको सुनकर उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधर ने जिन बारह अंगोंकी रचना की थी उनमें सबसे महत्वपूर्ण और विशाल अन्तिम

अंग दृष्टिवाद था। उस दृष्टिवादके पाँच भेदोंमेंसे प्रथम भेदका नाम परिकर्म था। उस परिकर्मके भी पाँच भेद थे—चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, द्वीपसमुद्रप्रज्ञप्ति और व्याख्याप्रज्ञप्ति। यह सब ग्रन्थ खगोल और भूगोल विषयक जैन मान्यताओंसे सम्बद्ध थे। खेद है कि ये सब लुप्त हो गये। फिर भी उनके आधार पर बने जैन ग्रन्थ उनके अभावकी आंशिकपूर्ति करते हैं। इस प्रकरणमें उसी लोकानुयोग विषयक साहित्यके इतिहास पर प्रकाश डाला जायेगा।

जहाँ तक हम जानते हैं वैदिक धर्म और बौद्ध धर्मके साहित्यमें भी भूगोल और खगोलका तथा उससे सम्बद्ध लोकविषयक अन्य बातोंका कथन है। किन्तु उनमें जैन लोकानुयोग विषयक स्वतंत्र ग्रन्थोंकी तरहका स्वतंत्र साहित्य हमारे देखनेमें नहीं आया। किन्तु जैनधर्ममें करणानुयोगके अन्तर्गत कर्म और लोक-विषयक साहित्यका स्थान धार्मिक दृष्टिसे भी विशेष महत्वपूर्ण है। धर्मध्यानके चार भेदोंमेंसे दो भेद विपाकविचय और संस्थानविचय क्रमसे कर्मविषयक और लोकविषयक चिन्तनसे सम्बद्ध हैं। अतः धर्मध्यानमें संलग्न श्रावक और साधुके लिए कर्म और लोकविषयक शास्त्रोंका पठन-पाठन और चिन्तन हितावह है। इस कारणसे भी कर्मविषयक और लोकानुयोग विषयक स्वतंत्र साहित्य जैसा जैन परम्परामें उपलब्ध हैं वैसा अन्यत्र नहीं है। उसीका सतत् चिन्तन मनन करते रहनेसे जैनाचार्योंने उसे खूब पल्लवित और पुष्पित किया है और गणितके आधार पर उसे व्यवस्थित किया है। मोटे तौर पर खगोल और भूगोल विषयक भारतीय विद्वानोंकी प्राचीन मान्यतायें कुछ अंशोंमें समान हैं। यद्यपि आजके विज्ञानकी मान्यताओंसे उनका मेल नहीं खाता और आजके विज्ञानके विद्यार्थियों-को वे एकदम अटपटी और असंगत प्रतीत होती हैं, तथापि उनके पीछे प्राचीन भारतीय चिन्तन और अवलोकनका महत्वपूर्ण हाथ है अतः उन्हें एकदम उपेक्ष-णीय कहकर दृष्टिसे ओझल नहीं किया जा सकता।

अतः लोकानुयोग विषयक जैनसाहित्यका परिचयादि देनेसे पूर्व प्रकृत विषय-का सामान्य परिचय करा देना उचित होगा। साथ ही टिप्पणमें वैदिक और बौद्धाभिमत खगोल-भूगोलका भी आवश्यक अंश दिया जाता है इससे तुलना करनेमें सरलता होगी।

१. जैनधर्ममें आकाशके मध्यमें लोक माना है और इस तरहसे एक अखण्ड आकाशको दो भागोंमें विभाजित कर दिया है। उनका नाम है—लोका-काश या लोक और अलोकाकाश या अलोक। जितने आकाशमें जीव पुद्गल आदि सब द्रव्योंका आवास है वह लोक है शेष अलोक है। लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। एक मनुष्य दोनों पैर फैलाकर और

अपने दोनों हाथोंको दोनों कूल्हों पर रख कर खड़ा हो तो उसका जैसा आकार होता है ठीक वैसा ही आकार लोक का है।

लोकका माप एक रज्जू (राजु) नामके मापसे किया जाता है। उसके विस्तारका वर्णन जैनशास्त्रोंमें है। वह लोक चौदह राजू ऊँचा है। पूरब-पश्चिममें लोकके तल भागमें उसका विस्तार ७ राजू है। फिर ७ राजू ऊपर मध्यमें एकराजु विस्तार है। फिर ३॥ राजू ऊपर ५ राजू विस्तार है और फिर ३॥ राजू ऊपर एक राजु विस्तार है। अधोलोकमें ऊपर नीचे सात नरक हैं जिनमें नारकियोंका आवास है। मध्य लोकमें मनुष्य और तिर्यञ्चोंका आवास है और ऊर्ध्व लोकमें स्वर्ग हैं। तथा लोकके ऊपर अग्र भागमें सिद्धलोक है उसमें मुक्त जीवोंका आवास है। यह लोकका सामान्य परिचय है।

इस लोकको चारों ओरसे सर्वत्र तीन वायु मण्डल घेरे हुए हैं उन्हें वातवलय कहते हैं। लोकके तल भागमें उन वातवलयोंकी मोटाई ६० हजार योजन है। ऊपर लोकके विस्तारके अनुसार घटती और बढ़ती गई है। यह संक्षेपसे सामान्य लोकका स्वरूप है।

अधोलोकमें रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमः-प्रभा और महातमः प्रभा नामकी सात पृथिवियां क्रमसे नीचे नीचे हैं। इनमेंसे रत्नप्रभा पृथिवीके तीन भाग हैं—खरभाग, पंकभाग और अब्बहुलभाग। खरभाग और पंकभागमें भवनवासी और व्यन्तर देव रहते हैं। और अब्बहुलभागमें प्रथम नरक है। नीचेकी प्रत्येक पृथिवीमें एक एक नरक है। इस तरह कुल सात नरक[1] हैं और उनमें ८४ लाख विले हैं जिनमें नारकी रहते हैं और अनेक प्रकारका कष्ट भोगते हैं। उन विलोंके नाम रौरव प्रज्वलित, तप्त, तम, अप्रतिष्ठ आदि जैसे है।

मध्य[2] लोकमें जिसे तिर्यग्लोक कहते हैं, एक दूसरेको चारों ओरसे वेष्ठित

---

१. 'पृथिवी और जलके नीचे रौरव, महाज्वाल, तम, अप्रतिष्ठ आदि बहुतसे भयानक नरक हैं। इनमें पापी जीव मरकर जन्म लेते हैं। वहाँसे निकल-कर वे क्रमशः स्थावर कृमि, जलचर, धार्मिक पुरुष, देव और मुमृक्षु होते हैं।'—वि० पु० अ ६। तथा भा० पु० ५ स्क० २६ अ०।

२. इस पृथिवी पर जम्बू, प्लक्ष, शाल्मल, कुश, क्रौंच, शाक और पुष्कर ये सात द्वीप हैं। ये द्वीप चारों ओरसे लवण, इक्षुरस, मदिरा, घृत, दही, दूध और मीठे जलके सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं। इन सबके बीचमें जम्बूद्वीप है। उसके भी बीचोबीचमें सुवर्णमय सुमेरुपर्वत है। इसकी ऊँचाई चौरासी हजार योजन है। यह सोलह हजार योजन पृथ्वीमें घुसा है। इसके

किये हुए वलयाकार असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं। उन सबके मध्यमें एक लाख योजन विस्तार वाला जम्बूद्वीप है। उसके चारों ओर दो लाख योजन विस्तार वाला लवण समुद्र है। उसके बाद दूसरा द्वीप और फिर दूसरा समुद्र है। यही क्रम अन्त तक है। उनका विस्तार उत्तरोत्तर पूर्वकी अपेक्षा दुगुना होता गया है। उन द्वीप और समुद्रोंके कुछ नाम इस प्रकार हैं—जम्बूद्वीप[1], लवणसमुद्र, घातकी खण्ड द्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्करवर द्वीप, पुष्करवर समुद्र, वारुणीवर द्वीप, वारुणीवर समुद्र, क्षीरवर द्वीप, क्षीरवर समुद्र, घृतवर द्वीप, घृतवर समुद्र, इक्षुवर द्वीप, इक्षुवर समुद्र। अंतके द्वीप और समुद्रका नाम स्वयंभूरमण है।

पुष्करवर[2] द्वीपके ठीक मध्यमें वलयाकार मानुषोत्तर पर्वत है। वहीं तक

दक्षिणमें हिमवान, हेमकूट और निषध तथा उत्तरमें नील, श्वेत और शृंगी नामक वर्ष पर्वत हैं। उनमेंसे मध्यके दो पर्वत निषध और नील एक एक लाख योजन तक फैले हैं। उनसे दूसरे दूसरे दस दस हजार योजन कम हैं। वे सभी दो हजार योजन ऊँचे और इतने ही चौड़े हैं। मेरुपर्वतके दक्षिण ओर भारतवर्ष, किम्पुरुषवर्ष, और हरिवर्ष है। उत्तरकी ओर रम्यक हिरण्यमय और उत्तरकरुवर्ष हैं जो भारतवर्षके समान धनुषाकार है। प्रत्येक का विस्तार नौ नौ हजार योजन है। इन सबके बीचमें इलावृत्त वर्ष है जिसमें सुमेरुपर्वत खड़ा है। यह इलावृत्त सुमेरुके चारों ओर नौ हजार योजन तक फैला है। इसके चारों ओर चार पर्वत हैं। ये चारों पर्वत मानों सुमेरुको धारण करनेके लिये चार कीलियां हैं। इनमेंसे पूर्वमें मन्दराचल, दक्षिणमें गन्धमादन, पश्चिममें विपुल और उत्तरमें सुपार्श्व हैं। ये सभी दस दस हजार योजन ऊँचे हैं। जम्बूवृक्षके कारण द्वीपका नाम जम्बूद्वीप पड़ा है।'

—वि० पु० द्वि० अं०, अ०२। तथा भा० पु०, ५ स्क०, २० अ०।

१. जम्बूद्वीपको चारों ओरसे लाख योजन विस्तारवाले वलयाकार सारे समुद्रने घेर रक्खा है। उसी तरह क्षार समुद्रको घेरे हुए प्लक्षद्वीप है। जम्बूद्वीप-का विस्तार लाख योजन है। इसका विस्तार उससे दूना है। प्लक्षद्वीपको अपने ही बराबर परिमाण वाला इक्षुरस समुद्र घेरे हुए है। इस समुद्रको उससे दूना विस्तार वाला शाल्मल द्वीप घेरे हुए हैं।

—वि० पु०, अं० २, अ० ४।

२. 'पुष्कर द्वीपमें वहाँके अधिपति महाराज सवनके महावीर और धातकी नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। अतः उन दोनोंके नामानुसार उसमें महावीर खण्ड और घातकी खण्ड नामक दो वर्ष हैं। इसमें मानसोत्तर नामक एक ही वर्षपर्वत कहा जाता है जो इसके मध्यमें वलयकार स्थित है तथा पचास

मनुष्यका आवास है। अतः शुरूके ढाई द्वीप और दो समुद्र मनुष्य लोक कहे जाते हैं।

जम्बूद्वीपके मध्यमें सुमेरु पर्वत है। उसकी ऊँचाई एक लाख योजन है। धातकी खण्ड और पुष्कर द्वीपमें भी दो दो मेरु हैं। उनकी ऊँचाई ८४ हजार योजन है। जम्बूद्वीपमें सुमेरुसे दक्षिणमें हिमवान, महाहिमवान और निषध नामके तथा उत्तरमें नील रुक्मि और शिखरी नामके वर्षधर पर्वत हैं। प्रथम मेरु पर्वतके दक्षिणकी ओर क्रमसे भरत हैमवत और हरि नामक और उत्तरमें रम्यक हैरण्यवत और ऐरावत नामके वर्ष (क्षेत्र) हैं। उन सबके बीचमें विदेह वर्ष है। उस विदेह वर्षके बीचमें सुमेरु पर्वत है। भरत वर्षका उत्तर दक्षिण विस्तार पांच सौ छब्बीस योजन और एक योजनके उन्नीस भागोंमें से ६ भाग है। आगेका प्रत्येक वर्षधर पर्वत और वर्ष विदेह पर्यन्त दूना दूना विस्तार लिये हुए है। और विदेहके पश्चात् ऐरावत पर्यन्त यह विस्तार क्रमसे आधा होता गया है। अतः भरत और ऐरावत वर्षका विस्तार समान हैं। ये दोनों धनुषाकार हैं। इन दोनोंके मध्यमें एक विजयार्ध गिरि है। हिमवान पर्वतसे निकलकर गंगा और सिंधु नदी भारतवर्षमें होकर वहती हैं और विजयार्धके नीचेसे निकलकर लवण समुद्रमें गिरती हैं। इसी तरह ऐरावतमें शिखरी पर्वतसे निकलकर रक्ता रक्तोदा नामकी नदी विजयार्धके नीचेसे होती हुई ऐरावत क्षेत्रमें बहती हैं और लवण समुद्रमें गिरती हैं। इन दोनों नदियों और विजयार्ध पर्वतके कारण भरत और ऐरावतके छै छै खण्ड हो गये हैं। उनमेंसे पांच म्लेच्छ खण्ड और केवल एक आर्यखण्ड है।

विदेहक्षेत्रका विस्तार भरत से चौसठगुना है। बीचमें सुमेरु पर्वत है। उसके चारों ओर चार गजदन्त पर्वत हैं। उनमेंसे मेरुसे पश्चिमोत्तर दिशा में गन्धमादन, उत्तर पूर्व दिशामें माल्यवान, दक्षिण पूर्व दिशामें सौमनस, और दक्षिण

सहस्र योजन ऊँचा और इतना ही सब ओर गोलाकार फैला हुआ है। यह पर्वत पुष्कर द्वीपरूप गोलेको मानों बीचमें से विभक्त कर रहा है और इससे विभक्त होनेसे उसमें दो वर्ष हो गये हैं। उसमें प्रत्येक वर्ष और पर्वत वलयाकार ही है ॥७४–७८॥....पुष्कर द्वीप चारों ओरसे अपने ही समान विस्तार वाले मीठे पानीके समुद्रसे मण्डलके समान घिरा हुआ है ॥८७॥ इस प्रकार सातों द्वीप सात समुद्रोंसे घिरे हुए हैं। और वे द्वीप तथा समुद्र परस्पर समान हैं और उत्तरोत्तर दुगने होते गये हैं ॥८८॥....पुष्कर द्वीपमें सम्पूर्ण प्रजावर्ग सर्वदा अपने आप ही प्राप्त हुए षट्रस भोजनका आहार करते हैं ॥ ९३ ॥ —वि० पु०, अंश २, अ० ४।

पश्चिम दिशामें विद्युत्प्रभ नामक गजदन्त पर्वत हैं। ये चारों गजदन्ताकर पर्वत एक ओरसे सुमेरुको छूते हैं तो दूसरी ओरसे नील अथवा निषध पर्वतोंको। मेरुसे उत्तरमें गन्धमादन और माल्यवान्के मध्यमें उत्तरकुरु है और मेरुसे दक्षिणमें सौमनस और विद्युत्प्रभके मध्यमें दक्षिण कुरु है। भरत, ऐरावत और विदेह ये कर्म भूमियाँ[1] हैं यहाँ से स्वर्ग, मोक्ष और नरक प्राप्त किया जा सकता है। शेप भोग भूमियाँ हैं। भरत और ऐरावतमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छै समयोंके द्वारा सदा परिवर्तन हुआ करता है। किन्तु शेष क्षेत्रोंमें सदा एकसी स्थिति रहती है। भोगभूमिमें कल्पवृक्षोंसे प्राप्त वस्तुओंका उपयोग होता है वहाँ धर्म-कर्म नहीं है भोगकी ही प्रधानता है। मनुष्य सुखी स्वस्थ होते हैं। राज्य सत्ता नहीं होती। विदेहके उत्तर कुरु और दक्षिण कुरु प्रदेशमें भी भोगभूमि है। शेष विदेहसे सदा जीव मुक्ति लाभ करते हैं। इसीसे उसका नाम विगतदेह-विदेह है। जम्बू द्वीपकी तरह ही धातकी खण्ड और पुष्करार्धमें भी भारतादि क्षेत्र तथा वर्पधर पर्वत है उनकी संख्या और विस्तार दूना है। इसका विशेष कथन तिलोयपण्णति आदिसे जाना जा सकता है। यहाँ तो केवल परिचयकी दृष्टिसे थोड़ा आभास कराया गया है।

इस समतलसे सात सौ नब्बे योजन ऊपर तारें हैं। तारोंसे दस योजन ऊपर सूर्य है। सूर्यसे ८० योजन ऊपर चन्द्रमा है। चन्द्रमासे चार योजन ऊपर नक्षत्र है। नक्षत्रोंसे चार योजन ऊपर बुध है। बुधसे तीन योजन ऊपर शुक्र है। शुक्रसे तीन योजन ऊपर वृहस्पति है। वृहस्पतिसे तीन योजन ऊपर मंगल है। मंगलसे तीन योजन ऊपर शनि है। यह ज्योतिषमण्डल[2] मनुष्यलोकमें सदा भ्रमण करता रहता है। उसीके भ्रमणसे मनुष्यलोकमें दिन रात होते हैं।

१. 'भारतवर्षमें ही सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि नामक .ार युग हैं। अन्यत्र कहीं नहीं हैं। × × जम्बू द्वीपमें भी भारतवर्ष श्रेष्ठ है क्योंकि यह कर्म भूमि है। इसके अतिरिक्त अन्यान्य देश भोगभूमियाँ हैं।····प्लक्ष द्वीपसे लेकर शाकद्वीप पर्यन्त छहों द्वीपोंमें सदा त्रेता युगके समान समय रहता है। इन द्वीपोंके मनुष्य सदा नीरोग रहकर पाँच हजार वर्ष तक जीते हैं। —वि० पु०, अं०, अ० ४।

२. 'पृथिवीसे एक लाख योजन दूर सूर्य मण्डल है। और सूर्य मण्डलसे भी एक लक्ष योजनके अन्तर पर चन्द्र मण्डल है। चन्द्रमासे पूरे सौ हजार योजन ऊपर सम्पूर्ण नक्षत्र मण्डल है। नक्षत्र मण्डलसे दो लाख योजन ऊपर शुक्र है। शुक्रसे उतना ही दूरी पर मगंल है। और मगंलसे भी दो लाख योजन ऊपर वृहस्पति हैं। वृहस्पतिसे दो लाख योजन ऊपर शनि है। शनिसे

सुमेरु पर्वत एक लाख योजन ऊँचा हैं। उसके ऊपर ४० योजन ऊँची उसकी चूलिका है। चूलिकासे एक वालाग्रका अन्तर देकर स्वर्गोंके विमान शुरू हो जाते हैं। स्वर्ग १६ है और युगलरूपसे ऊपर २ स्थित हैं। १६ स्वर्गोंके ऊपर नौ ग्रैवेयक हैं, उनके ऊपर नौ अनुदिश विमान है। उनके ऊपर पाँच अनुत्तर विमान है। और उनके ऊपर सिद्ध लोक है।

संक्षेपमें यह जैन खगोल भूगोल सम्बन्धी मान्यता है। वैदिक धर्म और बौद्ध धर्ममें भी इससे कुछ मिलती-जुलती और कुछ भिन्नताको लिये हुए मान्यताएँ हैं। अस्तु,

लोकविभाग (श०सं० ३८० वि० सं० ५१५)

दिगम्बर परम्परामें लोकानुयोग विषयक प्राचीन ग्रन्थ लोकविभाग था। यह ग्रन्थ अभी तक अनुपलब्ध है। परन्तु एक संस्कृत लोकविभाग उपलब्ध है जो उसीका परिवर्तित रूप है। उसके प्रारम्भमें[1] कहा है कि लोक और अलोकके विभागोंको जानने वाले जिनेश्वरोंकी भक्तिपूर्वक स्तुति करके लोक तत्त्वका संक्षेप में व्याख्यान करता हूँ। और अन्तिम[2] प्रशस्तिमें कहा है कि देवी और मनुष्योंकी सभामें तीर्थङ्कर महावीरने भव्यजनोंके लिये जो सारा जगत विधान कहा, जिसे सुधर्मा स्वामी आदिने जाना और जो आचार्योंकी परम्परा द्वारा चला आया, उसे ऋषि सिंहसूरने भाषाका परिवर्तन करके रचा और निपुण साधुओंने उसे सम्मानित किया। जिस समय उत्तराषाढ़ नक्षत्रमें शनैश्चर वृष राषिमें, वृहस्पति तथा उत्तरा फाल्गुनिमें चन्द्रमा था तथा शुक्लपक्ष था, उस समय पांड्य राष्ट्रके पाटलिक ग्राममें पूर्वकालमें सर्वनन्दि मुनिने इस शास्त्रको लिखा था। कांची नरेश सिंह वर्माके २२वें संवत्सर और शकके ३८०वें संवत्सरमें यह ग्रन्थ समाप्त हुआ।

एक लाख योजनके अन्तर पर सप्तर्षि मण्डल है। सप्तर्षियोंसे भी सौ हजार योजन ऊपर समस्त ज्योतिश्चक्रका नाभिरूप ध्रुव मण्डल स्थित है।'—वि० पु०, अंश २, अ० ७।

१. 'लोका लोकविभागज्ञान् भक्त्या स्तुत्वा जिनेश्वरान्।
व्याख्यास्यामि समासेन लोकतत्त्वमनेकधा ॥१॥'

२. 'भव्येभ्यः सुरमानुषोरुसदसि श्रीवर्द्धमानार्हता, यत्प्रोक्तं जगतो विधानमखिलं ज्ञातं सुधर्मादिभिः। आचार्यावलिकागतं विरचितं तत् सिंहसूरर्षिणा, भाषाया परिवर्तनेन निपुणैः सम्मानितं साधुभिः ॥१॥ वैश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे। ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्यराष्ट्रे शास्त्रं पुरा लिखितवान् मुनि सर्वनन्दिः ॥२॥ संवत्सरे तु द्वाविंशे काञ्चीशसिंह वर्मणः। अशीत्यग्रे शकाब्दानां सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥'

संस्कृत लोकविभागसे प्राचीन लोकविभागके सम्बन्धमें केवल इतनी ही जानकारी प्राप्त होती है। संस्कृत लोकविभागके कर्ताने यद्यपि यह नहीं लिखा कि वह प्राचीन लोकविभाग किस भाषामें है; तथापि उसके संस्कृत रूपान्तरसे और आचार्य परम्परागत होनेसे यही व्यक्त होता है कि वह प्राकृतमें ही होगा। दूसरी बात यह भी ज्ञात नहीं होती कि उसका परिमाण कितना था।

संस्कृत लोकविभागके कर्ताने अन्तमें ग्रन्थका प्रमाण १५२६ अनुष्टुप श्लोक बतलाया है। पर यह परिमाण मूल ग्रन्थका है अथवा उसके संस्कृत रूपान्तरका, यह स्पष्ट नहीं होता। उपलब्ध लोकविभागमें २२३० श्लोक हैं। इनमें ७०४ श्लोक अधिक है। १०० से अधिक गाथाएँ तिलोय पण्णत्तिकी, २०० पद्य आदि पुराणके और शेष गाथाएँ तिलोयसार; जंबूदीप पण्णत्ति, त्रैलोक्यसंग्रह आदि ग्रन्थोंकी हैं। कही इनके नाम भी दिये हैं और कहीं 'उक्तंच' कहकर उद्धृत की है।

संस्कृत लोकविभागमें जम्बूद्वीप, लवण समुद्र, मानुष क्षेत्र, द्वीप समुद्र, काल ज्योतिर्लोक; भवनवासीलोक, अधोलोक; व्यन्तरलोक, स्वर्गलोक और मोक्ष नामक ११ विभाग हैं। प्राचीन लोकविभागमें भी संभवतया इसी नामके इतने ही अधिकार रहे होंगे।

उस लोकविभागके अन्तमें उसके रचयिता सर्वनन्दिने ग्रन्थ रचनाके काल, स्थान आदिका निर्देश किया होगा। उसी का संस्कृत रूपान्तर संस्कृत लोक विभागमें किया गया जान पड़ता है। और उससे उसके रूपान्तरकारका 'भाषायाः परिवर्तनेन' लिखना अक्षरशः सार्थक प्रतीत होता है।

मुनि सर्वनन्दिके सम्बन्धमें श्री प्रेमीजीने लिखा है कि शक सम्वत् ३८८ का मर्करा का जो दानपत्र है उसमें कोण्डकुन्दान्वयके जिन छह मुनियोंके नाम हैं उनमें अभयनन्दि जयनन्दि, गुणनन्दि, और चन्द्रनन्दि नाम नन्जन्त हैं। सर्वनन्दि नाम भी ऐसा ही है और उनका लोकविभाग मर्करा लेखसे आठ वर्ष पहलेका है। अर्थात् जिन अन्तिम चन्द्रनन्दिको दान दिया गया है, संभव है उन्हींके समकालीन हो और यापनीय हों।

जो कुछ हो, किन्तु सर्वनन्दिके विषयमें कुछ भी ज्ञात नही है। इस नामके किसी आचार्यका कोई प्राचीन अथवा अर्वाचीन उल्लेख भी दृष्टिगोचर नहीं होता।

तिलोय[1] पण्णत्ति

तिलोय पण्णत्ति या त्रिलोक प्रज्ञप्ति प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके

---

१. हिन्दी अनुवादके साथ तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थका प्रकाशन दो भागोंमें जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे हुआ है।

कर्तानें उसके इस नामको सार्थक वतलाते हुए लिखा[1] है कि यह तीनों लोकोंके प्रकाशनमें दीपके समान है। और उनका यह कथन एक दम यथार्थ है यह बात ग्रन्थके अवलोकनसे स्पष्ट हो जाती है।

दिगम्बर जैन परम्परामें लोक विषयक उपलब्ध साहित्यमें तियोय पण्णत्ति ही प्राचीन हैं। और प्रायः उसीके आधार पर लोक विषयक अन्य ग्रन्थोंका निर्माण हुआ है। यह अपने विषयका एक आकर ग्रन्थ है। और इसमें अनेक प्राचीन मान्यताओं; मतान्तरों और ग्रन्थोंका उल्लेख मिलता है। उन ग्रन्थोंमेंसे आज दो एक ही उपलब्ध हैं।

आधार

ग्रन्थका आरम्भ करते हुए ग्रन्थकारने लिखा[2] है कि यह 'तिलोय पण्णत्ति' जिनेन्द्र भगवानके मुखसे निर्गत और गणधर देवके द्वारा शब्द रचना रूप मालामें गूँथे गये, तथा प्रवाह रूपसे शाश्वत पदोंको लिये हुए हैं अतः एव यह सम्पूर्ण दोषोंसे रहित है और आचार्य परम्परासे मुझे प्राप्त हुई है। मैं अतिशय भक्ति द्वारा प्रसन्न किये गये गुरुके चरणोंके प्रसादसे इसे कहता हूँ।

आगे त्रिलोकके व्यासादिको 'दृष्टिवादका[3] निस्यन्द' वतलाते हुए लिखा है कि त्रिलोककी मुटाई, चौड़ाई और ऊँचाईका हम वैसा ही वर्णन करते हैं जैसा दृष्टिवाद अंगसे निकला है। उससे पूर्व लिखा[4] है कि परमाणु भी पूरते और गलते हैं। अतः पूरण गलन क्रियासे युक्त होनेके कारण वे भी पुद्गल हैं ऐसा दृष्टिवादमें निर्दिष्ट है।

इन उल्लेखोंसे प्रकट होता है कि त्रिलोक प्रज्ञप्तिका मूल आधार दृष्टिवाद नामक अंग है। दृष्टिवादके ही एक भेद परिकर्मके अन्तर्गत चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्य-प्रज्ञप्ति जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, और द्वीपसमुद्र प्रज्ञप्ति थीं। उन्हीं सबका यथायोग्य कथन इस ग्रन्थमें भी है क्योंकि त्रिलोकमें चन्द्र सूर्य, जम्बूद्वीप तथा शेष द्वीपसमुद्र सभी गर्भित हो जाते हैं। और त्रिलोकके साथ संलग्न शब्द प्रज्ञप्ति उन्हींका स्मरण करता है। यद्यपि ग्रन्थ रचनाके समय वे सव नष्ट हो चुकी थीं तथापि आचार्य परम्परासे ग्रन्थकारको उनका ज्ञान अवश्य प्राप्त हुआ था। उसे ही उन्होंने इस ग्रन्थमें निबद्ध किया है। अतः इस ग्रन्थका मूलाधार दृष्टिवाद अंग है। और सहायक वे ग्रन्थ हैं जिनके मतान्तरोंका उल्लेख इस ग्रन्थमें है।

---

१. ति० प०, १, ६।
२. ति० प० १, ८५–८७।
३. ति० प०, १, १४८।
४. ति० प०, १-९९।

ग्रन्थ-नामोल्लेख

त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें लोकविनिश्चय, लोकविभाग और मूलाचारके सिवाय मग्गायणी लोकायनी, संगाइणी, आदिका उल्लेख मिलता है।

सग्गायणी, संगायणी, संगाइणी, संगाहणी, और संगोयणी ये सब भिन्न ग्रन्थ प्रतीत नहीं होते, बल्कि लिपिकारोंके दोषसे ही इन विविध रूपोंकी सृष्टि हुई जान पड़ती है। चौदह पूर्वोंमेंसे दूसरे पूर्वका नाम अग्रायणीय था। प्राचीन प्राकृत ग्रन्थोंमें इसका रूप अग्गाणीय या अग्गेणिय पाया जाता है। ति० प० की प्रस्तावनामें प्रो० हीरालाल जीने (पृ० ११) सग्गायणी आदिको भी अग्गायणीयका ही भ्रष्ट रूप माना है और लिखा है कि जब कि इस रचनाका उसके मतभेदोंके स्पष्ट कथन सहित इतने वार उल्लेख किया जाता है तब इसका यह अर्थ हो सकता है कि तिलोयपण्णत्तिकारको अग्रायणीय पूर्वका सविवरण वृत्तान्त उपलब्ध था।

हमें खेद है कि प्रोफेसर साहबके उक्त मतसे हम सहमत नहीं हो सकते और उसके कई कारण हैं। प्रथम तो अग्रायणीय पूर्वमें वर्णित विषयके साथ त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें प्रतिपादित विषयका मेल नहीं खाता। तत्त्वार्थवार्तिक (१।२०), धवला (१, पृ०) जयधवला (भा० १, पृ० १३०), अंगप्रज्ञप्ति (गा० ४०-४१), नन्दी चूर्णि (सूत्र २६), और उसकी टीकाओं में प्रायः यही बतलाया है कि अग्रायणी पूर्वमें सुनयों, दुर्नयोंका, छ द्रव्यों और नौ पदार्थोंका, क्रियावादी आदि मतोंकी प्रक्रियाका कथन रहता है। उसमें लोक रचना सम्बन्धी विषयोंका भी कथन रहता है ऐसा दोनों परम्पराओंके किसी भी ग्रन्थमें नहीं कहा। और उक्त नामोंसे त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें जो उल्लेख मिलते हैं वे सब लोक रचनाके अन्तर्गत विषयसे सम्बद्ध है यहाँ हम उन्हें उद्धृत कर देना उचित समझते हैं।

'पणुवीसजोयणाइं धारापमुहम्मि होदि विक्कंभो।
सग्गायणिकत्तारो एवं णियमा परुवेदि ॥२१७॥—अ० ४'

धाराके मुखमें गंगा नदीका विस्तार पच्चीस योजन है। सग्गायणीके कर्ता इस प्रकार नियमसे निरूपण करते हैं।

× × ×

वासट्ठि जोयणाइं दो कोसा होदि कुंड वित्थारो।
संगोयणी कत्तारो एवं णियमा परूवेदि ॥२१९॥—अ० ४

(जिस कुण्डमें गंगा गिरती है) उसका विस्तार बासठ योजन और दो कोस है। संगोयनीके कर्ता नियमसे ऐसा कथन करते हैं।

यह सग्गायणी और संगोयणी एक ही प्रतीत होते हैं। लिपि कर्ताके कारण इनमें भेद पड़ गया प्रतीत होता है।

चउजोयण उच्छेहं पणसहदीहं तदद्धवित्थारं।
सग्गायणि आइरिया एवं भासंति पंडुसिलं ॥ १८२१ ॥—४ अ०

'यह पाण्डुक शिला चार योजन ऊँची, पाँच सौ योजन लम्बी और इससे आधे अर्थात् अढ़ाई सौ योजन प्रमाण विस्तारसे सहित है। इस प्रकार सग्गायणि आचार्य कहते हैं'।

× × ×

सिरिभद्दसाल वेदी वक्खार गिरीण अंतर पमाणं।
पंच सम जोयणाणि सग्गायणियम्मि णिद्दिट्ठं ॥२०२९॥—अ० ४

'श्रीभद्रशाल वनकी वेदी और वक्षारगिरियोंके अन्तरका प्रमाण पाँच सौ योजन सग्गायणीमें बतलाया है'।

× × ×

वसइणियादीणं पुह पुह चुलसीदिलक्ख परिमाणं।
पढमाए कक्खाए सेसासु दुगुण दुगुण कमे ॥२७१॥
एवं सत्तविहाणं सत्ताणीयाण होंति पत्तेक्कं।
संगायणि आइरिया एवं णियमा परूवेंति ॥२७२॥—अ० ८।

'देवेन्द्रोंकी प्रथम कक्षामें वृषभादिक अनीकोंका प्रमाण पृथक् पृथक् चौरासी लाख है। शेष कक्षाओंमें क्रमशः इससे दूना-दूना है। इस प्रकार सात प्रकार सप्तानीकोंमें से प्रत्येकके है, ऐसा संगायणि आचार्य नियमसे निरूपण करते हैं'॥

+ × ×

सगवीसं कोडीओ सोहम्मिदेसु होंति देवीओ।
पुव्वं पिव सेसेसुं संगाहणियम्मि णिद्दिट्ठं ॥३८७॥—अ० ८।

'सौधर्म इन्द्रके सत्ताईस करौड़ और शेष इन्द्रोंके पूर्वोक्त संख्या प्रमाण देवियाँ होती हैं। ऐसा संगाहणिमें कहा है'।

उक्त मतभेदोंसे यह स्पष्ट है कि जिस ग्रन्थसे वे मतभेद लिये गये हैं उनमें कम से कम मध्यलोकका तो विस्तृत वर्णन था। यदि ऐसा न होता तो गंगा, गंगा कुण्ड, भद्रसालवन और वक्षारगिरिका अन्तर तथा पाण्डुक शिलाका वर्णन उसमें कहाँसे होता। इसी तरह उसमें स्वर्गलोकका भी वर्णन था। और जहाँ इन दोनोंका वर्णन हो वहाँ नरकलोका वर्णन न हो, ऐसा नहीं हो सकता। अतः उक्त ग्रन्थमें अवश्य त्रिलोकका वर्णन था। इसीसे त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें उसके

मतान्तर दिये गये हैं। ऐसा ग्रन्थ अग्रायणी पूर्व नहीं हो सकता। क्योंकि उसका प्रतिपाद्य विषय द्रव्यानुयोग है, न कि करणानुयोग।

दूसरे, अग्रायणीय पूर्व तो गणधर गौतमके द्वारा ग्रथित हुआ था वह किसी आचार्यकी रचना नहीं था। किन्तु 'सग्गायणी' के साथ त्रिलोक प्रज्ञप्तिकारने आचार्य और कर्ता शब्दोंका भी प्रयोग किया है। इससे वह कोई आचार्य रचित ग्रन्थ प्रतीत होता है और उसका प्रतिपाद्य विषय लोकानुयोग था।

उक्त सब मतान्तर उस एक ही ग्रन्थके प्रतीत होते हैं। लिपि कर्ताओंके दोषसे एक ही ग्रन्थ सग्गायणी, संगाइणी, संगायणी, संगोयणी और संगाहणी नामोंसे निर्दिष्ट हुआ जान पड़ता है। ग्रन्थका मूल नाम संगहणी होना चाहिये। श्वेताम्बर साहित्यमें संग्रहणी नामके ग्रन्थ मिलते हैं। एक वृहत्संग्रहणी नामक ग्रन्थ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत है। इनका समय विक्रमकी सातवीं शताब्दीका उत्तरार्ध है। उस ग्रन्थमें भी करणानुयोगका ही विषय है।

त्रिलोक प्रज्ञप्तिकारके सन्मुख भी कोई प्राचीन संग्रहणी नामक ग्रन्थ रहा होगा। उसीके मतभेदोंका निर्देश उन्होंने त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें किया है।

उक्त उल्लेखोंके सिवाय 'मग्गायणी' और 'संगाइणि' का निर्देश क्रमसे 'लोक विनिश्चय' और 'लोक विभाग' के साथ भी मिलता है। दोनों उल्लेख इस प्रकार हैं—

'दसविंद भूवासो पंच सया जोयणाणि मुहवासो।
एवं लोयविणिच्छय मग्गायणिए मुदीरेदि ॥१९८॥—अ० ४।

'बलभद्र कूटका भूविस्तार दसके घनरूप अर्थात् एक हजार योजन और मुख विस्तार पाँच सौ योजन प्रमाण है। इस प्रकार लोकविनिश्चय मग्गायणीमें कहा है'।

यहाँ 'लोकविनिश्चय और मग्गायणी' भी हो सकता है और लोकविनिश्चय सम्बन्धी मग्गायणी अर्थ भी हो सकता है। लोकविनिश्चयके अन्य भी उल्लेख त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें हैं। अतः यह तो निर्विवाद है कि लोकविनिश्चय नामक कोई ग्रन्थ त्रिलोकप्रज्ञप्तिकारके सम्मुख था। किन्तु यह मग्गायणी उसीका कोई भाग था या स्वतंत्र ग्रन्थ यही विचारणीय है। लोकविनिश्चयके साथ आगत मग्गायणीको प्रो० हीरालाल जीने अग्गायणीय नामक दूसरा पूर्व माना है। किन्तु हमें यहाँ भी सग्गायणी पाठ ठीक प्रतीत होता है। 'स' और 'म' में ज्यादा अन्तर नहीं है अतः लोकविनिश्चयके साथ उक्त संग्रहणीका ही उल्लेख यहाँ प्रतीत होता है।

दूसरा उल्लेख इस प्रकार है—

जलसिहरे विक्खंभो जलणिहिणो जोयणा दससहस्सा ।
एवं संगाइणिए लोयविभाए विणिद्दिट्ठं ॥२४४८॥—अ० ४ ।

'जल शिखर पर लवण समुद्रका विस्तार दस हजार योजन है । इस प्रकार संगाइणीमें और लोक विभागमें कहा है' ।

यहाँ तो दोनों पृथक्-पृथक् हैं अतः 'संगाइणी और लोक विभाग' अर्थ करना ही उचित प्रतीत होता है । यह संगाइणी भी उक्त संग्रहणी ही प्रतीत होती है । अस्तु,

लोकायनीका निर्देश

ति०प० में एक उल्लेख लोकायिनी का मिलता है जो इस प्रकार है—

कप्पं पडि पंचादी पल्ला देवीण वड्ढे आऊ ।
दो दो वड्ढी तत्तो लोयायणिये समुद्दिट्ठं ॥५३०॥

'देवियोंकी आयु प्रथम कल्पमें पाँच पल्य प्रमाण हैं । इसके आगे प्रत्येक कल्पमें दो-दो पल्यकी वृद्धि होती गई है, ऐसा लोकायिनी में कहा है' ।

संगायणी की तरह लोकायनी भी कोई ग्रन्थ प्रतीत होता है । 'अयण' अन्त वाले ये नाम कुछ विचित्रसे प्रतीत होते हैं । शायद पुराकालमें इस तरहके ग्रन्थ नामोंका प्रचलन रहा हो । किन्तु त्रिलोकप्रज्ञप्तिके सिवाय अन्यत्र इनका कोई निर्देश नहीं मिलता ।

लोक विनिश्चयका उल्लेख

ति० प० में संगायणी आदिकी तरह लोकविनिश्चय नामक ग्रन्थके भी अनेक उल्लेख हैं जो इस प्रकार हैं—

सोलस कोसुच्छेहं समचउरस्सं तदद्धवित्थारं ।
लोयविणिच्छयकत्ता देवच्छन्दं परूवेइ ॥१८६६॥—अ० ४ ।

'लोकविनिश्चयके कर्ता देवच्छन्दं[1]को समचतुष्कोण सोलह कोस ऊँचा और इससे आधे विस्तारसे संयुक्त बतलाते हैं' ।

× × ×

१. ति०प० अ० ४, गा० १८६५में देवच्छन्दको दो योजन ऊँचा, एक योजन विस्तार वाला और चार योजन लम्बा कहा है । किन्तु तत्वार्थ वार्तिक (३।१०)में लोकविनिश्चयके अनुसार सोलह योजन ऊँचा और ८ योजन विस्तार वाला कहा है ।

वासो पणघणकोसा तद्दुगुणा मंदिराण उच्छेहो ।
लोयविणिच्छयकत्ता एवं माणे णिरूवेदि ॥१९७५॥—अ० ४ ।

'मन्दिरोंका विस्तार पाँचका घन अर्थात् एकसौ पच्चीस कोस प्रमाण और ऊँचाई इससे दुगुणी है। इस प्रकार लोकविनिश्चयके कर्ता इनके प्रमाणका निरूपण करते हैं'।

× × ×

ताणं च मेरुपासे पंचसया जोयणाणि वित्थारो ।
लोयविणिच्छयकत्ता एवं णियमा परूवेदि ॥२०२८॥

'नील और निषध पर्वतके पासमें वक्षार[1] पर्वतोंका विस्तार दोसौ पचास योजन है इससे आगे मेरुपर्वतपर्यन्त प्रत्येकमें प्रदेश वृद्धि होनेसे मेरुके पासमें उनका विस्तार पाँचसौ योजन प्रमाण हो गया है। इस प्रकार लोकविनिश्चयके कर्ता नियमसे निरूपण करते हैं'।

× × ×

ते चउचउकोणेसु एक्केक्कदहस्स होंति चत्तारि ।
लोयविणिच्छयकत्ता एवं णियमा परूवेंति ॥६९॥—अ० ५ ।

'वे रतिकर पर्वत प्रत्येक द्रहके चार-चार कोनोंमें चार[2] होते हैं। इस प्रकार लोकविनिश्चयकर्ता नियमसे निरूपण करते हैं'।

लोयविणिच्छयकत्ता कुंडलसेलस्स वण्णणपयारं ।
अवरेण सरूवेणं वक्खाणइ तं परूवेमो ॥ १२९ ॥—अ० ५ ।

'लोकविनिश्चयके कर्ता कुण्डल[3] पर्वतका वर्णन दूसरे प्रकारसे करते हैं उसे यहाँ कहते हैं'—

× × ×

१. ति०प० अ० ४, २०१७में वक्षार पर्वतोंका सर्वत्र विस्तार पाँचसौ योजन कहा है। किन्तु तत्वार्थ वार्तिकमें (३।१०) लोकविनिश्चयके समान मेरुके पासमें पाँचसौ योजन और नील-निषधके पासमें २५० योजन विस्तार कहा है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्तिमें (७-१८) उनका विस्तार सर्वत्र ५०० योजन बतलाया है। त्रि०सा० (गा० ७५३)में भी इतना ही विस्तार कहा है।
२. ति०प० गा० (५-६९)में वापियोंके दोनों बाह्य कोणोंमें दो ही रतिका बतलाये हैं। किन्तु तत्वार्थवार्तिकमें (३।१५) लोकविनिश्चयके अनुसार चार चार रतिकर बतलाये हैं।
३. तत्त्वार्थवार्तिक (३।३५) में कुण्डलवर और रुचकवर द्वीपका वर्णन लोकविनिश्चयके अनुसार है।

लोयविणिच्छयकत्ता रुचक वरद्दिस्स वण्णणपयारं ।
अण्णेण सरूवेणं वक्खाणइ तं पयासेमि ।।१६७।।—अ० ५ ।

'लोकविनिश्चयके कर्ता रुचकवर पर्वतका वर्णन अन्य प्रकारसे करता है उसे यहाँ कहते हैं' ।

× × ×

पण्णासाधिय दुसया कोदंडा राहुणयर बहलत्तं ।
एवं लोयविणिच्छय कत्तायरिओ परूवेदि ।।२०३।।—अ० ७ ।

'राहुनगरका बाहुल्य[1] दो सौ पचास धनुष प्रमाण है ऐसा लोकविनिश्चयके कर्ता आचार्य कहते हैं' ।

× × ×

सव्वाणि पणीयाणि कक्खं पडि छस्सअं सहावेण ।
पुव्व व विकुव्वणाए लोयविणिच्छय मुणी भणइ ।।२७०।।—अ० ८ ।

'प्रत्येक कक्षाकी सब सेनाएँ स्वभावसे छ सौ और विक्रियाकी अपेक्षा पूर्वोक्त संख्याके समान हैं । ऐसा लोकविनिश्चयके कर्ता मुनि कहते हैं' ।

× × ×

खण हणहट्ठ दुग इगि अट्ठय छ स्सत्त सक्क देवीओ ।
लोयविणिच्छय गंथे हुवंति सेसेसु पुव्वं व ।।३८६।।—अ० ८ ।

'शून्य, शून्य, शून्य, आठ, दो, एक, आठ, छह और सात, इन अंक प्रमाण सौधर्म इन्द्रकी देवियाँ होती हैं । शेष इन्द्रोंमें देवियोंका प्रमाण पहलेके समान होता है ऐसा लोकविनिश्चय ग्रन्थमें कहा है' ।

लोकविणिच्छयगंथे लोयविभागम्मि सव्वसिद्धाणं ।
ओगाहण परिमाणं भणिदं किंचूणचरिमदेहसमो ।।९।।—अ० ९ ।

'लोकविनिश्चय ग्रन्थमें और लोकविभागमें सब सिद्धोंकी अवगाहनाका प्रमाण कुछ कम चरम शरीरके समान कहा है' ।

इस प्रकार त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें लोकविनिश्चयके मतभेदोंका उल्लेख मिलता है । यह लोकविनिश्चय अवश्य ही कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होना चाहिये । अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकके तीसरे और चौथे अध्यायमें जो त्रिलोक सम्बन्धी कथन किया है लोकविनिश्चय सम्बन्धी मतभेदोंके साथ उनका मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अकलंकदेवने लोकविनिश्चयके अनुसार कथन किया है । अतः उनके

१. तत्त्वार्थवार्तिकमें (४।१२) राहुविमानका बाहुल्य लोकविनिश्चियके अनुसार २५० धनूष बतलाया है ।

सामने लोकविनिश्चय वर्तमान हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। संभव है लोकविनिश्चय नामसे प्रभावित होकर ही उन्होंने अपने ग्रन्थोंके नाम सिद्धिविनिश्चय और न्यायविनिश्चय रखे हों।

लोकविभाग

अब हम त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें उल्लिखित लोकविभाग सम्बन्धी उल्लेखोंको यहाँ उद्धृत करते हैं। लोकविनिश्चयके पश्चात् लोकविभाग ही ऐसा ग्रन्थ है जिसका त्रि० प्र० में विशेष उल्लेख मिलता है—

दो छव्वारसभागब्भहिओ कोसो कमेण वाउघणं।
लोयउवरिम्मि एवं लोयविभायम्मि पण्णत्तं ॥२८१॥—अ० १।

'लोकके ऊपर अर्थात् लोक शिखर पर तीनों वातवलयोंका बाहुल्य क्रमसे एक कोस और उसका आधा, एक कोस और एक कोसका छटा भाग तथा एक कोस और एक कोसका बारहवाँ भाग है, ऐसा लोकविभागमें कहा है'।

× × ×

लोयविभायाइरिया दीवाण कुमाणुसेहि जुत्ताणं।
अण्णसरूवेण ठिदि भासंते तं परूवेमो ॥२४९॥—अ० ४।

'लोकविभागाचार्य कुमानुषोंसे युक्त उन द्वीपोंकी स्थिति अन्य प्रकारसे कहते हैं। उसका निरूपण करते हैं'।

× × ×

जोइग्गण-णयरीणं सव्वाणं रूंदमाण सारिच्छं।
वहलत्तं मण्णंते लोगविभायस्स आइरिया ॥११५॥—अ० ७।

'लोकविभागके कर्ता आचार्य समस्त ज्योतिगणोंकी नगरियोंके विस्तार प्रमाणके समान ही उसके बाहुल्यको भी मानते हैं'।

× × ×

लोयविभायाइरिया सुराण लोअंतिआण वक्खाणं।
अण्णसरूवं वेंति त्ति पि एण्हि परूवेमो ॥६३५॥—अ० ८।

'लोकविभागाचार्य लौकान्तिक देवोंका व्याख्यान अन्य रूपसे करते है इसलिये उसे भी हम यहाँ कहते हैं'।

लोक विभाग नामक एक ग्रंथका, जिसका संस्कृत रूपान्तर उपलब्ध है, परिचय प्रारम्भमें ही कराया गया है। किन्तु लोक विभागके नामसे जिन मतान्तरोंका निर्देश त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें है, उनमेंसे संस्कृत लोक विभागमें अनेक विषय तो मिलते नहीं या अन्य रूपमें मिलते हैं। उदाहरणके लिये—

१. त्रि० प्र० १–२८१ में बतलाया है कि लोकविभागमें लोकके ऊपर, वायुका बाहुल्य १।। कोस आदि कहा है। किन्तु संस्कृत लोक विभागमें लोकके अग्रभागमें तीनों वातवलयोंका बाहुल्य क्रमसे दो कोस, एक कोस और चार सौ पच्चीस धनुष कम एक कोस कहा है। यही बाहुल्य त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें भी बतलाया—यथा—

कोसदुगमेक्ककोसं किंचूणेक्कं च लोयसिहरम्मि ।
ऊणपमाणं दंडा चउस्सया पंचवीसजुदा ।।२७१।।—अ० १

इसीका संस्कृत रूप संस्कृत लोक विभागमें है—

लोकाग्रे क्रोशयुग्मं तु गव्यूतिर्न्यूनगोरुतं ।
न्यूनप्रमाणं धनुषां पंचविंशचतुःशतम् ।।

त्रिलोकप्रज्ञप्तिमें जो लोकविभागका मत दिया है वह मत यदि उक्त लोकविभागमें था तो संस्कृत रूपान्तरकारने उसे छोड़कर त्रिलोक प्रज्ञप्तिका मत क्यों दिया ? यदि उसने भाषा परिवर्तन करते हुए मूल लोकविभागके मतोंकी उपेक्षा की है तो उसका 'भाषायाः परिवर्तनेन' लिखना उचित प्रतीत नहीं होता। अतः यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि उक्त मत उस लोकविभागमें नहीं था, अतः रूपान्तरकारने त्रिलोक प्रज्ञप्तिसे उसकी पूर्ति कर ली।

इसी तरह त्रि० प्र०, अ० ४, गा० २४९१ में कहा है कि 'लोकविभागाचार्य कुमानुषोंसे युक्त द्वीपोंकी स्थिति अन्य प्रकारसे कहते हैं। और आगे उस स्थितिका कथन भी किया है किन्तु संस्कृत लोक विभागमें अन्तर्द्वीपोंका जो वर्णन है वह त्रि० प्र० से मिलता है। इसीसे उसके समर्थनमें संस्कृत लोक विभागके रचयिताने त्रि० प्र० की गाथाएं भी उद्धृत की हैं।

इन बातोंसे त्रिलोक प्रज्ञप्तिमें उल्लिखित लोकविभागके और सर्वनन्दि रचित लोकविभाग के एक होनेमें सन्देह होता है।

श्री प्रेमीजीने लिखा[1] है कि तिलोयपण्णत्तिमें लोकविभागके मतोंका जिस स्वरूपमें अनेक जगह उल्लेख किया गया है और नियमसारकी टीकामें जिसे लोक विभागाभिधान परमागम' कहा है वह अवश्य ही काफी विस्तृत रहा होगा और संस्कृतमें उसका यह संक्षेप किया गया है—'व्याख्यास्यामि समासेन'। शायद इसी लिए इसमें वे बहुत-सी बातें नहीं मिलती जिनके नियमसार, ति० प० आदि ग्रन्थोंमें लोकविभागमें कहे जानेके उल्लेख मिलते हैं।' प्रेमीजीकी उक्त संभावना उन कथनोंके विषयमें लागू हो सकती है जो सं० लो० वि० में नहीं

१. जै० सा० इ०, पृ० ५।

मिलते। किन्तु जो कथन त्रि० प्र० के अनुसार मिलते हैं और त्रि० प्र० में प्रतिपादित लोकविभागके मतानुसार नहीं मिलते, संक्षेपी करणकी बात उनके विषयमें लागू नहीं हो सकती। किसी ग्रन्थकी भाषाको परिवर्तित करके उस ग्रन्थका सक्षेपीकरण करनेवाला मूल ग्रन्थकी मान्यताओंको छोड़कर उसके स्थान में दूसरेके मतोंका निर्देश करे तो इसे संक्षेपीकरणका फल नहीं कहा जा सकता।

फिर सं० लो० वि० के आद्य श्लोकके पूर्वार्धमें मंगल करके जो उत्तरार्धमें 'व्याख्यास्यामि समासेन' कहा है वह लोक विभागके लिये नहीं कहा किन्तु लोक-तत्त्व' के लिये कहा है। 'अनेकधा लोक तत्त्वको मैं संक्षेपसे व्याख्यान करूँगा।' शायद यह आद्य श्लोक भी सर्वनन्दि रचित लोकविभागकी आद्य गाथाका ही संस्कृत रूपान्तर हो और सर्वनन्दिने अपने लोक विभागमें ही अनेकधा लोक-तत्त्वका संक्षेपसे कथन करनेकी प्रतिज्ञा की हो।

प्रेमीजीने ठीक ही लिखा है कि 'जब तक सर्वनन्दिका मूलग्रंथ नहीं मिलता तब तक इस तरहके विकल्प उठते ही रहेंगे।' और तब तक यह भी निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि त्रि० प्र० में उल्लिखित लोक विभाग ही सर्व-नन्दि रचित लोकविभाग है। अस्तु,

मूलाचार

एक उल्लेख मूलाचारका मिलता है जो इस प्रकार है—

पलिदोवमाणि पंचय सत्तारस पंचवीस पणतीसं।
चउसु जुगलेसु आऊ णादव्वा इंददेवीणं ॥५३१॥
आरणदुगपरियतं वड्ढंते पंचपल्लाइं।
मूलाआरे इरिया एवं णिउणं णिरूवेंति ॥ ५३२ ॥—अ० ८।

'चार युगलोंमें इन्द्रदेवियोंकी आयु क्रमसे पांच, सतरह, पच्चीस, पैंतीस पल्य [प्र]माण जानना चाहिये। आगे आरण युगल तक पांच पल्यकी वृद्धि होती गई [है]। ऐसा मूलाचारमें आचार्य निरूपण करते हैं।'

मूलाचार नामक ग्रन्थ मुद्रित हो चुका है वट्टकेराचार्यका कहा जाता है। [उ]सके पर्याप्ति अधिकारमें गा० ८० में इन्द्रदेवियोंकी आयु बराबर उक्त प्रकार [से] कही है।

इस प्रकार ति० प० में उक्त ग्रन्थोंका नाम निर्देश मिलता है। और उससे [य]ह स्पष्ट है कि ग्रंथकारके सामने उक्त ग्रंथ वर्तमान थे और उन्होंने अपने [ग्र]न्थ निर्माणमें उनसे साहाय्य लिया था। उनके सिवाय भी ऐसे अनेक ग्रंथ [हैं] जिनकी गाथाएँ ज्यों की त्यों अथवा पाठभेदसे ति० प० में पाई जाती हैं। [उ]नकी चर्चा आगे की जायेगी।

कुछ उल्लेखनीय मतान्तरों का निर्देश

ति०प० में जिन ग्रन्थोंका नामोल्लेख करते हुए उनके मतभेदोंका निर्देश किया है। उनके सिवाय भी अनेक मतभेदोंका निर्देश पाठान्तर रूपमें अथवा अनिर्दिष्ट आचार्योंके नामसे मिलता है। उन सबका संकलन कर सकना तो यहाँ शक्य नहीं है। फिर भी कुछ उल्लेखनीय मतान्तरोंका निर्देश यहाँ किया जाता है।

१. मंगल शब्दके अर्थके सम्बन्धमें मतान्तर—

पावं मलं ति भण्णइ उवचारसरूवेण जीवाणं।
तं गालेदि विणासं णेदित्ति भणंति मंगलं केई ॥१७॥—अ० १

'जीवोंके पापको उपचार रूपसे मल कहा जाता है। उसे यह मंगल गलाता है। विनाशको प्राप्त करता है इसलिए भी कोई आचार्य इसे मंगल कहते हैं।'

विशेषावश्यक भाष्यमें भी मंगलका यह लक्षण नहीं है।

२. दूसरे अध्यायमें शर्करा आदि छै पृथिवियोंका बाहुल्य क्रमसे बत्तीस, अट्ठाईस, चौबीस, बीस, सोलह और आठ हजार योजन बतलाया है। आगे गाथा २३के द्वारा वही बाहुल्य प्रकारान्तरसे १३२०००, १२८०००, १२००००, ११८०००, ११६०००० और १०८००० बतलाया है। यह दिगम्बर ग्रन्थोंमें तो नहीं मिलता। किन्तु जिनभद्रगणि प्रणीत बृहत्संग्रहणीमें (गाथा २४१) उक्त मत मिलता है। संभवतया श्वेताम्बर परम्परामें यही मत मान्य है।

३. चौथे अध्याय गा० ७७०में कहा है कि समवसरणमें स्थित मानस्तम्भोंकी ऊँचाई अपने-अपने तीर्थंकरके शरीरकी ऊँचाईसे बारह गुणी होती हैं। आगे गा० ७७८में कहा है कि ऋषभनाथ स्वामीके समवसरणमें मानस्तम्भोंकी ऊँचाई एक योजनसे अधिक थी। शेष तीर्थंकरोंके मानस्तम्भोंकी ऊँचाई क्रमसे हीन होती गई ऐसा कितने ही आचार्य कहते हैं।

४. चौथे अध्याय गाथा १४९६-९९में वीर निर्वाणके पश्चात् शकराजाकी उत्पत्तिका काल बतलाते हुए चार मत दिये हैं। इसी तरह वीर निर्वाणसे १००० वर्ष पर्यन्त हुए राजवंशोंकी काल गणना सम्बन्धी भी एक मतभेद दिया है। इनका कथन आगे करेंगे।

५. चौथे अध्याय गा० २५४६में बतलाया है कि धातकी खण्ड द्वीपमें मेरुको छोड़कर शेष पर्वतोंका विस्तार जम्बूद्वीपके पर्वतोंसे दुगुना है। यही मत सर्वमान्य है किन्तु आगेकी गाथामें किन्हीं आचार्यका मत दिया है जो दोनों द्वीपोंमें पर्वतोंका विस्तारादि समान ही मानते हैं।

६. इसी तरह अ० ४ गा० २५७८में मेरुका विस्तार तल भागमें दस हजार योजन और पृथ्वी पृष्ठ पर ९४०० योजन बतलाया है। किन्तु गाथा २५८१में मतभेद देते हुए लिखा है कि कितने ही आचार्य मेरुके तल विस्तारको ९५०० योजन तक मानते हैं। यह मतभेद धातकी खण्डस्थ मेरुके सम्बन्ध में है।

किन्तु अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक ३।३३में घातकीखण्डस्थ मेरुका मूलमें विस्तार ९५०० योजन और धरणी तलपर विस्तार ९४०० योजन लिखा है। यह कथन ति०प०के उक्त दोनों मतोंसे नहीं मिलता।

७. अधिकार ८ गाथा ११५में बतलाया है कि कोई आचार्य स्वर्गके बारह कल्प मानते हैं और कोई सोलह कल्प मानते हैं। तदनुसार ग्रन्थकारने प्रथम बारह कल्पोंको गिनाया है और पश्चात् मतान्तर रूपसे सोलह कल्पोंको गिनाया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकार बारह कल्पोंके पक्षपाती हैं। यद्यपि उन्होंने दोनों ही मान्यताओंके आधारसे कथन किया है। किन्तु प्राथमिकता बारह कल्पकी मान्यताको ही दी है। यथा, गाथा ५२५-२६में पहले बारह कल्पों-की विवक्षासे देवियोंकी आयुका प्रमाण बतलाया है फिर गाथा ५२७-२९ सोलह कल्पोंकी मान्यता वालोंके मतसे उक्त आयुका प्रमाण बतलाया है।

वर्तमानमें जो संस्कृत लोक विभाग पाया जाता है जो कि प्राकृत लोक-वेभागकी भाषाको परिवर्तित करके रचा गया है उनमें भी दोनों मतोंका कथन ई। श्वेताम्बर परम्परामें बारह कल्प ही माने गये हैं जबकि दिगम्बर परम्परामें १६ कल्प माने गये हैं।

९. इसी ८वें अ०में गा० ५११में सर्वार्थसिद्धिमें पल्यके असंख्यातवें भाग कम तेतीस सागर जघन्य आयु किन्हीं आचार्य के मतसे बतलाई है। यह मत अन्यत्र नहीं पाया जाता। सर्वार्थसिद्धिसे च्युत हुए देवोंके सम्बन्धमें गा० ६८४ में कहा है—

> णवरि विसेसो सव्वट्ठसिद्धिठाणदो विच्चुदा देवा।
> वज्जा सलाग पुरिसा णिव्वाणं जंति णियमेण ॥६८४॥

इसका अनुवाद किया गया है कि विशेष यह है कि सर्वार्थसिद्धिसे च्युत हुए देव लाका पुरुष न होकर नियमसे निर्वाणको प्राप्त होते हैं। अनुवाद ठीक है किन्तु ०४ गाथा ५२२ आदिमें लिखा है कि ऋषभ और धर्मादि तीन तीर्थंकर र्वार्थसिद्धिसे अवतीर्ण हुए। अतः उक्त गाथामें वज्जाके स्थानमें भज्जा पाठ ना चाहिए। अर्थात् सर्वार्थसिद्धिसे च्युत हुए देव निर्वाण तो नियमसे जाते हैं रन्तु शलाका पुरुष होते भी हैं नहीं भी होते।

इस प्रकार ये कुछ मतोंका निर्देश है। मतान्तर तो और भी बहुत से हैं। उनसे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारके सन्मुख प्रकृत विषयसे सम्बद्ध काफी साहित्य वर्तमान था, जो अब अनुपलब्ध है।

विषय परिचय

त्रिलोक प्रज्ञप्तिका आरम्भ पाँच गाथाओंके द्वारा पंच गुरुओंकी वन्दनासे होता है, जो षट्खण्डागमके आद्य मंगलभूत पंचनमस्कार मंत्रका स्मरण करा देता है। किन्तु पञ्च नमस्कार मंत्रमें अरहन्तोंको पहले नमस्कार किया है, पीछे सिद्धोंको नमस्कार किया है। किन्तु ति० प्र० में सिद्धोंके पश्चात् अरहंतोंको नमस्कार किया है यही विशेषता है।

गा० ७ में कहा[1] है कि शास्त्रमें मंगल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ताका कथन पहले करना चाहिये, यह आचार्योंकी परिभाषा है। कसाय पाहुडके चूर्णिसूत्रोंके प्रारम्भमें उपक्रम[2] रूपसे आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकारका निर्देश किया है। धवला[3] टीकाके आरम्भमें वीरसेनने ति० प० में कथित उक्त छै बातोंका प्रथम कथन करनेका निर्देश किया है किन्तु प्रमाण रूपसे जो एक गाथा भी उद्धत की है वह ति० प० से भिन्न है।

उक्त मंगलादिककी चर्चा करनेके पश्चात् गा० ८८–८९ में त्रिलोक प्रज्ञप्ति के नौ अधिकारोंके नाम गिनाये हैं—सामान्य जगतका स्वरूप, नारकलोक, भवनवासीलोक, मनुष्यलोक, तिर्यग्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिषी लोक, कल्पवासी लोक और सिद्ध लोक। ये नौ अधिकार इस ग्रन्थमें हैं। (गा० १, ८८–८९)

प्रथम अधिकारका वर्णन प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकारने कहा है कि अनन्तानन्त अलोकाकाशके बहुमध्यमें जीवादि पाँच द्रव्योंसे व्याप्त और जगश्रेणिके घन प्रमाण यह लोक है (१, ९१)। चूंकि इसमें लोकका प्रमाण जगश्रेणिका घन कहा है अतः जगश्रेणिका घन प्रमाण बतलानेके लिये ग्रन्थकारने उपमा प्रमाणके आठ भेदोंका कथन किया है। जो प्रमाण किसीकी उपमाके द्वारा जाना जाता है उसे उपमा प्रमाण कहते हैं। पल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरांगुल, घनांगुल, जगश्रेणि, लोक प्रतर और लोक ये आठ उपमा प्रमाणके भेद हैं। (गा० १, ९३)।

१. 'मंगल कारणहेदु सत्थस्स पमाण णाम कतारा। पढमं चिय कहिदव्वा एसा आइरिय परिभासा ॥७॥–ति० प०, अ० १।
२. पंचविहो उवक्कमो। तं जहा-आणुपुव्वी, णामं, पमाणं वत्तव्वदा, अत्थाहियारो चेदि।—क० पा०, भा० १, पृ० १३।
३. मंगल-णिमित्त-हेऊ परिमाणं णाम तह य कत्तारं। वागरिय छप्पि पच्छा वक्खाणउ सत्थमाइरियो ॥१॥—षट्खं० पु० १ पृ० ७।

इन सबका वर्णन करके ग्रन्थकार अपने प्रकृत विषय लोकके स्वरूप पर आते हैं। लोकके तीन भेद हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। अधोलोकका आकार वेत्रासनके समान, मध्य लोकका आकार खड़े किए हुए मृदंगके ऊर्ध्वभाग-समान और ऊर्ध्व लोकका आकार खड़े किये हुए मृदंगके समान है (गा० १३०-१३८)। आगे तीनों लोकोंका मापादि बतलाया है। और विविध प्रकारसे क्षेत्र-फल तथा घनफल निकाला है। पूरा प्रकरण गणितसे सम्बद्ध है मुद्रित प्रतिके अनुसार पहले अधिकारमें २८३ गाथाएँ हैं और अन्तमें कुछ प्राकृत गद्य भाग है। गद्यके द्वारा लोक पर्यन्त वात वलयोंसे अवरुद्ध क्षेत्रोंका फल बतलाया गया है।

दूसरा अधिकार नारक लोकसे सम्बद्ध है। प्रारम्भमें ही ४ गाथाओंके द्वारा ग्रन्थकारने 'तीर्थङ्करके वचनोंसे निकले हुए इस नारक प्रज्ञप्ति नामक महाधिकार के अन्तर्गत पन्द्रह अधिकारोंको गिनाया है—नारकियोंकी निवासभूमि, नारकियों की संख्या, आयुका प्रमाण, शरीरकी ऊँचाई, अवधि ज्ञानका प्रमाण, उनके गुण-स्थान वगैरह, नरकोंमें उत्पन्न होने वाले प्राणी, जन्म और मरणके अन्तर-कालका प्रमाण, एक समयमें उत्पन्न होने वाले और मरने वाले जीवोंका प्रमाण, नरकसे निकलने वाले जीवोंका वर्णन, नरक गतिकी आयुके बन्धक परिणामोंका कथन, नरक गतिके उत्पत्ति स्थानोंका कथन, नरकके दुःखोंका वर्णन, नरकमें सम्य-ग्दर्शन ग्रहण करनेके कारणोंका कथन, नरकमें उत्पन्न होनेके कारणोंका कथन। इन पन्द्रह बातोंका कथन दूसरे अधिकारमें है। इस अधिकारमें ३६२ गाथाएँ हैं ४ इन्द्रवज्रा हैं और एक स्वागता है। कुल ३६७ पद्य हैं।

तीसरे अधिकारमें भवनवासी देवोंका वर्णन है। इस महाधिकारके अन्तर्गत चौवीस अधिकार हैं जिनमें क्रमसे भवनवासी देवोंका निवास क्षेत्र, भवनवासी देवोंके भेद, उनके चिन्ह, भवनोंकी संख्या, इन्द्रोंका प्रमाण, इन्द्रोंके नाम, दक्षिण इन्द्र और उत्तर इन्द्र, उनमेंसे प्रत्येकके भवनका परिमाण, अल्पऋद्धि वाले मह-र्द्धिक और मध्यम ऋद्धि वाले भवनवासी देवोंके भवनोंका व्यास, वेदी; कूट, जिन मन्दिर, प्रासाद, इन्द्रोंकी विभूति, भवनवासी देवोंकी संख्या, उनकी आयु-का प्रमाण, उनके शरीरकी ऊँचाईका प्रमाण, उनके अवधिज्ञानके क्षेत्रका प्रमाण उनके गुणस्थानादि, एक समयमें उत्पन्न होने वाले और मरने वाले भवनवासी देवोंका प्रमाण, भवनवासी देवोंमेंसे मरकर अन्यत्र जन्म लेने वाले जीवोंकी दशा, भवनवासी देवोंकी आयुके बन्धयोग्य परिणाम, देवोंके सुखका स्वरूप और भवन-वासी देवोंमें सम्यक्त्व ग्रहणके कारणोंका कथन किया गया है। इस महाअधिकार के आदिमें जो २४ अधिकार गिनाये हैं उनमें देवोंमें सुख नामक अधिकार नहीं गिनाया है। किन्तु ग्रन्थमें इस अधिकारका कथन किया है। यथा—'एवं सुह सरूवं समत्तं'।

इस अधिकारमें ३४३ पद्य हैं। जिनमें दो इन्द्रवज्रा, चार उपजाति और शेष गाथाएँ हैं।

मनुष्य लोक नामक चौथे महा अधिकार में सोलह अवान्तर अधिकारों के द्वारा जम्बू द्वीप, लवण समुद्र, धातकी खण्ड द्वीप, कालोद समुद्र, पुष्करार्द्ध द्वीप, इन द्वीपों में रहने वाले मनुष्यों के भेद, उनकी संख्या, उनका अल्पबहुत्व, उनके गुण स्थान वगैरह, आयुबन्ध में निमित्त परिणाम, योनियाँ, सुख, दुःख, सम्यग् दर्शन ग्रहण करने के कारण, और मनुष्य लोक से मुक्ति प्राप्त करने वाले जीवों की संख्या आदि का कथन है।

यह अधिकार भूगोल सम्बन्धी वर्णनों से सम्बद्ध है। अन्य भी कई दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसका विस्तार भी सबसे अधिक है। इसी से इसकी पद्य संख्या २९६१ है। जिनमें ७ इन्द्रवज्रा, दो दोधक, १ शार्दूलविक्रिडित २ वसन्त तिलका और शेष गाथाएँ हैं।

तृतीय सुषम दुषमा काल का अन्त निकट आने पर भोगभूमि से इसमें जो भरत क्षेत्र के आर्य खण्ड में होने वाले काल परिवर्तन का वर्णन है वह ऐतिहासिक दृष्टि से भी अवलोकनीय है उसका कथन आगे करेंगे।

जम्बूद्वीप के वर्णन के पश्चात् लवण समुद्र का वर्णन है। लवण समुद्र के मध्य में चारों दिशाओं में चार उत्कृष्ट पाताल[1] हैं, विदिशाओं में चार मध्यम पाताल हैं। और उनके बीच में एक हजार जघन्य पाताल हैं। प्रत्येक पाताल के नीचे के त्रिभाग में वायु, मध्यम त्रिभाग में जल और वायु तथा ऊपर के त्रिभाग में केवल जल रहता है।

पातालों की वायु स्वभाव से शुक्ल पक्ष में प्रतिदिन २२२२$\frac{२}{९}$ योजन मात्र वृद्धि को और कृष्ण पक्ष में उतनी ही हानि को प्राप्त होती है। इस प्रकार पूर्णिमा के दिन नीचे के दो त्रिभागों में वायु जल और ऊपर के एक त्रिभाग में जल रहता है। तथा अमावस्या के दिन उपरिम दो त्रिभागों में जल और नीचे के त्रिभाग में वायु रहती है। इसी से समुद्र में जल की हानि और वृद्धि होती है।

लवण समुद्र के अभ्यन्तर भाग में और बाह्य भाग में २४–२४ अन्तर्द्वीप बतलाये हैं। इनमें कुमनुष्य रहते हैं। उनके विचित्र आकार बतलाये हैं।

---

१. 'हे मुनि सत्तम ! अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान, महातल, सुतल और पाताल इन सातों में से प्रत्येक पाताल दस दस सहस्र योजन की दूरी पर है। उनमें दानव, दैत्य, यक्ष और बड़े बड़े नाग आदिकी सैंकड़ों जातियाँ निवास करती है।'—वि० पु०, १ अंश, ५ अ०।

लवण समुद्र के पश्चात् धातकी खण्ड द्वीप का वर्णन है। फिर कालोदधि समुद्र और पुष्करार्ध द्वीप का वर्णन है।

पाँचवे तिर्यग्लोक नामक महाधिकार में सोलह अधिकार हैं—स्थावर लोक का प्रमाण, उसके बीच में तिर्यक् त्रसलोक, द्वीप समुद्रों की संख्या, नाम सहित उनका विन्यास, नाना प्रकार का क्षेत्रफल, तिर्यञ्चों के भेद, संख्या, आयु, आयु बन्ध के कारण परिणाम, योनि, सुख, दुःख, गुणस्थान वगैरह, सम्यक्त्व ग्रहण के करण, गति–आगति, अल्प बहुत्व, और अवगाहना।

इस अधिकार को प्रारम्भ करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि मैं अपनी शक्ति से तिर्यग्लोक का लेश मात्र वर्णन करता हूँ। इससे ऐसा प्रकट होता है कि उसके सम्बन्ध में उन्हें विस्तृत जानकारी प्राप्त करने के विशेष साधन उपलब्ध नहीं थे।

देव, नारकी और मनुष्यों के सिवाय शेष सब प्राणी तिर्यञ्च कहलाते हैं। वे तिर्यञ्च स्थावर और त्रस के भेद से दो प्रकार के हैं। स्थावर पूरे लोक में रहते हैं और त्रस लोक के मध्य में स्थित त्रसनाली में रहते हैं। इसी से ग्रन्थकार ने समस्त लोकाकाश को स्थावर लोक कहा है और सुमेरु पर्वत के मूल से एक लाख योजन ऊपर तक तथा एक राजु लम्बे चौड़े क्षेत्र को तिर्यञ्चों का त्रसलोक कहा है। क्योंकि तिर्यञ्च त्रस केवल मध्यलोक में ही रहते हैं।

यों तो मध्यलोक में असंख्यात द्वीप और असंख्यात समुद्र हैं। किन्तु ग्रन्थकार ने आदि और अन्त के सोलह सोलह द्वीपों और सोलह सोलह समुद्रों के ही नाम बतलाये हैं। इनमें से केवल आठवें और तेरहवें द्वीप का विशेष वर्णन किया है। इनमें से आठवें नन्दीश्वर द्वीप का जैन परम्परा में बहुत महत्त्व है क्योंकि वहाँ ५२ अकृत्रिम जिनालय हैं और प्रतिवर्ष कार्तिक, फाल्गुन और आसाढ़ के अन्तिम आठ दिनों में उनकी पूजा के उपलक्ष में नन्दीश्वर पर्व मनाया जाता है।

इस अधिकार में गद्य भाग अधिक है। गाथा संख्या तो केवल ३२१ है। प्राकृत गद्य द्वारा द्वीप समुद्रों का क्षेत्रफल आदि बतलाया गया है।

छठे व्यन्तर लोकमें सतरह अधिकारोंके द्वारा भूत पिशाच आदि व्यन्तर देवोंका कथन है। व्यन्तरोंका निवास क्षेत्र, उनके भेद, उनके विविध चिन्ह, उनके कुल, नाम, दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र, उनकी आयु, आहार, उच्छ्वास, अवधिज्ञान, शक्ति, ऊँचाई, संख्या, जन्म, मरण, आयुके बन्धक भाव, सम्यक्त्व ग्रहणके कारण, और गुणस्थानादिका कथन, इन अधिकारोंके द्वारा उनका कथन किया गया है। इस अधिकारमें १०३ गाथाएँ हैं।

ज्योतिर्लोकका कथन भी सतरह अधिकारोंके द्वारा किया गया है। वे सतरह अधिकार हैं—ज्योतिषी देवोंका निवास क्षेत्र, भेद, संख्या, विन्यास, परिमाण, चर ज्योतिषियोंका संचार, अचर ज्योषियोंका स्वरूप, आयु, आहार, उच्छ्वास, उत्सेध, अवधिज्ञान, शक्ति, उत्पत्ति व मरण, आयुके बन्धक भाव, सम्यग्दर्शन ग्रहण करनेके कारण और गुणस्थानादि वर्णन।

यह अधिकार खगोलसे सम्बद्ध है। जैनमान्य खगोलका परिचय कराते हुए पहले लिख आये हैं कि सम पृथ्वीतलसे ७९० योजनसे लेकर नौ सौ योजनकी ऊँचाई तक ज्योतिष मण्डलका अवस्थान है। उनमेंसे चन्द्रको इन्द्र और सूर्यको प्रतीन्द्र माना है। जम्बूद्वीपमें दो चन्द्र और दो सूर्य हैं। दोनोंका चार क्षेत्र जम्बूद्वीपमें १८० योजन और लवण समुद्रमें ३३० ४८/६१ योजन है। सूर्य विमानका व्यास ४८/६१ योजन है और चन्द्र विमानका व्यास ५६/६१ योजन है।

चन्द्र विमानके नीचे राहु विमान है। उसका विस्तार कुछ कम एक योजन है। श्यामवर्ण है। उसकी गतिके कारण ही चन्द्रग्रहण और प्रतिदिन कलाकी हानि वृद्धि होती है। पक्षान्तर रूपसे यह भी कह दिया है कि स्वभावसे ही चन्द्रकी कलायें घटती और बढ़तीं हैं। सूर्यके गमनके कारण दिनकी हानि वृद्धि भी बतलाई है। इस अधिकारमें ६१९ गाथाएँ हैं। अन्तमें कुछ गद्य भाग भी है।

सुरलोक नामक आठवें महाधिकारमें २१ अवान्तर अधिकार हैं। जो इस प्रकार हैं—निवास क्षेत्र, विन्यास, भेद, नाम, सीमा, संख्या, इन्द्र, विभूति, आयु, उत्पत्ति और मरणका अन्तर, आहार, उच्छ्वास, उत्सेध, देवलोक सम्बन्धी आयु-के बन्धक भाव, लौकान्तिक देवोंका स्वरूप, गुणस्थानादिका स्वरूप, सम्यग्दर्शन ग्रहणके विविध कारण, स्वर्गोंसे आगमन, अवधि ज्ञान, देवोंकी संख्या, और शक्ति और योनि। किन्तु इन अधिकारोंमें से उच्छ्वास और उत्सेधका कथन नहीं है। तथा १३ आयुबन्धकभाव नामक अधिकारके आगे उत्पत्ति और सुख नामक दो ऐसे अधिकारोंका कथन है जिनके नाम इक्कीस अधिकारोंमें नहीं हैं।

इस महाधिकारमें स्वर्ग लोकका वर्णन है। इसमें ७०३ गाथाएँ हैं। और एक शार्दूल विक्रीडित है। कुछ गद्य भाग भी है।

यह अधिकार सबसे छोटा है। इसमें मुक्त जीवोंका वर्णन पांच अधिकारों-के द्वारा किया गया हैं। वे पाँच अधिकार हैं—सिद्धोंकी निवास भूमि, संख्या, अवगाहना, सुख और सिद्धत्वके कारणभूत भाव। इस अधिकारमें केवल ७७ गाथाएँ हैं।

यह त्रिलोक प्रज्ञप्तिका सामान्य विषय परिचय जानना चाहिये।

त्रिलोक प्रज्ञप्तिके कुछ विशेष कथन

त्रिलोक प्रज्ञप्तिकी जहाँ कुछ अपनी विशेषतायें हैं जिन पर ध्यान दिया जाना

आवश्यक हैं वहाँ उसके कुछ विशेष कथन भी हैं जो जैन करणानुयोगका तुलनात्मक अध्ययन करने वालोंके लिये ही उपयोगी नहीं हैं किन्तु भारतीय इतिहासके अन्वेषकोंकी दृष्टिसे भी उपयोगी है। उन्हींकी ओर ध्यान आकृष्ट किया जाता है।

सबसे प्रथम ध्यान देने योग्य है उसकी शैली, उसकी चर्चा आगे की जायेगी।

प्रारम्भमें मंगलकी चर्चा परम्परागत होते हुए भी कई दृष्टियोंसे उल्लेखनीय है—प्रथम गा० ८ में मंगलके पर्याय शब्द—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य बतलाये हैं। फिर मंगल शब्दकी तीन व्युत्पत्तियां की हैं—मलका गालन करता है इसलिये मंगल है। मंग-सुखको लाता है इसलिये मंगल है और पूर्वमें आचार्यों द्वारा मंगलपूर्वक ही शास्त्रका पठन पाठन हुआ है उसीको यह लाता है इसलिये मंगल है। फिर शास्त्रके आदि अन्त और मध्यमें नियमसे मंगल करनेका विधान है और उसका फल बतलाते हुए लिखा है कि शास्त्रके आदिमें मंगल करनेसे शिष्य शास्त्रके पारगामी होते हैं, मध्यमें मंगल करने पर निर्विघ्न विद्याकी प्राप्ति होती है और अन्तमें मंगल करनेसे विद्याका फल प्राप्त होता है (गा० २८-२९)

विशेषावश्यक भाष्यके आदिमें भी मंगलकी चर्चा है किन्तु वह इससे कुछ भिन्न है। उसमें भी शास्त्रके आदि अन्त और मध्यमें मंगल करनेका विधान है। किन्तु प्रथम मंगलका फल निर्विघ्न रूपसे शास्त्रके अर्थका पारगामी होना है। मध्य मंगलका फल शास्त्रकी स्थिरता और अन्त मंगलका फल उसकी अव्युच्छित्ति बतलाया है। (वि० भा० गा० १३-१४)। यह उससे भिन्न है।

इसी तरह मंगल शब्दकी व्युत्पत्ति भी भिन्न है—जिसके द्वारा हित प्राप्त किया जाये वह मंगल है। मंग अर्थात् धर्मको लाता है इसलिए मंगल है। मां (मुझको) संसारसे छुड़ाता है इसलिए मंगल है (गा० २२-२४)

विद्यानन्दिने आप्तपरीक्षा टीकाके आरम्भमें जो मंगलकी चर्चा की है उसमें मंगल शब्दकी व्युत्पत्ति ति०प० के अनुसार ही है। और धवलाटीकाके आरम्भमें जो मंगलकी चर्चा है (षट्खं० पु० १, पृ० ३१) वह तो ति०प० की ही ऋणी है।

ति०प० १-४० आदिमें राजा, अधिराज, महाराज, अर्धमण्डलीक[1], मण्डलीक,

---

१. शुक्रनीतिमें (१।१८२-१८४) मण्डलीकको राजा और महाराजासे छोटा बतलाया है। जिसकी वार्षिक भूमि करसे आय ४ लाखसे १० लाख चाँदीके कार्षापण पर्यन्त हो वह मण्डलीक और ११ लाखसे २० लाख पर्यन्त आय होने पर राजा तथा २१ लाखसे ५० लाख पर्यन्त होने पर महाराजा बतलाया है।

महामण्डलीक, अर्धचक्री और चक्रवर्ती ये राजपद गिनाकर प्रत्येककी परिभाषा दी है—जो भक्ति युक्त अट्ठारह सेनाओंका स्वामी होता है, रत्नजटित मुकुट धारण करता है, सेवा करने वालोंको वृत्ति और अर्थ देता है तथा युद्ध स्थलमें शत्रुओंको जीतता है वह राजा है। पाँचसौ राजाओंका स्वामी अधिराज है। एक हजार राजाओंका पालक महाराज है। दो हजार राजाओंका अधिपति अर्धमण्डलीक है। इसी तरह दूने-दूने राजाओंके स्वामी मण्डलीक आदि कहे जातें हैं।

हाथी, घोड़ा, रथ इनके अधिपति, सेनापति, पदाति, श्रेष्ठी, दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर (ब्राह्मण), गणराज, मन्त्री, तलवर, पुरोहित, अमात्य और महामात्य ये अट्ठारह श्रेणियाँ हैं ।।४३-४४।।

इससे प्राचीन भारतके राजानुक्रमकी व्यवस्थाका पता चलता है।

द्रव्यकी मापका मूल परमाणु हैं। परमाणुका स्वरूप ग्रन्थकारने तीन-चार गाथाओंके द्वारा बतलाया है—जो अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्रके द्वारा भी छेदा-भेदा नहीं जा सकता तथा जो जल और अग्निके द्वारा भी नाशको प्राप्त नहीं होता वह परमाणु है (गा० १।९६)।

जिसमें एक रस, एक वर्ण, एक गंध किन्तु दो स्पर्श गुण होते हैं. जो स्वयं शब्द रूप न होकर भी शब्दका कारण हैं वह परमाणु है (गा० १।९७)। जो आदि अन्त और मध्य से रहित है, एक प्रदेशी हैं, इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकतां तथा विभाग रहित हैं, वह परमाणु है (९८)।

अनन्तानन्त[1] परमाणुओंसे एक उवसन्नासन्न नामक स्कन्ध उत्पन्न होता है। आठ उवसन्नासन्नोंसे सन्नासन्न नामक स्कन्ध उत्पन्न होता है। आठ सन्नासन्नोंसे एक त्रुटिरेणु, आठ त्रुटिरेणुओंसे एक त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओंसे एक रथरेणु, आठ रथरेणुओंका एक उत्तम भोगभूमिके मनुष्यके वालका अग्रभाग, उक्त आठ वालग्रभागोंका एक मध्यम भोगभूमिके मनुष्यका बालाग्र, इन आठ बालाग्रोंका एक जघन्य भोगभूमिके मनुष्यका बालाग्र, इन आठ बालाग्रोंकी एक लीक, आठ लीककी एक जूँ, आठ जूँका एक जौं और आठ जौंका एक उत्सेध अंगुल होता है। (गा० १०२-१०६)।

---

१. अनुयोगद्वार सूत्र १०१में भी उक्त कथन है मगर कुछ अन्तरको लिए हुए हैं। तत्वार्थवार्तिक (३।३८) पृ० २०७ पर भी उक्त कथन है। जहाँ एक ओर वह ति०प० से मिलता है वहाँ कुछ भेदको भी लिए हुए हैं और कुछ अंश उसका अनुयोगद्वारसे मिलता है।

अंगुलके तीन भेद हैं—उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुल। उत्सेधांगुल से पाँचसौ गुना प्रमाणांगुल होता है। अपसर्पिणी कालके प्रथम चक्रवर्ती भरत-का यही आत्मांगुल होता है। भरत और ऐरावत क्षेत्रमें जिस-जिस कालमें जो-जो मनुष्य होते हैं उस-उस कालके मनुष्योंका अंगुल आत्मांगुल कहा जाता है। उत्सेधांगुलसे देव मनुष्य, तिर्यञ्च नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई, निवास स्थान, तथा नगरादिका प्रमाण मापा जाता हैं। तथा द्वीप, समुद्र, कुलाचल, भरतादि क्षेत्रोंका माप प्रमाणांगुलसे होता है। (१।गा० १०७-१११)।

छै अंगुलका पाद, दो पादोंका एक वितस्ति, दो वितस्तियोंका एक हाथ, दो हाथका एक रिक्कू (किष्कु), दो रिक्कुओंका एक दण्ड या धनुष और दो हजार दण्ड या धनुषका एक कोश होता है। चार कोशका एक योजन होता है। (१। गा० ११४-११६)

ति०प० (४।२८५ आदि)में काल गणनाका क्रम दिया है। पुद्गलका एक परमाणु जितने क्षेत्रको रोकता है उसे प्रदेश कहते हैं। और एक परमाणु अपने निकटवर्ती आकाश प्रदेशको जितनी देरमें अतिक्रमण करता है वह समय हैं। यह कालका सबसे लघु अंश है। असंख्यात समयोंकी एक आवलि होती है। संख्यात आवलियोंका एक उछ्वास होता है। सात उछ्वासोंका एक स्तोक, सात स्तोकों-का एक लव, साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली और दो नालियोंका एक मुहूर्त होता है। एक समय कर्म मुहूर्तको भिन्न मुहूर्त कहते हैं। तीस मुहूर्तका दिन, १५ दिनका पक्ष, दो पक्षका एक मास, दो मासकी ऋतु, तीन ऋतुओंका अयन, दो अयनोंका वर्ष और पांच वर्षका युग होता है। ८४ लाख वर्षका पूर्वांग, चौरासी लाख पूर्वांगका एक पूर्व इसी तरह आगे नियुतांग, नियुत, आदि जानना। (गा० १, २८५-३०८)।

ति० प० का चौथा महाधिकार जैनधर्मके उन कथनोंकी दृष्टिसे जिन्हें पौरा-णिक कहा जाता है बहुत महत्त्वपूर्ण है।

यह पहले लिख आये हैं कि भरत क्षेत्रमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके छ भागोंके द्वारा सदा परिवर्तन होता रहता है। अवसर्पिणीके शुरूके तीन कालों-में भोगभूमि रहती है। कल्पवृक्षोंसे ही आवश्यक सब वस्तुएँ उन्हें मिल जाती है। ये कल्पवृक्ष दस प्रकारके होते हैं उनमेंसे प्रकाश देने वाले कल्पवृक्षोंके कारण सूर्य चन्द्रमा आदि तक दृष्टि अगोचर रहते हैं। उनका प्रकाश पृथ्वी तक नहीं आता। फलतः वर्षा भी नहीं होती। जंगली पशु भी अहिंसक होते हैं। युगल स्त्री पुरुष अन्त समय उपस्थित होने पर बालक-बालिकाके युगलको जन्म देकर स्वर्गत हो जाते हैं। और युवा होने पर वे दोनों बालक बालिका पति पत्नीके रूपमें अपने

माता पिताका स्थान ले लेते हैं। दिगम्बर साहित्यमें भोग भूमियोंके बारेमें केवल ७–७ दिनका ही विवरण मिलता है, जिसके अनुसार वे ४२ दिनमें ही तरुण हो जाते हैं। किन्तु यह व्यवस्था जघन्य भोगभूमि की हैं। ति०प०में मध्यम भोगभूमिमें ५–५ दिन और उत्तम भोगभूमिमें तीन-तीन दिन काल बतलाया है। श्वेताम्बर साहित्यमें ऐसा कथन मिलता है। जब भोगभूमिसे कर्मभूमि आती है तब उक्त बातोंमें धीरे-धीरे परिवर्तन होने लगता है और जनता उन परिवर्तनोंको देखकर घबरा उठती है। तब एकके बाद एकके क्रमसे चौदह कुलकर (मनु) उत्पन्न होते हैं जो अपने-अपने समयकी कठिनाइयोंको दूर करनेका उपाय बताकर जनताको आश्वस्त करते हैं। अन्तिम कुलकर नाभिराय थे। उन्हींकी पत्नी मरूदेवीकी कोख से प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेवने जन्म लिया था। (४। गा० ३१३–५५० में) कुलकरोंके कार्यका वर्णन आदि किया है। भगवान ऋषभदेव इस युगके आद्य नृपति और उनके पुत्र भरत आद्य चक्रवर्ती थे। महाभारतमें तथा बौद्धोंके दीघनिकायमें भी सृष्टिकी आदिमें ऐसे समयका वर्णन है जब न कोई राजा था और न कोई शासक और सब सुखी सन्तोषी और सदाचारी थे।

कर्म भूमिके प्रथम कालमें त्रेसठ शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। ये शलाका पुरुष हैं—२४ तीर्थङ्कर, बारह चक्रवर्ती, नौ बलभद्र, नौ नारायण और नौ प्रतिनारायण। चक्रवर्तियोंमें भरतके पश्चात् सगर हुए। इनका कथन हिन्दू-पुराणोंमें भी आता है। नौ बलदेवोंमें ८वें श्री रामचन्द्र और नौवें कृष्ण जी के बड़े भाई बलदेव जीका नाम हैं। बलदेव जीके लिये पद्मनाम आया है। नौ नारायणोंमें लक्ष्मण तथा श्रीकृष्णजीका नाम है। नारायणोंके शत्रु प्रतिनारायणोंमें रावण और जरासंधका नाम है। (४। ५१५-५१९)।

चौबीस तीर्थङ्करोंका कथन विस्तारसे किया गया है। उसमें उनके अवतरण स्थान, जन्मस्थान, माता-पिता, जन्मतिथि, जन्मनक्षत्र, वंश, आयु, शरीरकी ऊँचाई, रंग, चिन्ह, कुमारकाल, राज्यकाल, वैराग्यका कारण, दीक्षास्थान, दीक्षा की तिथि काल, नक्षत्र, वन, सह दीक्षित राजकुमारोंकी संख्या, पारणाका काल, केवलज्ञान प्राप्तिकी तिथि, समय, नक्षत्र और स्थान, और उनकी उपदेश सभा, समवसरण आदिका कथन किया है। गा० ८९६ आदिमें तीर्थंकरोंके चौतीस अतिशयों और ८ प्रातिहार्योंका कथन है। आठ प्रातिहार्योंमें दिव्य ध्वनि नहीं है उसके स्थानमें लिखा है कि बारह गण तीर्थंकरको घेर कर स्थित रहते हैं। गा० ९१६–९१८ में तीर्थंकरोंके केवलज्ञानके वृक्षोंके नाम गिनाये हैं, और लिखा है कि जिन वृक्षोंके नीचे तीर्थंकरोंको केवलज्ञान हुआ वे सब अशोक वृक्ष हैं।

समवशरणकी रचनाका वर्णन सांस्कृतिक दृष्टिसे भी उल्लेखनीय है। इसी

तरह शेष शलाका पुरुषोंके सम्बन्धमें भी आवश्यक बातें बतलाई हैं। गा० १३०४–१४१० में चक्रवर्त्तियोंकी दिग् विजय तथा विभूतिका वर्णन पठनीय है।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीरकी गणना भारतके ऐतिहासिक महापुरुषोंमें की जाती है। भगवान महावीरके पश्चात् ६८३ वर्ष तक हुए उनके शिष्य प्रशिष्योंकी काल गणना दी गई है। यही काल गणना धवला, जयधवला, हरिवंश पुराण, श्रुतावतार आदि ग्रंथोंमें तथा पट्टावलियोंमें मिलती है।

उसके पश्चात् ग्रन्थकारने वीर निर्वाणके पश्चात् शक राजाकी उत्पत्ति होनेका काल देते हुए अनेक मतोंका निर्देश किया है, जो इस बातका सूचक है कि प्राचीन समयमें भी काल गणनामें आश्चर्यजनक मतभेद पाया जाता था। वीर जिनेन्द्रके निर्वाणके पश्चात् चार सौ इकसठ वर्ष बीतने पर शक राजा हुआ। अथवा नौ हजार सात सौ पिचासी वर्ष और पांच मास बीतने पर शक राजा हुआ, अथवा चौदह हजार सात सौ तिरानवे वर्ष बीतने पर शक राजा हुआ। अथवा ६०५ वर्ष ५ मास बीतने पर शक राजा हुआ। (४।१४९६–९९)।

इनमेंसे ग्रन्थकारको प्रथम मत मान्य है। किन्तु धवलाकार, हरिवंश पुराण कार (६०।५४९) और त्रिलोकसारके (गा० ८५०) कर्ताको अन्तिम मत मान्य था। वर्तमानमें जो वीरनिर्वाण सम्वत् तथा शालिवाहन शक सम्वत् प्रचलित है उन दोनोंमें ६०५ वर्ष ५ मासका ही अन्तर है।

ग्रन्थकार ने वीर निर्वाण के पश्चात् १००० वर्ष में भारत में हुए प्रमुख राजवंशों की काल गणना भी दी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अपना विशेष महत्त्व रखती है। सबसे प्रथम ग्रन्थकार ने इस काल गणना के सम्बन्ध में एक मतान्तर दिया है जिसके अनुसार श्रीवीर भगवान के निर्वाण काल के पश्चात् ४६१ वर्ष बीतने पर शक नरेन्द्र हुआ। उसके वंश का राज्य काल २४२ वर्ष तक रहा। फिर २५५ वर्ष तक गुप्तों का राज्य रहा। फिर ४२ वर्ष तक चतुर्मुख कल्किका राज्य रहा। इस तरह ४६१ + २५५ + २४२ + ४२ = १००० वर्ष होते हैं।। (४।१५०३–४)।

इसके बाद की राज्य काल गणना उल्लेखनीय है। जिस समय भगवान महावीर का निर्वाण हुआ उसी समय अवन्तिसुत पालकका राज्याभिषेक हुआ। साठ वर्ष तक पालक का, एक[1] सौ पचपन वर्ष तक विजय वंशियों का, चालीस वर्ष मुरुण्ड[2] वंशियों का, और तीस वर्ष पुष्यमित्र का राज्य रहा।

---

1. तपागच्छ पट्टावली, तीर्थोद्धार प्रकरण और मेरुतुंग की विचारश्रेणी में पालक के बाद १५५ वर्ष राज्यकाल नन्द राजाओं का लिखा है।
2. प्रभावक चरित में पाटली पुत्र के मुरुण्ड राज्यवंश का वर्णन है।

फिर साठ वर्ष वसुमित्र[1] अग्निमित्र का, एक सौ वर्ष गन्धर्व का और ४० वर्ष नर वाहन का राज्य रहा। फिर भ्रत्यान्ध्रों का काल २४२ वर्ष रहा, फिर गुप्त वंश का राज्य २३१ वर्ष रहा। फिर चतुर्मुखकल्कि हुआ,। उसने ४२ वर्ष राज्य किया। इस तरह ६० + १५५ + ४० + ३० + ६० + १०० + ४० + २४२ + २३१ + ४२ = १००० वर्ष हुए। (४।१५०५–९)।

आगे कल्कि के अत्याचारों का वर्णन है। अन्त में लिखा है कि इसी तरह प्रत्येक एक एक हजार वर्ष में एक एक कल्कि और प्रत्येक पाँच सौ वर्षों में एक एक उपकल्कि होगा (४।१५०५–९)।

कल्कि एक ऐतिहासिक राजा हुआ है। उसके विषय में स्व० श्री जायसवाल[2] ने एक विस्तृत लेख लिखा था। इसी तरह स्व० डा० काशीनाथ बापूजी पाठक ने भी अपने एक लेख में कल्कि को ऐतिहासिक राजा बतलाया था। किन्तु जायसवाल जी के मत से मालवाधिपति विष्णु यशोधर्मा ही कल्कि हैं और पाठक जी मिहिर कुल को कल्कि मानते थे। अस्तु,

२१वें अन्तिम कल्कि के अत्याचारों के विरोध स्वरूप अन्तिम मुनि आर्यिका श्रावक और श्राविका समाधि पूर्वक मरण को प्राप्त होते हैं। उसी दिन एक असुर के द्वारा कल्कि मार डाला जाता है और धर्म तथा राजाके साथ अग्नि का भी लोप हो जाता है। इस घटना के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् अतिदुषमा नामक छठा काल आता है। उस काल में वस्त्र, वृक्ष, मकान वगैरह नष्ट हो जाते हैं। मनुष्यों का आचरण पशुवत् हो जाता है। इस काल का प्रमाण इक्कीस हजार वर्ष है। उसमें उनचास दिन शेष रहने पर प्रलय काल आता है। भयंकर वर्षा और उत्पातों से पर्वत तक चूर्ण चूर्ण हो जाते हैं। उनचास दिन बीतने पर अवसर्पिणी समाप्त हो जाता है और उत्सर्पिणी काल आरम्भ होता है। यह दुःख से सुख की और बढ़ता है। इसके अन्तर्गत छै काल हैं—अति दुषमा, दुषमा, दुषम सुषमा, सुषम दुषमा, सुषमा, सुषम

---

१. विचार श्रेणी, तीत्थोगालीपइन्ना और तीर्थोद्धार प्रकरण में वसुमित्र अग्निमित्र के बदले बलमित्र भानमित्र, गन्धर्व के स्थान में गर्दभिल्ल का नाम है। हरिवंश पुराण में गर्दभिल्लको गर्दभ मानकर उसके पर्यायवाची शब्द रासभ का प्रयोग किया है। गर्दभिल्ल एक राजवंश था। स्व० जायसवाल ने खारवेल के राजवंश से उसकी एकता सिद्ध की है। (बि० उ० रि० सो० जर्नल का सितम्बर १९३० का अंक)।

२. 'कल्कि अवतार की ऐतिहासिकता' और गुप्त राजाओं का काल, 'मिहिरकुल और कल्कि' शीर्षक लेख—जै० हि०, भा० १३, अं० १२।

सुषमा। इन छै कालों का संक्षेप में वर्णन है। इस तरह भरत क्षेत्र का वर्णन समाप्त होता है। उसके पश्चात् जम्बूद्वीप के शेष क्षेत्रों और पर्वतों का वर्णन है।

ये ति० प० के कुछ उल्लेखनीय विशेष कथन हैं।

ति० प० में अनेक ऐसी गाथाएँ भी पाई जाती हैं जो उपलब्ध अन्य ग्रन्थों-में भी ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। ऐसे ग्रन्थोंमें मूलाचार, समयसार, पञ्चा-स्तिकाय, प्रवचनसार और भगवती आराधनाका नाम उल्लेखनीय हैं। ये सभी ग्रन्थ प्राचीन हैं और दि० जैन साहित्य में इनका स्थान प्रथम कोटि में गिना जाता है। कुछ गाथाओं का विवरण नीचे दिया जाता है।

ति० प० के सिद्धलोक नामक नौवें अधिकार में १८–६५ गाथाओं में सिद्धत्व की हेतु भूत भावनाओं का वर्णन है। इन गाथाओं में कितनी ही गाथाएँ प्रवचनसार समयसार पञ्चास्तिकाय में और नियमसार में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं, और तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ये गाथाएँ उन ग्रन्थोंसे ही ति० प० में ली गई हैं क्योंकि जितनी 'फिट' उनकी स्थिति उनके मूल ग्रन्थोंमें है उतनी यहाँ नहीं है। उदाहरणके लिये तिलो० प० के नौवें अधिकारके अन्तमें कुन्थुनाथसे लेकर महाबीर पर्यन्त तीर्थंकरोंको नमस्कार किया है। महावीर भगवान्‌को नमस्कार करने वाली गाथा प्रवचनसारकी आद्य मंगल गाथा है जो इस प्रकार है—

> एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धौदघाइकम्ममलं।
> पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥७३॥

प्रवचनसारमें इसके पश्चात् 'सेसे पुण तित्थयरे' गाथाके द्वारा शेष तीर्थंकरोंको नमस्कार किया है और सबसे प्रथम भगवान् महावीरको नमस्कार करनेका कारण उक्त गाथामें ही बतला दिया है कि प्रचलित धर्मतीर्थके कर्ता वे ही हैं। साथ ही 'एस' शब्दकी स्थिति भी प्रवचनसारमें ही ठीक घटित होती है। ति०प०में तो उसका कोई प्रयोजन ही दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः उक्त गाथा प्रवचनसारसे ही ली गई है। इसी तरह अन्य गाथाओंके सम्बन्धमें भी जानना चाहिए।

मूलाचारका तो ग्रन्थकारने नामोल्लेख भी किया है यह पहले लिख आये हैं। उसके पर्याप्ति अधिकारकी अन्य गाथाएँ ति०प०में ज्योंकी त्यों या कुछ पाठ परिवर्तनके साथ पाई जाती हैं।

इसी तरह भगवती आराधनासे भी कुछ गाथाएँ ली गई हैं।

कतिपय प्रकरणोंको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारमें संग्रह वृत्ति थी। उन्हें जहाँ जो कुछ संग्राह्य जान पड़ा उसका उन्होंने संग्रह कर लिया। उदाहरणके लिए प्रथम अधिकारके आदिमें लोक सामान्यका वर्णन आरम्भ करते हुए पल्यका प्रमाण बतलानेके लिए परमाणुका निरूपण ७ गाथाओंके द्वारा किया है। वे सातों गाथाएँ ग्रन्थातरोंसे संगृहीत की गई हैं। गाथाएँ इस प्रकार हैं—

खंधं सयलसमत्थं तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति।
अद्धद्धं च पदेसो अविभागी[1] होदि परमाणू ॥९५॥
सत्थेण सुतिक्खेण छेत्तुं भेत्तुं च जं किरस्सक्कं।
जलयणलादिहिं णासं ण एदि सो होदि परमाणू ॥९६॥
एक्करसवण्णगंधं दो पासा सद्दकारणमसद्दं।
खंदंतरिदं दव्वं तं परमाणुं[2] भणंति बुधा—॥९७॥
अंतादि मज्झहीणं अपदेसं इंदिएहि ण हु गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणा ॥९८॥
पूरंति गलंति जदो पूरणगलणोहि पोग्गला तेण।
परमाणुच्चिय जादा इदि दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि ॥९९॥
वण्णरसगंधफासे पूरणगलणाइ सव्वकालम्हि।
खंदं पिव कुणमाणा परमाणु पुग्गला तम्हा ॥१००॥
आदेसमुत्तमुत्तो धातुचउक्कस्स कारणं जो दु।
सो णेओ परमाणु परिणाम[3]गुणो य खंदस्स ॥१०१॥

इनमेंसे गाथा ९५, ९७ तथा १०१ पञ्चास्तिकायकी क्रमसे गाथा नं० ७५, ८१ और ७८वीं गाथा हैं। इन तीनोंके केवल अन्तिम चरणमें पाठभेद पाया जाता है। पञ्चास्तिकायमें उनकी स्थिति बिल्कुल स्वाभाविक और सयुक्तिक है। जबकि ति०प०में वे संगृहीत दशामें वर्तमान हैं। इसी तरह गाथा ९६का पूर्वार्ध अनुयोगद्वारकी गाथासे बिल्कुल मिलता हुआ है। यथा—

'सत्थेण सुतिक्खेणवि छित्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का।
तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं ॥१००॥'

गाथा ९८ नियमसारकी २६वीं गाथा है उसमें वह इस प्रकार है—

अत्तादि अत्त मज्झं अत्ततं णेव इंदिए गेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणुं विजाणीहि ॥२६॥

---

१. 'परमाणु चेव अविभागी ॥७५॥'—पञ्चास्ति०।
२. 'परमाणुं तं वियाणेहि' ॥८१॥—पञ्चा०।
३. 'परिणाम गुणो सयमसद्दो' ॥७८॥—पञ्चा०।

ये ग्रन्थ ति०प०से कई सौ वर्ष प्राचीन हैं। अतः ति०प०से उनमें लिये जाने की तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती।

भगवती आराधना शिवार्य रचित एक प्राचीन ग्रन्थ है। उसकी भी कई गाथाएँ ति० प० में वर्तमान हैं।

ति० प० में एक गाथा इस प्रकार है—

वेढेदि विसयहेदुं कलत्तपासेहिं दुव्विमोचेहिं।
कोसेण कोसकारो व दुम्मदी मोहपासेसु ॥६२७॥—अ० ४।

यह भ० आराधनाकी ९१९ वीं गाथा है। अन्तिम चरणमें 'दुम्मदी णिच्च अप्पाणं' पाठ भेद है। इसी तरह ति० प० अ० ३ में गाथा न० ६१७–६१८, भ० आराधनामें उसी क्रमसे वर्तमान गाथा न० १५८२–८३ हैं। भगवतीकी वैराग्य परक अन्य भी गाथाएँ ति० प० में तीर्थङ्करोंके वैराग्यके प्रकरणमें वर्तमान हैं।

ति० प० के नौवे अधिकारमें, जिसमें अधिकांश गाथा संगृहीत हैं और उनका कोई क्रम भी समुचित प्रतीत नहीं होता, तीन गाथाएँ पुण्यकी बुराईमें दी गई हैं, जो इस प्रकार हैं—

पुण्णेण होई विहओ विहवेण मओ मएण मइमोहो।
मदमोहेण य पावं तह्मा पुण्णो वि वज्जेज्जो ॥५२॥
परमट्ठ बाहिरा जे ते अण्णाणेण पुण्णमिच्छंति।
संसारगमणहेदुं विमोक्खहेदुं अयाणंता ॥५३॥
णहु मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥५४॥

इनमेंसे पहली गाथा परमात्म प्रकाशकी २।६० वीं गाथा है। इसके अन्तिम चरणमें पाठ भेद हैं। उसमें 'तह्मा पुण्णोवि वज्जेजो'के स्थानमें 'ता पुण्णं अह्म मा होउ' पाठ है। अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं है। दूसरी गाथा समय प्राभतकी १५४ वीं गाथा है और तीसरी गाथा प्रवचनसारकी १।७७ वीं गाथा है। तीनों गाथाओंका परस्परमें कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः यह निश्चित है कि वे उन ग्रन्थोंसे संगृहीत की गई हैं। जहाँ तक समयसार और प्रवचनसारकी बात है वहाँ तक तो कोई विशेष बात नहीं है क्योंकि इन दोनों ग्रन्थोंकी बहुत सी गाथाएँ ति० प० में संगृहीत हैं और ये दोनों ग्रन्थ भी ति० प० से बहुत प्राचीन हैं। किन्तु परमात्म प्रकाशकी गाथाका तिलोयपण्णत्तिमें पाया जाना अवश्य ही विचारणीय है क्योंकि डा० ए० एन० उपाध्येने परमात्मप्रकाशकी अपनी प्रस्तावनामें उसके कर्ता जोइन्दुका समय ईसाकी छठी शताब्दी निर्धारित किया है और

यही समय ति० प० का भी निश्चित होता है। दूसरी बात यह है कि परमात्म-प्रकाश दोहा छन्दमें है और उक्त गाथा भी दोहोंके मध्यमें स्थित है। किन्तु इस गाथाकी स्थिति पर डा० उपाध्येने कोई आपत्ति नहीं की है। इसका मतलब है कि उसकी स्थितिमें सन्देहका आभास किसी प्रति या टीकाकारके द्वारा प्राप्त नहीं हुआ। उधर ति० प० में उक्त गाथाके आगे पीछेकी जब प्रायः सभी गाथाएँ ग्रन्थान्तरोंकी ऋणी हैं तब उक्त एक गाथाको ही ति० प० की मूल गाथा भी कैसे माना जा सकता है।

इस तरह ति० प० में इतर ग्रन्थोंसे बहुत सी गाथाएँ ज्योंकी त्यों या किंचित् पाठभेदके साथ ली गई हैं।

तिलोयपण्णत्तिमें मिलावट

यह हम बतला चुके हैं कि ति० प० में अन्य ग्रन्थोंसे बहुत सी गाथाएँ ली गई हैं। उसके सातवें अधिकारमें कुछ गद्य भाग भी ऐसा पाया जाता है जो धवलाटीकामें ज्योंका त्यों वर्तमान है, और धवलामें तिलोयपण्णत्तिका नामोल्लेख किया गया है तथा उस नामोल्लेखके साथ धवलाका गद्य ति० प०में ज्योंका त्यों वर्तमान है। अतः उसके सम्बन्धमें तो यह सन्देह किया ही नहीं जा सकता कि शायद वह गद्य ति० प० से धवलामें लिया गया हो, क्योंकि उस गद्यके द्वारा धवलाकारने अपने व्याख्यानका परिकर्मसे विरोध बतलाते हुए अपने व्याख्यानको तिलोयपण्णत्ति सूत्रका अनुसारी बतलाया है। यथा—

'एसा तप्पाउग्गसंखेज्जरूवाहिय-जंबूदीवछेदणय-सहिददीवसमुद्दरूवमेत्तरज्जुच्छेदणय-पमाण-परिक्खाविही ण अण्णाइरिय-उवदेस-परंपराणुसारिणी, केवलं तु तिलोयपण्णत्तिसुत्ताणुसारिणी (ति० प० अ-७, पृ० ७६६ तथा—षट्खं० पु० ४, पृ० १५७)।

अत यह असंदिग्ध है कि उक्त गद्य धवलासे ही तिलोयपण्णत्तिमें ली गई है। इससे यह आभास होना स्वाभाविक है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्ति अपने मूल रूपमें नहीं है उसमें पीछेसे मिलावट की गई है। इस सम्बन्धमें प० फूलचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्रीने 'वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकाल आदिका विचार' शीर्षकसे एक लेख जै० सि० भास्कर भाग ११, किरण एकमें प्रकाशित कराया था। उसमें पण्डित जीने लिखा है कि 'इसका (ति० प० का) सूक्ष्म निरीक्षण करनेसे जो अन्य एतिहासिक सामग्री उपलब्ध होती है उसपर दृष्टिपात करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका रचनाकाल ९वीं शताब्दीके पहलेका किसी भी हालतमें नहीं हो सकता। अपने इस मतके समर्थनमें पण्डित जीने जो पांच हेतु उपस्थित किये हैं। संक्षेपमें वे इस प्रकार हैं—

१. वीरसेन स्वामीने जीवट्ठाण क्षेत्रानुयोगद्वारकी धवलाटीकामें पृष्ठ १२ से लेकर लोकके आकार और परिमाणकी चर्चा की है। उसे देखनेसे मालूम पड़ता है कि उनके काल तक उपमा लोकके प्रमाणसे पांच द्रव्योंका आधारभूत लोकका प्रमाण भिन्न माना जाता था। उसकी पुष्टि राजवार्तिकसे भी होती है। वीरसेन स्वामीने जिस लोककी सिद्धि की है उससे राजवार्तिकमें बताये गये लोकमें अन्तर है। वीरसेन स्वामीका बतलाया हुआ लोक अधोलोकके मूलमें सातराजू तो है पर वह चारों दिशाओंमें ही सातराजु है विदिशाओंमें नहीं, इस लिये इसका आकार चौकोर है। राजवार्तिकमें बतलाया हुआ लोक भी अधोलोकके मूलमें सात राजु है पर वह आठो दिशाओं और विदिशाओंमें सातराजु है अतः इसका आकार गोल हुआ। आगे वीरसेन स्वामीका बतलाया हुआ लोक पूर्व और पश्चिममें क्रम से घटकर मध्य लोकके पास एक राजु रह जाता है पर यह उत्तर और दक्षिण दिशामें नहीं घटता किन्तु सर्वत्र सात राजु ही रहता है। किन्तु राजवार्तिकमें[1] बतलाया हुआ लोक आठों दिशाओं और विदिशाओंमें घटता हुआ मध्यलोकके पास सर्वत्र एक राजु रहता है। इसी प्रकार मध्यलोकसे ऊर्ध्व लोक तक जानना चाहिये। इनमेंसे वीरसेन स्वामीके द्वारा बतलाये हुए लोकका घनफल ३४३ घन राजु है। किन्तु राजवार्तिकमें इस पाँच द्रव्योंके आधार भूत लोकका घनफल नहीं दिया। परन्तु राजवार्तिकमें तीसरे अध्यायके ३८वें सूत्रकी व्याख्यामें जगश्रेणीके घनको घनलोक कहा है। चालू मान्यताके अनुसार जगश्रेणीका प्रमाण सातराजु है अतः घनलोकका प्रमाण ३४३ घनराजु हुआ।

राजवार्तिकके दोनों उल्लेखोंसे यह भलीभांति समझमें आ जाता है कि वीरसेन स्वामीके समय तक जैनाचार्य उपमालोकसे पाँच द्रव्योंके आधारभूत लोकको भिन्न मानते थे। वीरसेन स्वामीने उक्त दोनों लोकोंकी मान्यताको नहीं पनपने दिया और उपमालोकके प्रमाण को मुख्य माना।

आगे पंडितजीने उन दो गाथाओंको उद्धृत किया है जो वीरसेन स्वामीने अपने मतकी पुष्टिमें धवलामें उद्धृत की हैं। वे दोनों गाथाएँ तिलो० प० की नहीं है। साथ ही वीरसेन स्वामीने यह भी लिखा है कि 'उत्तर दक्षिण दिशाओं-की अपेक्षा लोकका प्रमाण सर्वत्र सात राज है यद्यपि इसका विधान करणानुयोगके ग्रन्थोंमें नहीं है तो भी वहाँ निषेध भी नहीं है।'

किन्तु वीरसेन स्वामीके द्वारा स्थापित किये उक्त मतकी समर्थक तीन गाथाएँ पण्डितजीने तिलोयप० से उद्धृत की हैं, और यह बतलाया है कि

१. त० वा०, ३।३८।

यदि ये गाथाएँ तिलोयपण्णत्तिमें पहलेसे वर्तमान होतीं तो वीरसेन स्वामी अपने मतके समर्थनमें उन्हें अवश्य उद्धृत करते। अतः जिस तिलोयपण्णत्तिका वीरसेन स्वामीने उल्लेख किया है वह वर्तमान ति० प० से भिन्न होनी चाहिये।

२. तिलो० प० में पहले अधिकारकी ७वीं गाथासे लेकर ८७वीं गाथा तक ८१ गाथाओंमें मंगल आदि छै अधिकारोंका वर्णन है। यह पूरा का पूरा वर्णन संत परूवणाकी धवलाटीकासे मिलता हुआ है। ये छह अधिकार तिलोयपण्णत्तिमें अन्यत्रसे संग्रहीत किये गये हैं इस बातका उल्लेख स्वयं ति० प० के कर्ताने पहले अधिकारकी ८५वीं गाथामें किया है। तथा धवलामें इन छह अधिकारोंका वर्णन करते समय जितनी गाथाएँ या श्लोक उद्धृत किये गये हैं वे सब अन्यत्रसे लिये गये हैं तिलोयप० से नहीं। इससे मालूम पड़ता है कि ति० प० के कर्ताके सामने धवला अवश्य थी।

३. लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थोंके कर्ता भट्टाकलंकके तत्त्वार्थ भाष्यका उल्लेख धवला टीकामें अनेक जगह है। लघीयस्त्रयके छठे अध्यायके 'ज्ञानं प्रमाणमात्मादे' श्लोकको वीरसेन स्वामीने धवलामें उद्धृत किया है। तिलोयपण्णत्तिकारने इसे भी नहीं छोड़ा। तिलोयपण्णत्तिको देखनेसे ऐसा मालूम होता है कि तिलोय० कारने इसे लघीयस्त्रयसे न लेकर धवलासे ही लिया है क्योंकि धवलामें इसके साथ जो एक दूसरा श्लोक उद्धृत है उसे भी उसी क्रमसे ति० के कर्ताने अपना लिया है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि ति० प० की रचना धवलाके बाद हुई है।

४. धवला द्रव्य प्रमाणानुयोग द्वारके पृ० ३६ में तिलोयपण्णत्तिका एक गाथांश उद्धृत किया है। जो इस प्रकार है—'दुगुण दुगुणो दुवग्गो णिरतंरो तिरियलोगोत्ति।' वर्तमान ति० प० में यह नहीं है। वर्तमान तिलोयप० में इसका न पाया जाना यह सिद्ध करता है कि यह तिलोयपण्णत्ति उससे भिन्न है।

५. पाँचवा प्रमाण वही है जिसकी चर्चा हमने प्रारम्भमें की है और बतलाया है कि इससे वर्तमान ति० प० में मिलावटकी पुष्टि होती है।

इन पाँच प्रमाणोंके आधार पर पण्डित फूलचन्द्रजीने यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिका संग्रह धवलाके अनन्तर हुआ है। तथा नेमिचन्द्रने अपने त्रिलोकसारकी रचना वर्तमान ति० प० के आधार पर ही की थी यह दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट है। अतः धवलाकी रचनाके पश्चात् और त्रिलोकसारकी रचनासे पूर्व शक सं० ७३८ से लेकर ९०० के मध्यमें वर्तमान तिलोयपण्णत्तिकी रचना हुई है।

आगे पं० जीने वर्तमान ति० प० के संकलनका कर्ता वीरसेनके शिष्य जिनसेन को बतलाया है।

पं० फूलचन्द्रजीकी उक्त युक्तियोंका विरोध पं० जुगलकिशोरजी मुख्तारने 'तिलोयपण्णत्ति[१] और यतिवृषभ' शीर्षक लेखमें किया है। और सिवाय अन्तिम बात को स्वीकार करनेके और किसी भी युक्ति को मान्य नहीं किया है। तथा उक्त गद्यांशको बादमें किसीके द्वारा धवला आदि परसे प्रक्षिप्त किया हुआ बतलाया है, और यह संभावना की है कि और भी कुछ गद्यांश ऐसे हो सकते हैं जो धवला परसे प्रक्षिप्त किये गये हों। चुनाचे जिस गद्यांश को प्रारम्भमें धवला परसे ति० प० में प्रक्षिप्त हुआ बतलाया है, मुख्तार साहबने उसके आदि और अन्त भागको भी उसमें सम्मिलित करके प्रक्षिप्त बतलाया है। किन्तु यह प्रक्षेप जान बूझकर किसीके द्वारा किया गया नहीं बतलाया है और अन्तमें यह निष्कर्ष निकाला है कि शास्त्रीजीका यह लिखना कि तिलोयपण्णत्तिका संकलन शक सम्वत् ७३८ (वि० सं० ८७३) से पहलेका किसी भी हालतमें नहीं हो सकता तथा इसके कर्ता यतिवृषभ नहीं हो सकते 'उनके अति साहसका द्योतक है और उसे किसी भी तरह युक्तिसंगत नहीं कहा जा सकता।

प्रो० हीरालालजीने ति० प० भा० २ की प्रस्तावनामें पं० फूलचन्दजीकी युक्तियों और मुख्तार साहबके विरोधकी समीक्षा करते हुए इस बातको तो मान्य किया है कि परिवर्धन और संस्कार होकर ति० प० का वर्तमान रूप धवलाकी रचनाके पश्चात् किसी समय उत्पन्न हुआ होगा। किन्तु वर्तमान ति० प० के कर्ता वीरसेनके शिष्य जिनसेन हैं, पं० जीकी इस कल्पनाके सम्बन्धमें समुचित साधक बाधक प्रमाणोंकी अनुपलब्धि बतलाई है।

श्रीयुत प्रेमीजी ने भी 'लोकविभाग और तिलोयपण्णत्ति' शीर्षक लेखमें मिलावटकी बातको मान्य किया है।

ति० प० से भी उसका समर्थन होता है। ति० प० की एक अन्तिम गाथामें उसका परिमाण आठ हजार श्लोक बतलाया है। किन्तु वर्तमान ति० प० का परिमाण नौ हजार श्लोक प्रमाणसे भी अधिक है।

इस तरह ति० प० में प्रक्षिप्त अंश भी है और वह अपने मूल रूपमें नहीं है, यह बात तो सर्वमान्य है। किन्तु उसमें कौन अंश प्रक्षिप्त है और कौन

१. यह लेख वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थमें प्रकाशित हुआ है। पश्चात् पुरातन जैन वाक्य सूची और जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश नामक निबन्ध संग्रहमें भी प्रकाशित हुआ है।

अंश मूल है इसमें विवाद है और जब तक ति० प० की कोई प्राचीन प्रति उपलब्ध न हो तब तक उस विवादका निवटारा होना भी संभव नहीं है। और जब धवलाके पश्चात् ही मिलावटकी संभावना की जाती है तो इतनी प्राचीन प्रति मिलना भी असंभव ही है। अतः यत्किञ्चित् उपलब्ध साधनोंके प्रकाशमें पं० फूलचन्द्रजीकी तरह ति० प० के वर्तमान रूपकी समीक्षाके द्वारा किसी निष्कर्ष पर पहुंचनेका प्रयत्न व्यर्थ नहीं है यह मानकर प्रकृत चर्चा पर थोड़ा ऊहापोह किया जाता है। उससे प्रथम ति० प० कर्ताके सम्बन्धमें चर्चा करना उचित होगा क्योंकि प्रकृत विषयसे उसका गहरा सम्बन्ध हो सकता है।

तिलोयपण्णत्तिके कर्ता और उसका समय

धवला और जयधवलासे पूर्वके किसी ग्रन्थ अभिलेख या पट्टावली वगैरहमें तिलोयपण्णत्ति और उसके कर्ताके सम्बन्धका कोई उल्लेख हमारे देखनेमें नहीं आया। तिलोयपण्णतिका सर्वप्रथम उल्लेख वीरसेन स्वामीकी धवलामें ही दृष्टिगोचर होता है क्योंकि उन्होंने उससे उद्धरण दिये हैं। किन्तु ति० प० के सम्बन्धमें वे भी मूक हैं। वर्तमान ति० प० के अन्तमें दो गाथाएँ पाई जाती हैं जो इस प्रकार हैं—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेव गुणवसहं।
दट्ठूण परिसवसहं जदिवसहं धम्मसुत्तपाठएवसहं ॥७६॥
चूण्णिसरूवछक्करणसरूवपमाण होइ किं जं तं।
अट्ठसहस्सपमाणं तिलोयपण्णत्तिणामाए ॥७७॥

'जिनवर वृषभको, गुणोंमें श्रेष्ठ गणधर वृषभको तथा परीषहोंको सहन करने व धर्मसूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ यतिवृषभको देखकर नमस्कार करो।'

'चूर्णिस्वरूप तथा षट्करण स्वरूपका जितना प्रमाण है, त्रिलोक प्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थका भी प्रमाण उतना आठ हजार श्लोक परिमित है।'

उक्त दोनों गाथाएँ तथा उनका यह अर्थ मुद्रित ति० प० से दिया गया है। इन गाथाओंके कुछ पदोंके सम्बन्धमें जो पाठान्तर सुझाये गये हैं उनके विवादमें हम नहीं पढ़ना चाहते। पहली गाथामें यतिवृषभका नाम है और दूसरी गाथाके प्रारम्भमें चूर्णिस्वरूपका। धवला जयधवला तथा इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें बतलाया है कि यतिवृषभने कसायपाहुडके गाथा सूत्रों पर छ हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि सूत्रोंकी रचना की थी। अतः उक्त दो गाथाओंके आधार पर चूर्णिसूत्रोंके रचयिता यतिवृषभ तिलोयपण्णत्तिके कर्ता माने जाते हैं। चूर्णिसूत्रोंकी चर्चामें यतिवृषभके समयके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डाला गया है। अतः उसकी पुनरुक्ति न करते हुए इतना बतला देना आवश्यक है कि उक्त ग्रन्थोंके अनुसार

यतिवृषभ आर्यमंगु और नागहस्तिके शिष्य थे, उन्हींसे कसायपाहुडके गाथासूत्रोंको पढ़कर उन्होंने उस पर चूर्णिसूत्र रचे थे। नन्दिसूत्रकी स्थविरावलीमें आर्य मंगु और नागहस्तीका उल्लेख है। जयधवलामें लिखित इन दोनों नामके आचार्योंके साथ उनकी एक रूपता पर भी पीछे प्रकाश डाला गया है तथा यह भी दिखाया है कि पट्टावलीके आधार पर उनका समय विक्रमकी दूसरी शताब्दीके पश्चात् नहीं जाता है। अतः उनके शिष्य यतिवृषभ उसी समयके लगभग होने चाहिये।

किन्तु तिलोयपण्णतिमें भगवान महाबीरके निर्वाणसे लेकर एक हजार वर्ष तक की राजकाल गणना दी हुई है। अतः प्रचलित वीर निर्वाण संवत्के अनुसार ति० प० का समय १०००-४७० = ५३० वि० सं० से पूर्व नहीं कहा जा सकता। अतः यदि यतिवृषभ ति० प० के कर्ता हैं तो वे आर्यमंक्षु और नागहस्तिके शिष्य नहीं हो सकते और यदि वे उनके शिष्य हैं तो वे ति० प०के कर्ता नहीं हो सकते। क्योंकि विक्रम सम्वत् की ५-६वीं शताब्दीमें आर्यमंक्षु और नागहस्ती नामके किन्हीं आचार्योंके होनेका कोई संकेत तक नहीं मिलता।

दूसरी बात यह है कि वीरसेन स्वामीने जयधवला में चूर्णिसूत्रोंको एक नहीं अनेक जगह यतिवृषभ निर्मित लिखा है। किन्तु तिलोयपण्णतिका धवलामें उल्लेख करते हुए भी कहीं इस बातका आभास तक नहीं दिया कि तिलोयपण्णत्ति यतिवृषभ कृत है।

तीसरे, जिस 'पणमह जिणवर वसहं' आदि गाथाके आधारपर तिलोयपण्णत्तिको यतिवृषभ कृत माना जाता है वह गाथा जयधवलाके सम्यक्त्व अनुयोगद्वारके आदिमें मंगलरूपसे वर्तमान है और उसमें जो पाठ है वह बिल्कुल शुद्ध और मूल प्रतीत होता है—

पणमह जिणवरवसहं गणहरवसहं तहेंव गुणहरवसहं।
दुसहपरीसहविसहं जइवसहं धम्मसुत्तपाठरवसहं॥'

'जिनवर वृषभको, गणधर वृषभको और श्रेष्ठ गुणधराचार्यको तथा दुःसह परीषहको सहनेवाले और धर्मसूत्रके पाठकोंमें श्रेष्ठ यतिवृषभको नमस्कार करो।'

इसमें 'गुणवसहं' की जगह 'गुणहरवसहं' पाठ तथा 'दट्ठूण' की जगह दुसह पाठ बिल्कुल उपयुक्त है। गुणधर कसायपाहुडके रचयिता हैं। यदि यह गाथा यतिवृषभ रचित है तो उनके द्वारा गुणधराचार्यको नमस्कार किया जाना उचित ही है और यदि जयधवलाकारके द्वारा रचित है तो उनके द्वारा गुणधराचार्य और यतिवृषभाचार्यको नमस्कार किया जाना और भी अधिक उपयुक्त है क्योंकि इन दोनोंके द्वारा रचित ग्रन्थों पर ही जयधवला टीका रची गई है।

इसके सिवाय शिवार्य[1] रचित भगवती आराधना गा० २०७५ में एक गणी-के परीषह सहन करने पूर्वक समाधिमरण करनेका निर्देश है। टीकाकार अपरजितसूरिने गणिका अर्थ यतिवृषभाचार्य किया है और हरिषेण वृहत्कथाकोशकी १५६वीं कथामें तथा नेमिदत्तके आराधना कथाकोशकी ८१वीं कथामें इसका विवरण भी यतिवृषभके सम्बन्धमें मिलता है। उसकी संगति गाथाके 'दुसह-परीसहविसहं' पदके साथ मिल जाती है। यदि शिवार्यके द्वारा निर्दिष्ट गणी यतिवृषभ ही हैं तो यतिवृषभका समय विक्रमकी छठीं शताब्दी नहीं हो सकता।

उक्त बातोंके प्रकाशमें तिलोयपण्णत्तिका यतिवृषभ रचित होना भी संदिग्ध ही प्रतीत होता है। इसके सिवाय यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रोंके साथ ति०प० की तुलनासे भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है।

१. चूर्णिसूत्रोंके प्रारम्भमें पांच उपक्रमोंका निर्देश है—आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण वक्तव्यता और अर्थाधिकार। किन्तु ति० प० के प्रारम्भमें कहा गया है कि मंगल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम, और कर्ताका कथन पहले करना चाहिए यह आचार्योंकी परिभाषा है।

२. चूर्णिसूत्रोंमें निक्षेपपूर्वक नययोजनाकी प्राचीन परिपाटीका क्रियात्मक रूपसे पालन किया गया है। किन्तु ति० प० अ० १, गा० ८२ के द्वारा केवल यह कह भर दिया है कि जो नय प्रमाण और निक्षेपसे अर्थका निरीक्षण नहीं करता उसे अयुक्त पदार्थ युक्तकी तरह और युक्त पदार्थ अयुक्तकी तरह प्रतीत होता है। किन्तु उसका अनुसरण नहीं किया गया।

३. चूर्णिसूत्रोंमें केवल कर्मप्रवाद और कर्मप्रकृतिका निर्देश है। कर्मप्रवाद आठवें पूर्वका नाम है और कर्मप्रकृति दूसरे पूर्वके पंचमवस्तु अधिकारके चौथे प्राभृतका नाम है। इसी प्राभृतसे षट्खण्डागमकी उत्पत्ति हुई है। इन दो आगमिक ग्रन्थोंके सिवाय अन्य किसी ग्रन्थ या आचार्यका नाम चूर्णिसूत्रोंमें नही पाया जाता। और यह बात चूर्णिसूत्रोंकी प्राचीनताको ही सिद्ध करती है।

उधर ति० प० में लोकानुयोग विषयक अनेक ग्रन्थोंके उल्लेखोंके अतिरिक्त अन्य ग्रन्थोंसे मूल ग्रन्थमें सम्मिलित की गई गाथाओंकी भरमार है। यह शैली चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभकी शैलीसे कोई मेल नहीं खाती।

चूर्णिसूत्रोंमें मंगलका नाम तक नहीं है और ति० प० के प्रारम्भमें पंचपरमेष्ठीका स्तवन करते हुए भी प्रथम अधिकारके अन्तमें ऋषभदेवको नमस्कार किया गया है और आगे प्रत्येक अधिकारके आदि और अन्तमें क्रमसे एक-एक

१. जै० सा० इ०, पृ० २०-२१।

तीर्थङ्करको नमस्कार किया गया है। इस तरह नौवें अधिकारके प्रारम्भ पर्यन्त १६ तीर्थङ्करोंको नमस्कार किया गया है और शेष आठ तीर्थङ्करोंको नौवें अधिकारके अन्तमें नमस्कार किया गया है। यह क्रम भी बड़ा विचित्र प्रतीत होता है।

इस तरह चूर्णिसूत्रोंके साथ तुलनाकी दृष्टिसे भी वर्तमान तिलोयपण्णत्ति यतिवृषभकृत प्रतीत नहीं होती। किन्तु वर्तमान ति० प०में भी जो प्राचीनताके चिन्ह वर्तमान हैं उनसे इतना अवश्य कहा जा सकता है कि मूल ति० प० अवश्य ही प्राचीन होनी चाहिए और उसके कर्ता यतिवृषभ जैसे प्राचीन आचार्य ही होने चाहिए। किन्तु उसका मूलरूप क्या था यह कह सकना शक्य नहीं है; क्योंकि जैसा पं० फूलचन्दजीने अपने लेखमें बतलाया है कि लोकको सर्वत्र उत्तर दक्षिण सातराजु माननेकी स्थापना वीरसेन स्वामीने की है और वर्तमान ति० प० में वीरसेन स्वामीके मतनानुसार ही कथन मिलता है। यदि वीरसेन स्वामी-के सामने वर्तमान ति० प० का उक्त कथन होता तो वह आयत चतुरस्राकार लोककी स्थापनाका श्रेय स्वयं क्यों लेते और क्यों धवलामें इतने विस्तारसे उसका कथन करते। अतः यह निश्चित है कि उस समय ति० प० में उस प्रकारका कथन नहीं था।

जहाँ इस तरहकी मिलावटकी बात प्रमाणित होती है। वहाँ यह कैसे निर्णय करना सम्भव है कि ति०प०का मूलरूप अमुक था।

फिर भी इतना निश्चित है कि वीरसेन स्वामीके सामने ति०प० थी, क्योंकि उन्होंने उसका उल्लेख किया है। और उसमें कुछ मिलावट करनेका कार्य अथवा पुरानी ति०प०के होते हुए नई ति०प०की रचना करनेका काम वीरसेन या उनके शिष्य जिनसेन जैसे प्रामाणिक आचार्य नहीं कर सकते। अतः पं० जीका यह कथन कि वर्तमान तिलोयपण्णत्तिकी रचना वीरसेनके शिष्य जिनसेन की है, ठीक नहीं है और इसलिए उन्होंने जो उसका समय निर्धारित किया है वह भी ठीक नहीं है।

हरिवंश पुराणकी रचना शक सं० ७०५में हुई है और हरिवंश पुराणके सर्ग चौथा, पाचवाँ, छठा, सातवाँ तथा सर्ग ६० का मिलान तिलोयपण्णत्तिसे करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि हरिवंश पुराणकी रचना करते समय उसके कर्ताके सामने ति०प० अवश्य थी। उसके उक्त अध्यायोंके अधिकांश वर्णन ति०प०के अनुवाद रूप हैं। हाँ, कहीं-कहीं उनमें कुछ विशेषता भी है और मतभेद भी प्रतीत होता है। यहाँ दोनोंका थोड़ा-सा तुलनात्मक परिचय दे देना अनुचित न होगा।

हरिवंश पुराणके चतुर्थ सर्ग में २२ श्लोकों तक तो लोक सामान्यका वर्णन है, पश्चात् अधोलोकका वर्णन है। हरिवंश पुराणके कर्ताके सामने अकलंक देवका तत्त्वार्थवार्तिक[1] भी था और उन्होंने लोक सामान्यका वर्णन उसीके अनुसार प्रारम्भ किया है। त०वा०में मध्यलोकको झल्लरीके आकार बतलाया है, ति०प०में ऐसा नहीं बतलाया। लेकिन हरिवंश पुराणमें भी झल्लरीके आकार मध्यलोक बतलाया है। साथ ही ति०प०को भी अपनाया गया है। यथा—

'अद्ध मुरज्जस्सुदओ समग्गमुरजोदय सरिच्छो ॥१५०॥'—ति०प० १।

× × ×

मुरजार्धमधोमागे तस्योर्ध्वे मुरजो यथा।
आकारस्तस्य लोकस्य किन्त्वेषः चतुरस्रकः ॥७॥ हृ०प्र०म० ४।

हरिवंश पुराणके कर्ताने ति०प० की तरह अधोलोकको अर्धमृदंगके आकार और ऊर्ध्वलोकको पूर्ण मृदंगके आकार बतलाया है। साथ ही 'किन्त्वेषः चतुरस्रकः' लिखकर यह भी व्यक्त कर दिया है कि लोक मृदंगकी तरह गोल नहीं है, किन्तु चौकोर है। और आयतचतुरस्र लोकके संस्थापक वीरसेन स्वामी हैं। उन्हींका अनुसरण हृ० पु० के कर्ताने किया है।

हृ० पु० के कर्ताने पूर्व पश्चिम विस्तारका तो कथन किया है किन्तु दक्षिण उत्तर विस्तारका कथन नहीं किया। जब कि ति० प० १–१४९ गाथामें दक्षिण उत्तर में सातराजु प्रमाण आयाम बतलाया है। इससे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि यह बात उस समय ति० प० में नहीं थी। अन्यथा १४९ गाथाके पश्चात्‌की गाथाओंके अनुसार लोकके नापका कथन करते हुए भी हरि० पु० के कर्ता जिनसेन उसीको क्यों छोड़ देने।

हरिवंश पुराणमें एक और विशेष कथन है। यद्यपि त० वा० (पृ० २२४) में लोकपुरुषस्य ग्रीवास्थानीयत्वात् ग्रीवाः लिखकर लोकको पुरुषाकार बतलाया है किन्तु हरि०[2] पुर० में उसकी रूपरेखाको बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है। ति० प० में यह कथन नहीं है।

---

१. 'धर्माधर्म-पुद्गल-काल-जीवा यत्र लोक्यन्ते स लोक इति वा।'—त०वा०, पृ० ४५६। 'कालः पञ्चास्तिकायाश्च सप्रपञ्चा इहाखिलाः। लोक्यन्ते येन तेनायं लोक इत्यभिलप्यते ॥५॥'—हृ०पु०, ४ सर्ग।
'ऊर्ध्वमधस्तिर्यङ्मृदङ्गवेत्रासनझल्लर्याकृतिः'—त०वा०, पृ० ७६।
वेत्रासनमृदंगोरुझल्लरी सदृशाकृतिः। अधश्चोर्ध्वं च तिर्यक् च यथायोगमिति त्रिधा ॥६॥—हृ०पु०, ४ स०।

२ 'अधोलोकोरुजंघादिस्तिर्यग्लोककटीतटः।
ब्रह्मब्रोत्तरोरस्कोमाहेन्द्रान्तस्तु मध्यभाग् ॥२९॥

ति० प० के लोक सामान्याधिकारमें गणितकी प्रधानता है। विविध प्रकार-से लोक और वातवलयोंका क्षेत्रफल बतलाया गया है। यह सब कथन ह० पु० में नहीं है। किन्तु ति० प० के प्रथम और द्वितीय अधिकारमें जिस प्रकार लोकका पूरब-पश्चिम विस्तार, वातवलयोंका बाहुल्य, नारकविलोंके नाम, संख्या, विस्तार, नारकियोंकी आयु, उत्सेध, अवधि ज्ञानका विषय, उत्पत्तिका विरह काल, नरकोंमें उत्पन्न होने वाले जीव, नरकोंसे निकलने वाले जीवोंकी दशा आदिका वर्णन किया गया है वैसा ही वर्णन ह० पु० में है। पूरे अधिकार-की गा० १०८ से १५६ तक ह० पु० में (४ सर्ग) श्लो० १७० से २१७ तक यथाक्रम अनुदित मिलती हैं। उससे यह भी पता चलता है कि मुद्रित ह० पु० में यत्र तत्र कुछ श्लोक छूटे हुए हैं। यथा श्लो० २०६–२०७के बीचमें एक श्लोक छूटा है जो ति० प० के २–१४५ गाथाके अर्थको लिये हुए है।

हाँ, कहीं कहीं कथनकी शैलीमें अन्तर है। जैसे ति० प० में (२–२८६) बतलाया है कि उपर्युक्त सात पृथिवियोंमें क्रमसे असंज्ञी आदि जीव उत्कृष्ट रूपसे आठ, सात, छह, पांच, चार, तीन और दो बार ही उत्पन्न होते हैं। हरि० पु० (४–३७६–३७७) में इसीको इस प्रकार कहा है—सातवींसे निकला हुआ जीव उसीमें एक बार, छठींसे निकला हुआ पुनः छठींमें दो बार, पाँचवींसे निकला हुआ पुनः पाँचवींमें तीन बार, चौथीसे निकला हुआ पुनः चौथीमें चार बार, तीसरीसे निकला हुआ पुनः तीसरीमें पांच बार, दूसरीसे निकला हुआ पुनः दूसरीमें छै बार और पहलीसे निकला हुआ असंज्ञी पहली पृथ्वीमें पुनः सात बार जन्म ले सकता है। दोनों कथनोंमें कोई अन्तर नहीं है केवल शैली भेद[1] है।

हाँ, ति० प० (२–२९२) में जो यह बतलाया है कि सातवीं पृथिवीसे निकलकर तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न हुए कोई कोई सम्यक्त्वको भी प्राप्त कर सकते हैं, ह० पु० में यह कथन नहीं है। त० वार्तिकमें भी नहीं है। (षट्खं० पु० ६, ९,

---

आरणाच्युत सुस्कन्धो द्विपर्यन्तमहाभुजः।
नवग्रैवेयक ग्रीवोऽनुदिशोद्धनुद्वयः ॥३०॥
पंचानुत्तरसद्वक्त्रः सिद्धक्षेत्रललाटभृत्।
सिद्धजीवश्रिताकाश देशविस्तीर्णमस्तकः ॥३१॥
स्वोदरस्थित-निःशेष-पुरुषादि-पदार्थकः।
अपोरुषेय एवैष सल्लोकपुरुषः स्थितः ॥३२॥'—ह० पु०, ४ स०।

१. ति० प० भा० २ की भूमिकामें पृ० ५३ पर इस कथनको जो मतभेदोंमें गिनाया है वह ठीक ही है।

पृ० २०३–२०६) में उसका स्पष्ट निषेध है। हाँ, श्वे० प्रज्ञापना (२०, १०) में वैसा कथन मिलता है।

इस मिलानके आधार पर यह कहा जा सकता है कि ह० पु० के कर्ताके सामने ति० प० का दूसरा अधिकार सम्भवतया इसी रूपमें वर्तमान था।

हरि० पु० के पाँचवें सर्गमें मध्य लोकका वर्णन है। यह ति० प० के चतुर्थ अधिकारका ऋणी है। इस अधिकारके कुछ विषय हरि० पु० के ६०वें सर्गमें भी पाये जाते हैं। वे हैं शलाका पुरुषोंका वर्णन, रुद्र और नारदोंका वर्णन, शक राजाका समय, महावीर निर्वाणके पश्चात् एक हजार वर्षमें भरतमें हुए राजवंशोंका वर्णन, कल्किका वर्णन आदि। हरिवंशमें तीर्थंकरोंके पूर्व जन्म के नगरादिका भी कथन है यह कथन ति० प० में नहीं है। बाकी तीर्थंकरोंके जन्म, तिथि, माता पिता, जन्म, नक्षत्र, चैत्यवृक्ष और निर्वाण भूमिका कथन ति० प० की तरह ही हैं। क्वचित् जन्म तिथियोंमें भेद भी पाया जाता है।

वीर निर्वाणके पश्चात् जो एक हजार वर्षोंमें भारतमें हुए राजवंशोंको गिनाया है वह तो बिल्कुल ति० प० की गाथाओंका ही अनुवाद है—

जक्काले वीर जिणो णिस्सेयस-संपयं समावण्णो।
तक्काले अभिसित्तो पालयणामो अवंतिसुदो ॥ १५०५ ॥
पालकरज्जं सट्ठि इगिसय पणवण्णविजयवंसभवा।
चालं मुरुदयवंसा तीसं वस्सा सुपुस्समित्तम्मि ॥ १५०६ ॥
वसुमित्त अग्गिमित्ता सट्ठी गंधव्वया वि सयमेक्कं।
णरवाहणा य चालं तत्तो भत्थट्ठणा जादा ॥ १५०७ ॥
भत्थट्ठणाण कालो दोण्णि सयाइं हवंति वादाला।
तत्तो गुत्ता ताणं रज्जे दोण्णि य सयाणि इगतीसा ॥ १५०८ ॥
तत्तो चक्की जादो इंदसुदो तस्स चउम्मुहो णामो।
सत्तरि वरिसा आऊ विगुणियइगिवीस रज्जंतो ॥१५०९॥

—ति० प० अ–४

× × ×

वीर निर्वाणकाले च पालकोऽत्राभिषिच्यते।
लोकेऽवंतिसुतो राजा प्रजानां प्रतिपालकः ॥ ४८७ ॥
षष्ठिर्वर्षाणि तद्राज्यं ततो विष(ज)यभूभुजां।
शतं च पंच पञ्चाशद्वर्षाणि तदुदीरितम् ॥४८८॥
चत्वारिंशत् पुरूढा (मुरुण्डा-) नां भूमण्डलमखण्डितम्।
त्रिंशत्तु पुष्यमित्राणां षष्ठिर्वस्वग्निमित्रयोः ॥ ४८९ ॥

शतं रासभराजानां नरवाहनमप्यतः ।
चत्वारिंशत्ततो द्वाभ्यां चत्वारिंशच्छतद्वयं ।। ४९० ।।
भद्र (ट्ट)वाणस्य तद्राज्यं गुप्तानां च शतद्वयम् ।
एकविंशश्च[1] (?) वर्षाणि कालविद्भिरुदाहृतम् ।। ४९१ ।।
द्विचत्वारिंशदेवातः कल्किराज्यस्य राजता ।
ततोऽजितंजयो राजा स्यादिन्द्रपुरसंस्थितः ।। ४९२ ।।—ह० पु, स०६०

श्रीयुत प्रेमीजीने अपने एक लेखमें हरिवंश पुराणके जो उक्त श्लोक उद्धृत किये हैं, उनमें 'विषयभुभुजां' के स्थानमें 'विजयभुभुजां', 'पुरूढानां' के स्थानमें 'मुरुण्डानां' और 'भद्रवाणस्य' के स्थान 'भट्टवाणस्य' पाठ हैं। ये पाठ ति० प० के विशेष अनुकूल है। 'गंधव्वपा' का जो 'रासभराजा' अनुवाद किया गया है वह भी ठीक है। भविष्य पुराणमें विक्रमको गन्धर्वसेनका पुत्र लिखा है। गर्दभी विद्या जाननेके कारण वह गर्दभिल्ल नामसे ख्यात हुआ। गर्दभका पर्यायवाची शब्द 'रासभ' देना उचित ही है।

अतः ह० पु० की उक्त काल गणना भी ति० की ही ऋणी है।

ति० प० में महावीर निर्वाणके पश्चात् हुए शक राजाके कालके विषयमें अनेक मत दिये हैं। ह० पु० के कर्ताने ति० प० में दिये गये मतभेदोंको अपने ग्रन्थमें कहीं भी स्थान नहीं दिया है। जो मत उन्हें परम्परासे सम्मत प्रतीत हुआ वही ग्रहण किया है शेषको छोड़ दिया है। शक राजाके विषयमें भी सर्वमान्य मतका ही उल्लेख किया है।

वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास बाद शक राजा हुआ, यही मत धवलामें और त्रिलोकसारमें मान्य किया गया है। ह० पु० के कर्ताने भी उसे ही मान्य किया है।

ति० प० में लिखा है—

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसु ।
पणमासेसु गदेसु संजादो सगणिओ अहवा ।।१४९९।।—अ० ४।

और हरि० पु० में इसे यों दिया है—

वर्षाणां षट्शतीं त्यक्त्वा पञ्चाग्रं मासपञ्चकम् ।
मुक्ति गते महावीरे शकराजस्ततोऽभवत् ।।५५१।।—स० ६०।

यह श्लोक उक्त गाथाका बिल्कुल अनुवाद जैसा लगता है।

इसी तरह ति० प० अ० ४ में गा० २७८ से कालका वर्णन है। ह० पु० के

---

१. 'एकत्रिंशश्च' होना चाहिये।

सातवें सर्गमें यह पूरा वर्णन अनुवाद रूपसे वर्तमान है। दोनोंके प्रारम्भका कुछ भाग यहाँ दिया जाता है—

'पास-रसगंध-वण्णव्वदिरितो अगुरुलहुगसंजुतो।
वत्तणलक्खण कलियं कालसरूवं इमं होदि ॥२७८॥
कालस्स दो वियप्पा मुक्खामुक्खा हवंति एदेसु।'
वर्ण-गंधरस-स्पर्श-मुक्तोऽगौरवलाघवः।
वर्तनालक्षणं कालो मुख्यो गौणश्च स द्विधा ॥१॥

× × ×

जीवाण पुग्गलाण हवंति परियट्टणाइ विविहाइं।
एदाणां पज्जाया वट्टंते मुक्खकाल आधारे ॥२८०॥
जीवानां पुद्गलानां च परिवृत्तिरनेकधा।
गौणकालप्रवृत्तिश्च मुख्यकालनिबंधना ॥४॥

× × ×

सव्वाण पयत्थाणं णियमा परिणामपहुदिवित्तीओ।
बहिरंतरंगहेदुहि सव्वब्भेदेसु वट्टंति ॥२८१॥
सर्वेषामेव भावानां परिणामादिवृत्तयः।
स्वांतर्बहिर्निमित्तेभ्यः प्रवर्तन्ते समन्ततः ॥५॥

× × ×

बाहिरहेदू कहिदो णिच्छयकालो त्ति सवदरिसिहिं।
अब्भंतरं णिमित्तं णिय णिय दव्वेसु चेट्ठेदि ॥२८२॥
निमित्तमान्तरं तत्र योग्यता वस्तुनि स्थिता।
बहिर्निश्चयकालस्तु निश्चितस्तत्त्वदर्शिभिः ॥६॥

× × ×

कालस्य भिण्णभिण्णा अण्णुण्णपवेसणेण परिहीणा।
पुह पुह लोयायासे चेट्ठंते संचाएण विणा ॥२८३॥
अन्यानुप्रवेशेन विना कालाणवः पृथक्।
लोकाकाशमशेषं तु व्याप्य तिष्ठन्ति संचिताः ॥७॥

उक्त गाथाओंके नीचे दिये श्लोक बिल्कुल अनुवाद रूप है।

तिलोयपण्णत्तिकी हरिवंश पुराणके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट है कि हरिवंश पुराणकारके सामने जो ति० प० थी वह आजकी ति० प० से एकदम भिन्न नहीं थी, बल्कि बहुत कुछ वर्तमान रूपमें ही थी। उसमें जो ऐसी गाथाएँ पाई जातीं हैं जो पञ्चास्तिकाय वगैरहकी हैं, वे थोड़े बहुत रूपमें उस समय

भी उसमें थीं। क्योंकि ति० प० के प्रथम अधिकारमें जो परमाणु के स्वरूपको बतलाने वाली गाथाएँ पञ्चास्तिकायकी हैं उनका अनुवाद भी ह० पु० में वर्तमान है यथा—

एक्करस वण्णगंधं दो पासा सद्दकारणमसद्दं।
खंदंतरिदं दव्वं तं परमाणु भणंति बुधा ॥९७॥
अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदिएहि ण हु गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणाः ॥९८॥ ति० प० १।

× × ×

आदि मध्यान्तनिर्मुक्तं निर्विभागमतीन्द्रियम्।
मूर्तमप्यप्रदेशं च परमाणुं प्रचक्षते ॥३२॥
एकदैकं रसं वर्णं गंधंस्पर्शाविबाधकौ।
दधन् स वर्ततेऽभेद्यः शब्दहेतुरशब्दकः ॥३३॥—ह० पु० ७ स०।

इसीसे हरिवंश पुराणके कर्ताने हरिवंश पुराणके सर्ग ५ और ६वें अन्तमें 'प्रज्ञप्ति' नामसे तिलोयपण्णत्तिका ही उल्लेख किया प्रतीत होता है। यथा—

प्रज्ञप्तिः श्रेणिक ज्ञाता द्वीपसागरगोचरा।
प्रज्ञप्तिं श्रुणु संक्षेपाज्ज्योतिर्लोकोर्ध्वलोकयोः ॥७३४॥

—ह० पु० स० ६।

तथा छठें सर्गके अन्तमें कहा है—

'ज्योतिर्लोकः प्रकटपटलस्वर्गमोक्षोर्ध्वलोकः।
प्रज्ञप्त्युक्तं नरवर मया संग्रहात् क्षेत्रमेवम्।'

—ह० पु० स० ६, १३९।

अतः यह निश्चित है कि ह० पु० के कर्ताके सामने ति० प० वर्तमान थी। और वह प्रायः उसी रूपमें वर्तमान थी, जिस रूपमें आज है। ह० पु० में वीरसेन स्वामीको भी स्मरण किया गया है जो उस धवलाटीकाके कर्ता हैं जिसमें उन्होंने लोकको चतुरस्र स्थापित किया है। और तदनुसार हरिवंश पुराणमें भी लोकको चतुरस्र माना है। वीरसेन स्वामीने भी धवलामें ति० प० का उल्लेख किया है। अतः तिलोयपण्णत्ति वीरसेन तथा उनके लघु समकालीन हरिवंश पुराणकारके समयमें वर्तमान थी। पश्चात् उसमें किसीने मिलावट अवश्य की है। किन्तु उक्त गाथाओंके नीचे दिये गये श्लोक बिल्कुल अनुवाद रूप हैं। आगे भी यही स्थिति है।

ति० प० (४।३०६) में चौरासी लाखसे गुणित महालता प्रमाणको 'सिरिकप्प' कहा है। इसका हिन्दी अनुवाद श्रीकल्प किया गया है। किन्तु

ह० पु० (७।३०) में 'शिरः प्रकम्पित' दिया है। ति० प० में सिरिकप्पं' के पादटिप्पणमें 'सिरिकंपे' और 'सिरकंपं' ये दो पाठान्तर दिये हैं। जिससे प्रकट होता है कि पुराणकारके सन्मुख ति० प० की जो प्रति थी उसमें 'सिरकंपं' पाठ था उसीका अनुवाद 'शिरः प्रकम्पित' दिया गया है।

ति० प० के प्रथम अधिकारमें अंगुल, पल्य वगैरहका वर्णन है और चौथेमें काल गणनाका कथन है। ह० पु० में इन दोनों कथनोंको सातवें सर्गमें आगे पीछे दिया है।

ह० पु० में केवल संख्यात कालका ही वर्णन है। ति० प० अ० ४ में भी संख्यात तकका कथन तो गाथाबद्ध है। आगेका कथन गद्यमें है। यह कथन हरि० पु० में नहीं है। अतः गद्य भाग उस समय भी ति० प० में था या उसके पीछे उसे मिलाया गया यह नहीं कहा जा सकता। यह गद्य भाग तत्त्वार्थ वार्तिकके वर्णनसे मिलता है।

ति० प० के प्रथम अधिकारमें मानका कथन परमाणुसे प्रारम्भ किया है। उसमें परमाणुका स्वरूप बतलाने वरली (९५-१०१) छँ गाथाएँ हैं जो पञ्चास्ति-काय आदिमें भी हैं। उनमेंसे केवल तीन गाथाओंका अनुवाद ह० पु० में है।

इससे यह भी प्रमाणित होता है कि ति० प० में जो अन्य ग्रन्थोंकी गाथाएँ पाई जाती हैं वे उसमें पहलेसे ही हैं, पीछेसे सम्मिलित नहीं की गई हैं।

ह० पु० के छठे सर्गमें ज्योतिलोक ओर स्वर्गलोक तथा सिद्धलोकका संक्षिप्त कथन है। यह कथन भी ति० प० के अन्तिम तीनों ज्योतिर्लोकाधिकार, कल्प-वासी लोकाधिकार और सिद्धलोकाधिकारका ऋणी है। हरि० पु० के कर्तानें ति० प० के इन तीनों अधिकारोंकी कतिपय बातोंको छठे सर्गमें एकत्र कर दिया है।

किन्तु ज्योतिर्लोकका वर्णन केवल ३३ श्लोकोंमें किया है। उसमें ज्योतिषी देवोंकी पृथ्वीसे ऊपर आकाशमें अवस्थिति, उनकी आयु, उनके विमानोंका परिमाण, वर्ण और भ्रमण, तथा द्वीप समुद्रों पर उनकी अवस्थिति मात्रका कथन किया है। जहाँ यह कथन तिलोयपण्णत्तिसे मिलता है वहाँ उसमें कुछ अन्तर भी हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारने शायद तत्त्वार्थवार्तिक (४-१२) का भी कुछ अनुसरण किया है। ति० प० और तत्त्वार्थवार्तिकमें आकाशमें ग्रहोंके अन्तरालकी अवस्थितिको लेकर अन्तर है। यह कथन तो ह० पु० में ति० प० के ही अनुसार है किन्तु राहुके विमानका बाहुल्य २५० धनुष तत्त्वार्थवार्तिकके अनुसार है। ति० प० (७-१०३) में यह बाहुल्य लोक-विनिश्चय कर्ताके मतानुसार मतान्तर रूपसे दिया है। इसके सिवाय ह० पु० में

बाह्य पुष्करार्धमें भी ७२ चन्द्र सूर्य बतलाये हैं। तत्त्वार्थवार्तिकमें भी ऐसा ही कथन है। किन्तु ति० प० में पुष्करार्ध द्वीपके प्रथम वलयमें १४४ चन्द्र सूर्य बतलाये हैं। यह कथन वहाँ गद्यमें है।

इसी तरह वैमानिक देवोंके वर्णनमें ति० प० में ऋतु नामक विमानकी चारों दिशाओंमें ६२–६२ श्रेणीवद्ध वतलाये हैं और मतान्तरसे ६३–६३ वतलाये हैं। ह० पु० में ६३–६३ ही वतलाये हैं और तत्त्वार्थवार्तिकमें ६२–६२ ही बतलाये हैं। किन्तु प्रत्येक कल्पके विमानोंकी संख्यामे कोई अन्तर नहीं है। वैमानिक देवोंके वर्णनमें ह० पु० में सौधर्मादि स्वर्गोंमें विमानोंकी संख्या, उनका परिमाण, देवोंमें उत्पन्न होने वाले जीव, लेश्या, अवधिका विषय, और देवोंके उत्पत्ति स्थानोंका कथन किया गया है प्रायः सब कथन ति० प० में हैं।

इस तरह ह० प० के साथ ति० प० की तुलना करनेसे यह स्पष्ट है कि ह० पु० के कर्ताके सामने ति० प० थी और उन्होंने छठे सर्गके अन्तमें प्रज्ञप्ति नामसे उसका निर्देश भी किया है यथा—'ज्योतिर्लोकः प्रकट पटल स्वर्ग-मोक्षोर्ध्वलोकः, प्रज्ञप्त्युक्तं नरवर मया संग्रहात् क्षेत्रमेवं'। उनके पश्चात् उसमें मेल किया गया है। उसमें जो गद्य भाग पाया जाता है उसकी स्थिति भी संदिग्ध प्रतीत होती है।

आगे अकलंक देवके तत्त्वार्थवार्तिकसे भी प्रकृत विषय पर प्रकाश डालनेका प्रयत्न किया जाता है।

तिलोयपण्णत्ति और तत्त्वार्थवार्तिक

तत्त्वार्थसूत्रके तीसरे और चौथे अध्यायमें जीवोंके निवासस्थानके रूपमें अधो-लोक, मध्यलोक, और ऊर्ध्वलोकका सूत्रात्मक वर्णन है। अकलंकदेवने उसके आधार पर अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें तीनों लोकोंका कुछ विस्तारसे कथन किया है। जिसका तुलनात्मक विवरण इस प्रकार है—

तत्त्वार्थवार्तिक (१–२०)मे लोकको 'सुप्रतिष्ठक संस्थान' बतलाया हैं तथा ऊर्ध्वलोकको मृदंगाकार, अधोलोकको वेत्रासनके आकार और मध्यलोकको झल्लरीके आकार बतलाया हैं। तथा आगे नीचेसे ऊपर तक लोकका विस्तार हानि वृद्धिके साथ दिया है। ति०प०के प्रथम अधिकारमें न तो लोकको 'सुप्रति-ष्ठक संस्थान कहा है और न मध्यलोकको झल्लरीके आकार बतलाया है। हाँ, लोकका विस्तार हानि वृद्धिके साथ जो दिया है वह तत्त्वार्थवार्तिकसे मेल खाता है। किंतु त०वा०में लोकको प्रतरवृत्त और चतुर्दशरज्जु आयाम मात्र बतलाया हैं। उत्तर-दक्षिण विस्तार उसमें नहीं बतलाया जैसा कि ति०प०में बतलाया है

है। ति०प० (२–२५)में स्पष्ट लिखा है कि अधोलोक पूर्व-पश्चिम दिशामें वेत्रासनके आकार है और उत्तर-दक्षिण लम्बा है। तत्त्वार्थवार्तिकमें केवल वेत्रासनकार अधोलोक बतलाया है दिग्भागका उल्लेख वहाँ नहीं है।

अधोलोकके वर्णनमें सातों पृथिवियोंका बाहुल्य ति०प० (२–२२)के अनुकूल है। गाथा २३में जो अन्य मत दिया है वह दिगम्बर साहित्यमें अन्यत्र नहीं मिलता। विलोंकी संख्या, प्रमाण वगैरह भी तुल्य है। किन्तु ति०प० (२–२९)में पाँचवीं पृथिवीके तीन बटे चार बिलें उष्ण और चतुर्थांश बिलें शीत बतलाये हैं जबकि त०वा० (पृ० १६४) में दो भाग बिलें उष्ण, एक भाग शीत बतलाये हैं। इसी तरह नरकोंका बाहुल्य बतलानेके लिए तत्त्वा०वा० (पृ० १६३)में दो गाथाओंकी संस्कृत छाया दी है। वे गाथाएँ किस ग्रन्थ की हैं यह ज्ञात नहीं हो सका। नरकोंमें स्थिति तो ति०प०के अनुकूल ही बतलाई हैं किन्तु शर्करा प्रभा आदि पृथिवियोंके प्रत्येक पटलमें आयुका प्रमाण लानेके लिए जिस करण सूत्रकी संस्कृत छाया दी है वह ति०प०से भिन्न हैं। उसकी मूल गाथा बृहत्संग्रहणीमें संगृहीत है। कौन जीव किस नरक तक उत्पन्न होता है यह कथन दोनोंमें समान हैं। किन्तु नरकसे निकलकर मनुष्य तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न होने वाले जीवोंकी अभ्युन्नतिका जो कथन है उसमें सातवें नरकसे निकलने वालोंके सम्बन्धमें अन्तर है। ति०प०के अनुसार ऐसे जीव सम्यग्दृष्टि हो सकते हैं और तत्त्वार्थवार्तिकमें उसका स्पष्ट निषेध है।

मध्यलोकके वर्णनमें त०वा०में जम्बूद्वीपका वर्णन विस्तारसे किया है। ति०प०में जम्बूद्वीपमें वेदिकाका वर्णन बहुत विस्तृत है, त०वा०में बहुत संक्षिप्त है। जो है वह ति०प०के अनुकूल है। विजयार्ध पर्वतका वर्णन भी प्रायः समान है।

त०वा०में (पृ० १७३-१८१) विदेह क्षेत्रका वर्णन बहुत विस्तारसे किया गया है। उसीमें मेरु पर्वतका भी विस्तृत वर्णन है। यह वर्णन जहाँ ति०प०से मिलता है वहाँ कुछ अन्तरको भी लिये हुए है। सुमेरु पर्वतके ऊपर पाण्डुक वनमें स्थित पाण्डुक आदि शिलाओंका जो विस्तार [1]त०वा०में बतलाया है, ति० प० (४।गा० १८२१) के अनुसार वह सगायणी आचार्यका मत है। इसी

---

१. 'ताः एताश्चतस्रोऽपि पञ्चयोजनशतायामतदर्ध विष्कम्भाश्चतुर्योजन बाहुल्याः'
—त०वा० पृ० १८०

चउजोयण उच्छेहं पणसयदीहं तदद्धविस्तारं।
सग्गायणि आइरिया एवं भासंति पंडुसिलं ॥१८२१॥—ति प० ४।

तरह त०व०[1]में मेरुस्थ जिनालयोंमें स्थित देवच्छन्दका जो विस्तार बतलाया है ति० प० (४।१८६६) के अनुसार वह लोकविनिश्चयके कर्ताका मत है। त०वा०में नन्दनादिवनों[2]में प्रासादोंका जो विस्तार और ऊँचाई बतलाई है ति० प० (४-१९७५) के अनुसार वह भी लोकविनिश्चयके कर्ताका मत है। त०वा०में बलभद्र नामक कूट नन्दनवनमें बतलाया है सौमनसमें नहीं बतलाया। किन्तु ति०प०में दोनों वनोंमें बतलाया है। त०वा०में बलभद्रकूट[3]की ऊँचाई एक हजार योजन, मूलमें विस्तार एक हजार योजन, और अग्र विस्तार पाँच सौ योजन है। ति०प० (४।१९८२) के अनुसार यह भी लोक विनिश्चयका मत है। किन्तु त०वा०में वक्षार पर्वतोंकी ऊँचाई नील निषध पर्वतके समीपमें चार सौ योजन और क्रमसे बढ़ते बढ़ते मेरुके पासमें पाँच सौ योजन बतलाई है। ति० प० (४-२०१८-१९) में बिल्कुल इतनी ही बतलाई है और लोकविनिश्चयमें निषध नीलके समीप २५०, मेरुके पासमें ५०० योजन बतलाई है। यह कथन त०वा०का लोकविनिश्चयसे नहीं मिलता, ति० प० से मिलता है।

त०वा० (पृ० १७५) में सौ काचंनाद्रि बतलाये हैं। ति० प० (४।२११६-१७) में इसे कुछ आचार्योंका मत कहा है।

लवण समुद्रका वर्णन यों तो दोनोंमें समान है किन्तु कई बातोंमें अन्तर है। त०वा०में (पृ० १९३) १००८ पातालोंके अन्तरालमें और भी पाताल बतलाये हैं। और कुल पाताल ७८८० बतलाये हैं। ति० प० (४।२००९) में १००८ ही पाताल बतलाये हैं। ति० प० (४।२४३६) में स्वभावसे ही शुक्ल पक्षमें जलकी वृद्धि और कृष्ण पक्षमें हानि बतलाई है किन्तु त०वा०में इसका कारण

---

१. 'अर्हदायतन-मध्य-देशनिवेशिनः षोडशयोजनायाम-तदर्धविष्कम्भोच्छ्राया रत्नमया देवच्छन्दाः।'—त०वा०, पृ० १७८।
सोलसकोसुच्छेहं समचउरस्सं तदद्धवित्थारं।
लोयविणिच्छयकत्ता देवच्छंदं परूवेई ॥१८६६॥—ति० प० ४।

२. 'तेषामुपरि द्विषष्ठियोजन-द्विगव्यूतोच्छ्राया सक्रोशैंत्रिंशत् योजनविष्कम्भास्तावत्प्रवेशा एवाष्टौ प्रासादाः।'—त.वा., पृ. १७९।
'वासो पणघणकोसा तद्दुगुणा मंदिराण उच्छेहो।
लोयविणिच्छकत्ता एवं माणे परूवेदि ॥१९७५॥'—ति० प० ४।

३. 'नन्दनवने बलभद्रकूटं योजनसहस्रोच्छ्रायं मूलमध्याग्रेषु योजनसहस्रार्धष्टमयोजनशतपञ्चयोजनशतविस्तारम्'—त०व०, पृ० १७९।
'दसविंदं भूवासो पंचसया जोयणाणि मुहवासो।
एवं लोयविणिच्छय मग्गायणिए मुदीरेदि ॥१९८२॥'—ति० प० ४।

वायु कुमार देवों और उनकी देवांगनाओंकी क्रीड़ाके कारण पातालोंमें वायुका संक्षोभ होनेसे जलकी वृद्धि हानि बतलाई है।

जम्बूद्वीपके सिवाय अन्य द्वीपोंका तो बहुत ही संक्षिप्त वर्णन त० वा० में हैं। नन्दीश्वर द्वीपके वर्णनमें त० वा०[1] (पृ० १९८) में वापिकाओंके चारों कोनों पर चार रतिकर बतलाये हैं। ति० प० (५।६७) में वापियोंके दोनों बाह्य कोनोंमें दो रतिकर बतलाये हैं और आगे लिखा है कि वे रतिकर प्रत्येक वापी के चार चार कोनोंमें चार होते हैं ऐसा लोक विनिश्चय कर्ता कहते हैं।

त० वा० (१९९) में कुण्डलवर द्वीपके मध्यमें स्थित कुण्डलवर पर्वतका वर्णन है। ति० प० (५।१२५) में लिखा है कि लोक विनिश्चयके कर्ता कुण्डल पर्वतका वर्णन अन्य प्रकारसे करते हैं उसे हम कहते हैं। और फिर इक्कीस गाथाओंसे उस वर्णनको कहा है। यह वर्णन त० वा० के वर्णनसे शब्दशः मिलता है। इसी तरह ति०प० (५।१६७)में कहा है कि लोकविनिश्चयके कर्ता रुचकवर पर्वतका वर्णन अन्य प्रकारसे करते हैं उसे कहते हैं। त०वा०में भी रुचकवर पर्वतका वर्णन है जो लोकविनिश्चयगत वर्णनसे मिलता है।

ज्योतिषी देवोंके वर्णनमें समतलसे चन्द्र, सूर्य आदिके विमानोंकी दूरी बतलानेके लिए त०वा० (पृ० २१९)में जो गाथा उद्धृत की है वह ति०प०में नहीं है। साथ ही कुछ नक्षत्रोंके अन्तरालमें भी अन्तर है। [2]त०वा० (पृ० २१९ में राहुविमानका बाहुल्य अढ़ाई सौ धनुष है। ति०प० (७।२०३)के अनुसार यह लोकविनिश्चयके कर्ता आचार्यका कथन है। तत्त्वार्थवार्तिकमें ज्योतिषी देवोंके विमानोंका बाहुल्यादि, उनका परिवार, चार क्षेत्र, सूर्य, चन्द्रका मुहूर्तगति क्षेत्र, पुष्कर द्वीप पर्यन्त प्रत्येक द्वीप और समुद्रमें चन्द्र और सूर्यकी संख्या आदिका कथन है। ति०प० (अ० ७, पृ० ७६१)में बाह्य पुष्करार्ध द्वीपके प्रथम बलयमें चन्द्र और सूर्योंका प्रमाण १४४, १४४ बतलाया है। किन्तु त०वा० (पृ० २२०)में बाह्य पुष्करार्धमें चन्द्र, सूर्य केवल ७२-७२ ही बतलाये हैं।

---

१. 'एतद् वापीकोणसमीपस्थाः प्रत्येकं चत्वारो नगा रतिकराख्याः'—त०वा०, पृ० १९८। 'ते चउचउकोणेसु एक्केक्कदहस्स होंति चत्तारि। लोगविणिच्छयकत्ता एवं णियमा परूवेंति' ॥६९॥—ति०प० ५।

२. 'राहुविमानान्येकयोजनायामविष्कम्भाण्यर्धतृतीयधनुःशतबाहुल्यानि'—त०वा०, पृ० २१९। पण्णासाधियदुसया कोदंडा राहुणयरबहलत्तं। एवं लोयविणिच्छय कत्तायरिओ परूवेदि ॥२०३॥—ति०प० ७।

ति०प०के आठवें अधिकारमें मतान्तर रूपसे सोलह कल्पोंका कथन है। त०वा०में (४।१९) सोलह कल्पोंका ही कथन है। और वह कथन ति०प०से मिलता है। इन्द्र विमानोंके नामोंके क्रममें कहीं-कहीं अन्तर है। १६ कल्प-वाले भी बारह ही इन्द्र मानते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें तथा ति०प०में भी बारह इन्द्र बतलाये हैं। किन्तु त०वा०में लिखा[1] है कि लोकानुयोगके उपदेशसे चौदह इन्द्र कहे किन्तु यहाँ बारह ही लिखे गये हैं क्योंकि पूर्वोक्त क्रमसे ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, महाशुक्र और सहस्रार इन्द्र दक्षिणेन्द्रके अनुवर्ती होते हैं और आनत तथा प्राणत कल्पमें एक-एक इन्द्र होता है।

त०वा० (पृ० २२६)में देवसेनाओंकी संख्याके सम्बन्धमें लिखा है कि इन छहों सेनाओंकी संख्या पदातियोंकी संख्याके समान होती है। यह संख्या विक्रियाकृत है। प्राकृत संख्या तो एक-एक सेनाकी छसौ है।' ति०प० (८। २७०)में इसे लोकविनिश्चयके कर्ताका मत बतलाया है। इसी तरह त०वा० (पृ० २२५)में सौधर्मेन्द्रकी देवियोंका जो प्रमाण बतलाया है, ति०प० (८। ३८६)के अनुसार वह भी लोकविनिश्चय ग्रन्थका कथन है।

त०वा० (पृ० २०६-२०७)में संख्या प्रमाणका कथन करते हुए उत्कृष्ट संख्यात, असंख्यात और अनन्तका प्रमाण लानेकी रीति बतलाई है। तत्पश्चात् उपमा प्रमाणके आठ भेदोंका कथन किया है। ति०प०के प्रथम अधिकारके प्रारम्भमें उपमा प्रमाणके आठ भेदोंका कथन है और चतुर्थ अधिकारमें संख्या-प्रमाणका कथन गद्य द्वारा किया गया है। प्रकरण चलता है व्यवहारकाल का। व्यवहार कालके प्रसंगसे संख्यातादि राशियोंकी उत्पत्तिको भी ला घुसेणा है। यदि बीचमें रखे इस गद्य भागको निकाल दिया जाये तो वर्णनमें कोई हानि नहीं पहुँचती। अतः यह पीछेसे सम्मिलित किया गया जान पड़ता है। यह प्राकृत गद्य, तत्त्वार्थवार्तिककी संस्कृत गद्यसे बहुत मिलती-जुलती हुई है। दोनोंका मिलान करनेसे यही प्रतीत होता है कि एक दूसरेका रूपान्तर है। किन्तु अनन्त राशिके भेदोंकी उत्पत्तिके कथनमें दोनोंमें अन्तर भी है। दोनोंका आरम्भिक भाग यहाँ दिया जाता है।

'संख्येयप्रमाणावगमार्थं जम्बूद्वीप-तुल्यायाम-विष्कम्भा योजनसहस्रावगाहा बुद्धया कुशूलाश्चत्वारः कर्तव्याः शलाका-प्रतिशलाका-महाशलाकाख्यास्त्रयोऽ-

---

१. 'त एते लोकानुयोगोपदेशेन चतुर्दशेन्द्रा उक्ता। इह द्वादश इष्यन्ते पूर्वोक्तेन क्रमेण ब्रह्मोत्तर-कापिष्ठ-महाशुक्र-सहस्रारेन्द्राणां दक्षिणेन्द्रानुवर्तित्वात् आनत-प्राणतकल्पयोश्च एकैकेन्द्रत्वात्।'—त०वा०, पृ० २३३।

वस्थिताः चतुर्थोऽनवस्थितः। अत्र द्वौ सर्पपौ निक्षिप्तौ जघन्यमेतत् संख्येयप्रमाणम्।'—त०वा०, पृ० २०६।

'एत्थ उक्कस्स संखेज्जय जाणणिमित्तं जम्बूद्दीपवित्थारं सहस्सजोयणउव्वेध पमाणचत्तारि सरावया कादव्वा सलागा पडिसलागा महासलागा। एदे तिण्णि वि अवट्ठिदा चउत्थो अणवट्ठिदो। एदे सव्वे पण्णाए ठविदा। एत्थ चउत्थसरावय-अब्भंतरे दुवे सरिसवे त्थुदे तं जहण्णयं संखेज्जयं जादं।'—ति०प०, पृ० १७९। अस्तु,

ति०प० और त०वा०के तुलनात्मक अध्ययनसे तो यही प्रकट होता है कि अकलंकदेवके सामने तिलोयपण्णत्ति नहीं थी; बल्कि लोकविनिश्चय था।

उक्त चर्चाका उपसंहार

उक्त चर्चासे यही निष्कर्ष निकलता है कि चूँकि वीरसेन स्वामीने तिलोय-पण्णत्तिका निर्देश किया है अतः उससे पहले तिलोयपण्णत्ति रची जा चुकी थी। वीरसेन स्वामीके समकालीन हरिवंशपुराणके साथ उसके तुलनात्मक अध्ययनसे यह भी स्पष्ट है कि हरिवंशपुराणकारके सामने ति०प० थी और वह बहुत कुछ उसी रूप में थी जिस रूपमें वर्तमान है। किन्तु पश्चात् उसमें मिश्रण किया गया है। अकलंकदेवके सामने ति०प० उपस्थित नहीं थी किन्तु जिस लोक-विनिश्चयके मतोंका उल्लेख ति०प० में है वह होना चाहिये। ह०पु० (शक सं० ७०५)से एक शताब्दी पूर्व अकलंकदेव हुए हैं। अतः ति०प०की रचना उन्हीं-के समयके लगभग या उससे कुछ पूर्व होनी चाहिये।

मिलावट किसने की

ति० प० के चौथे अध्याय के मध्य में जहाँ चौबीस तीर्थंकरों के निर्वाण का कथन समाप्त होता है, एक पद्य वसन्ततिलका छन्द में आया है जो इस प्रकार है—

> घोरट्ठकम्मणियरे दलिदूण लद्धं णिस्सेयसा जिणवरा जगवंदणिज्जा।
> सिद्धिं दिसंतु तुरिदं सिरिबालचंदसिद्धंतियप्पहुदि भव्वजणाण सव्वे ॥१२११॥

'जिन्होने घोर अष्ट कर्मोंके समूहको नष्ट करके निश्रेयस पदको प्राप्त कर लिया है और जगतके वन्दनीय हैं, ऐसे वे सर्व जिनेन्द्र शीघ्र ही श्री बालचन्द सैद्धान्तिक आदि भव्य जनोंको मुक्ति प्रदान करें।'

इसके पश्चात् प्रत्येक तीर्थंकरके तीर्थमें हुए अनुबद्ध केवलियोंकी संख्या दी गई है। अतः मध्यमें पड़ा हुआ उक्त पद्य मूल ग्रन्थकारका तो हो ही नहीं सकता क्योंकि एक तो बालचन्द्र सैद्धान्तिकका नाम है। दूसरे उसकी स्थिति भी

विचित्र है। साथ ही पद्यको देखनेसे यह भी स्पष्ट है कि पद्यकार अवश्य ही प्रकृत पद्य रचनामें चतुर है। यदि उसमें किसी व्यक्तिका नाम न होता तो उसे मूल ग्रन्थकारकी रचना मान लेनेमें कोई बाधा नहीं थी।

उसने यदि अन्य भी कुछ पद्य रचकर मूल ग्रंथमें सम्मिलित कर दिये हों तो कोई अचरजकी बात नहीं है। वह व्यक्ति या तो स्वयं बालचन्द्र सैद्धांतिक या उनका कोई शिष्य हो सकता है।

श्री नाथूरामजी प्रेमीका अनुमान है कि इन बालचन्द्र सैद्धांतिकने ग्रंथमें मिलावट की है। उन्होंने लिखा[1] है—'इनके सैद्धान्तिक विशेषणसे मालूम होता है कि ये कोई साधारण प्रति लेखक नहीं हो सकते। सिद्धान्त शास्त्रोंके ज्ञाताओं-की ही यह पदवी होती है। इससे आश्चर्य नहीं जो ये बालचन्द्र सैद्धान्तिक वीरसेन जिनसेनके अनुयायी हों और इन्होंने ही तिलोयपण्णत्तिमें कुछ बातें धवलादिसे अन्यथा देखकर उसका संशोधन परिवर्धन करके उसे वर्तमान रूप दे दिया हो और फिर उनके इस संस्कार किये हुए ग्रंथकी ही प्रतिलिपियाँ सर्वत्र पहुँच गई हों।'

प्रेमीजीका उक्त विचार असंगत नहीं प्रतीत होता। ऐसा होना संभव है। उन्होंने बालचन्द्र सैद्धान्ति नामके विद्वानोंका परिचय कराते हुए लिखा है कि 'बालचन्द्र सैद्धान्तिक नामके अनेक विद्वान हो गये हैं। उनमेंसे एकका उल्लेख काम्बदहल्लीमें कम्बदराय स्तम्भमें मिलता है। उनका समय श० सं० १०४० (वि० सं० ११७५) है। उनके गुरुका नामा राद्धान्तार्णवपारग अनन्तवीर्य और शिष्यका नाम सिद्धान्ताम्भोनिधि प्रभाचन्द्र था।

एक और बालचन्द्र हुए हैं जो भावत्रिभंगीके कर्ता श्रुत मुनिके गुरु और अभयचन्द्र सैद्धान्तिकके शिष्य थे। कर्नाटक कविचारितके कर्ता ने इनका समय विक्रमकी चौदहवीं शताब्दी बतलाया है। इन्होंने द्रव्य संग्रहकी टीका श० सं० ११९५ (वि० सं० १३३०) में लिखी है और अपने गुरुका नाम अभयचन्द्र बत-लाया है।'

श्वे० जम्बूद्वीपपण्णत्ति[2]

जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण से भी पूर्वमें संकलित किये गये कुछ ग्रंथ हैं जो उपांग कहे जाते हैं। उनमें एक उपांग जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति भी है। श्वेताम्बर

---

१. जै० सा० इ०, पृ० १६।

२. यह ग्रंथ शान्ति चन्द्ररचित संस्कृत वृत्तिके साथ श्रेष्ठि देवचन्द लालचन्द भाई जैन पुस्तकोद्धार फण्ड बम्बईकी ओरसे वि० सं० १९७६ में प्रकाशित हुआ है।

परम्पराके अनुसार उसका संकलन भी वलभी वाचनाके समय किया गया था। उसका परिचय भी दिया जाता है।

इस ग्रंथका आरम्भ पंचनमस्कार मंत्रसे होता है।

यह ग्रंथ अन्य अंग ग्रंथोंकी तरह गद्यात्मक सूत्रोंमें रचा गया है। भाषा अर्धमागधी है। अंग सूत्रोंकी तरह ही इसके प्रारम्भमें कहा गया है कि उस कालमें उस समय मिथिला नामकी समृद्ध नगरी थी। उसके बाहर उत्तर पूर्व दिशामें माणिभद्र नामका चैत्य था। वहाँके राजाका नाम जितशत्रु और रानीं-का नाम धारिणी था। उस समय वहाँ भगवान महावीर स्वामीका समवसरण आया। परिषद् आई। धर्मका उपदेश हुआ। परिषद् चली गई। उस कालमें उस समय श्रमण भगवान महावीरके ज्येष्ठ अन्तेवासी इन्द्रभूति नामक अनगार थे। उनका गोत्र गौतम था। वे सात हाथ ऊँचे थे और समचतुरस्र संस्थानसे सहित थे। उन्होंने तीन बार दाहिनी ओरसे भगवानकी प्रदक्षिणा-की बन्दना की और नमस्कार किया। वन्दना और नमस्कार करके वे बोले भगवन् जम्बूद्वीप कहाँ है, वह कितना बड़ा है और किस आकारका है? भगवान् बोले—गौतम! यही जम्बूद्वीप है। यह सब द्वीपों और समुद्रोंके मध्य-में है। सबसे छोटा है। तेलमें पकाये हुए पुएकी तरह गोल है। रथके पहिए-के घेरेकी तरह गोल है। कमलकी कर्णिका तरह गोल है। पूर्णमासीके चन्द्रमा-की तरह गोल है। उसका आयाम और बिस्तार एक लाख योजन है। तीन लाख सोलह हजार दो सौ सत्ताईस योजन, तीन कोस, एक सौ अट्ठाईस धनुष, और कुछ अधिक साढ़े तेरह अंगुल प्रमाण उसकी परिधि है (सू० ३)।

इस तरहसे इस ग्रंथका प्रारम्भ होता है। गौतम प्रश्न करते हैं और भगवान उसका उत्तर देते हैं। ९ सूत्र तक तो जम्बूद्वीपके बाह्य भागमें स्थित वेदिका वगैरहका ही वर्णन है। १०वें सूत्रसे भरत क्षेत्रका वर्णन आरम्भ होता है। इसे पहला अधिकार समझना चाहिये। १७वें सूत्र तक यह अधिकार समाप्त हो जाता है। ८ सूत्रोंमें भरत क्षेत्र, वैताढ्य पर्वत, पर्वत पर स्थित सिद्धायतन कूट, दक्षिणार्ध भरतकूट, उत्तरभरत और ऋषभकूटका वर्णन है।

दूसरे अधिकारमें भरतक्षेत्रमें प्रवर्तित छैं कालोंका वर्णन है। १८वें सूत्रमें कुछ गाथाएँ भी हैं जिनके द्वारा आवलि, उच्छ्वास, निश्वास आदिका स्वरूप कहा है। सूत्र १९ में पल्योपम और सागरोपमका कथन है। इसमें परमाणुका स्वरूप बतलाने वाली 'सत्थेण सुतिक्खेण वि' आदि गाथा दी है, जो तिलोयपण्णत्ति (१-९) में अनुयोग द्वार सूत्रमें, और ज्योतिष्करण्ड (२–७३) तथा अन्य भी ग्रन्थोंमें पाई जाती है।

सूत्र २०से भरत क्षेत्रमें प्रवर्तित अवसर्पिणी कालके प्रथम सुषमसुषमा कालमें होनेवाली दशाका वर्णन है। सूत्र २०में कल्पवृक्षका स्वरूप बतलाया है। सूत्र २१ में भोगभूमिमें उत्पन्न हुए युगलोंके शरीरादिका कथन है। इस तरह २७वें सूत्र तक भोगभूमिज जीवोंका कथन है। सूत्र २८ में कहा है कि तीसरे कालमें पल्यका आठवां भाग काल शेष रहने पर पन्द्रह कुलकर उत्पन्न होते हैं। भगवान ऋषभदेवको १५वाँ कुलकर बतलाया है। सूत्र २९ में कुलकरोंके द्वारा स्थापित दण्ड व्यवस्थाका वर्णन है। सूत्र ३०–३३ में भगवान ऋषभदेव के जन्म और दीक्षा वगैरहका कथन है। सूत्र ३४–३६ में चौथे, पांचवे और छठे कालका कथन है। सूत्र ३७–४०में उत्सर्पिणी कालका कथन है। यहाँ दूसरा कालाधिकार समाप्त हो जाता है।

तीसरे अधिकारमें सूत्र ४१ से ७१ तक चक्रवर्ती भरतकी दिग्विजय तथा विभूति वगैरहका बहुत विस्तारसे सुन्दर वर्णन किया गया है। इसमें बाहुबलिके साथ होने वाले युद्धकी कोई चर्चा ही नहीं है। अन्तमें भरतके वैराग्यका वर्णन करते हुए कहा है कि एक दिन भरत महाराज मज्जन गृहसे निकल कर आदर्श गृहमें प्रविष्ट हो आत्म निरीक्षण करने लगे। उन्हें केवल ज्ञान और केवल दर्शनकी प्राप्ति हो गई तब उन्होंने आभरणादि त्यागकर पंचमुष्टि लोच किया और आदर्श गृहसे निकल कर प्रव्रज्या धारण की। अन्तमें उन्होंने निर्वाण लाभ किया। चौथे अधिकारमें सूत्र ७२ से १११ सूत्र पर्यन्त हिमवान आदि पर्वतोंका तथा हैमवत आदि क्षेत्रोंका वर्णन है।

पांचवें अधिकारमें जिनेन्द्र देवके जन्माभिषेकका कथन है। छठेमें भरतक्षेत्र प्रमाण जम्बद्वीपके खण्ड उनका क्षेत्रफल, वर्षसंख्या, पर्वतसंख्या, विद्याधर श्रेणि संख्या, आदि संख्याओंका कथन है।

सातवें अधिकारमें चन्द्र सूर्य आदिकी संख्याको बतलाकर सूर्य मण्डलोंकी संख्या, उनका क्षेत्र, अन्तर, विस्तार, दिन-रात्रिका मान, ताप क्षेत्र चन्द्र मण्डलों और नक्षत्र मण्डलोंकी संख्या आदिका कथन है।

आठवें अधिकारमें नक्षत्र संवत्सर, युग संवत्सर, प्रमाण संवत्सर, लक्षण संवत्सर और शनिश्चर संवत्सर इन पाँच संवत्सरोंका निर्देश करके प्रत्येकके भेद बतलाये हैं। फिर संवत्सरके मासोंका उल्लेख करके श्रावणसे लेकर आसाढ़ पर्यन्त मास नामोंको लौकिक बतलाया है।

इनके लोकोत्तर नाम इस प्रकार बतलाये हैं—१ अभिनन्दित, २ प्रतिष्ठ, ३ विजय, ४ प्रीतिवर्धन, ५ श्रेय-श्रेय, ६ शिव, ७ शिषिर, ८ हेमन्त, ९ वसन्त, १० कुसुम संभव, ११ निदाघ, १२ वनविरोध। इसी प्रकार १५ दिन और

उनकी तिथियोंके तथा १५ रात्रि और उनकी भी तिथियोंके नामोंका उल्लेख किया है।

नौवे अधिकारमें २८ नक्षत्रोंके नामोंका निर्देश करके योग, देवता, गोत्र, संस्थान, चन्द्रसूर्ययोग, कुल, पूर्णिमा, अमावस्या, और सन्निपात, इनके आश्रयसे उनका विशेष कथन किया है।

दसवें अधिकारमें चन्द्रसूर्य विमानोंके नीचे-ऊपर ताराओंके विविध रूप उनका परिवार, मेरुसे अन्तर, लोकान्तसे अन्तर, पृथिवीतलसे अन्तर, अन्य नक्षत्रोंका पारस्परिक अन्तर, बाह्य एवं नीचे ऊपर नक्षत्रोंका संचार, विमानोंकी आकृति तथा प्रमाण, उनके वाहक देव, गति, ऋद्धि, तारान्तर स्थिति वगैरहका कथन है।

ग्यारहवें अधिकारमें जम्बूद्वीपके तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेवोंकी जघन्य तथा उत्कर्षसे संख्या बतलाकर यह बतलाया है कि चक्रवर्ती कितनी निधियों और रत्नोंका उपभोग करता है। अन्तमें जम्बूद्वीपके आयाम आदि बतलाकर उसकी शाश्वतता और अशाश्वतताकी चर्चाकी है।

सूत्र ४ में जीवाभिगम नामक सूत्रका नाम आया है।

सूर्य प्रज्ञप्ति[1]

यह भी एक उपांग है। इसका प्रारम्भ भी बिल्कुल जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिकी ही तरह उन्हीं शब्दोंमें और उसी रूपमें हुआ है। इसमें बीस प्राभृत हैं। उनमें वर्णित विषयोंकी सूचना प्रारम्भमें ही पांच गाथाओंके द्वारा कर दी गई है। जो इस प्रकार हैं—

१. सूर्य वर्षभरमें कितने मण्डल चलता है। २. सूर्य तिर्यग्गमन कैसे करता है ३. सूर्य कितने क्षेत्रको प्रकाशित करता है। ४. प्रकाशकी स्थिति कैसी है। ५. सूर्यकी लेश्या (तेज) कहाँ प्रतिहत होती है। ६. सूर्यके ओजकी कैसी स्थिति है। ७. सूर्यके वरणके विषयमें विप्रतिपत्तियां, ८. सूर्यके उदयके विषयमें विप्रतिपत्तियां ९. सूर्यकी पौरुषी छायाका प्रमाण। १०. सूर्यका नक्षत्रादिके साथ योग ११. संवत्सरोंका आदि। १२. संवत्सर कितने हैं। १३. चन्द्रमाकी वृद्धि-हानि। १४. चन्द्रमाकी ज्योत्स्ना सबसे अधिक कब होती है। १५. चन्द्र सूर्य वगैरहमें शीघ्रगति कौन हैं। १६. चन्द्रकी लेश्या। १७. चन्द्र सूर्य वगैरहका च्यवन और उत्पत्ति। १८. भूमितलसे उनकी ऊँचाई। १९. चन्द्र सूर्य वगैरहकी संख्या। २०. चन्द्रादि का स्वरूप।

---

१. सूर्य प्रज्ञप्ति मलयगिरिकी संस्कृत टीकाके साथ आगमोदय समितिसे प्रकाशित हुई है।

एक-एक प्राभृतके अन्तर्गत अनेक प्राभृत प्राभृत नामक अवान्तर अधिकार हैं। उनकी संख्या बीस तक हैं। अतः कोई प्राभृत छोटे हैं तो कोई बड़े भी है। जैसे पहला, दसवां और बारहवां प्राभृत बड़े हैं। तीसरा चौथा, पाचवां वगैरह छोटे हैं। इन प्राभृतोंमें जो प्रकृत विषयमें प्रचलित मतान्तर दिये गये है वे महत्त्वपूर्ण हैं।

चन्द्र प्रज्ञप्ति

यह तो सूर्य प्रज्ञप्तिकी नकल है। यतः उसमें चन्द्र और सूर्य दोनोंका कथन है इसलिये उसी ग्रन्थको दो नामोंसे प्रसिद्ध कर दिया जान पड़ता है। दोनोंके आरम्भ में थोड़ा अन्तर है। चन्द्र प्रज्ञप्तिके प्रारम्भमें कुछ गाथाएँ हैं जिनमें अधिकार परक गाथाएँ भी हैं जो सूर्य प्रज्ञप्तिमें भी है। उसके वाद जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वाली उत्थानिका हैं। सूर्यप्रज्ञप्तिमें पहले उत्थानिका पीछे अधिकार सूचक गाथाएँ हैं। केवल इतना ही अन्तर है। शेष अन्त पर्यन्त ज्योंकी त्यों है।

ज्योतिष्करण्ड

श्री ऋषभ देवजी केशरी मल्लजी श्वेताम्बर संस्था रतलामसे प्रकाशित पंचाशक आदि मूल ग्रन्थोंके संग्रह में प्रकाशित ज्योतिष्करण्डके ऊपर 'पूर्वभृद्वालम्य-प्राचीन-तदाचार्य-रचितं ज्योतिष्करण्डम्' छपा हुआ है। जो बतलाता है कि वालम्य वाचनाके अनुयायी किसी प्राचीन आचार्यने इसकी रचना की थी।

इसमें २१ अधिकार हैं—१. काल प्रमाण, २. संवत्सर प्रमाण, ३ अधिकमास निष्पत्ति, ४. पर्वतिथि समाप्ति, ५. अवमरात्र, ६. नक्षत्र परिमाण, ७. चन्द्र सूर्य परिमाण, ८. चन्द्र सूर्य नक्षत्रगति, ९. नक्षत्रयोग, १०. चन्द्र सूर्य मण्डलविभाग, ११. अयन, १२. आवृत्ति, १३. मण्डलमें मुहूर्तगति परिमाण, १४. ऋतु परिमाण, १५. विषुव, १६. व्यतिपात १६. तापक्षेत्र, १८ दिवस वृद्धि, १९. अमावस्या पौर्णमासी, २०. प्रणष्ट पर्व और २१. पौरुषी। ग्रन्थके प्रारम्भमें ही गाथा २–५ के द्वारा ग्रन्थकारने उक्त अधिकार गिना दिये हैं। प्रथम गाथामें कहा है कि सूरपन्नत्ती (सूर्य प्रज्ञप्तिमें) जो कथन विस्तारसे किया है उसे यहाँ संक्षेपमें कहूँगा। अन्तिम गाथामें कहा है कि पूर्वाचार्योंने शिष्यजनोंके बोधके लिये दिनकर पण्णत्ती (सूर्य प्रज्ञप्ति) से यह कालज्ञान संक्षेपमें लाया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि इस ग्रन्थकी रचना सूर्य प्रज्ञप्तिके आधारसे की गई हैं। इसमें कुल ३७६ गाथाएँ हैं।

प्रथम काल प्रमाणमें केवल पांच गाथाएँ हैं। जिनके द्वारा बतलाया है कि सबसे सूक्ष्म काल समय है। असंख्यात समयोंका एक उच्छ्वास और उतने ही का एक निश्वास होता है। एक उच्छ्वास और एक निश्वासोंका एक प्राण होता है।

सात प्राणोंका एक स्तोक, सात स्तोकोंका एक लव, साढ़े अड़तीस लवकी एक नाली होती है। इस नालीका आकार आदि कालमान नामक दूसरे अधिकारमें बतलाये हैं। लिखा है—अनारके फूलके आकारकी लोहेकी नाली बनवानी चाहिये। उसके तलमें छिद्र करना चाहिये। छिद्र बनानेका भी विधान किया है। फिर उसमें पानी डालनेका भी प्रमाण बतलाया है। इस नालिकाके द्वारा उस समय कालको जाना जाता था। दो नालीका एक मुहूर्त होता था। यह कथन तो अन्य भी ग्रन्थोंमें मिलता है किन्तु नालीकी उपपत्ति अन्यत्र नहीं मिलती। तत्त्वार्थ वार्तिक (४-२०५-२०६) में जो प्रतिमानका कथन है वह बिलकुल ज्योतिष्करण्डके कालमान सम्बन्धी कथनसे मिलता है किन्तु उसमें भी नालीकी उपपत्ति नहीं दी है। इस काल मान नामक दूसरे अधिकारमें ८० गाथाएँ हैं। कालका मान जानने के लिये यह अधिकार बहुत उपयोगी है। इसकी अनेक गाथाएँ अन्य ग्रन्थोंमें भी मिलती हैं।

तीसरे अधिकमास नामक अधिकारमें केवल तीन गाथाएँ हैं। उसमें बतलाया है कि चन्द्रमास और सूर्यमासमें जितना अन्तर है उसको तीससे गुणा करने पर अधिकमासकी निष्पत्ति होती है। चौथे तिथि निष्पत्ति नामक अधिकारमें १३ गाथाएँ हैं। इसमें तिथिकी निष्पत्तिकी प्रक्रिया बतलाई है। छठे नक्षत्र परिमाणमें नक्षत्रोंके नाम, आकार वगैरह बतलाये है। इसी तरह प्रत्येक अधिकारमें अपने नामके अनुरूप ज्योतिष मण्डलका कथन किया है।

ज्यो० क० के दूसरे अधिकारमें कालका मान बतलाते हुए लिखा है कि चौरासी लाख पूर्वोंका एक लतांग, चौरासी लाख लतांग की एक लता और चौरासी लाख महालताङ्गोंका एक नलिन होता है। इसी तरह नलिन, महा नलिनांग, महानलिन, पद्मांग, पद्म, महापद्मांग, महापद्म, कमलांग, कमल, महाकमलांग, महाकमल, कुमुदांग, कुमुद, महाकुमुदांग, महाकुमुद, त्रुटितांग, त्रुटित, महात्रुटितांग, महात्रुटित, अष्टांग, अष्ट, महाअष्टांग, महाअष्ट, ऊट्टांग, ऊट्ट, महोट्टांग, महोट्ट, शीर्ष प्रहेलिकांग, शीर्ष प्रहेलिका, इस तरह क्रम दिया है। किन्तु ये जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (सू० १८) में त्रुटितांग, त्रुटित, अट्टांग, अट्ट, अववांग, अवव, हुहुकांग, हुहुक, उत्पलांग, उत्पल, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, अर्थनिपूरांग, अर्थनिपूर, अयुतांग अयुत, नयुतांग, नयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, चूलिकांग, चूलिक, शीर्ष प्रहेलिकांग और शीर्ष प्रहेलिका, यह क्रम दिया है। दोनोंमें बहुत अन्तर है।

अनुयोगद्वार सूत्र (११४, १३७) का क्रम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिसे मेल खाता है। इसी तरह तत्त्वार्थ वार्तिक (पृ० २०९) में तथा तिलोयपण्णत्तिमें (४-२८५

आदि) जो क्रम दिया है वह भी न तो पूरी तरहसे आपसमें मेल खाता है और न उक्त क्रमसे ही मेल खाता है।

तत्त्वार्थ सूत्रका तीसरा और चौथा अध्याय लोकानुयोगसे सम्बद्ध है। तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोकका कथन है और चौथे अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका कथन है। वह कथन सूत्रात्मक होनेसे बहुत संक्षिप्त है और उसमें कुछ मुख्य-मुख्य बातोंका ही कथन है। तत्त्वार्थ सूत्रकी टीकाओंमें विशेष कथन पाया जाता है। उसमें भी पूज्यपाद रचित सर्वार्थ सिद्धि टीकामें किंचित् ही विशेष कथन है। हाँ, तत्त्वार्थ वार्तिकमें विवरणात्मक विशेष कथन है। उसके पश्चात् हरिवंश पुराणमें भी विशेष कथन है जिसका परिचय पीछे कराया गया है। किन्तु ये सब ग्रन्थ लोकानुयोगमें गर्भित नहीं होते। अतः यहाँ उनका सामान्य उल्लेख मात्रकर दिया गया है।

दिगम्बर परम्परामें तिलोय पण्णतिके पश्चात् त्रिलोकसार ही एक ऐसा ग्रन्थ है जो लोकानुयोग विषयक साहित्यमें गणनीय है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें इस बीचमें जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण नामके एक महान् जैनाचार्य हुए जिन्होंने आवश्यक सूत्र पर विशेषावश्यक भाष्यकी रचना की। उसके कारण भाष्यकारके नामसे भी वे प्रसिद्ध हैं। उन्होंने वृहत् क्षेत्र समास, वृहत्संग्रहिणी विशेषणवती आदि अनेक ग्रंथों की रचना की है, जिनमेंसे वृहत क्षेत्र समास और वृहत्संग्रहणी लोकानुयोगसे संबद्ध है। और विशेषणवतीमें भी अनेक चर्चाएँ लोकानुयोगसे सम्बद्ध हैं। किन्तु वह केवल लोकानुयोग विषयक प्रकरण नहीं है। किन्तु उसमें विभिन्न सैद्धान्तिक शंकाओंका समाधान किया गया है।

समय

जेसलमेरके भण्डारसे विशेषावश्यक भाष्यकी एक प्राचीन प्रति मुनि जिन विजय जी को प्राप्त हुई है। उसके अन्तमें उसका रचनाकाल[1] शकसम्वत् ५३१ (वि० सं० ६६६) दिया हुआ है। और उस परसे मुनि जीने श्री जिनभद्र गणि क्षमा क्षमणका अवसान काल विक्रमकी सातवीं शताब्दीका अन्तिम चरण निश्चित किया है। जो उचित ही है।

---

१. 'पंचसता इगतीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स।
तो चेत्त पुण्णिमाए बुधदिणसातिंमि णक्खत्ते॥
रज्जे णु पालणपुरे सी (लाइ) च्चम्मि णरवरिन्दम्मि।
वलभीणगरीए इमं महवि····मि जिणभवणे॥'[१]
भा० वि०, स्व० बहादुर सिंह सिंघी स्मृति ग्रन्थमें मुनिजीके 'जिनभद्र गणि क्षमा श्रमणनो समय' शीर्षक निबन्धसे उद्धृत।

बृहत्[1] क्षेत्र समास

टीकाकारने अपनी टीकामें इस ग्रन्थका नाम क्षेत्र[2] समास बतलाया है और ग्रन्थकारने इसे 'समय[3] क्षेत्र समास' नाम दिया है। उसकी व्युत्पत्ति करते हुए टीकाकारने लिखा[4] है—'सूर्यके गमनकी क्रियासे उपलक्षित अत्यन्त सूक्ष्म काल विशेषको समय कहते हैं। और उससे उपलक्षित क्षेत्रको समय क्षेत्र कहते हैं। वह समय क्षेत्र मनुष्यलोक है क्योंकि मनुष्य क्षेत्रसे बाहर सूर्यकी गमन क्रियासे उपलक्षित कोई कालविशेष नहीं है'। आशय यह है कि इसमें मनुष्यलोक सम्बन्धी द्वीप समुद्रोंका ही कथन है अतः ग्रन्थकारने इसका सार्थक नाम 'समय क्षेत्र समास' रखा है। किन्तु यह वृहत्क्षेत्र समासके नामसे प्रसिद्ध है। मुद्रित पुस्तकमें इसे यही नाम दिया गया है।

वृहत्क्षेत्र समास ग्रन्थमें पाँच अधिकार हैं—१ जम्बूद्वीपाधिकार, २ लवणाब्ध्यधिकार, ३ धातकी खण्ड द्वीपाधिकार, ४ कालोदधि अधिकार और ५ पुष्कर वरद्वीपार्धाधिकार। इनमें क्रमसे ३९८ + ९० + ८१ + ११ + ७६ = ६५६ गाथाएँ हैं। किन्तु पांचवें अधिकारकी ७५ वीं गाथामें ग्रन्थकारने स्वयं क्षेत्र समास प्रकरणकी गाथा संख्या ६३७ बतलाई है। और टीकाकार मलयगिरिने भी अपनी टीकामें गाथाओंका परिमाण ६३७ ही बतलाया है। किन्तु मुद्रित प्रतिके पादटिप्पणमें लिखा है कि अन्य प्रतिमें 'पणपन्ना हुंति इत्थ नत्थम्मि' ऐसा पाठान्तर पाया जाता है। अन्तिम गाथाको न गिनने पर गाथा संख्या ६५५ बैठती है। अतः पाठान्तरके अनुसार गाथा परिमाण ठीक बैठता है।

प्रथम जम्बूद्वीपाधिकारमें जम्बूद्वीपसे लेकर अन्तिम स्वयम्भू रमण पर्यन्त सब द्वीप समुद्रोंका प्रमाण अढाई उद्धार सागरोंके समयोंकी संख्याके बराबर बतलाकर अढाई द्वीप और दो समुद्रोंको ममुष्य क्षेत्र बतलाया है तथा उसका विस्तार पैतालीस लाख योजन, जिसमें जम्बूद्वीपकी परिधि, जगती, भरतादिक सात क्षेत्रों और हिमवदादि षट् कुलाचलोंका विस्तार आदि उनका बाण जीवा धनुः, क्षेत्रफल घनफल आदि, वैताढ्यपर्वतका विस्तारादि, नदियोंका विस्तारादि, हैमवत आदिमें

---

१. वृहत् क्षेत्र समास, मलयगिरिकी संस्कृत टीकाके साथ जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ है।

२. 'विवृणोमि यथाशक्ति क्षेत्रसमासं समासतः स्पष्टम्।'

३. 'समयक्खेत्तसमासं वोच्छामि गुरुवएसेण ॥१॥'

४. 'समय क्षेत्र समासं' समयः सूर्यगमनक्रियोपलक्षितः परमनिरुद्धः कालविशेषः तदुपलक्षितं क्षेत्रं समयक्षेत्रं मनुष्यक्षेत्रमिति। न हि मनुष्यक्षेत्राद्बहिः सूर्यगमनक्रियोपलक्षितो नाम कोऽपि कालोऽस्ति।'—वृ० क्षे०, स०, पृ० १।

रहने बाले मनुष्योंका प्रमाणादि, मेरूका वर्णन, विदेह क्षेत्रके तीर्थङ्करोंका कथन जम्बूद्वीपके सूर्य चन्द्रादिका कथन है। यह सब कथन तिलोय पण्णत्तिके प्रायः समान है।

ति०प०के चौथे अविकारका नाम नरलोकपण्णत्ति अथवा मनुष्यलोक प्रज्ञप्ति है। उसका प्रारम्भ पैंतालिस लाख योजन प्रमाण मनुष्यलोकके निर्देशसे होता है। क्षेत्र समास की भी वही शैली है। अन्तर केवल इतना ही है कि ति०प०में प्रत्येक वर्णन विस्तार से है और क्षेत्रसमासमें संक्षेप से है। उसीका सूचक 'समास' शब्द है। वर्णनकी समानताकी दृष्टिसे कुछ गाथाएँ उद्धरणीय हैं—

'चत्तारिदुवारा पुण चउद्दिसिं जंबूदीवस्स ॥१६॥
चउजोयणविच्छिन्ना अट्ठेव य जोयणाइ उच्चिट्टा।
उभओ वि कोसकोसं कुड्डा वाहल्लओ तेसिं ॥१७॥
पुव्वेण होइ विजयं दाहिणओ होइ वेजयंतं तु।
अवरेणं तु जयंतं अवराइय उत्तरे पासे ॥१८॥'—वृ०क्षे०सं०।

× × ×

विजयंतवेजयंतं जयंत अपराजयंतणामेहिं।
चत्तारि दुवाराइं जंबूदीवे चउदिसासुं ॥४१॥
पुव्वदिसाए विजयं दक्खिणआसाए वइजयंतं हि।
अवरदिसाए जयंतं अवराजिदमुत्तरासाए ॥४२॥
एदाणं दाराणं पत्तेक्कं अट्ठजोयणा उदओ।
उच्छेहद्धं रुंदं होदि पवेसो वि वाससमं ॥४३॥

गणितके नियमों में तो प्रायः समानता है ही, किन्तु गणितके सूत्रोंमें भी समानता कहीं-कहीं पाई जाती है। यथा—

अभीष्ट स्थानमें मेरुका विस्तार निकालनेकी रीति

जत्थिच्छसि विक्खंभं मंदिरसिहराहि उवइत्ताणं।
एक्कारसहि विभत्तं सहस्ससहियं च विक्खंभं ॥३०७॥ वृ०क्षे०स०।

× × ×

जत्थिच्छसि विक्खंभं मंदरसिहराउ समवदिण्णाणं।
तं एक्कारस भजिदं सहस्ससहिदं च तत्थवित्थारं ॥१७१९॥

—ति०प० ४।

चूलिका विस्तार

जत्थिच्छसि विक्खंभं चूलीयसिहराहि उवइत्ताणं।
तं पंचहिं पविभत्तं चउहिं जुयं जाण विक्खंभं ॥३५०॥

—वृ०क्षे०स० १।

जत्थिच्छसि विक्खंभं चूलियसिहराउ समवदिण्णाणं ।
तं पंचेहि विहत्तं चउजुत्तं तत्थ तव्वासं ॥१७९७॥–ति०प० ४ ।

दूसरे लवणाब्धि अधिकारमें लवण समुद्रका विस्तार, परिधि, उसमें स्थित पाताल, जलकी हानिवृद्धि, वेलंधर नागकुमारोंकी संख्या आदि, छप्पन अन्तरद्वीप, अन्तरद्वीपमें रहने वाले मनुष्योंका उत्सेध आदि, लवण समुद्रके उत्सेधादिका प्रमाण तथा चन्द्रमा, सूर्य आदिकी संख्याका कथन है ।

इस अधिकारमें अन्तरद्वीप छप्पन बतलाये हैं । जिनमेंसे अट्ठाईस द्वीप हिमालय पर्वत सम्बन्धी और २८ द्वीप शिखरी पर्वत सम्बन्धी हैं । इनके नाम क्रमशः एकोरुक, आभाषिक, वैषाणिक, लाङ्गूलिक आदि हैं । (बृ०क्षे०स०, २-५६ आदि) । श्वेताम्बर साहित्यमें छप्पन अन्तर्द्वीप माने गये हैं किन्तु दिगम्बर साहित्यमें अन्तर्द्वीप माने गये हैं । तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके उमास्वाति रचित भाष्यमें भी ९६ अन्तर्द्वीप माने हैं । उस पर टीकाकार[1] सिद्ध सेनगणिने रोष प्रकट करते लिखा है कि यह कथन आर्ष विरुद्ध है ।

अतः तिलोयपण्णत्तिमें अन्तर्द्वीप ९६ बतलाये हैं । सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थ-वार्तिक आदिमें भी ९६ ही बतलाये हैं । वृहत्क्षेत्र समासमें द्वीपोंका नाम एकोरुक आदि बतलाया है और द्वीपोंके नामके कारण उनमें रहने वाले मनुष्यों का भी वही नाम बतलाया है । किन्तु दिगम्बर साहित्यमें अन्तद्वीपोंमें रहने वाले मनुष्योंको एकोरुक–जिनके एक पैर हैं, आदि बतलाया है । और उनका अर्थ उन शब्दोंके अनुसार यही किया जाता है कि उनके एक जंघा है, वे गूँगे हैं, उनमेंसे किसीका मुख मत्स्यकी तरह, किसीका बन्दरकी तरह है, आदि ।

तिलोयपण्णत्तिमें भी अन्तंद्वीपोंके मनुष्योंको एकोरुक, लांगलिक आदि बतलाया है मगर नाममात्रसे । यथा—

'एकोरुक लंगुलिका वेसणका भासका य णामेंहि ।
पुव्वादिसुं दिसासुं चउदीवाणं कुमाणुसा होंति ॥२४८४॥"

आगे भी कमानुषोंको 'तण्णामा' लिखकर एकोरुक आदि नाम बतलाया है । अतः एकोरुक आदिका शब्दार्थ लेना विचारणीय है । अस्तु

तिलोयपण्णत्तिसे वृहत् क्षेत्र समासमें द्वीपोंका अवस्थान भी भिन्न रूपसे बतलाया हैं । यह केवल ग्रन्थगत भेद नहीं है किन्तु परम्परागत भेद है ।

---

१. 'एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन षण्णवतिरन्तरद्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते । अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात् ।'–सिद्धक्षे० टीका, भा० १, पृ० २६७ ।

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थोंमें तिलोयपण्णत्तिके अनुसार कथन है और श्वेताम्बर परम्पराके ग्रन्थोंमें वृहत्क्षेत्रके अनुसार कथन मिलता है।

तीसरे धातकी खण्ड अधिकारमें धातकी खण्ड द्वीपका विस्तार, परिधि, इष्वाकार पर्वत, मेरु पर्वत, भरतादिक क्षेत्रोंका तथा हिमवदादि पर्वतोंका आकार विस्तारादि, तथा चन्द्र सूर्य वगैरहकी संख्या आदिका कथन है।

तिलोयपण्णत्तिमें (४-२५७८) मेरुका विस्तार तल भागमें दस हजार योजन और भूतल पर ९४०० योजन बतलाया है। आगे (गा० २५८१) लिखा है कि कुछ आचार्य मेरुके तल विस्तारको नौ हजार पाँच सौ योजन मानते हैं। तत्त्वार्थ वार्तिक (पृ० १९५) में मेरुका मूल में विस्तार ९५०० और भूतल पर ९४०० बतलाया है। वृहत् क्षेत्र समासमें (गा० ३–५८) भी उतना बतलाया है। जो ति० प० के मतान्तरके अनुसार है। दोनों ग्रन्थोंमें मेरुकी हानि वृद्धि निकालनेके लिये जो गणित सूत्र दिया है वह पूर्ववत् प्रायः समान ही है यथा—

जत्थिच्छसि विक्कंभं मंदरसिहराहि उच्चइत्ताणं।
तं दसहि भइय लद्धं सहस्स सहियं तु विक्कंभं ॥५९॥—वृ०क्षे०स० ३।
जत्थिच्छसि विक्खंभं खुल्लयमेरूण समवदिण्णाणं।
दसभजिदे जं लद्धं एक्क सहस्सेण संमिलिदं ॥२५८२॥—ति०प० ४।

चौथे अधिकारमें कालोद समुद्रके विस्तार, परिधि, द्वीप, चन्द्र सूर्य आदि की संख्या, आदिका कथन है।

तिलोयपण्णत्तिमें कालोद समुद्रमें भी लवण समुद्रकी तरह अन्तर्द्वीप और उनमें रहने वाले कुमनुष्योंका कथन है। किन्तु वृहत्क्षेत्र समासमें वह सब कथन नहीं है। इसका कारण यह है कि श्वेताम्बरमें कालोदधिमें ऐसे अन्तर्द्वीप नहीं माने गये हैं।

पाँचवे अधिकारमें पुष्कर द्वीप व उसके मध्यमें स्थित मानुषोत्तर पर्वतके विस्तारादिका, तथा इष्वाकार पर्वत, भरतादि क्षेत्र, हिमवदादि पर्वतोंके विस्तारादिका तथा चन्द्र सूर्यादिकी संख्या आदिका कथन है।

वृहत्संग्रहणि[1]

जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण विरचित वृहत्संग्रहणि भी लोकानुयोगका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस पर भी मलयगिरिकी संस्कृत टीका है। वृहत् क्षेत्र

---

१. मलयगिरिकी संस्कृत टीकाके साथ वृहत्संग्रहणीका प्रकाशन श्री जैन आत्मानन्द सभा भावनगरसे हुआ है। और उसका गुजराती अनुवाद श्री जैन धर्म प्रसारक सभा भावनगरसे प्रकाशित हुआ है।

समासकी तरह ही वृहत् संग्रहिणीमें भी ग्रन्थकारका कोई निर्देश नही मिलता। किन्तु टीकाकारने उसे जिनभद्र गणिजीकी कृति बतलाया है।

उसके गुजराती अनुवादकी प्रस्तावनामें लिखा है कि वृहत्संग्रहणिकी मूल गाथाएँ ३५३ हैं; क्योंकि मलयगिरिकी टीकाके साथ छपे हुए ग्रन्थके अन्तमें ३५३ मूल गाथाएँ दी है। टीकाकारने अपनी टीकामें २४ क्षेपक गाथाओंको भी सम्मिलित कर लिया है इससे गाथा संख्या ३६७ हो गई है।

ग्रन्थके प्रारम्भमें उसका नाम 'संगहणि' बतलाया है। तथा उसमें देवों और नारकियोंकी स्थिति, भवन; अवगाहना और मनुष्यों तथा तिर्यञ्चोंके शरीर और आयुका प्रमाण तथा उत्पत्ति और च्यवनका बिरहकाल, एक समयमें उत्पन्न होने वाले और च्युत होने वाले जीवोंकी संख्या और गति आगतिका कथन करनेका निर्देश किया है।

तथा अन्तमें (गा० ३६४) कहा है कि मैंने भव्य जीवोंके हितके लिये आगमसे उद्धृत करके यह संक्षिप्त संग्रहणी कही है। और अन्तिम गाथामें कहा है कि मैंने पूर्वाचार्य कृत श्रुतमेंसे अपनी मतिके अनुसार जो कुछ उद्धृत किया हो उसे श्रुतधर क्षमा करें। इससे स्पष्ट है कि इस संग्रहणीका संग्रह पूर्वाचार्य कृत श्रुतमेंसे किया गया है।

दिगम्बर परम्परामें एक मूलाचार नामक ग्रन्थ है इस ग्रन्थका उल्लेख तिलोयपण्णत्तिमें मिलता है और उससे उसमें कुछ गाथाएँ भी ली गई हैं यह पहले बतला आये हैं। मूलाचारके अन्तिम प्रकरणका नाम 'पज्जति संग्रहणी है। इस प्रकरणकी अनेक गाथाएँ वृहत् संग्रहणीमें संगृहीत हैं। कुछ गाथाएँ तो यथाक्रम पाई जाती हैं। विवरण इस प्रकार है—

जम्बूद्वीपसे लेकर क्रौंचवर द्वीपपर्यन्त सोलह द्वीपोंके नाम दोनों ग्रन्थोंमें दो गाथाओंसे बतलाये गये हैं। इन दोनों गाथाओंकी क्रमसंख्या मूलाचारमें ३३-३४ और संग्रहणीमें ८२-८३ है। दोनोंमें प्रायः समानता है। उसके पश्चात् मूलाचार-में यह गाथा है—

एवं दीवसमुद्दा दुगुण दुगुणवित्थडा असंखेज्जा।
एदे दु तिरियलोए सयंभुरमणोदहिं जाव ॥३५॥

संग्रहणीमें यही गाथा थोड़ेसे पाठभेदको लिए हुए इस प्रकार है—

एवं दीवसमुद्दा दुगुणा दुगुणा भवे असंखेज्जा।
भणिओ य तिरियलोए सयंभुरमणोदही जाव ॥८५॥

उक्त दो गाथा और उक्त गाथाके बीचमें संग्रहणी में जो ८४ नम्बरकी गाथा

है वह मूलाचारमें आगे दी हैं उसका नम्बर ३६ है। उसके पश्चात् ३८, ३९ और ४० नम्बरकी गाथाएँ संग्रहणीमें ८७, ८८ और ९० नम्बर पर हैं।

इस तरह द्वीप समुद्रोंके कथन सम्बन्धी गाथाएँ दोनों संग्रहणियोंमें प्रायः समान हैं।

आगे योनियोंके कथन सम्बन्धी मूलाचार गाथा ५८-५९ संग्रहिणीमें ३५८-३५९ नम्बर पर हैं। ६० तथा ३६० नम्बरकी गाथाका अर्थ समान होते हुए भी शब्दोंमें थोड़ा अन्तर अन्तर पाया जाता है। आगे ६१-६२ तथा ३६१-३६२ गाथाएँ प्रायः समान हैं। मूलाचारकी ६२वीं गाथाके अन्तिम चरणका पाठ है—'सेसा सेसेसु जोणीसु'। और संग्रहणीकी ३६२वीं गाथाके अन्तिम चरणमें पाठ हैं—'सेसाए सेसगजणो य'। गोम्मटसार जीवकाण्डमें यह गाथा संग्रहणी वाले पाठके साथ पाई जाती है।

मूलाचारमें कुलोंको बतलाने वाली १६६ से १६९ तक की चार गाथाएँ इसी क्रमसे संग्रहणीमें है और उनकी क्रमसंख्या ३५३-३५६ तक है। और भी कितनी ही गाथाएँ दोनों ग्रंथोंमें समान हैं।

विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्रगणी सातवीं शताब्दीमें हुए हैं। तिलोयपण्णत्तिकी रचना उससे बहुत पहले हो चुकी थी और तिलोयपण्णत्तिमें मूलाचार का निर्देश है तथा उससे कुछ गाथाएँ भी ली गई हैं। अतः मूलाचार ति०प०से भी प्राचीन है। अतः संग्रहणीमें उक्त गाथाएँ मूलाचारके अन्तमें स्थित 'पज्जती संग्रहणी' से ली गई हों, यह संभव है।

और भी कुछ गाथाएँ संग्रहणीमें ऐसी हैं जो अन्य ग्रंथोंमें मिलती हैं। संगहणीकी 'पदमक्खरं पि इक्कं' आदि १६७वीं गाथा भगवती आराधनाकी ३९वीं गाथा है और 'सुत्तं गणहरइयं' आदि १६८वीं गाथा भ० आराधनाकी ३४वीं गाथा है। अन्तर केवल इतना है कि उसमें 'रइयं' के स्थान पर 'गथिदं' और 'कहियं' पाठ है। 'कथिदं' पाठके साथ यही गाथा मूलाचारके पञ्चाचाराधिकारमें भी पाई जाती हैं। फिर संग्रहणीमें ये दोनों गाथाएँ विना किसी प्रकरणके स्वर्गोंमें उपपादके प्रकरणमें संगृहीत की गई हैं। अतः निश्चय ही इन्हें अन्यत्रसे लिया गया है। भगवती आराधना तिलोयपण्णत्तिसे भी प्राचीन है।

इसी तरह 'पुव्वस्स उ परिमाणं' आदि ३१६वीं गाथा पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत हैं। और पूज्यपाद ५-६वीं शतीके आचार्य हैं। अतः यह गाथा प्राचीन होनी चाहिये। संग्रहणीमें पहली पृथिवीकी स्थिति बतलाकर शेष पृथिवियोंमें स्थिति बतलानेके लिए एक करणसूत्र दिया है जो इस प्रकार है—

उवरिखिइठिइविसेसो सगपयरविभाग इत्थ संगुणिओ ।
उवरिमखिइठिइसहिओ इच्छियपयरम्मि उक्कोसा ॥२३८॥

संस्कृतमें एक इसी प्रकारका करणसूत्र तत्त्वार्थवार्तिकमें दिया है जो उक्त गाथाकी छाया-सा जान पड़ता है—

'उपरिस्थितेर्विशेषः स्वप्रतरविभाजितेष्ट-संगुणितः ।
उपरिपृथिवीस्थितियुतः स्वेष्टप्रतरस्थितिर्महती ।।'–(पृ० १६८)

अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकके तीसरे अध्यायमें और भी इस प्रकारके प्रमाण उद्धृत किये हैं जो प्राकृत गाथाओंकी छायारूप जान पड़ते हैं, किन्तु उनके मूलका पता नहीं चलता । संभव है उक्त संस्कृत छाया भी उसी ग्रन्थ पर से संगृहीत की गई हों, जिस परसे अन्य प्रमाण संस्कृत छाया रूपमें संकलित किये गये हैं ।

इस तरह संग्रहणीमें वहुत-सी गाथाएँ ग्रन्थकारोंसे संगृहीत की गई हैं । इसीसे उसकी रचना उतनी सुसम्बद्ध और सुगठित प्रतीत नहीं होती ।

नेमिचन्द्रकृत त्रिलोकसार[1]

गोम्मटसारके रचयिता आचार्य नेमिचम्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ही त्रिलोकसार नामक ग्रन्थके रचयिता हैं । गोम्मटसारकी तरह त्रिलोकसारकी अन्तिम[2] गाथामें भी उन्होंने अपनेको अभयनन्दिका वत्स्य (शिष्य) बतलाया है । तथा उसीकी तरह प्रथम मंगलगाथामें नेमिचन्द्रको नमस्कार किया है । नेमिचन्द्र गंगवशी नरेश राचमल्लके सेनापति और मंत्री चामुण्डरायके समकालीन थे । चामुण्डराय के लिए ही उन्होंने गोम्मटसारकी रचना की थी ।

त्रिलोकसारकी प्रथम गाथामें नेमिचन्द्रका विशेषण 'वलगोविन्द सिंहामणि किरणकलावरुणचरणणह किरणं' दिया है । जिसका सारांश यह है कि बलदेव और गोविन्द (कृष्ण) नेमिनाथ तीर्थंकरको नमस्कार करते थे । किन्तु टीकाकार माधवचन्द्र ने, जो नेमिचन्द्रके शिष्य और उनके समकालीन थे, उक्त गाथाका एक व्याख्यान यह भी किया है कि चामुण्डराय[3] अपने गुरु नेमिचन्द्रा-

---

१. संस्कृत टीकाके साथ त्रिलोकसार माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे और पं० टोडरमल रचित ढुढारी भाषामें लिखी हुई टीकाके साथ हिन्दी जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय बम्बई से प्रकाशित हुआ है ।

२. 'इदि णेमिचंदमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण ।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया ॥१०१८॥—त्रि० सा० ।

३. 'विमलतरश्च स चासौ नेमिचन्द्राचार्यश्च विमलतर नेमिचन्द्रस्तं नमस्यामीति चामुण्डरायः स्वगुरुनमस्कारपूर्वकं शास्त्रमिदं प्रारभते ।''''। बलश्चामुण्डरायः गां पृथ्वी विंदति पालयतीति गोविंदो राचमल्लदेवः ।
—त्रि० सा० टी०, गा० १ ।

चार्यको नमस्कार करके इस शास्त्रका प्रारम्भ करते हैं और उन्होंने 'बल'का अर्थ चामुण्डराय और 'गोविन्द'का अर्थ राचमल्लदेव किया है। ये दोनों नेमिचन्द्राचार्य को नमस्कार करते थे।

इस व्याख्यासे यह प्रमाणित हो जाता है कि त्रिलोकसारके कर्ता गोम्मटसारके कर्तासे अभिन्न हैं। तथा त्रिलोकसारकी रचनामें माधवचन्द्रकी तरह चामुण्डरायका भी सहयोग रहा है। माधवचन्द्र केवल टीकाकार ही नहीं थे, उनके द्वारा रचित कुछ गाथाएँ भी त्रिलोकसारमें यत्र तत्र पाई जाती हैं। उन्होंने अपनी प्रशस्ति में एक गाथाके[1] द्वारा इस बातका निर्देश किया है कि गुरु नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीको सम्मत कुछ गाथाएँ यत्र तत्र माधवचन्द्रने भी रची हैं। और गुरु नेमिचन्द्राचार्यने भी गाथामें माहवचंदुद्धरिया' लिखकर अपने शिष्य माधवचन्द्रके कृतित्वको स्वीकार किया है।

इस तरह त्रिलोकसार सहकार पद्धति पर रचित एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है और इसकी रचना विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके मध्यमें हुई है।

इसमें समस्त गाथाएँ १०१८ हैं। और लोकसामान्य, भावनलोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, वैमानिक लोक और नरतिर्यगलोक नामके छह अधिकार हैं। ग्रन्थकारने दूसरी गाथामें जिनभवनोंको नमस्कार करनेके व्याजसे लोकसामान्यको छोड़कर शेष अधिकारोंका निर्देश 'भवण-व्वितर-जोइसि-विमाणणरतिरियलोय जिणभवणे' के द्वारा कर दिया है। इसी तरह इन अधिकारोंके आदिमें मंगलगाथाके द्वारा उस उस लोकमें स्थित जिन भवनोंको नमस्कार किया है।

इसके आधारभूत ग्रन्थ कौन हैं, इसका कोई संकेत ग्रन्थकारने नहीं किया है। तथापि तिलोयपण्णत्ति और लोकविभाग जैसे प्राचीन ग्रन्थ इसके आधार होने चाहिये। जैसे तिलोयपण्णतिमें तीनों लोकों का विस्तृत वर्णन है उसी प्रकार इसमें भी वर्णन है। ति० प० की तरह इसका भी प्रथम अधिकार लोकसामान्य है उसीके अन्तमें नारक लोकका वर्णन है। किन्तु ति० प० में इसके लिये एक पृथक अधिकार है जिसका नम्बर दूसरा है।

लोक सामान्य अधिकारके पश्चात् त्रिलोकसारमें भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक लोकोंका क्रमसे वर्णन है। अन्तमें नरतिर्यग्लोकाधिकार है किन्तु ति० प० में भवनवासी और व्यन्तर लोकके मध्यमें नर लोक और

१. 'गुरु-णेमिचंद्र-सम्मद-कदिवय-गाहा तहिं तहिं रइदा।
माहवचंदतिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं ॥१॥'

तिर्यगलोक नामक पृथक् पृथक् अधिकार हैं। फिर ज्योतिर्लोक और देवलोकका वर्णन है। त्रिलोकसारमें वैमानिक लोकके अन्तमें सिद्धलोकका वर्णन है। और ति० प० के अन्तमें सिद्धलोक नामक अलग अधिकार है। इस तरह दोनोंके क्रममें तथा अधिकार संख्यामें अन्तर है।

१. ति० प० के लोकसामान्य अधिकारके प्रारम्भमें लगभग ९० गाथाओंके द्वारा जो मंगल निमित्त आदिकी चर्चा है त्रिलोकसारमें उसका कोई आभास तक नहीं है। ति० प० की ९१वीं गाथासे लोकसामान्यका कथन आरम्भ होता है जो इस प्रकार है—

> जगसेढिघणपमाणो लोयायासो सपंचदव्वरिदी।
> एस अणंताणंतालोयायासस्स बहुमज्झे ॥९१॥—ति० प० १।

तदनुसार त्रिलोकसारकी तीसरी गाथासे उसका आरम्भ होता है जो इस प्रकार है—

> सव्वागासमणंतं तस्स य बहुमज्झदेसभागम्हि।
> लोगोऽसंखपदेसो जगसेढिघणप्पमाणो हु ॥३॥—त्रि० सा०।

ति० प० में श्रेणिके घनप्रमाणका निर्णय करनेके लिये पल्य सागर आदि प्रमाणोंका कथन (गाथा १–९३ आदि) किया है। और त्रि० सा० में भी उसीका निर्णय करनेके लिये प्रमाणोंका कथन किया है। किन्तु त्रि० सा०[1] में प्रमाणोंका कथन तत्त्वार्थवार्तिक (पृ० २०६) के अनुसार किया है। यथा—भावके दो भेद हैं लौकिक और लोकोत्तर। लौकिक के छ[2] भेद हैं और लोकोत्तरके चार भेद हैं। द्रव्य, क्षेत्रकाल और भाव। द्रव्य प्रमाणके दो भेद हैं—संख्या और उपमा आदि। संख्या प्रमाणका कथन करनेके पश्चात् त्रि० सा० में (गा० ५३–९२) चौदह धाराओंका कथन किया है। उनके नाम इस प्रकार हैं—सर्वधारा, समधारा, कृतिधारा, घनधारा, कृति मातृकधारा, घनमातृकधारा, विषमधारा, अकृतिधारा, अघनधारा, अकृति मातृकधारा, अघन मातृकधारा, द्विरूप वर्गधारा, द्विरूप घनधारा, द्विरूप घनाघनधारा। इन धाराओंको संख्या प्रमाणका ही विशेष भेद बतलाया है।

---

१. माणं दुविहं लौगिग लोगुत्तरमेत्थ लोगिगं छद्धा।
माणुम्माणो माणे गणि पडितप्पडिपमाणमिदि ॥३॥

२. 'प्रमाणं द्विविधं लौकिक लोकोत्तर भेदात्।····
लौकिकं षोढ़ा मानोन्मानावमानगणना प्रतिमान···· ।'

इन धाराओंका कथन उपलब्ध साहित्यमें अन्यत्र देखनेमें नहीं आता। धाराओंके कथनका उपसंहार करते हुए त्रि० सा० में लिखा[1] है कि यहाँ व्यवहारोपयोगी धाराओंका दिशा मात्र दर्शन कराया है विस्तारसे जाननेकी रुचि रखने वाले शिष्य परिकर्मसे जान सकते हैं।

यह वही परिकर्म है जिसके अनेक उल्लेख धवला टीकामें मिलते हैं और जिसे इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर रचा गया बतलाया है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके सन्मुख भी वह वर्तमान था। अतः त्रि० सा० में उन्होंने उसका भी उपयोग किया है यह स्पष्ट है।

धाराओंके पश्चात् उपमा प्रमाणोंका कथन है। इस तरह एक सौ बारह गाथाओंके द्वारा उक्त प्रमाणोंका कथन करके त्रि० सा० में लोकका वर्णन प्रारम्भ होता है। ति० प० में सामान्यलोक, अधोलोक और ऊर्ध्वलोकमेंसे प्रत्येकका सामान्य, दो चतुरस्र, यवमुरज, यवमध्य, मन्दर, दूष्य और गिरि-कटकके आकार रूप चित्रण करके क्षेत्रफल निकाला है। किन्तु त्रि० सा०[2] में (गा० ११५–११७) केवल अधोलोकका ही उक्त आठ भेद रूपसे कथन किया है और ऊर्ध्वलोकका कथन (गा० ११–१२०) सामान्य, प्रत्येक, अर्ध, स्तम्भ, और पिनष्टिके रूपमें पाँच प्रकारसे किया है। तिलोयपण्णत्तिमें यह कथन नहीं है।

आगे वातवलयोंका क्षेत्रफल बतलाया गया है। इस तरह १४२ गाथा तक लोक सामान्यका कथन है। आगे अधोलोकका कथन करते हुए नारक लोकका कथन किया है। उसमें सात पृथिवियोंमें स्थित नारकियोंके बिल, नारकियोंका उत्पाद स्थान, विक्रिया, वेदना, आयु, शरीरकी ऊँचाई, अवधि ज्ञानका विषय तथा गति आगतिका कथन है।

२. दूसरे भावनलोक अधिकारमें भवनवासी देवोंके भेद, उनके इन्द्र, मुकुटोंमें चिह्न, चैत्यवृक्ष, सामानिक आदि देवोंका परिवार, आयु, उच्छ्वास आहारादिका कथन है जो ति० प० के ही समान है। अनेक गाथाओंमें भी समानता है।

३. तीसरे व्यन्तर लोकाधिकारमें व्यन्तर देवोंके भेद, उनके शरीरका वर्ण,

---

१. 'ववहारुवजोग्गाणं धाराणं दरिसिदं दिसामेत्तं।
वित्थरदो वित्थररुइसिस्सा जाणंतु परियम्मे ॥९१॥'—त्रि० सा०।

२. 'सामण्णं दो आयद जवमुर जवमज्झ मंदरं दूसं।
गिरिगडगेणकि जाणह अट्ठवियप्पो अधोलोको ॥११५॥—त्रि० सा०

चैत्यवृक्ष, व्यन्तरोंके अवान्तर भेद, इन्द्रोंके नाम, परिवार देव, आयु आदिका कथन है।

४. चौथे ज्योतिर्लोक अधिकारमें पहले ज्योतिषी देवोंके पाँच भेद बतलाये हैं फिर चूँकि द्वीप समुद्रोंका कथन किये बिना ज्योतिषी देवोंका कथन नहीं हो सकता क्योंकि वे सब द्वीप-समुद्रोंके ऊपर फैले हुए है, अतः आदि और अन्तके सोलह-सोलह द्वीपों और सोलह सोलह समुद्रोंके नाम गिनाये हैं, और उनके सूची व्यास तथा वलय व्यासका कथन करते हुए सूची आनयन तथा परिधि और क्षेत्रफल लानेके लिये करणसूत्र बतलाये हैं। साथ ही समुद्रोंके जलका स्वाद, उनमें जलचरोंका भावाभाव, स्वयंभुरमण द्वीपके बाह्य भागमें पाये जाने वाले त्रसजीवोंकी उत्कृष्ट अवगाहना आदिका कथन किया है। ति० प० में यह सब कथन पाँचवें तिर्यग्लोक अधिकारके प्रारम्भमें किया गया है। चूकि त्रि० सा० में इस नामका कोई स्वतंत्र अधिकार नहीं है इसलिये प्रसंगवश ज्योतिलोका-धिकारके आदिमें ही आवश्यक बातोंका कथन कर दिया है। इस प्रासंगिक कथनके पश्चात् भूमितलसे तारा आदिकी ऊँचाई बतलाई है जो ति० प० के ही समान है। आगे ज्योतिर्विमानोंका स्वरूप, राहु और अरिष्ट ग्रहोंके विमान-का व्यास तथा उनका कार्य, चन्द्रमा आदिकी किरणोंका प्रमाण, चन्द्रमण्डलकी हानि वृद्धि, जम्बूद्वीपसे लेकर पुष्करार्ध पर्यन्त चन्द्रमा और सूर्योंकी संख्या, मानुषोत्तरसे परे चन्द्रमा और सूर्यके अवस्थानका क्रम, असंख्यात द्वीप समुद्रोंके ऊपर स्थित चन्द्र और सूर्य आदिकी संख्या निकालनेकी विधि, अठासी ग्रहोंके नाम, ताराओंकी संख्या, चन्द्र और सूर्यका चार क्षेत्र, दिन रातकी हानि वृद्धि, दक्षिणायन, उत्तरायण, ताप और तमकी हानि वृद्धि, नक्षत्र भुक्ति, अधिक मासकी उत्पत्ति, विषुप, नक्षत्रोंके नामादि तथा ज्योतिष्क देवों और देवियोंकी आयुका कथन है।

५. पाँचवे वैमानिक लोकाधिकारमें कल्प और कल्पातीत विमानोंको बतलाकर सोलह स्वर्गोंमें विमानोंकी संख्या, इन्द्रक विमानोंका प्रमाणादि, श्रेणिबद्ध विमानोंका अवस्थान, दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रोंका निवास, सामानिक आदि देवोंकी संख्या, कल्पोंमें स्त्रियोंके उत्पत्ति स्थान, प्रवीचार, विक्रिया, अवधिज्ञानका विषय, जन्म मरणका अन्तरकाल, इन्द्रादिका उत्कृष्ट विरह काल, आयु, लौकान्तिक देवोंका स्वरूपादि, देवागंनाओंकी आयु, उच्छ्वास व आहार ग्रहणका काल, गति-आगति, आदिका कथन है। चूंकि वैमानिक लोकसे ऊपर ही सिद्ध जीवोंका स्थान है अतः उनका कथन भी इसी अधिकारके अन्तमें कर दिया गया है। ति० प० में सिद्धोंका कथन एक पृथक् अधिकारमें किया गया है।

६. छठे नर तिर्यग्लोकाधिकारमें पहले जम्बूद्वीपके भरतादि क्षेत्रों, हिमवान आदि पर्वतों, उन पर स्थित पद्म आदि हृदों, उनसे निकलने वाली गंगा सिन्धु आदि नदियों, मेरु पर्वत व उसके भद्रशाल आदि वनोंका कथन है। आगे जम्बू वृक्ष, भोगभूमि और कर्म भूमियाँ, दिग्गज पर्वत, तथा विदेह देशोंका वर्णन है। चूँकि विदेहस्थ देशोंमें सदा तीर्थंकर, चक्रवर्ती, अर्धचक्री आदि रहते हैं अतः उनकी संख्या बतलाकर चक्रवर्तीकी सम्पत्ति तथा राजा अधिराजा आदिका लक्षण बतलाया है। आगे धातकी खण्ड और पुष्करार्धमें स्थित मेरुओंके व्यासादि-का कथन है। और करण सूत्रोंके द्वारा भरतादि क्षेत्रोंका धनुः, वाण, जीवा आदि निकालनेकी विधि तथा स्थूल व सूक्ष्म क्षेत्रफल निकाल कर बतलाया है।

गाथा ७०९ से भरत और ऐरावत क्षेत्रमें छह कालोंके द्वारा होने वाले परिवर्तनका विस्तारसे कथन है। उसमें छहों कालोंमें जीवोंकी आयुका प्रमाण, मनुष्योंके शरीरकी ऊँचाई, शरीरका रंग, आहारका क्रम, भोगभूमिका स्वरूप, कर्म भूमिके प्रवेशके आरम्भमें होनेवाले चौदह कुल करोंका वर्णन, चतुर्थ कालमें उत्पन्न हुए त्रेसठ शलाका पुरुषोंका वर्णन है। त्रेसठ शलाका पुरुषोंके वर्णनसे उनके सम्बन्धकी आवश्यक बातोंकी जानकारी हो जाती है। फिर गाथा ८५० से शक राजा और कल्कि राजाकी उत्पत्तिका समय बतलाया है कि वीर निर्वाणसे ६०५ वर्ष ५ मास पश्चात् शक राजा हुआ और शक राजासे ३९४ वर्ष ७ मास बीतने पर कल्की हुआ। तथा लिखा है कि प्रत्येक एक हजार वर्षके पश्चात् एक कल्कि होता है। चूँकि पांचवा काल इक्कीस हजार वर्षका होता है। अतः उसमें इक्कीस कल्कि होते हैं। अन्तिम कल्किके अत्याचारोंके फलस्वरूप उसके साथ ही धर्म, राजा और अग्निका अन्त हो जाता है और छठे कालका प्रवेश होता है वह भी इक्कीस हजारका वर्ष है। उसके अन्तमें प्रलयकाल होता है। विषैली अग्निकी वर्षासे सब जन नष्ट हो जाते हैं। बहुतसे मनुष्य पर्वत आदिकी कन्दराओंमें छिप जाते हैं। उत्सर्पिणी कालका प्रवेश होने पर जब सुवर्षासे पृथ्वीकी ऊष्मा शान्त होती है तो पर्वतोंकी गुफाओंमें छिपे मनुष्य उनसे निकलकर पृथ्वी पर बसने लगते हैं और इस तरह पुनः कर्म भूमिका प्रवेश होता है। उसके आरम्भमें पुनः चौदह कुलकर उत्पन्न होते हैं जो जनता-को जीवनोपयोगी शिक्षा देते हैं। तीसरा काल आने पर पुनः त्रेसठ शलाका पुरुष उत्पन्न होते हैं। यह सब कथन करनेके पश्चात् लवण समुद्रका वर्णन है फिर धातकी खण्ड और पुष्करार्धका वर्णन है। आगे मानुषोत्तर, कुण्डल पर्वत और रुचक पर्वतका कथन है। आगे नन्दीश्वर द्वीपमें स्थित जिनालयोंका वर्णन है।

इस तरह त्रिलोकसारमें तीनों लोकोंका सारभूत कथन दिया गया है।

त्रिलोकसार टीका

त्रिलोक सारके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके शिष्य माधवचन्द्र त्रैविद्य ने त्रिलोकसारकी संस्कृत टीका रची है जो मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित हो चुकी है। टीकाकी अन्तिम[1] प्रशस्तिमें माधवचन्द्र त्रैविद्य देवने अपनेको 'त्रिलोकसार मलंकरिष्णु' त्रिलोकसारको अलंकृत करने वाला लिखा है। उन्होंने त्रिलोकसार-को केवल अपनी टीकासे ही अलंकृत नहीं किया किन्तु अपने गुरु नेमिचन्द्रके अभिप्रायके अनुसार कुछ गाथाएँ भी यत्र तत्र रचकर त्रिलोकसारमें सम्मिलित की हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि माधवचन्द्र अच्छे गणितज्ञ भी थे। क्योंकि नरतिर्यग्लोकाधिकारमें जो भरतादि क्षेत्रोंके जीवा और धनुषका प्रमाण करणसूत्रों के द्वारा आनयन करके बतलाया है उसमें माधव ९ और चन्द्र १ के अर्थात् १९ के व्याजसे माधवचन्द्रका नाम देकर उस सब गणितको माधवचन्द्रके द्वारा कथित बतलाया[2] है।

चूँकि माधवचन्द्र नेमिचन्द्राचार्यके समकालीन थे और त्रिलोक सारकी रचनामें भी उनका पूरा सहयोग था अतः त्रिलोकसारकी रचनाके साथ ही अथवा उसके पश्चात् ही उसकी टीकाका निर्माण उन्होंने किया हो, यह सम्भव है। नेमिचन्द्राचार्य विक्रमकी ग्यारवीं सदीके पूर्वार्धमें हुए हैं। अतः उनके सहयोगी शिष्यका समय भी वही समझना चाहिये। और उसी समयके लगभग टीका रची गई होगी। इनकी अन्य किसी कृतिका पता नही चलता।

'जंबूदीप पण्णत्ति संगह'

जम्बूद्वीप पण्णति संग्रह नामक ग्रन्थ लोकानुयोगका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी प्रस्तावनासे ज्ञात होता है कि प्रतियों पर इस ग्रन्थका नाम जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति अंकित पाया जाता है। किन्तु उद्देशोंकी पुष्पिकाओंके अनुमार ग्रन्थका

---

१. 'तं त्रिलोकसारमलंकरिष्णुर्माधवचन्द्रत्रैविद्यदेवो अपि आत्मीयमौद्धत्यं परिहरति—'गुरुणेमिचंदसम्मदकदिवयगाहा तहिं तहिं रइदा।
माहवचंद तिविज्जेणिणमणुसरणिज्जमज्जेहिं ॥१॥—त्रि० सा० पृ० ४०५।

२. 'जीवदु विदेहमज्झे लक्खा परिहिदलमेवमवरद्धे।
माहवचंदुद्धरिया गुणधम्मपसिद्धसव्वकला ॥ ७७७ ॥
टी०—'प्रसिद्धः पूर्वोक्ताः सर्वाः कला योजनांशा अंकसंज्ञया माधवचन्द्राङ्केन १९ उद्धृता भक्ताः पक्षे गुणेषु धर्मे च प्रसिद्धाः सर्वाः कलाः माधवचन्द्रत्रैविद्येशिनोद्धृताः प्रकाशिताः ॥ ७७७ ॥—त्रि०सा०

पूरा नाम जम्बूदीव पण्णत्ति संगह (जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति संग्रह) है। संग्रह शब्दसे यह सूचित होता है कि ग्रन्थकारने किसी अन्य प्राचीन स्रोत परसे इसका संकलन किया है।

आधार—ग्रंथके तेरहवें उद्देशके अन्तमें ग्रंथकारने लिखा है कि ऊर्ध्वलोक, अधोलोक, और तिर्यग्लोकसे सम्बद्ध जम्बूद्वीप निबद्ध शास्त्रका विषय परमेष्ठीके द्वारा भाषित है अतः वह पूर्वापरदोषसे रहित है ॥१४०॥ परमेष्ठीके द्वारा उपदिष्ट अर्थको ग्रहण कर गणधरदेवने उसे ग्रंथ रूपमें ग्रथित किया। आचार्य परम्परासे आगत उस समीचीन ग्रन्थार्थका ही उपसंहार करके यहाँ संक्षेपसे लिखा गया है ॥१४२॥

अधिकार—इसमें तेरह उद्देश हैं—१. उपोद्घात, २. भरत ऐरावत वर्ष, ३. पर्वत नदी भोगभूमि, ४. महाविदेहाधिकार, ५. महाविदेहाधिकारके अन्तर्गत मन्दिर और जिनभवन वर्णन, ६. महाविदेहाधिकारके अन्तर्गत देवकुरु-उत्तरकुरु विन्यास प्रस्तार, ७. महाविदेहाधिकारके अन्तर्गत कच्छा विजय वर्णन, ८. महाविदेहाधिकारके अन्तर्गत पूर्वविदेह वर्णन, ९. अपर विदेह वर्णन, १०. लवण समुद्र वर्णन, ११. दीप-सागर, नरकगति, देवगति सिद्ध क्षेत्र वर्णन, १२. ज्योतिर्लोक वर्णन और १३. प्रमाण भेद वर्णन।

विषय परिचय—प्रथम उद्देशमें केवल ७४ गाथाएँ हैं। सर्व प्रथम छै गाथाओंसे अर्हत् सिद्ध आचार्य उपाध्याय और सर्व साधुकी वन्दना करके द्वीप-सागर प्रज्ञप्ति रचनेकी प्रतिज्ञा की हैं। पश्चात् गा० ७में सर्वज्ञ गुणकी प्राप्तिकी प्रार्थना करके गा० ८में वर्धमान जिनेन्द्रको नमस्कार करके श्रुतगुरु परिपाटीको यथाक्रम कहनेकीं प्रतिज्ञा की है और (९-१७) नौ गाथाओंमें उसका कथन किया है। यह वही गुरु परम्परा है जो तिलोयपण्णत्ति, धवला, जयधवला, हरिवंश पुराण तथा इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारमें पाई जाती हैं। यहाँ केवल गौतम गणधरसे लेकर लोहाचार्य पर्यन्त अंग ज्ञानियोंकी नामावली दी है उनकी काल गणना नहीं दी। आगे गा० १८में सागर द्वीप प्रज्ञप्तिको संक्षेपसे कहनेकी पुनः प्रतिज्ञा की हैं। गा० १९से प्रतिपाद्य विषयका आरम्भ करते हुए कहा गया है कि पच्चीस कोड़ा-कोड़ी उद्धार पल्य प्रमाण द्वीप सागरोंके मध्यमें एक लाख योजन लम्बा चौड़ा और सूर्य मण्डलकी तरह गोल जम्बूद्वीप है।

आगे जम्बूद्वीपकी परिधि, उसके निकालनेकी विधि, जम्बूद्वीपका क्षेत्रफल, जम्बूद्वीपकी वेदिकाका विस्तारादि तथा जम्बूद्वीपके अन्तर्गत पर्वत नदी आदिकी वेदिकाओंका वर्णन है। अन्तमें नदी तट, पर्वत, उद्यान, भवन, शाल्मलि वृक्ष, जम्बूवृक्ष आदिके ऊपर स्थित जिन प्रतिमाओंको नमस्कार किया है।

२. दूसरे उद्देशमें २१० गाथाएँ हैं। इस उद्देशमें जम्बूद्वीपके क्षेत्र विभागका वर्णन करते हुए उसमें भरतादि सात क्षेत्र तथा उनका विभाग करनेवाले हिमवान् आदि छै कुलाचल बतलाये हैं तथा उनके विस्तारादिका कथन किया है। इनके धनुष पृष्ठ, जीवा, चूलिका और वाण आदिका प्रमाण लानेके लिए गणित सूत्र भी दिये हैं।

भरत और ऐरावत क्षेत्रके मध्यमें स्थित विजयार्ध पर्वतका भी वर्णन है। आगे उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालके भेदोंका उल्लेख करके सब विदेह क्षेत्रों, पाँच म्लेच्छ खण्डों और सब विद्याधर नगरोंमें सदा चतुर्थकाल वर्तमान बतलाया है और भोगभूमियोंमें प्रथम, द्वितीय, और तृतीय काल बतलाया है। प्रसंगवश इन कालोंमें होने वाली आयु, शरीरकी ऊँचाई आदिका भी कथन किया है और कौन जीव किन परिणामोंसे भोगभूमियोंमें उत्पन्न होता है यह भी बतलाया है।

मानुषोत्तर पर्वतसे आगे अन्तके स्वयंभूरमण द्वीपके मध्यमें स्थित नगेन्द्र पर्वत पर्यन्त असंख्यात द्वीप समूद्रोंमें भोगभूमि की सी स्थिति रहती है और वहाँ तिर्यञ्च जीव ही रहते हैं, इत्यादि रूपसे सर्वत्र कालोंका निर्देश करते हुए अन्तिम छहों कालोंका स्वरूप बतलाया है।

३. तीसरे उद्देशमें २४६ गाथाएँ हैं। इसमें जम्बूद्वीपस्थ पर्वतों, नदियों और भोगभूमियोंका वर्णन है।

४. चतुर्थ उद्देशमें २९२ गाथाएँ हैं। इसी उद्देशमें मुख्य रूपसे जम्बूद्वीपस्थ विदेह क्षेत्रके मध्यमें स्थित सुमेरु पर्वतके विस्तारादिका तथा उस पर स्थित नन्दन आदि वनोंके विस्तारादिका वर्णन है।

प्रारम्भमें मेरुकी स्थिति बतलाते हुए लोकके आकारादिका वर्णन है, जो कुछ विचित्र है। यद्यपि गाथा १०से जो लोकका विस्तारादि बतलाया है वह तो सभी ग्रन्थोंमें पाया जाता है किन्तु गाथा ३से ९ तक जो कथन किया है वह अन्यत्र नहीं मिलता। यथा—लोककी स्थिति वलभीके आकार हैं। वह लोक कुल पर्वतके समान हैं। अधोलोकका आकार देवच्छन्दके सदृश, छज्जाके सदृश, तलघरके समान अथवा पक्षीके पंखके समान हैं आदि।

५. पाँचवें उद्देशमें १२५ गाथाएँ हैं। इसमें मेरु पर्वत पर स्थित जिनभवनोंका वर्णन है।

६. छठें उद्देशमें १७८ गाथाएँ हैं। इसमें देवकुरु और उत्तरकुरु क्षेत्रोंका वर्णन है। इन क्षेत्रोंमें युगल रूपसे जन्म लेनेवाले स्त्री-पुरुष मरकर नियमसे स्वर्गमें देव होते हैं।

७. सातवें उद्देशमें १५३ गाथाएँ हैं। इसमें विदेह क्षेत्रका वर्णन है। यह निषध और नील पर्वतके मध्यमें स्थित है। इसके बीचमें सुमेरु पर्वत और उसके चारों ओर चार दिग्गज पर्वत हैं। इनके कारण विदेह पूर्व विदेह और अपर-विदेहके रूपमें दो भागोमें विभाजित है। बीचमें सीता और सीतोदा महा-नदियोंके कारण प्रत्येकके दो भाग हो गये हैं। इन चारों भागोंमेंसे प्रत्येक भागमें ४ वक्षार पर्वत और तीन विभंग नदियाँ हैं। इनके कारण प्रत्येक भाग के भी आठ-आठ भाग हो गये हैं। ये ८×४=३२ भाग ३२ विदेह कहे जाते हैं। प्रत्येक विदेह एक-एक चक्रवर्तीके अधीन रहता है अतः चक्रवर्तीकी विभूति तथा विजय यात्राका भी वर्णन किया गया है।

८. आठवें उद्देशमें १९८ गाथाएँ हैं। इसमें पूर्व विदेहका वर्णन है।

९. नौवें उद्देशमें १९७ गाथाएँ हैं। इसमें अपर विदेहका वर्णन है।

१०. दसवें उद्देशमें १०२ गाथाएँ हैं। इसमें लवण समुद्रका वर्णन है। तदनुसार लवण समुद्रकी गहराई व्यास, पातालोंकी अवस्थिति, जलकी हानि वृद्धि, अन्तर्द्वीप तथा अन्तर्द्वीपोंमें बसने वाले मनुष्योंका वर्णन है।

११. ग्यारहवें उद्देशमें ३६५ गाथाएँ हैं। इसमें धातकी खण्ड द्वीपसे लेकर आगेके द्वीप समुद्रोंका तथा अधोलोक (नारकलोक) और ऊर्ध्वलोक (देवलोक) का वर्णन है। प्रारम्भकी ८२ गाथाओंमें तो केवल धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपका वर्णन है। आगे शेष द्वीप समुद्रोंमेंसे आदि और अन्तके सोलह सोलह द्वीपों और समुद्रोंका नाम मात्र गिनाया है तथा कुछ विशेष बातोंका कथन कर दिया है। गाथा ९६ से १०३ तक रज्जूकी ग्रन्थिका जो प्रक्षेपण किया गया है वह अस्पष्ट है पता नहीं ग्रन्थकारने इसे कहाँसे लिया है। अधोलोकका वर्णन प्रारम्भ करनेसे पूर्व गाथा १०६–१११ में पुनः लोकका वर्णन किया है। आगे नारकलोक और देवलोकका वर्णन है।

१२. बारहवें उद्देशमें ११३ गाथाएँ हैं। इसमें ज्योतिर्लोकका वर्णन है। किन्तु वह वर्णन चन्द्रमाके विमानसे प्रारम्भ होता है। और उसीके कथनकी यहाँ प्रधानता है। प्रारम्भकी साठ पैंसठ गाथाओंमें चन्द्रको लेकर ही कथन है। ऐसा अन्यत्र नहीं पाया जाता। सिद्धान्तके अनुसार चन्द्र इन्द्र हैं शायद इसीसे उसके कथनको ही मुख्यता दी गई है। आगे शेष गाथाओंसे सभी ज्योतिषी देवोंका साधारण कथन कर दिया है। बहुत सा आवश्यक कथन नहीं किया गया है।

१३. तेरहवें समुद्देशमें १७६ गाथाएँ हैं। सर्व प्रथम कालके व्यवहार और परमार्थ रूप दो भेदोंको बतलाकर समय आवलि आदि व्यवहार कालके भेदोंका

कथन किया है। आगे परमाणुका स्वरूप बतलाकर उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल और आत्मांगुलका कथन है। फिर पल्य आदि प्रमाणोंका कथन है।

गा० ४४ से सर्वज्ञ की सिद्धि की गई है और सर्वज्ञके वचनको प्रमाण बतलाया है। तथा प्रमाणके प्रत्यक्ष परोक्षादि भेदोंका कथन करते हुए मति ज्ञानके भेद प्रभेदोंका तथा श्रुतज्ञानका कथन किया है। तथा 'वक्ताकी प्रमाणतासे वचनोंमें प्रणाणता होती है' इस कथनके समर्थनमें वक्ता अरहन्त देवकी विशेषताओंका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है। (गा० ८४–१३७)।

उक्त कथनके साथ ही जम्बूद्वीप पण्णत्तिका कथन समाप्त हो जाता है और उसके पश्चात् ग्रन्थकारने अपनी गुरु परम्परा वगैरहका कथन किया है। संक्षेपमें यह ग्रन्थका विषय परिचय है।

तुलना तथा आधार

जैसा प्रारम्भमें कहा गया है कि ग्रन्थकारने आचार्य परम्परासे आगत ग्रन्थार्थका उपसंहार करके इस ग्रन्थकी रचना की है। किन्तु यह तो सामान्य कथन है जो प्रायः ग्रन्थकारोंके द्वारा अपने ग्रन्थका प्रामाण्य बतलानेके लिये किया जाता है। ग्रन्थकी अन्य ग्रन्थोंके साथ तुलना करनेसे प्रकट होता है कि ग्रन्थकारने अपने पूर्ववर्ती अनेक ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंका उपयोग इस ग्रन्थमें किया है जिसका खुलासा संक्षेपमें इस प्रकार है—तिलोयपण्णत्तिसे इसकी रचना शैली बिल्कुल मिलती है। जैसे ति० प० के प्रारम्भमें पाँच गाथाओंके द्वारा पाँचों परमेष्ठियोंका स्मरण करके छठी गाथाके द्वारा ति० प० को कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है, वैसे ही जम्बूद्वीप०के प्रारम्भमें पाँच गाथाओंके द्वारा पाँचों परमेष्ठियोंका स्मरण करके छठी गाथाके द्वारा उन्हें नमस्कार करते हुए द्वीप सागर पण्णत्तिको कहनेकी प्रतिज्ञा की गई है। अन्तर केवल इतना है कि ति० प० में पहले सिद्धोंका स्मरण करके तब अरहन्तोंको स्मरण किया है और जं०द्वी० प० में पहले अरहन्तोंको स्मरण करके तब सिद्धोंको स्मरण किया गया है।

ति० प० में अधिकारके अन्तमें ऋषभ देवको और शेष सात अधिकारोंके आदि तथा अन्तमें क्रमसे एक एक तीर्थङ्करको नमस्कार करते हुए शेष सब तीर्थङ्करोंको अन्तिम अधिकारमें नमस्कार किया है। जं० द्वी० प० में पहले उद्देशको छोड़कर शेष बारह उद्देशोंके आदि और अन्तमें एक एक तीर्थङ्करको क्रमसे नमस्कार किया गया है।

जं० द्वी० प० की विषय प्रतिपादन शैली भी ति० प० की समान है। तथा ति० प० की बहुतसी गाथाएँ यत्किञ्चित् परिवर्तनके साथ जं० द्वी० प० में वर्तमान हैं। उदाहरणके लिये ति० प० के प्रथम अधिकारमें मानका कथन

परमाणुसे प्रारम्भ किया गया है। जं० द्वी० प० में यही कथन उसके तेरहवें अधिकारमें किया गया है। ति० प० में सात गाथाओंके द्वारा (गा० ९५–१०१) परमाणुका स्वरूप बतलाया है। जं० द्वी० प० में उनमेंसे दो गाथाएँ ही ली गई हैं—

'सत्थेण सुतिक्खेणं छेत्तुं भेत्तुं च जं किरस्सक्कं।
जलयलणादिहिं णासं ण एदि सो होदि परमाणु ॥९६॥
अंतादिमज्झहीणं अपदेसं इंदिएहि ण हु गेज्झं।
जं दव्वं अविभत्तं तं परमाणुं कहंति जिणा ॥९८॥—ति० प०

× × ×

अंतादिमज्झहीणं अपदेसं णेव इंदिए णेज्झं।
जं दव्वं अविभागी तं परमाणु मुणेयव्वा ॥१६॥
सत्थेण सुतिक्खेण ण छेतुं भेत्तुं च जं किर ण सक्कं।
तं परमाणुं सिद्धा भणंति आदि पमाणेण ॥१८॥—जं० द्वी० प०

ये दोनों गाथाएँ ति० प० में भी ग्रन्थान्तरोंसे ली गई हैं। जं० द्वी० प० में भी ये ग्रन्थान्तरोंसे ही ली गई जान पड़ती है। इनमेंसे 'सत्थेण सुतिक्खेण' गाथा श्वेताम्बर साहित्यमें बहुतायतसे मिलती है। ज्योतिष्करण्ड (गा० ७३) में भी यह गाथा ज० द्वी० प० के अनुरूप ज्योंकी त्यों है। अतः नीचे आगेकी अन्य गाथाएँ दी जाती हैं—

परमाणूहिं अणंताणंतेहि बहुविहेहि दव्वेहिं।
उवसण्णासण्णो त्तिय सो खंदो होदि णामेण ॥१०२॥
उवसण्णासण्णो त्तिय गुणिदो अट्ठेहि होदि णामेण।
सण्णासण्णो त्ति तदो दु इदि खंघो पमाणट्ठं ॥१०३॥—ति० प० १।

× × ×

परमाणुहिं य णेया णंताणंतेहि मेलिदेहि तहा।
ओसण्णासण्णे त्ति य खंधो सो होदि णादव्वो ॥१९॥
अट्ठेहि तेहिं दिट्ठा ओसण्णासण्णएहिं दव्वेहिं।
सण्णासण्णो त्ति तदो खंधो णामेण सो होइ ॥२०॥—जं०द्वी०प०१३।

ति० प० में भगवान महावीरके पश्चात् हुए अंग ज्ञानियोंकी परम्परा दी गई हैं उसमें उनका कालमान भी है। जं० द्वी० प० के आरम्भमें कालमानको छोड़ कर उसी रूपमें परम्परा दी गई है उसकी कुछ गाथाएँ यहाँ उद्धृत की जाती है—

णंदी य णंदिमित्तो विदियो अवराजिदो तइज्जो य।
गोवद्धणो चउत्थो पंचमओ भद्दबाहुत्ति ॥५४८२॥

पंच इमे पुरिसवरा चउदसपुव्वी जगम्मि विक्खादा ।
ते वारस अंगधरा तित्थे सिरिवड्ढमाणस्स ।।१४८३।।—ति०प० ४ ।

× × ×

णंदी य णंदिमित्तो अवराजिद मुणिवरो महातेओ ।
गोवद्धणो महप्पा महागुणो भद्दबाहू य ।।१२।।
पंचेदे पुरिसवरा चउदसपुव्वी हवंति णायव्वा ।
बारस अंगधरा खलु वीरजिणिंदस्स णायव्वा ।।१३।।—ज०द्वी०प० १ ।

इस तरहकी समान गाथाएँ बहुत सी हैं ।

किन्तु जं० द्वी० प० का पूरा विषय वर्णन ति० प० के सर्वथा अनुकूल नहीं है । उसमें अनेक स्थलों पर अन्तर भी है । ति० प० (१–१०४) में आठ सन्नासन्नोंका एक त्रुटिरेणु और आठ त्रुटिरेणुओंका एक त्रसरेणु बतलाया है । किन्तु जं० द्वी० प० १३।२१ में आठ सन्नासन्नोंका एक व्यवहार परमाणु और आठ व्यवहार परमाणुओंका एक त्रसरेणु कहा है । व्यवहार परमाणु संज्ञा किसी दिगम्बर परम्पराके ग्रन्थमें हमने नहीं देखी । हाँ श्वेताम्बरीय परम्पराके ग्रन्थोंमें मिलती है ।

अनुयोगद्वार सूत्रमें दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

परमाणु तसरेणु रहरेणु अग्गयं च बालस्स ।
लिक्खा जूआ य जवो अट्ठगुणविवड्ढिया कमसो ।।९९।।
सत्थेण सुतिक्खेणवि छित्तुं भेत्तुं च जं किर न सक्का ।
तं परमाणुं सिद्धा वयंति आइं पमाणाणं ।।१००।।

ये दोनों गाथाएँ जं० द्वी० प० में इस प्रकार हैं—

सत्थेण सुतिक्खेण य छेत्तुं भेत्तुं च जं किर ण सक्कं ।
तं परमाणुं सिद्धा भणंति आदिं पमाणेण ।।१८।।
परमाणु तसरेणु रहरेणु अग्गयं च बालस्स ।
लिक्खा जूवा य जओ अट्ठगुणविवड्ढिदा कमसो ।।२२।।

ये दोनों गाथाएँ ज्योतिष्करण्डमें इसी क्रमसे हैं । अतः वहींसे ली गई जान पड़ती हैं । ऐसी अनेक गाथाएँ है जो दोनों ग्रन्थोंमें समान हैं । अनुयोगद्वारसूत्रमें अनन्तानन्त व्यवहार परमाणु पुद्गलोंकी एक उत्सन्नासन्ना, आठ उत्सन्नासन्नाओंकी एक सन्नासन्ना और आठ सण्णासण्णाओंका एक उर्ध्वरेणु और आठ उर्ध्वरेणुओंका एक त्रसरेणु बतलाया है । तिलोयपण्णत्ति तथा तत्त्वार्थ वार्तिकमें अनन्तानन्त परमाणुओंकी एक उत्सन्नासन्ना आदि बतलाये हैं । वहां व्यवहार परमाणु-

की कोई चर्चा नहीं है। केवल उर्ध्वरेणुके स्थानमें त्रुटिरेणु है। किन्तु जं० द्वी० प० में त्रुटिरेणुके स्थानमें व्यवहार परमाणु है। इस तरह उक्त दो गाथाओंको अपना कर भी जं० द्वी० प० के कर्ताने वर्णनमें ति० प० और तत्त्वार्थ वार्तिक का ही अनुसरण किया है। केवल त्रुटिरेणुके स्थानमें व्यवहार परमाणु संज्ञाको स्थान दिया है। क्यों ऐसा किया गया है यह नहीं कहा जा सकता।

तिलोयपण्णत्ति, तत्त्वार्थवार्तिक, वृहत्संग्रहणी, हरिवंश पुराण, तथा जम्बूद्वीप पण्णत्ति, इन सभी ग्रन्थोंमें जम्बूद्वीपमें २, लवण समुद्रमें ४, धातकी खण्डमें १२, कालोदधिमें ४२ और पुष्करार्धमें ७२ चन्द्रमा और उतने ही सूर्य बतलाये हैं। किन्तु मनुष्यलोकसे बाहर चन्द्रसूर्योंकी संख्याके प्रमाणमें मतभेद है। अकलंक देवने तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] बाह्य पुष्करार्धमें भी ७२ चन्द्र सूर्य बतलाये हैं। उससे चौगुने पुष्करवर समुद्रमें बतलाये हैं और आगे द्वीपसमुद्रोंमें दूने-दूने बतलाये हैं। वृहत्संग्रहणीमें[2] (गा० ६५) एक गाथाके द्वारा यह बतलाया है कि धातकीखण्डसे लेकर आगेके द्वीपों और समुद्रोंमें चन्द्रमाकी संख्या लानेके लिये तिगुना करके उसमें पहलेके द्वीपसमुद्रोंकी संख्याको जोड़ देनेसे आगेके द्वीप अथवा समुद्रमें चन्द्रमाओंकी संख्या आ जाती है। जैसे धातकीखण्डमें १२ चन्द्रमा हैं। १२ × ३=३६। इसमें जम्बूद्वीपके २ और लवणके ४ चन्द्रमाओंको जोड़नेसे ४२ संख्या आती है। कालोदधिमें ४२ चन्द्र-सूर्य हैं। ४२ को तिगुना करके उसमें पहलेके द्वीप समुद्रोंकी संख्याका प्रमाण जोड़ देनेसे पुष्करवरद्वीपके चन्द्र सूर्यका प्रमाण ४२ × ३=१२६ + १८ = १४४ आता है। इसमेंसे ७२ चन्द्रसूर्य आभ्यन्तर पुष्करार्धमें और ७२ बाह्य पुष्करार्धमें हैं। तत्त्वार्थवार्तिक और हरिवंश पुराणमें ऐसा ही बतलाया है। हरिवंश[3] पुराणमें तो संग्रहणीकी गाथाका करण सूत्रके अनुसार संस्कृत रूप भी दिया है।

ज० द्वी०प० में ति०प० की ही तरह बाह्य पुष्करार्धके प्रथम वलयमें १४४ चन्द्रमा बतलाये हैं। तदनुसार पुष्करवर समुद्रके प्रथम वलयमें उससे दुगने अर्थात् २८८ होने चाहियें। किन्तु ज० द्वी० प० में १४४ ही बतलाये हैं और आगे

---

१. 'पुष्करार्धे द्वासप्ततिः सूर्याः।·········बाह्ये पुष्करार्धे च ज्योतिषामियमेव संख्या। ततश्चतुर्गुणाः पुष्करवरोदे, ततः परा द्विगुणा द्विगुणा ज्योतिषां संख्या अवसेया—त० वा० पृ० १२०

२. 'धायइखण्डप्पभिई उद्दिट्ठा तिगुणिया भवे चंदा। आइल्लचंद सहिआ अणंतराणंतरे खित्ते ॥६१॥—वृ० सं०।

३. धातक्यादिषु चन्द्रार्काः क्रमेण त्रिगुणाः पुनः। व्यतिक्रांतैर्युतास्ते स्युर्द्वीपे च जलधौ परे ॥३३॥ ह० पु० ६ स०।

वारुणीवर द्वीपके प्रथम वलयमें २८८ बतलाये हैं। ग्रन्थकारने यह कथन किस आधारसे किया है, यह कहना शक्य नहीं है। तत्त्वार्थवार्तिकके अनुसार भी पुष्करवर समुद्रमें ७२ × ४ = २८८ चन्द्रसूर्य होते हैं।

ऐसे ग्रन्थकारसे इस प्रकारकी भूलकी आशा भी नहीं की जा सकती। अस्तु। फिर भी यह निर्विवाद है कि ति० प० जम्बूद्वीपपण्णत्तिका एक प्रमुख आधार भूत ग्रन्थ है।

इसी तरह मूलाचार ग्रंथके अन्तिम प्रकरण पर्याप्तिसंग्रहणी'की भी कई एक गाथाएँ जम्बू द्वी० प० के उद्देश ११, १२, १३ में[1] ली गई हैं। त्रिलोकसार[2] की भी कुछ गाथाएँ ज० द्वी० प० के साथ आंशिक रूपसे मेल खाती हैं किन्तु उनमें क्वचित् अर्थभेद भी पाया जाता है। दोनों ग्रंथोंकी कुछ मिलती हुई गाथाएँ उपमा प्रमाणसे सम्बद्ध हैं। जिनमेंसे त्रि० सा० गा० ९३ तथा ज० द्वी० प० १३।३६ वीं गाथा तो पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि (३।३८) में उद्धृत होनेसे दोनों ग्रंथोंसे प्राचीन है। आगे—

सत्तमजम्मावीणं सत्तदिणब्भंतरम्मि गहिदेहिं।
सण्णट्ठं सण्णिचिदं भरिदं वालग्गकोडीहिं ॥ ९४ ॥—त्रि० सा०
एगाहि बीहि तीहि य उक्कस्सं जाव सत्तरत्ताणं।
संणद्धं संणिचिदं भरिदं बालग्गकोडीहिं ॥३७॥–ज० द्वी० प० १३।

इन गाथाओंका पूर्वार्ध भिन्न है किन्तु उत्तरार्ध समान है। परन्तु श्वे० परम्पराके ज्योतिष्करण्डमें भी यह गाथा ज० द्वी० प० से बहुत कुछ समानता रखती हुई इस प्रकारसे पाई जाती है—

एकाहिय-वेहिय-तेहियाण उक्कोससत्तरत्ताणं।
सम्मट्ठं सन्निचियं भरियं बालग्गकोडीणं ॥ ७९ ॥

एक गाथा ऐसी भी है जो त्रि०सा० (९५) में और ज०द्वी० प० (१३।३५) में समानताको लिये हुए पाई जाती है। अन्य भी कुछ गाथाएँ पाठभेद और मान्यता भेदको लिये दोनों ग्रन्थोंमें समान रूपसे मिलती हैं। और उस परसे यह सम्भावना की जाती है कि एकने दूसरेको देखा हो।

---

१. ज० प० ११।१३७–१३८ तथा मूलाचा० १२।७५-७६। जं० प० ११। १३९, १४०, १४१ तथा मूला० १२।२१, १०९-११० आदि।

२. त्रि० सा० ९६ जं० प० ४।३४। त्रि० सा० ९५, जं० प० १३।३५। त्रि० सा० ९३, जं० प० १३।३६। त्रि० सा० ९४, जं० प० १३।३७। त्रि० सा० ९९–१०२ जं० पं० १३।३८–४१ आदि।

रचयिता तथा गुरु परम्परा

जं० द्वी० प० के तेरहवें उद्देश के अन्तमें ग्रंथकारने लिखा है कि जिन-मुखोद्भूत परमागमके उपदेशक विख्यात श्री विजय गुरु हैं। उनके पासमें जिनागमको सुनकर मैंने यहाँ कुछ उद्देशोंमें मनुष्य क्षेत्रके अन्तर्गत ४ इष्वाकार, ५ मन्दर शैल, ५ शाल्मलिवृक्ष, ५ जंबूवृक्ष, २० यमक पर्वत, २० नाभिगिरि, २० देवारण्य, ३० भोग भूमिया, ३० कुलाचल, ४० दिग्गजपर्वत, ६० विभंग नदियाँ, ७० महा नदियाँ, ३० पद्मद्रहादि, १०० वक्षार पर्वत, १७० वैताढ्य पर्वत, १७० ऋषभ गिरि, १७० राजधानियाँ, १७० षट्खण्ड, ४५० कुण्ड, और २२५० तोरण इत्यादि बहुतसे ज्ञातव्य विषयोंका कथन तथा इनके अतिरिक्त मनुष्य लोकमें अढाई द्वीप, दो समुद्र, आदिका तथा अधोलोक तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोकका कथन श्री विजय गुरुके प्रसादसे किया है (१४६–१५३ गा०)।

श्री माघनन्दि गुरु श्रुत सागरके पारगामी विख्यात हैं। उनके शिष्य सकलचन्द्र गुरु हुए। उनके शिष्य श्री नन्दि गुरु हुए। उनके निमित्त यह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति लिखी गई है। तथा एक वीर नन्दि नामक आचार्य हुए है। उनके शिष्य बलनन्दि गुरु हुए। वे सूत्रार्थके मर्मज्ञ थे। उनके शिष्य सिद्धान्तके पारंगत पद्मनन्दि नामक मुनि हुए। श्री विजय गुरुके पासमें अतिविशुद्ध आगम-को सुनकर मुनि पद्मनन्दिने इसको संक्षेपसे लिखा। (१५४–१६४ गा०)।

जिनशासन वत्सल शक्ति नामक भूपाल वारा नगरका शासक था। प्रचुर पुष्करणियों व वापियोंसे संयुक्त, भवनोंसे भूषित, अति रमणीय, नानाजनोंसे संकीर्ण, धनधान्यसे व्याप्त, सम्यग्दृष्टि जनोंके समूहसे सहित, मुनिगणसे मण्डित, रम्य और जिन भवनोंसे भूषित पारियात्र देशके अन्तर्गत वारा नगरमें स्थित होकर मैंने इस जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिको संक्षेपमें लिखा है। मुझ अल्पज्ञसे जो आगम विरुद्ध लिखा गया हो उसको विद्वान् मुनि प्रवचन वत्सलतासे शुद्ध कर लें (गा० १६५–१७०)।

उक्त कथनके अनुसार ग्रन्थकारका नाम पद्मनन्दि था। उनके गुरुका नाम बलनन्दि था। और गुरुके गुरुका नाम वीरनन्दि था। ग्रंथकार पद्मनन्दि-ने शास्त्रका ज्ञान श्री विजय गुरुसे प्राप्त किया था। और इस ग्रन्थकी रचना उन्होंने माघनन्दिके प्रशिष्य तथा सकल चन्द्रके शिष्य श्री नन्दिके लिये की थी। तथा इस ग्रन्थकी रचना वारा नगरमें हुई थी। वारा नगर परियात्र देशमें था और वहाँ शक्ति भूपाल राज्य करते थे।

समय विचार

ग्रन्थकारने ग्रन्थमें उसके रचनाकालका कोई निर्देश नहीं किया। और न

अपने संघ, गण अन्वय आदिका ही कोई उल्लेख किया। उनकी गुरु परम्परा भी समयके विषयमें कोई सहायता नहीं करती।

हेमचन्द्रने अपने कोशमें लिखा है—'उत्तरो विंध्यात्पारियात्रः।' अर्थात् विंध्य पर्वतसे उत्तरमें पारियात्र है। श्रीयुत नाथूरामजीने लिखा[1] है कि यह पारियात्र शब्द पर्वतवाची और प्रदेशवाची भी है। विन्ध्याचलकी पर्वतमाला-का पश्चिम भाग जो नर्मदा तटसे शुरु होकर खंभात तक जाता है और उत्तर भाग जो अर्वलीकी पर्वत श्रेणी तक गया है, पारियात्र कहलाता है। अतः पूर्वोक्त बारा नगर इसी भूभागके अन्तर्गत होना चाहिये। राजपूतानेके कोटा नगरमें जो बारा नामका कस्वा है वही बारा नगर है क्योंकि वह पारियात्र देशकी सीमाके भीतर ही आता है। नन्दि संघकी पट्टावलीके अनुसार बारामें भट्टारकोंकी एक गद्दी भी रही है और उसमें वि० सं० ११४४ से १२०६ तकके १२ भट्टारकोंके नाम भी दिये हैं। इससे भी जान पड़ता है कि सम्भवतः ये सब पद्मनन्दि या माघनन्दिकी शिष्य परम्परामें हुए होंगे। और यही बारा (कोटा) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके निर्मित होनेका स्थान होगा'।

ओझाजी लिखित राजपूतानेका इतिहासके अनुसार गुहिलोत वंशके राजा नरवाहनका पुत्र शालिवाहन वि० सं० १०३०–३५ के लगभग मेवाड़का शासक था जिसका उत्तराधिकारी और पुत्र शक्ति कुमार था। प्रेमीजीका अनुमान है कि इसीके समयमें जम्बूद्वीप पण्णत्तिकी रचना हुई है। इसके राजत्व कालके तीन शिलालेख अब तक मिले हैं—

१. वि० सं० १०३४ वैशाख शुक्ला १ का आट पुर (आहाड़) में कर्नल टाडको मिला।

२, आहाड़के जैन मन्दिरकी देव कुलिका वाला लेख।

३. आहाड़के जैन मन्दिरकी सीढ़ीमें मामूली पत्थरके स्थान पर लगा हुआ लेख।

प्रेमीजीका कहना है कि जैन मन्दिरोंके लेखोंसे वह जिन शासन वत्सल भी मालूम होता है। यद्यपि वह पाशुपत मतका अनुयायी था। किन्तु जम्बूद्वीप पण्णत्तिकी रचनाके समय वह आहाड़ (मेवाड़) का नहीं, बारा नगरका प्रभु था। मुंजने वि० सं० १०५३ के लगभग मेवाड़की राजधानी आहाड़को तोड़ा था अतएव उसके बाद ही किसी समय शक्तिकुमारका निवास स्थान बारा हुआ होगा और वही जम्बूद्वीप पण्णत्तिका रचना काल है।

१. 'जै० सा० इ०' पृ० २५६–२६१ पर 'पद्मनन्दिकी जम्बू द्वीपपण्णत्ति' शीर्षक लेख।

जैन भारती भवनसे प्रकाशित पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाकी प्रस्तावनामें पं० गजाधर लालजीने लिखा है कि पूना लाइब्रेरीकी रिपोर्टसे पता लगा है कि पद्मनन्दि नामके कई आचार्य हो गये हैं उनमें एक जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ता हैं। दूसरे पद्मनन्दिने पञ्चविंशतिका, चरणसार प्राकृत, धर्मरसायन प्राकृत ये तीन ग्रन्थ बनाये हैं। इनके समयादिका कुछ भी पता नहीं लगता। तीसरे कर्णखेट ग्राममें हुए हैं। जिन्होंने सुगन्ध दशमी उद्यापनादि बनाये हैं। चौथे पद्मनन्दि कुण्ड-पुर निवासी हुए हैं जिन्होंने चूलिका सिद्धान्तकी वृत्ति नामक व्याख्या १२००० श्लोकोंमें बनाई हैं। पाँचवें विक्रम सं० १३९५में हुए हैं। छठें पद्मनन्दि भट्टारक नामसे प्रसिद्ध हुए हैं। जिनकी बनाई हुई देवपूजा, रत्नत्रयपूजा पूनाकी लाइब्रेरी में हैं। सातवे विक्रम सं० १३६२में भट्टारक नामसे हुए हैं। इनकी लघु पद्म-नन्दि संज्ञा भी है। इनके बनाये हुए यत्याचार, आराधना संग्रह, परमात्मप्रकाश-की टीका, निघंटु (वैद्यक) श्रावकाचार, कलिकुण्ड पार्श्वनाथविधान, अनन्त कथा आदि ग्रन्थ हैं।

इनमें चौथे पद्मनन्दि तो आचार्य कुन्दकुन्द प्रतीत होते हैं। कौण्डकुन्दपुर के निवासी होनेके कारण वे कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए। इन्द्रनन्दिके श्रुता-वतारके अनुसार उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामका ग्रन्थ रचा था और उसका परिमाण बारह हजार श्लोक प्रमाण था। यह पद्मनन्दि सबसे प्रथम हुए हैं। इनका समय विक्रमकी तीसरी शताब्दीका उत्त-रार्ध है। शेष पद्मनन्दियोंकी एकता अथवा भिन्नता चिन्तनीय है।

पं० गजाधर लालजीने पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाके कर्ता को ही जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिका कर्ता होनेकी संभावना की है। क्योंकि पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकामें कर्ता पद्मनन्दिने कई स्थानों पर अपने गुरु वीरनन्दिका स्मरण किया है तथा उन्होंने इस ग्रन्थमें ऋषभ स्तोत्र तथा जिनेन्द्र स्तोत्रकी रचना प्राकृतमें की है अतः वे प्राकृत भाषाके भी पंडित जान पड़ते हैं।

किन्तु जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके रचयिता पद्मनन्दिके गुरुका नाम बलनन्दि और गुरुके गुरुका नाम वीरनन्दि था। ऐसी स्थितिमें गुरु बलनन्दिको छोड़कर गुरुके गुरु वीरनन्दिको ही स्मरण करना उनकी भिन्नताको ही प्रकट करता है।

किन्तु श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारका कहना[1] है कि भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकाके कर्ता श्रीविजय नामके एक प्रसिद्ध आचार्य हुए हैं, जिनका दूसरा नाम अपराजित सूरि है। पं० आशाधरजीने अपनी मूलाराधना दर्पण नामकी टीकामें जगह जगह उन्हें श्रीविजयाचार्यके नामसे उल्लेखित किया है।

१. पु० वा० सू० की प्रस्ता० पृ० ६६-६७।

श्रीविजयने अपनी उक्त टीका श्रीनन्दि गणिकी प्रेरणाको पाकर लिखी है। इधर यह जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति भी एक श्रीनन्दिगुरुके निमित्त लिखी गई है। और इसके कर्ता पद्मनन्दिने अपने शास्त्र गुरुके रूपमें श्रीविजयका नाम खास तौरसे कई बार उल्लेखित किया है। इससे बहुत संभव है कि दोनों श्रीविजय एक हों और दोनों ग्रन्थोंके निमित्तभूत श्रीनन्दि गुरु भी एक ही हों। श्रीविजयने अपने गुरुका नाम बलदेव सूरि, प्रगुरुका चन्द्रनन्दि (महाकर्म प्रकृत्याचार्य) सूचित किया है और पद्मनन्दि अपने गुरुका नाम बलनन्दि और प्रगुरुका वीरनन्दि लिख रहे हैं। हो सकता है कि बलदेव और बलनन्दिका व्यक्तित्व भी एक हो, और इस तरह श्रीविजय और पद्मनन्दि गुरुभाई हों। जिनमें श्रीविजय ज्येष्ठ और पद्मनन्दि कनिष्ठ हों और इस तरह पद्मनन्दिने श्रीविजयका उसी तरहसे गुरु रूपमें उल्लेख किया हो जिस तरह कि गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्रने इन्द्र-नन्दि आदिका किया है।

आगे मुख्तार साहबने लिखा है कि यदि यह कल्पना ठीक हो तो फिर यह देखना चाहिये कि इस ग्रंथ और इसके कर्ता पद्मनंदिका क्या समय ठीक हो सकता है? चंद्रनन्दिका सबसे पुराना उल्लेख श्रीपुरुषके दानपत्र अथवा नाग मंडल ताम्रपत्र में पाया जाता है जो श्रीपुरके जिनालयके लिये शक संवत् ६९८ (वि० सं० ८३३) में लिखा गया है और जिसमें चंद्रनन्दिके एक शिष्य कुमारनन्दि और कुमार-नन्दिके शिष्य कीर्तिनन्दि और कीर्तिनन्दिके शिष्य विमलचंद्रका उल्लेख है और इससे चंद्रनन्दिका समय शक सं० ६३८ से कुछ पहलेका जान पड़ता है। बहुत संभव है कि श्रीविजय इन्हीं चंद्रनन्दिके प्रशिष्य हों। यदि ऐसा है तो श्रीविजय-का समय शक सम्बत् ६५८ के लगभग प्रारम्भ होता है। और तब जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति तथा उसके कर्ता पद्मनन्दिका समय शक सं० ६७० अर्थात् वि० सं० ८०५ के आसपास होना चाहिये। उस समय पारियात्र देशके अंतर्गत वारा नगरका स्वामी कोई शक्ति या शांति नामका भूपाल राजा हुआ होगा, जिसका इतिहाससे पता चलाना चाहिये।' अंतमें मुख्तार सा०ने लिखा है कि कुछ भी हो, यह ग्रंथ अपने साहित्यादि परसे काफी प्राचीन मालूम होता है।

मुख्तार सा० ने श्रीविजय अपर नाम अपराजित सूरिके साथ पद्मनन्दिके विद्यागुरु श्रीविजयकी एकताको मानकर आगे जो एक रूपताएँ स्थापित की हैं मुख्तार सा० के कथनानुसार ही वे सब कल्पना पर ही आधृत हैं; क्योंकि जम्बूद्वीप पण्णत्तिके रचयिताने जिसके लिए शास्त्र रचा, उसकी गुरुपरम्परा अलग दी है और अपनी गुरुपरम्परा अलग दी है और उनका परस्परमें कोई सम्बन्ध नहीं बतलाया है। तथा जिस श्रीविजय गुरुके पासमें उन्होंने

शास्त्राध्ययन क्या, उनको दोनोंमेंसे किसीसे भी सम्बद्ध नहीं बतलाया है। यदि बलनन्दि और बलदेव एक ही व्यक्ति होते और श्रीविजय उनके शिष्य होनेके नाते पद्मनन्दिके गुरुभाई होते तो वह श्रीविजय गुरुके साथ अपने इस सम्बन्धका कुछ-न-कुछ निर्देश अवश्य करते, जैसा कि नेमिचन्द्राचार्यने इन्द्रनन्दिके विषयमें किया है। फिर उस समयमें वारा नगरके शक्ति भूपालका भी कोई अस्तित्व कहींसे ज्ञात नहीं होता। उससे प्रेमीजीका अनुमान अधिक समुचित प्रतीत होता है। यद्यपि उस कालमें पद्मनन्दि नामके किसी आचार्यका और उनके द्वारा उल्लिखित आचार्योंका कोई पता नहीं चलता है। किन्तु ज०द्वी० पण्णत्ति ग्रंथके उद्धरण एक संस्कृत लोकविभागको छोड़कर अन्य किसी ग्रंथमें नहीं मिलते। उद्धरणोंके लिए आकर रूप धवलाटीकामें उसका एक भी उद्धरण नहीं है। फिर उसमें (४।१७) स्पष्ट रूपसे लोकको दक्षिण-उत्तर सात राजू लिखा है। इसके व्यवस्थापक धवलाटीकाकार वीरसेन स्वयं अपनेको बतलाते हैं। यदि जम्बूद्वीप पण्णत्ति उनके सामने होती तो वह ऐसा नहीं लिखते, प्रमाणरूपसे उसका निर्देश करते। अतः जम्बूद्वीप पण्णत्ति धवलाटीकाके पश्चात् ही लिखी गई होनी चाहिये। प्रेमीजीके प्रमाणानुसार वि०सं०के ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें ज०द्वी०प० रची गई होगी। इससे वह त्रि०सा०के पश्चात् की ठहरती है। ज०द्वी०प०की सबसे प्राचीन उपलब्ध प्रति वि०सं० १५१८की लिखी हुई मिलती है। उसी समयके लगभग रचे गये संस्कृत लोकविभागमें भी उसका उल्लेख है। अतः यह निश्चित है कि उसकी रचना उससे पूर्व हो चुकी थी।

संस्कृत लोक विभाग

जैसा कि प्राकृत लोक विभागके सम्बन्धसे इसके विषयमें पहले लिखा गया है यह लोक विभाग संस्कृतके अनुष्टुप श्लोकोंमें है। यह सर्वनन्दि मुनिके द्वारा रचित प्राकृत लोकविभागकी भाषाका परिवर्तन करके सिंह सूरिके द्वारा रचा गया है। इसमें ग्यारह प्रकरण हैं।

१. पहले जम्बूद्वीप विभागमें जम्बूद्वीपका विस्तार, छह कुलाचल, विदेह, विजय, विजयार्ध, मेरु, भद्रशाल आदि वनोंका कथन है।

२. दूसरे लवण समुद्र विभागमें लवण समुद्रका विस्तार, उसके मध्यमें स्थित पाताल, जलकी हानि वृद्धि तथा अन्तर्द्वीपज मनुष्योंका कथन है।

३. तीसरे मानुष क्षेत्र विभागमें धातकी खण्ड और पुष्करार्ध द्वीपोंका तथा कालोदक समुद्रका वर्णन है।

४. चौथे द्वीप समुद्र विभागमें आदि तथा अन्तके १६, १६ द्वीप समुद्रोंका

नामोल्लेख करके राजुके अर्धच्छेदोंके पतनका तथा द्वीप समुद्रोंके अधिपति व्यन्तर देवोंके नामोंका कथन किया है। पश्चात् नन्दीश्वर द्वीपके विस्तार, परिधि उसमें स्थित अंजनगिरि, दधिमुख, और रतिकर पर्वतोंका तथा इन्द्रोंके द्वारा किये जाने वाले जिनपूजा विधानका कथन है। आगे अरुणवर द्वीप और अरुणवर समुद्रका निर्देश करके कुण्डलद्वीपमें स्थित कुण्डल गिरि तथा रुचकवर द्वीपमें स्थित रुचक पर्वत पर स्थित कूटों और उनपर बसने वाली दिक्कुमारिकाओंके कार्योंका कथन है।

५. पांचवें काल विभागमें उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालोंके सुषम सुषमादि विभागोंका, अवसर्पिणीके प्रथम तीन कालोंमें होने वाले मनुष्योंकी आयु शरीरोत्सेध आदिका, दश प्रकारके कल्पवृक्षोंका, कर्म भूमिके प्रारम्भमें उत्पन्न होने वाले कुलकरोंके कार्योंका तथा भोगभूमिका अन्त व कर्मभूमिके प्रवेशका, तीर्थङ्करोंकी उत्पत्तिका, पांचवें और छठे कालकी विशेषताओंका व अवसर्पिणी कालके अन्त और उत्सर्पिणी कालके प्रवेशका कथन है।

इस प्रकरणमें ग्रन्थकारने आदि पुराणके श्लोकोंका खूब उपयोग किया है। प्रारम्भमें लगभग ४०—४५ श्लोकोंके पश्चात् 'उक्तं चार्षे' कहकर तीसरे कालके अन्तमें उत्पन्न होने वाले प्रतिश्रुति आदि कुलकरोंका वर्णन करते हुए जो श्लोक दिये गये हैं, वे आदि पुराणके तीसरे पर्वमें वर्तमान हैं।

यहाँ १४ कुलकरोंकी आयुका प्रमाण क्रमसे पल्यका दसवां भाग, अमम, अटट, त्रुटित, कमल, नलिन, पद्म, पद्मांग, कुमुद, कुमुदांग, नयुत, नयुतांग, पूर्व और पूर्वकोटि बतलाया है। तिलोय पण्णत्ति (४, ५०२-५०३ गा०) में इस मतका उल्लेख 'केई' करके किया गया है।

भोगभूमिजोंकी यौवन प्राप्तिमें यहाँ २१ दिनका काल प्रमाण बतलाया है परन्तु तिलोयपण्णत्तिमें (४, ३७९—३८०, ३९९—४००, ४०७) उत्तम, मध्यम और जघन्य भोगभूमियोंके अनुसार यौवन प्राप्तिका काल क्रमसे, २१ दिन, ३५ दिन और ४९ दिन बतलाया है।

६. छठे ज्योतिर्लोक विभागमें ज्योतिषी देवोंके भेद, उनका निवास स्थान, विमानोंका विस्तार, संचारक्रम, जम्बूद्वीपादिमें चन्द्र संख्या, मेरुसे सूर्य और चन्द्रका अन्तर प्रमाण, चन्द्र और सूर्योंकी मुहूर्तगति दिन रात्रिका प्रमाण, ताप तमकी परिधियां, चार क्षेत्र, अधिक मास, दक्षिण-उत्तर अयन, विषुप, चन्द्रकी हानि वृद्धि, ग्रहादिका आकार, कृत्तिकादि नक्षत्रोंका संचार, सूर्यका उदय व अस्त, ताराओंका प्रमाण, चन्द्र आदिकी आयु तथा देवियोंकी संख्या आदिका कथन है।

७. सातवें भवनवासिलोक विभागमें प्रथम रत्नप्रभा पृथिवीके विभागोंका

निर्देश करके भवनवासी देवोंके भवनोंकी संख्या, जिन भवन, इन्द्रोंके नाम, उनके भवन, परिवार, आयु, उच्छ्वास तथा आहारका प्रमाण वगैरहका कथन है।

८. आठवें अधोलोक विभागमें रत्न प्रभा आदि सात पृथिवियोंका बाहुल्य, पृथिवियोंमें प्रस्तारोंकी संख्या, श्रेणी बद्ध और प्रकीर्णक बिलोंकी संख्या, उनका विस्तार, अन्तर, प्रथम श्रेणीवद्ध विलोंके नाम, नारकियोंके शरीरकी ऊँचाई, आयु, आहार, अवधि ज्ञानका विषय, वेदना, जन्म मरणका अन्तर, गति-आगति, विक्रिया आदिका कथन है।

९. नौवें व्यन्तर लोक विभागमें पहले व्यन्तरोंके तीन भेद बतलाये हैं— औपपातिक, अध्युषित, और आभियोग्य। फिर व्यन्तरोंके तीन प्रकारके निवास स्थान बतलाये हैं भवन, आवास और भवनपुर। फिर व्यन्तरोंके आठ भेदोंको बतलाकर प्रत्येकके अवान्तर भेद, इन्द्र, आयु परिवार आदिका कथन किया है।

१०. दसवें ऊर्ध्व लोक विभागमें सबसे प्रथम भावन, व्यन्तर, नीचोपपात्तिक, दिग्वासी, अन्तरवासीं, कूष्माण्ड, उत्पन्नक, अनुत्पन्नक, प्रमाणक, गन्धिक, महागन्ध, भुजग, प्रीतिक, आकाशोत्पन्न, ज्योतिषी, वैमानिक और सिद्धोंकी क्रम से ऊपर-ऊपर स्थिति बतलाकर उनकी आयुका कथन किया है। पश्चात् १२ कल्पोंका व कल्पातीतोंका कथन करके प्रत्येक कल्पके इन्द्रक और श्रेणीवद्ध विमानोंका तथा १६ कल्पोंके मतानुसार विमानोंकी संख्या, बाहुल्य, वर्ण, देवोंमें प्रवीचार, शरीरकी ऊँचाई, लेश्या, विक्रिया आदिका और लौकान्तिक देवोंका कथन किया है।

११. ग्यारहवें मोक्ष विभागमें आठवीं पृथिवीका विस्तार आदि बतला कर सिद्धोंकी अवगाहनाका कथन किया है। फिर सिद्धों का स्वरूप बतलाया है।

लोक विभागके अन्तमें ग्रन्थका परिमाण अनुष्टुप श्लोकोंमें १५२६ बतलाया है। परन्तु उपलब्ध लोक विभागमें २२३० श्लोक हैं। अर्थात् ७०४ श्लोक अधिक हैं। श्री जुगुलकिशोरजी मुख्तार[1]के लेखानुसार इस ग्रन्थमें १०० से अधिक गाथाएँ तो तिलोयपण्णत्ति की हैं, २०० से अधिक श्लोक भगवज्जिनसेनाचार्यके आदिपुराणसे लिये गये हैं। शेष पद्य त्रिलोकसार, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदिसे उद्धृत किये गये हैं।

रचयिताका समय

इस ग्रन्थके रचयिताने अपना नाम सिंहसूर ऋषि बतलाया है। अपने गुर्वादिके सम्बन्धमें तथा रचनाकालके सम्बन्धमें उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा

---

१. पु० वा० सू०, प्रस्ता०, पृ० ३२-३३।

है। मुख्तार साहबने लिखा है कि इस ग्रन्थमें भाषाके परिवर्तन और दूसरे ग्रन्थों से कुछ पद्योंके 'उक्तंच' रूपसे उद्धरणके सिवाय सिंहसूरकी प्रायः और कुछ भी कृति नहीं मालूम होती। बहुत सम्भव है कि 'उक्तं च' रूपसे जो यह पद्योंका संग्रह पाया जाता है वह स्वयं सिंहसूर मुनिके द्वारा न किया गया हो, बल्कि बादको किसी दूसरे ही विद्वानके द्वारा अपने तथा दूसरोंके विशेष उपयोगके लिये किया गया हो; क्योंकि ऋषि सिंहसूर जब एक प्राकृत ग्रन्थका संस्कृतमें—मात्र भाषाके परिवर्तन रूपसे ही अनुवाद करने बैठे—व्याख्यान नहीं, तब उनके लिये यह संभावना बहुत ही कम जान पड़ती है कि वे दूसरे प्राकृत ग्रन्थों परसे तुलनाके लिये कुछ वाक्योंको स्वयं उद्धृत करके उन्हें ग्रन्थका अंग बनाएँ। यदि किसी तरह उन्हींके द्वारा यह उद्धरण कार्य सिद्ध किया जा सके तो कहना होगा कि वे विक्रमकी ११वीं शताब्दीके अन्तमें अथवा उसके बाद हुए हैं क्योंकि इसमें आचार्य नेमिचन्द्रके त्रिलोकसारकी भी गाथाएँ 'उक्तं च त्रैलोक्यसारे' जैसे वाक्यके साथ उद्धृत पाई जाती हैं।'

'उक्तं चार्षे' 'उक्तं च त्रैलोक्यसारे' जैसे वाक्योंके साथ पद्योंका उद्धरण जिस तरह यथास्थान पाया जाता है, उससे यह कार्य सिंहसूरका ही प्रतीत होता है जो उनके करणानुयोग विषयक बहुश्रुतत्वका तथा संग्रहप्रेमका ही परिचायक है। अतः त्रिलोकसार और जम्बूद्वीपपण्णतिके पश्चात् ही इस ग्रन्थका निर्माण होना बहुत अधिक सम्भव है। सिंहसूरके साथ प्रयुक्त ऋषि विशेषणसे भी उसी-का समर्थन होता है।

इस विषयमें श्री नाथूराम जी प्रेमीकी संभावना अधिक उचित प्रतीत होती है। प्रेमीजीने लिखा है—'पिछले भट्टारक शायद अपनी मठाधीश महन्तों जैसी रहन-सहनके कारण अपनेको मुनिके बदले ऋषि लिखना पसन्द करने लगे थे। दान शासन नामका ग्रन्थ वि० सं० १४७८ का बना हुआ है। उसकी अन्त प्रशस्तिमें वाक्य है—'श्री वासुपूज्यर्षिणा प्रोक्तं पावन दानशासनमिदं'। अर्थात् वासुपूज्य ऋषिका कहा हुआ यह पवित्र दान शासन। इसी तरह श्रुतसागरने अपना यशोधरचरित जिन भट्टारकोंकी प्रेरणासे लिखा है उनमेंसे भट्टारक रत्न-राजको भी ऋषि लिखा है। गरज यह कि सिंहसूरके साथ जो 'ऋषि' लगा हुआ है वह यही बतलाता है कि वे भट्टारक थे'।

किन्तु श्री प्रेमीजीने जो सिंहसूरको संक्षिप्त नाम बतलाकर पूरा नाम सिंहनन्दि या सिंहकीर्ति होनेकी संभावना की है वह उचित नहीं मालूम होती। 'सिंहसूर' नाम अपने आपमें पूरा प्रतीत होता है। यद्यपि सिंहसूर नामके किसी भट्टारकका कोई उल्लेख नहीं मिलता जब कि सिंह नन्दि और सिंह कीर्ति

नामके भट्टारकोंका उल्लेख मिलता है। शायद इसीसे प्रेमीजी ने सिंहसूर नामको संक्षिप्त मानकर पूरा नाम सिंहनन्दि या सिंहकीर्ति होनेकी संभावना की है और उनका समय १५वीं १६वीं शताब्दी अनुमान किया है।

श्री प्रेमीजीने लिखा है कि स्व० सेठ माणिक चन्द जीके चौपाटीके मंदिरमें लोकविभागकी जो हस्त लिखित प्रति है वह भट्टारक भुवनकीर्तिके शिष्य ज्ञानभूषणकी लिखी हुई है।

ज्ञान भूषणके शिष्य और भुवनकीर्तिके प्रशिष्य विजयकीर्तिके वि० सं० १५५७ और १५६१ के दो मूर्ति लेख उपलब्ध हैं। इससे पहलेके वि० सं० १५३४, ३५, ३६ के मूर्तिलेखोंमें भट्टारक ज्ञान भूषणका नाम है। अतः भट्टारक ज्ञानभूषण विक्रमकी १६वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें अवश्य वर्तमान थे। उससे पहले संस्कृत लोकविभाग रचा जा चुका था। अतः विक्रमकी ग्यारवीं शताब्दीके पश्चात् और १६वीं शताब्दीसे पूर्व उसकी रचना हुई है।

प्रवचन[1] सारोद्धार :

प्रवचन सारोद्धार श्वेताम्बरीय साहित्यमें एक प्रतिष्ठित ग्रन्थ माना जाता है। इसमें २७६ द्वार और १५९९ प्राकृत गाथाएँ हैं। जैसा इसके नामसे प्रकट है यह एक संग्राहक ग्रंथ है। ग्रन्थकारने इसमें अनेक विषयोंका संग्रह किया है। इसके द्वार १५८ में पल्योपमका, १५९ में सागरोपमका, द्वा० १६० अवसर्पिणी कालका और १६१ में उत्सर्पिणी कालका कथन है।

इसमें पल्यके तीन भेद किये हैं—उद्धार पल्य, अद्धा पल्य और क्षेत्र पल्य। तथा बादर और सूक्ष्मके भेदसे प्रत्येक पल्यके दो दो भेद किये हैं। दिगम्बर साहित्यमें तथा श्वे० जोतिष्करण्डमें ये भेद नहीं पाये जाते। हाँ, अनुयोग द्वार सूत्रमें पाये जाते हैं।

द्वार १६३ में पन्द्रह कर्म भूमियोंको, द्वा० १६४ में तीस अकर्म भूमियोंको गिनाया है। द्वार १७२ से १८४ तक नारकियोंके आवास, आयु, लेश्या, अवधि ज्ञान, जन्म मरणका अन्तर वगैरहका कथन है। द्वार १८१ में सातवीं पृथिवीसे निकल करके नारकी जीव तिर्यञ्चोंमें उत्पन्न होता है, यह बतलानेके लिये आई दो गाथाएँ इस प्रकार हैं—

> उवट्टिया उ संता नेरइया तमतमाओ पुढवीओ।
> न लहंति माणुसत्तं तिरिक्खजोणि उवणमंति ॥ १०८९ ॥

१. सिद्धसेनसूरि कृत वृत्तिके साथ यह ग्रन्थ दो भागोंमें सेठ देवचन्द लालचन्द जैन पुस्तकोद्धार फण्डसे प्रकाशित हुआ है।

वालेसु य दाटीसु य पक्खीसु य जलयरेसु उववन्ना
संखिज्जा उठिईया पुणो वि नरयाउया हुंति ।। १७९३ ।।

ये दोनों गाथाएँ मूलाचारके बारहवें अधिकारकी गाथा ११४-११५ हैं। इसी प्रकरणके अन्तर्गत गाथा १०८७ में बतलाया है कि सातवीं पृथ्वीसे निकल कर जीव सम्यक्त्व प्राप्त कर सकता है। त्रिलोयपण्णत्ति (२।२९२) में भी ऐसा पाया जाता है। किन्तु षट्खण्डागम, तत्त्वार्थवार्तिक आदि दिगम्बर ग्रंथोंमें उसका स्पष्ट निषेध है। इसी तरह उक्त प्रकरणमें गाथा १०८८ में लिखा है कि प्रथम नरकसे निकल कर चक्रवर्ती, द्वितीयसे निकल कर केशव, बलभद्र हो सकता है। किन्तु दिगम्बर ग्रन्थोंमें इसका निषेध है।

द्वार १९४ में देवोंकी स्थितिका वर्णन है। द्वार १९५ में उनके भवनादिका कथन है। आगेके द्वारोंमें उनकी लेश्या, ज्ञान, अवधि ज्ञान, उत्पत्ति विरह काल आदिका कथन है। द्वार २६२ में अन्तर्द्वीपोंका कथन है। द्वार २६६ में देवोंके प्रवीचारका कथन है। द्वार २७२ में पातालोंका कथन है।

इस तरह इसमें लोकानुयोग सम्बन्धी विषयोंका यत्र-तत्र वर्णन किया गया है।

रचयिता तथा समय :

ग्रन्थकी अन्तिम प्रशस्तिमें ग्रन्थकारने अपना नाम नेमिचन्द्र दिया है। इनके गुरुका नाम आम्रदेव था। और गुरुके गुरुका नाम जिनचन्द्रदेव था। इन्होंने उत्तराध्ययन सूत्रकी सुखबोध नामकी वृत्ति भी बनाई है। इस वृत्तिमें इसका रचना काल ११२९ दिया है। तथा एक महावीर चरित्र भी प्राकृत भाषामें रचा है। उसमें उसका रचनाकाल ११४१ विक्रम सम्वत् दिया है। अतः इनका समय विक्रम की बारहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध जानना चाहिये।

●

जैन साहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

द्वितीय अध्याय

द्रव्यानुयोग (अध्यात्म) विषयक मूल साहित्य

द्वादशाङ्ग श्रुतके अन्तर्गत आत्मप्रवाद पूर्वमें अध्यात्म-विषयक विवेचन समाहित था। आचार्य कुन्दकुन्दने उसी आधारको ग्रहण कर 'समयसार' जैसे महत्त्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थोंकी रचना की। कुन्दकुन्दके पश्चात् पूज्यपाद-देवनन्दि, जोइन्दु आदिने इस विषयका पर्याप्त निरूपण किया। इस प्रकार अध्यात्म-विषयक मूल-ग्रन्थोंका प्रणयन कई शताब्दियों तक होता रहा।

इस अध्यायमें हम द्रव्यानुयोगसे सम्बद्ध अध्यात्म-विषयक मूल साहित्यका संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत कर जीवनोत्थानके साथ इस साहित्यका सम्बन्ध प्रतिष्ठित करेंगे।

उद्गम

जिसमें जीव-अजीव, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष आदि तत्त्वोंका कथन हो उसे द्रव्यानुयोग कहते हैं। करणानुयोग विषयक साहित्यकी तरह द्रव्यानुयोग विषयक जैनसाहित्य भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। भगवान महावीर उक्त तत्त्वोंके प्रधान ज्ञाता और प्रवक्ता थे। इन्द्रभूति[1] गौतम जो वेद-वेदांगमें पारंगत थे, जीव-अजीव विषयक शंकाकी निवृत्तिके लिए ही भगवान महावीरके पादमूलमें उपस्थित हुए थे और शंकाका समाधान होने पर उन्होंने भगवानके पादमूलमें जिन दीक्षा लेकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया था और उनके प्रधान गणधरका पद सुशोभित किया था।

इन्द्रभूति गौतम गणधरने भगवान महावीरके उपदेशोंको जिन बारह अंगोंमें निबद्ध किया था, उनमेंसे बारहवाँ अंग दृष्टिवाद द्रव्यानुयोगसे ही विशेष रूपसे सम्बद्ध था। इस अंगके अन्तिम ज्ञाता एकमात्र श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। उनके स्वर्गवासके पश्चात् क्रमसे यह अंग विलुप्त हो गया। किन्तु जैन परम्परामें द्रव्यानुयोग विषयक जो साहित्य रचा गया उसका मूल यह दृष्टिवाद अंग ही था। जैसे करणानुयोग विषयक साहित्यका मूल दृष्टिवाद अंगके अन्तर्गत पूर्वोंके

---

१. 'लोयालोयाण तहा जीवाजीवाण विविहविसयेसु।
संदेहणासणत्थं उवगद सिरिवीर चलणमूलेण ॥७७॥'—ति०प० १।

अवशिष्ट बचे विशकलितांश थे वैसे ही द्रव्यानुयोग विषयक साहित्यका मूल भी पूर्वोंके अवशिष्टांश ही थे। उन्हींके आधार पर उत्तरकालमें द्रव्यानुयोग विषयक साहित्यकी रचना होकर उसका संपोषण एवं संवर्धन हुआ।

उसका प्रारम्भ आचार्य कुन्दकुन्दकी कृतियोंसे होता है। जैसे करणानुयोग विषयक साहित्यको रचनेका आद्य श्रेय आचार्य गुणधर तथा भूतबली पुष्पदन्तको प्राप्त है। वैसे ही द्रव्यानुयोग विषयक साहित्यकी रचना करनेका श्रेय भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यको प्राप्त है। कुन्दकुन्दाचार्य एक बहुत ही समर्थ और प्रभावक आचार्य हुए हैं। दिगम्बर परम्परामें तो भगवान महावीर और गौतम गणधरके पश्चात् उनका ही नाम विशेष आदरसे लिया जाता है। यथा—

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

अतः उनके जीवनसे ही द्रव्यानुयोग विषयक साहित्यके इतिहासका आरम्भ होता हैं।

द्रव्यानुयोग विषयक साहित्यको मूलरूपसे दो भागोंमें बाँटा जा सकता है— एक अध्यात्म विषयक और एक तत्त्वज्ञान विषयक। आचार्य कुन्दकुन्द इन दोनोंके ही पुरस्कर्ता हैं। एक ओर उन्होंने समय प्राभृतके द्वारा जैन अध्यात्मका प्रस्थापन किया तो दूसरी ओर प्रवचनसार आदिके द्वारा जैन तत्त्वज्ञानको मूर्त रूप दिया। [1]जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी टीकामें अध्यात्म शास्त्र और आगम शास्त्रमें भेद बतलाते हुए लिखा है कि—'मेरे ज्ञानमें आत्मा है, मेरे दर्शनमें आत्मा है, मेरे चारित्रमें आत्मा है, मेरे संवरमें और योगमें आत्मा है', इत्यादि रूपसे अभेद रत्नत्रयका जिसमें कथन हो वह अध्यात्म शास्त्र है और छै द्रव्योंका सम्यक् श्रद्धान और ज्ञान तथा व्रतादिका अनुष्ठान रूप भेद रत्नत्रय का जिसमें कथन हो उसे आगम शास्त्र कहते हैं।' अतः आत्ममूलक कथन अध्यात्म शास्त्रमें लिया जाता है।

यहाँ प्रथम अध्यात्म विषयक जैनसाहित्यका इतिहास दिया जायेगा, पश्चात्

---

१. 'अयमत्र भावार्थः—'आदा खु मज्झ णाणे आदा मे दंसणे चरित्ते य। आदा पच्चक्खाणे आदा मे संवरे जोगे' एवं प्रभृत्यागमसारादर्थपदानामभेदरत्नत्रयप्रतिप्रादकानामनुकूलं यत्र व्याख्यानं क्रियते तदध्यात्मशास्त्रं भण्यते।........ वीतरागसर्वज्ञप्रणीतषड्द्रव्यादि सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-व्रताद्यनुष्ठानभेदरत्नत्रयस्वरूपं यत्र प्रतिपाद्यते तदागमशास्त्रं भण्यते—पञ्चास्ति० टी०। पृ० २५५।

तत्त्वज्ञान विषयक जैनसाहित्यका। चूँकि कुन्दकुन्दाचार्य दोनोंके पुरस्कर्ता हैं अतः उनका विस्तृत इतिवृत्त आदि आगे दिया जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द

१. आचार्य कुन्दकुन्दके विषयमें उनके ग्रन्थोंसे कुछ भी ज्ञात नहीं होता। उसमें उन्होंने अपना नाम तक भी नहीं दिया। केवल एक बारस अणुवेक्खा और बोधपाहुड हमारे उक्त कथनके अपवाद हैं। बारस अणुवेक्खाकी अन्तिम गाथामें उनका नाम आता है तथा बोध पाहुडकी अन्तिम गाथा[1]में श्रुतकेवली भद्रबाहुका जयकार किया है और उससे पूर्वकी गाथामें ग्रन्थकारने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। इन उल्लेखोंसे केवल इतना ज्ञात होता हैं कि ग्रन्थकारका नाम कुन्दकुन्द है और वे भद्रबाहुके शिष्य थे।

२. टीकाकार अमृतचन्द्रने ग्रन्थकारका नाम तक नहीं लिया। तब अन्य बातोंकी जानकारी की तो उनसे आशा ही कैसे की जा सकती है?

३. इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें[2] षट्खण्डागम और कसायपाहुड नामक सिद्धान्त ग्रन्थोंके रचे जानेका इतिवृत्ति देकर आगे लिखा है कि इस प्रकार ये दोनों सिद्धान्त ग्रन्थ कौण्डकुन्दपुरमें पद्मनन्दि मुनिको प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर छै हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थकी रचना की।

४. देवसेनने अपने दर्शनसारमें[3] लिखा है कि यदि पद्मनन्दि स्वामी सीमन्धर स्वामीसे प्राप्त हुए दिव्य ज्ञानसे प्रबोधित न करते तो श्रमण सुमार्गको कैसे जानते।

---

१. 'सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।
सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥ ६१ ॥
बारसअंगवियाणं चौदसपुव्वंगविपुलवित्थरणं।
सुयणाणिभद्दबाहू गमयगुरू भयवओ जयउ ॥ ६२ ॥—बो० पा०

२. 'एवं द्विविधो द्रव्यभावपुस्तकगतः समागच्छन्।
गुरुपरिपाट्या ज्ञातःसिद्धान्तः कुण्डकुन्दपुरे ॥ १६० ॥
श्री पद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादशसहस्रपरिमाणः।
ग्रन्थपरिकर्मकर्ता षट्खण्डाद्यत्रिखण्डस्य ॥ १६१ ॥—श्रुताव०

३. 'जइ पउमणंदि णाहो सीमंधरसामिदिव्वणाणेण।
ण विबोहइ तो समणा कहं सुमग्गं पयाणंति ॥ ४३ ॥—द० सा०

५. कुन्दकुन्दके दूसरे टीकाकार जयसेनने समयसार टीकाके[1] अन्तमें लिखा है—श्री पद्मनन्दी जयवन्त हों, जिन्होंने महातत्त्वोंका कथन करने वाले समय-प्राभृतरूपी पर्वतको बुद्धि द्वारा उद्धार करके भव्य जीवोंको अर्पित किया। तथा उन्होंने पञ्चास्तिकायकी टीकाको प्रारम्भ करते हुए लिखा[2] है–कि कुण्डकुन्दाचार्य-के पद्मनन्दि आदि अन्य नाम भी हैं। वह कुमारनन्दि देवके शिष्य थे और प्रसिद्ध कथाके अनुसार उन्होंने पूर्व विदेहमें जाकर वीतराग सर्वज्ञ श्रीमन्दर (सीमंधर) स्वामी तीर्थंकरके दर्शन किये थे और उनके मुखकमलसे निकली हुई दिव्यवाणीको सुनकर तथा शुद्ध आत्मतत्त्व आदिका सारभूत अर्थग्रहण करके वापिस लौट आये थे। उन्होंने अन्तस्तत्त्व और बाह्यतत्त्वकी मुख्यता और गौणता का ज्ञान करानेके लिए अथवा शिवकुमार महाराज आदि संक्षेप रुचि वाले शिष्योंके प्रतिबोधके लिए पञ्चास्तिकाय प्राभृत शास्त्रकी रचना की थी।'

कुन्दकुन्द स्वामीके सम्बन्धमें ग्रन्थोंसे जो प्रामाणिक सूचना प्राप्त होती है वह ऊपर संकलित की गई है। इसके सिवाय शिलालेखोंसे भी कुछ बातें ज्ञात होती हैं जो प्रायः उक्त बातों की ही समर्थक हैं। उनका उल्लेख आगे यथास्थान किया जायेगा।

परम्परागत कथा भी कुन्दकुन्दके विषयमें पाई जाती हैं। ब्रह्म नेमिदत्तके आराधना कथाकोशमें शास्त्र दानके फलके रूपमें एक कथा आई जो इस प्रकार है—

भरतक्षेत्रके कुरुमरई ग्राममें एक गोविन्द नामका ग्वाला रहता था। एक बार उसने जंगलमें एक गुफामें एक जैनग्रंथ रखा देखा। उसने उसे उठा लिया और पद्मनन्दि नामके एक महान् आचार्यको दे दिया। उस ग्रंथकी यह विशेषता थी कि आचार्य देखकर अन्तमें उसे उसी गुफामें रख देते थे। फलतः पद्म-नन्दिने भी उस ग्रन्थको उसी गुफामें रख दिया। गोविन्द ग्वाला उसकी प्रतिदिन

---

१. 'जयउ रिसि पउमणंदी जेण महातच्चपाहुडसेलो।
बुद्धिसिरेणुद्धरिओ समप्पिओ भव्वलोयस्स॥''

२. ''अथ श्री कुमारनन्दिसिद्धान्तदेवशिष्यैः प्रसिद्धकथान्यायेन पूर्वविदेहं गत्वा वीतरागसर्वज्ञश्रीमंदरस्वामितीर्थंकरपरमदेवं दृष्ट्वा तन्मुखकमल-विनिर्गतदिव्यवाणी-श्रवणावधारितपदार्थाच्छुद्धात्मतत्त्वादिसारार्थं गृहीत्वा पुनरप्यागतैः श्रीमत्कुण्डकुन्दाचार्यदेवैः पद्मनन्द्याद्यपराभिधेयैरन्तस्तत्त्वबहि-स्तत्त्वगौणमुख्यप्रतिपत्यर्थं अथवा शिवकुमारमहाराजादिसंक्षेपरुचिशिष्य-प्रतिबोधनार्थं विरचिते पञ्चास्तिकायप्राभृतशास्त्रे·····।''—पञ्चास्ति० टी० १ पृ०।

पूजा किया करता था। एक दिन उसे शेरने खा डाला। वह मरकर निदानवश उसी गाँवके मुखियाके घर उसके पुत्र रूपमें उत्पन्न हुआ।

बड़ा होने पर उसे अपने पूर्व जन्मका स्मरण हो आया और वह साधु हो गया वहाँसे मरकर वह राजा कुण्डेश हुआ वहाँ भी उसने जिन दीक्षा ले ली और श्रुतकेवली हुआ।

ब्रह्म नेमिदत्तसे तीन शताब्दी पूर्व हुए पं० आशाधरने भी अपने सागारधर्मामृतमें शास्त्र दानके फलके रूपमें कौण्डेशका उल्लेख किया है यथा—

कौण्डेशः पुस्तकार्चावितरणविधिनाऽप्यागमाम्भोधिपारम् ॥७०॥

अर्थात् पुस्तकोंकी पूजा और दानकी विधिसे कौण्डेश श्रुतसमुद्रका परगामी अर्थात् श्रुतकेवली हुआ।

इसकी स्वोपज्ञ संस्कृत टीकामें [1]आशाधरने कौण्डेशको पूर्व जन्ममें गोविन्द नामका ग्वाला बतलाया है। वहाँसे मरकर वह ग्रामकूटका पुत्र हुआ और फिर कोण्डेश नामका मुनि हुआ।

इस कथाका कुन्दकुन्दाचार्यके जीवनसे क्या कुछ सम्बन्ध है, यह नहीं कहा जा सकता। किन्तु 'कौण्डेश' नामसे और उसमें आगत पद्मनन्दि नामसे उसका सम्बन्ध कुन्दकुन्दाचार्यसे ही जान पड़ता है।

एक कथा श्रीयुत प्रेमीजी ने ज्ञानप्रबोध नामक पद्यबद्ध भाषा ग्रन्थसे जैनहितैषी (भा० १०, पृ० ३६९) में प्रकाशित की थी। उसका सार इस प्रकार है—मालव देशके वारांपुर नगरमें कुमुदचन्द्र नामका राजा राज्य करता था। उसकी रानीका नाम कुमुदचन्द्रिका था। उसके राज्यमें एक कुन्द श्रेष्ठी नामका साहूकार रहता था। उसकी सेठानीका नाम कुन्दलता था। उनके कुन्दकुन्द नामका एक पुत्र था। एक दिन वह लड़कोंमें अन्य लड़कोंके साथ खेलता था। उसने एक उद्यानमे एक मुनिराजको देखा। उनके चारों ओर बहुत-सा समुदाय बैठा हुआ था। लड़केने ध्यानसे उनका उपदेश सुना और वह उनके उपदेशसे इतना प्रभावित हुआ कि उनका शिष्य बन गया। उस समय बालककी उम्र केवल ग्यारह वर्ष की थी और उसके गुरुका नाम जिनचन्द्र था।

बालक कुन्दकुन्दने जल्दी ही इतनी उन्नति की कि वह ३३ वर्ष की अवस्थामें आचार्य बना दिया गया। एक दिन आचार्य कुन्दकुन्दको जैन सिद्धान्तके सम्बन्धमें कोई शंका उत्पन्न हुई। वे ध्यानमें मग्न हो गये। एक दिन

१. 'तथा कौण्डेशोऽपि गोविन्दाख्यगोपालचरो ग्रामकूटपुत्रः सन् कौण्डेशो नाम मुनिश्च।'

ध्यान करते हुए उन्होंने अपना मन वचन काम विदेह क्षेत्रमें स्थित श्रीमन्धर स्वामीके प्रति एकाग्र किया।

समवशरणमें विराजमान श्रीमन्धर स्वामीने 'सद्धर्मवृद्धिरस्तु' कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया। समवसरणमें स्थित जनोंको यह आशीर्वाद सुनकर बड़ा अचरज हुआ। क्योंकि वहाँ किसीने भी उस समय भगवानको नमस्कार नहीं किया था। जिज्ञासा प्रकट करने पर भगवान श्रीमन्धर स्वामीने कहा कि हमने भरत क्षेत्रमें स्थित कुन्दकुन्द मुनिको आशीर्वाद दिया है। तत्काल कुन्दकुन्दके पूर्व जन्मके मित्र दो चारण ऋद्धि धारी मुनि वारांपुर गये और कुन्दकुन्दको समवसरणमें लिवा ले गये। आकाश मार्गसे जाते समय कुन्दकुन्दकी मयूरपिच्छी कहीं गिर गई तब कुन्दकुन्दने गृद्ध पिच्छसे अपना काम चलाया। कुन्दकुन्द वहाँ एक सप्ताह तक रहे और उनकी शंकाका समाधान हो गया। लौटते समय वे अपने साथ तंत्र मंत्रका एक ग्रन्थ लाये थे किन्तु वह मार्गमें ही लवण समुद्रमें गिर गया। भरत क्षेत्रमें लौटने पर उन्होंने अपना धार्मिक उपदेश देना प्रारंभ कर दिया और तत्काल ७०० स्त्री पुरुष उनके अनुयायी बन गये। कुछ समय पश्चात् गिरिनार पर्वत पर उनका श्वेताम्बरोंके साथ विवाद हो गया। तब उन्होंने वहाँकी देवी ब्राह्मीके मुखसे यह कहलाया कि दिगम्बर निर्ग्रन्थ मार्ग ही सच्चा है। अन्तमें उन्होंने अपना आचार्य पद अपने शिष्य उमास्वातिको प्रदान किया और सल्लेखना पूर्वक शरीरको त्याग दिया'।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ताका नाम भी पद्मनन्दि था और उन्होंने वारा नगरमें जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिकी रचना की थी। चूँकि कुन्दकुन्दका एक नाम पद्मनन्दि भी था। अतः ऐसा प्रतीत होता है जम्बूद्वीप प्रज्ञप्तिके कर्ता पद्मनन्दिको ही कुन्दकुन्द समझकर ज्ञान प्रबोधके कर्ताने कुन्दकुन्दका जन्म स्थान वारां बतला दिया है। और कुन्दकुन्द नामकी उपपत्ति बैठानेके लिये उनके माता पिताके नाम कुन्दलता और कुन्दश्रेष्ठी कल्पित कर लिये गये हैं। और उनके विदेह गमनकी जो कथा पहलेसे ही प्रवर्तित थी, उसे उसमें जोड़ दिया गया है।

अब विभिन्न आधारोंसे उनके सम्बन्धमें जो बातें ज्ञात होती हैं उनकी समीक्षाके प्रकाशमें कुन्दकुन्दके जीवन पर प्रकाश डाला जाता है।

सबसे प्रथम उनके नामोंकी स्थिति विचारणीय है। वारस अणुवेक्खाकी अन्तिम गाथामें उसके रचयिताका नाम कुन्दकुन्द दिया हुआ है। इसी नामसे वे ख्यात हैं। किन्तु समयसारकी अपनी टीकाके अन्तमें जयसेनाचार्यने श्री पद्मनन्दिका जयकार किया है और उन्हें समयप्राभृतका रचयिता कहा है। उधर इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंकी प्राप्ति कौण्डकुन्दपुरके पद्मनन्दिको होनेका निर्देश किया है। उससे यह प्रकट होता है कि पद्मनन्दि

कौण्डकुन्दपुरके निवासी थे। उनका मूल नाम पद्मनन्दि था और अपने जन्म स्थानके नाम परसे वह कौण्डकुन्द या कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए।

श्रवण वेलगोलाके अनेक शिलालेखोंसे[1] भी उक्त कथनकी पुष्टि होती है उसमें उनका प्रथम नाम पद्मनन्दि बतलाया है। तथा श्री कौण्डकुन्द आदि अन्य नाम बतलाये हैं।

विजय नगरके शक सं० १३०७ के एक अन्य शिलालेख[2]में पाँच नाम बतलाये हैं—पद्मनन्दी, कुन्दकुन्द, वक्रग्रीव, एलाचार्य और गृद्धपिच्छ। डा० होर्नले[3]ने दिगम्बर पट्टावलियोंके सम्बन्धमें एक विस्तृत लेख लिखा था, एक प्रतिके आधार पर उसने उसमें लिखा है कि कुन्दकुन्दके पाँच नाम थे। कुन्दकुन्दके षट्प्राभृतोंके टीकाकार श्रुतसागरने भी प्रत्येक प्राभृतके अन्तमें जो सन्धिवाक्य दिये हैं उनमें कुन्दकुन्दके उक्त पाँचो नाम स्वीकार किये हैं। इस तरह पाँच नामोंकी परम्परा मिलती है किन्तु ऐतिहासिक तथ्योंके प्रकाशमें विचार करने पर पाँच नाम वाली बात प्रमाणित नहीं होती।

जहाँ तक पद्मनन्दि और कुन्दकुन्द नामकी प्रवृत्तिकी बात है उसमें तो कोई सन्देहकी बात नहीं है। उनका मूल नाम पद्मनन्दि था और वे अपने जन्म स्थानके नाम परसे कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए। शेष तीन नामोंकी स्थिति विचारणीय है।

पहले वक्रग्रीव नामको देखा जाये। ई० ११२५ के एक [4]शिलालेखमें द्रविल (ऽ) संघ और अरुंगलान्वयके आचार्योंकी नामावलीमें वक्रग्रीवाचार्यका नाम आया है किन्तु उसमें उनके सम्बन्धमें कोई विवरण नहीं दिया कि यह कौन थे। इसके पश्चात् श्रवण वेलगोलाके शिलालेख[5] नं० ५४ में, जो श०

१. 'तस्यान्वये भूविदिते बभूव यः पद्मनन्दि प्रथमाभिधानः। श्री कौण्डकुन्दादि मुनीश्वराख्यस्ससंयमादुद्गतचारणर्द्धि ॥६॥—शि० ले० नं० ४०। 'श्री पद्मनन्दीत्यनवद्यनामा ह्याचार्यशब्दोत्तरकौण्डकुन्दः। द्वितीयमासीदभिधानमुद्यच्चरित्रसंजात सुचारणर्द्धिः ॥४॥—शि० ले० नं० ४२, ४३, ४७, ५०।
—जै० शि० सं०, भा० १।

२. 'आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यो वक्रग्रीवो महामुनिः। एलाचार्यो गृद्धपिच्छ इति तन्नाम पञ्चधा ॥४॥' —जै० सि० भा०, भा० १, कि० ४।

३. इं० एं०, जि० २१, पृ० ७४, टि० नं० ३५।

४. जै० शि० सं०, भा० १, नं० ४९३।

५. जै० शि० सं० भा० १।

सं० १०५० (११२९ ई०) का है, वक्रग्रीवका नाम आता है। यह शिलालेख बहुत लम्बा है। इसमें पहले कौण्डकुन्दका नाम आता है। फिर समन्त भद्र और सिंहनन्दिकी प्रशंसा है। पश्चात् वक्रग्रीव महामुनिकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि नागेन्द्र एक हजार मुखोंसे भी उनकी स्तुति करनेमें समर्थ नहीं हो सका। शासन देवता उनका बहुत आदर करते थे। वादियोंकी गर्दनें (ग्रीवा) उनके सामने झुक जाती थीं। छै मास तक उन्होंने केवल 'अथ' शब्दका अर्थ किया था। इस तरह वक्रग्रीवको बड़ा पूज्य और विद्वान् बतलाया है। किन्तु शिलालेखसे इस बातका कोई आभास नहीं मिलता कि कुन्दकुन्दका ही नाम वक्रग्रीव था, प्रत्युतः उससे तो यही प्रमाणित होता है कि वक्रग्रीव नामके भी कोई आचार्य थे और वह कुन्दकुन्दसे पर्याप्त समयके पश्चात् हुए थे।

इसके सिवाय वेलूरके[1] ११३७ ई० के शिलालेखमें समन्तभद्र और पात्र-केसरीके पश्चात् वक्रग्रीवका नाम आया है और उन्हें द्रमिल संघका अग्रेसर बतलाया है। करगुण्डसे प्राप्त ११५८ ई० के शिलालेख[2]में अकलंकदेवके पश्चात् और सिंहनन्द्याचार्यसे पहले वक्रग्रीवाचार्यका नाम आया है। वोगादिसे प्राप्त शिलालेख[3]में भी वक्रग्रीवाचार्यका नाम है। किन्तु इन सभी शिलालेखोंसे यही प्रमाणित होता है कि वक्रग्रीव नामके भी एक महान् आचार्य हुए हैं। और वे द्रविड संघ, नन्दिगण तथा अरुंगलान्वय शाखाके थे। कुन्दकुन्दके साथ वक्रग्रीव नामका कोई सम्बन्ध इनसे ज्ञात नहीं होता।

अब हम एलाचार्य नामकी ओर आते हैं।

चिक्कहनसोगे[4]से प्राप्त एक शिलालेखमें, जिसका अनुमानित समय ११०० ई. है, देसियगण, पुस्तकगच्छके एलाचार्यका नाम आता है। उनके शिष्यका नाम दामनन्दि भट्टारक था। जयधवला और धवलाके रचयिता वीरसेनके गुरुका नाम भी एलाचार्य था, धवलाकी प्रशस्तिके प्रारम्भमें उन्होंने उनका स्मरण किया है। तथा इन्द्रनन्दिने श्रुतावतारमें लिखा है कि चित्रकूटवासी एलाचार्य सिद्धान्त शास्त्रोंके ज्ञाता थे और उनके पास वीरसेन स्वामीने सिद्धान्त ग्रन्थोंका अध्ययन करके धवला जयधवला टीकाकी रचना की थी। साथ ही इन्द्रनन्दिने कौन्डकुन्द पुरके पद्मनन्दिका भी निर्देश किया है और उन्हें षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थका रचयिता बतलाया है। इन्द्रनन्दिके

१. जै० शि० सं० भा० ३, नं० ३०५।
२. जै० शि० सं०, भा० ३, नं० ३४७।
३. जै० शि० सं० भा० ३, नं० ३१९।
४. जै० शि० सं०, भा० ३, नं०।

अनुसार षट्खण्डागमके आद्य टीकाकार कौण्डकुन्दपुर वास्तव्य पद्मनन्दि थे और अन्तिम टीकाकार थे वीरसेन। अतः वीरसेनके गुरु एलाचार्यसे कुन्दकुन्द कई शताब्दियों पूर्व हो चुके थे। इस लिये वे उनसे बिल्कुल भिन्न व्यक्ति थे।

इन्द्रनन्दि योगीन्द्रका रचा हुआ एक ज्वालिनीकल्प[1] का नामका मंत्र शास्त्र है। यह ग्रन्थ शक सं० ८६१ के बीतने पर रचकर समाप्त हुआ है। इसके प्रारम्भमें ग्रन्थकारने बतलाया है कि हेलाचार्यके द्वारा रचित प्राक्तन शास्त्रको परिवर्तित करके लिखा है। टिप्पणीमें हेलाचार्यको एलाचार्य रूपसे भी उल्लिखित किया है। इन हेलाचार्य अथवा एलाचार्यके साथ भी कुन्दकुन्दकी एकरूपता स्थापित करना शक्य नहीं है क्योंकि प्रथम तो यह उतने प्राचीन ज्ञात नहीं होते। दूसरे इस सम्बन्धमें प्रमाणका अभाव है। अतः कुन्दकुन्दका नाम एलाचार्य था यह प्रमाणित नहीं होता।

अब हम तीसरे नाम गृद्धपिच्छको लेते हैं—

श्रवण वेलगोलासे प्राप्त शिलालेख[2] नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०, १०५, १०८ में उमास्वातिको गृद्धपिच्छाचार्य कहा है और उमास्वातिको कुन्दकुन्दके अन्वयमें हुआ बतलाया है। पल्लादहल्लि[3]के शिलालेखमें जो ११५४ ई० का है, समन्तभद्र स्वामी और अकलंकदेवके पश्चात् गृद्धपिच्छाचार्य नामका स्वतंत्र निर्देश किया है। श्रवण वेलगोलाके उक्त शिलालेखोंमें उमास्वातिके शिष्यका नाम बलाक पिच्छ बतलाया है। जिससे प्रकट होता है कि इस प्रकारके स्वतंत्र नाम भी प्रचलित थे। गृद्धपिच्छ नामका स्वतंत्र रूपसे प्राचीन उल्लेख धवलाकी टीकामें वीरसेन स्वामीने किया है। उन्होंने गृद्धपिच्छाचार्यको तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाया है। चूंकि तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताके रूपमें उमास्वातिका नाम प्रसिद्ध है और शिलालेखोंमें उमास्वातिको ही गृद्धपिच्छाचार्य कहा है अतः वीरसेन स्वामी द्वारा स्वतंत्र रूपसे प्रयुक्त नामको भी उमास्वातिके रूपमें ही लिया जायेगा। किन्तु उमास्वातिका गृद्धपिच्छाचार्य नाम इतना ख्यात नहीं था कि उसका प्रयोग नामान्तरके रूपमें किया जा सके। इसके सम्बन्धमें विशेष विचार आगे किया जायगा।

इन सब उल्लेखोंसे तो यही प्रमाणित होता है कि यदि गृद्धपिच्छ किसीका नामांतर था तो उमास्वाति का था, न कि कुन्दकुन्द का। किन्तु उक्त कथामें

१. अनेकान्त, वर्ष १ पृ० ४३१।
२. जै० शि० सं०, भा० १।
३. जै० शि० सं० भा० ३, नं० ३२४।

यह बात कही है कि कुन्दकुन्द जब विदेह गये तो मार्गमें मयूरपिच्छ गिर जानेसे उन्होंने गृद्धपिच्छका व्यवहार किया। साधारणतया दि० जैन मुनि मयूर-पिच्छका ही व्यवहार करते हैं। गृद्धपिच्छका व्यवहार विशेष अवस्थामें ही किया जाना सम्भव है और इसीसे जिसने मयूरपिच्छकी जगह गृद्धपिच्छका व्यवहार किया हो वह गृद्धपिच्छाचार्यके नामसे ख्यात हो सकता है। किन्तु पर्याप्त प्रमाणोंके अभावमें इस विषयमें कुछ निश्चय पूर्वक कहना संभव नहीं है।

उक्त विवेचनसे पद्मनन्दि और कुन्दकुन्दके सिवाय शेष तीनों नामोंके सम्बन्धमें कोई प्रमाणित आधार नहीं मिलता। अतः उन नामोंकी स्थिति चिन्त्य है।

जन्मस्थान

इन्द्रनन्दिने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि द्विविध सिद्धान्तको कौण्डकुन्द-पुरमें पद्मनन्दि मुनिने जाना। चूँकि पद्मनन्दिका अपरनाम कुन्दकुन्द या कौण्ड-कुन्द था, इस पर से वे कौण्डकुन्दपुरके जान पड़ते हैं और उसीके कारण वह अपने गाँवके नाम परसे कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए हैं। दक्षिण-भारतमें व्यक्ति-के नामके पहले गाँवका नाम लिखनेकी प्रथा आज भी प्रचलित है। जैसे प्रसिद्ध भारतीय दार्शनिक और भारतके उपराष्ट्रपति सर्वपल्ली राधाकृष्णन्के नामके पहले सर्वपल्ली उनके गाँवका ही बोधक है। अतः कोण्डकुण्ड पद्मनन्दि कर्णकटु कोण्डकुण्डके श्रुतिमधुर रूप कुन्दकुन्द नामसे ख्यात हुए। किन्तु यह कौण्डकुण्ड स्थान दक्षिण-भारतमें किस स्थान पर था यह अनिर्णीत है।

श्री पी०बी० देसाईने अपनी 'जैनिज्म 'इन साउथ इण्डिया' पुस्तकमें एक 'कोनकोण्डल' नामक स्थानका विवरण दिया है। गुण्टकल रेलवे स्टेशनसे दक्षिण-की ओर चार मील पर एक कोनकोण्डल नामक गाँव है जो अनन्तपुर जिलेके गूटी (Gooty) ताल्लुकेमें स्थित है। इसे कोनकुण्डल भी कहते हैं। श्री देसाई स्वयं इस स्थानको देखने गये थे और वह इसकी प्राचीनतासे बहुत प्रभावित हुए। प्राचीन शिलालेखोंसे, जो वहाँसे प्राप्त हुए हैं प्रकट होता है कि इस स्थानका प्राचीन नाम 'कोण्डकुण्डे' था। आज भी यहाँके अर्धसभ्य अधिवासी इसे 'कोण्डकुण्डी कहते हैं।

श्री देसाईने लिखा है कि 'कुण्ड' कन्नड़ शब्द है इसका अर्थ पहाड़ी होता है किन्तु जब यह किसी स्थानके लिए प्रयुक्त होता है तो इसका अर्थ होता है—'पर्वतीय आवास'। कन्नड़में 'कोण्ड' का अर्थ भी 'पहाड़ी' होता है। अतः

---

१. जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे प्रकाशित।

'कोण्डकुण्ड' का अर्थ होता हैं वह स्थान जो पहाड़ी पर या पहाड़ीके निकट हो। यह अर्थ आज भी इस गाँवके साथ घटित होता है क्योंकि यह पर्वत श्रेणी-के अति निकट अवस्थित है।

यहाँसे प्राप्त एक खण्डित शिलालेखमें पद्मनन्दि नाम पढ़ा जाता है जो दो बार आया है। उस नामके साथ लगा 'चारण' विशेषण महत्त्वपूर्ण है। उसके बाद कुन्दकुन्दान्वय नाम आता है। अतः श्री देसाईका मत है कि उक्त शिलालेखसे प्रमाणित होता है कि यही स्थान कुन्दकुन्दकी जन्मभूमि थी। इसी शिलालेखके अन्तमें नयकीर्तिदेव सैद्धान्तिक चक्रवर्ती का तथा कुमार तैलप्य और उनके पिता पश्चिमीय चालुक्य राजा विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०)का नाम अंकित है।

श्री देसाईका कहना है कि कोण्डकुण्ड नाम मूलतः सामान्यतया द्रविड़ है किन्तु खासतौरसे कन्नड़ है। वैसे यह ग्राम कर्नाटक और आंध्रके मध्यमें सीमा प्रवेश पर स्थित है।

नामकी साम्यता तथा उक्त शिलालेखके प्रकाशमें श्री देसाईका मत समुचित प्रतीत होता है। इससे अधिक कुछ कह सकना सम्भव नहीं है।

गुरु—टीकाकार जयसेनाचार्यके अनुसार कुन्दकुन्द कुमार नन्दि सिद्धान्तदेव के शिष्य थे। और नन्दि संघकी पट्टावलीके अनुसार उनके गुरुका नाम जिनचन्द्र था। तथा कुन्दकुन्द स्वयं अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाते हैं।

श्रवणवेल गोलाके शिला[1] लेख नं० २२७ में एक कुमार नन्दि भट्टारकका नाम आता है। देवरहल्लिके शिला[2] लेखमें जो आठवीं ईस्वी शताब्दीका है नन्दि संघ के एरिगित्तु गण तथा पुलिक्ल (पुष्कर) गच्छके चन्द्रनन्दिके शिष्य कुमार नन्दिका नाम आया है। आचार्य विद्यानन्दने अपनी प्रमाणपरीक्षामें कुमार नन्दि भट्टारकके नामसे एक कारिका भी उद्धृतकी है। अतः कुमार नन्दि नामक आचार्य तो हो गये हैं किन्तु फिर भी चूंकि विद्यानन्दने उनका उल्लेख किया है अतः वह नौवीं शताब्दीसे बादके नहीं हैं। किन्तु वे तार्किक थे। और उतने प्राचीन भी नहीं हो सकते। अतः कुन्द-कुन्दके साथ उनके गुरुशिष्यभावकी कोई संभावना प्रतीत नहीं होती।

मथुरासे प्राप्त एक शिलालेखमें उच्च नगर शाखाके एक कुमारनन्दिका उल्लेख है। यह शिलालेख हुविष्क वर्ष ८७का होनेसे बहुत प्राचीन है। किन्तु

१. जै० शि० सं० भा० १।
२. वही, भा० २, नं० १२१।

प्रथम तो उच्चनगर शाखाका कुन्दकुन्दसे कोई सम्बन्ध ज्ञात नहीं है। दूसरे जब तक कोई और सूत्र प्राप्त न हो तब तक इसकी संगति नहीं बैठाई जा सकती।

इसी तरह नन्दि संघकी पट्टावलीमें माघनन्दि, उनके बाद जिनचन्द्र तब कुन्दकुन्दका नाम आता है। इस तरह उसमें कुन्दकुन्दको जिनचन्द्रका और जिनचन्द्रको माघनन्दिका उत्तराधिकारी बतलाया है। इन जिनचन्द्रके विषयमें भी कहींसे कुछ ज्ञात नहीं होता।

किन्तु कुन्दकुन्दने स्वयं अपनेको भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है। यथा—

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं।

सो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥६१॥—बो० पा०।

इसमें बतलाया हैकि 'जिनेन्द्रने—भगवान महावीरने—अर्थरूपसे जो कथन किया है वह भाषासूत्रोंमें शब्द विकारको प्राप्त हुआ है—अनेक प्रकारके शब्दोंमें गूँथा गया है। भद्रबाहुके मुझ शिष्यने उन भाषासूत्रों परसे उसको उसी रूपमें जाना है और (जानकर इस ग्रन्थमें) कथन किया है।

उक्त गाथाके पश्चात् ही जो दूसरी गाथा आती है। वह भी नीचे दी जाती है—

बारस अंगवियाणं चउदस पुव्वंग विउलवित्थरणं।

सुयणाणि भद्दबाहु गमयगुरु भयवओ जयऊ ॥६२॥

इस गाथामें बारह अंगों और चौदह पूर्वोंके विपुल विस्तारके ज्ञाता श्रुतकेवली भद्रबाहुको कुन्दकुन्दने अपना गमक गुरु बतलाते हुए उनका जयकार किया है।

इस गाथासे यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि पहली गाथामें जिन भद्रबाहु का उल्लेख है वे श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय दूसरे भद्रबाहु नहीं हो सकते। किन्तु श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारका सा० का मन्तव्य इसके विपरीत है। उक्त दूसरी गाथाके सम्बन्धमें उन्होंने लिखा[1] है—इस परसे यह कहा जा सकता है कि पहली गाथा (नं० ६१) में जिन भद्रबाहुका उल्लेख है वे द्वितीय भद्रबाहु न होकर भद्रबाहु श्रुतकेवली ही हैं और कुन्दकुन्दने अपनेको उनका जो शिष्य बतलाया है वह परम्परा शिष्यके रूपमें उल्लेख है परन्तु ऐसा नहीं है। पहली गाथामें वर्णित भद्रबाहु श्रुतकेवली मालूम नहीं होते, क्योंकि श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें जिन कथित सूत्रमें ऐसा कोई खास विकार नहीं हुआ था। जिसे

१. अनेकान्त, वर्ष २, कि० १, पृ० १२।

उक्त गाथामें 'सद्दवियारो हुओ भासासुत्तेसु जं जिणे कहियं' इन शब्दों द्वारा सूचित किया गया है--वह अविच्छिन्न चला आया था। परन्तु दूसरे भद्रबाहुके समयमें वह स्थिति नहीं रही थी—कितना ही श्रुत ज्ञान लुप्त हो चुका था और जो अवशिष्ट था वह अनेक भाषासूत्रोंमें परिवर्तित हो गया था। इससे ६१वीं गाथाके भद्रबाहु द्वितीय ही जान पड़ते हैं। ६२वीं गाथामें उसी नामसे प्रसिद्ध होने वाले प्रथम भद्रबाहुका अन्त्य मंगलके तौर पर जयघोष किया है और उन्हें साफ तौरसे गमक गुरु लिखा है। इस तरह दोनों गाथाओंमें दो अलग-अलग भद्रबाहुओंका उल्लेख होना अधिक युक्तियुक्त और बुद्धिगम्य जान पड़ता है।

हमें खेद है कि हम मुख्तार साहबके उक्त अभिप्रायसे सहमत नहीं है'। दोनों गाथाएँ परस्परमें संबद्ध हैं। पहली गाथामें कुन्दकुन्दने अपनेको जिन भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है दूसरी गाथाके द्वारा उन्हींकी विशेषताओंका स्पष्टीकरण करते हुए जयकार किया है जिससे पाठकको कोई भ्रम न हो। विवाह किसी औरका हो और गीत किसी दूसरेके गाये जायें, ऐसा नहीं होता। पाठकको यह सन्देह हो सकता था कि श्रुतकेवली भद्रबाहुके शिष्य कुन्दकुन्द कैसे हो सकते हैं क्योंकि दोनोंके बीचमें सुदीर्घ कालका अन्तर है। इस सन्देहको मिटानेके लिए उन्होंने 'गमक गुरु' विशेषण भद्रबाहु श्रुतकेवलीके साथ लगा दिया। असलमें दूसरी गाथा पहली गाथामें आगत अन्तिम चरण 'सीसेण य भद्दबाहुस्स' की भाष्य गाथा जैसी है। उसमें शिष्य और भद्रबाहु दोनोंका स्पष्टीकरण कर दिया गया है कि भद्रबाहुसे मतलब श्रुतकेवली भद्रबाहुसे है और वे मेरे गमक गुरु हैं इसलिए मैं उनका शिष्य हूँ।

रही भाषा सूत्रोंमें विकार होनेकी बात। गाथा ६१ का हमने जो अर्थ दिया है वह मुख्तार साहबका ही किया हुआ है। मुख्तार सा० ने अपने जिस लेखमें विकार वाली बात कही है उसीमें उक्त अर्थ भी किया है। उस अर्थसे ऐसा कोई भाव व्यक्त नहीं होता जैसा मुख्तार सा० ने लिया है। गाथा और उसका अर्थ बिल्कुल स्पष्ट है। भगवान महावीरने जो कहा वह भाषासूत्रोंमें शब्द विकारको प्राप्त हुआ अर्थात् उसने ग्रन्थात्मक श्रुतका रूप धारण किया।

श्रुतसागरने अपनी टीकामें 'सीसेण य भद्रबाहुस्स'का जो अर्थ किया है उससे भी यही प्रकट होता है कि उन्होंने भी भद्रबाहुसे श्रुतकेवली भद्रबाहुका ही ग्रहण किया है।

इसके सिवाय श्रवणवेल गोलाके शिला[1] लेखोंमें भी उन्हें श्रुतकेवली भद्र-

---

१. श्रीभद्रस्सर्वतो यो हि भद्रबाहुरितिश्रुतः। श्रुतकेवलिनाथेषु चरमः परमो मुनिः ॥४॥ ....श्री चन्द्रगुप्तोऽजनि तस्य शिष्यः।........॥५॥ तस्यान्वये

बाहुके वंशमें हुआ बतलाकर श्रुतकेवली भद्रबाहुके शिष्य चन्द्रगुप्तके पश्चात् ही उन्हें स्थान दिया है। अतः यह निस्सन्देह है कि कुन्दकुन्दने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य बतलाया है और उन्हें अपना गमकगुरु लिखा है।

'गमक' शब्दके बोधक, निश्चायक, प्रापक, सूचक आदि अनेक अर्थ हैं किन्तु श्रुतकेवली भद्रबाहुके साथ न तो कुन्दकुन्द स्वामीका साक्षात् सम्बन्ध था और न उनके सामने उनकी कोई कृति ही थी। अतः उन्हे अपना गमक गुरु कैसे बतलाया यह चिन्त्य है।

इतिहासज्ञोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त तथा एक बड़े भारी साधु संघके साथ उत्तर भारतसे दक्षिण भारतकी ओर गये थे और श्रवणवेल गोला (मैसूर) नामक स्थानमें उनका स्वर्गवास हुआ था। आचार्य कुन्दकुन्दको यह बात ज्ञात थी। वह जानते थे कि दक्षिण भारतमें जो जैन तत्त्वज्ञानकी परम्परा चालु है वह श्रुतकेवली भद्रबाहुकी देन है। यद्यपि जैनधर्म दक्षिणमें भद्रबाहुकी दक्षिण यात्रासे पहलेसे वर्तमान था। यदि ऐसा न होता तो भद्रबाहु इतने बड़े संघको उत्तरसे दक्षिण ले जानेका खतरा न उठाते। उन्हे विश्वास था कि दक्षिण भारतके जैनबन्धु उनके संघका हार्दिक स्वागत करेंगे। किन्तु अन्तिम श्रुतकेवली होनेके नाते वे भगवान महावीर के द्वारा उपदिष्ट अंग ज्ञानके एक मात्र उत्तराधिकारी थे और उनके पश्चात् जो अंगज्ञानकी प्रवृत्ति जारी रही उसके एक मात्र हेतु श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। इस नातेसे कुन्दकुन्द स्वामीको भी जो ज्ञान प्राप्त हुआ वह भी परम्परासे श्रुतकेवली भद्रबाहुकीं ही देन था। इसीसे समयसारकी प्रथम गाथामें उन्होंने उसे 'श्रुतकेवली भणित' कहा है। वहाँ भी श्रुतकेवलीसे उनका आशय भद्रबाहु श्रुतकेवली ही से है। इसीसे उन्होंने उन्हे अपना गमक गुरु लिखा है।

उनके इन उल्लेखोंसे भी इस बातकी पुष्टि होती है कि दक्षिण भारतमें जैनसंघके साथ जाने वाले भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय दूसरे नहीं थे। अतः जिनका यह कहना है कि वे भद्रबाहु दूसरे थे, उनका कहना समुचित नहीं है। अस्तु,

इस तरह श्रुतकेवली भद्रबाहुको कुन्दकुन्दने अपना गमक गुरु वतलाया है

भूविदिते वभूव यः पद्मनन्दिप्रथमाभिधानः।'—शि० ले० नं० ४०।
'यो भद्रबाहुः श्रुतकेवलीनां मुनीश्वराणामिह पश्चिमोऽपिः····॥८॥ तदीय शिष्योऽजनि चन्द्रगुप्तः·········॥९॥ तदीयवंशाकरतः प्रसिद्धादभूददोषा यतिरत्नमाला। बभौ यदन्तर्मणिवन्मुनीन्द्रस्स कुण्डकुण्डोदितचण्डदण्डः॥१०॥
—जै० शि० सं० भा० १। पृ० २१०।

किन्तु उनका साक्षात् गुरु कौन था यह अज्ञात है। नन्दिसंघकी पट्टावलीमें माघनन्दीके शिष्य जिनचन्द्रको उनका गुरु बतलाया है और श्रुतसागरने भी अपनी टीकाके सन्धिवाक्योंमें ऐसा ही लिखा है।

विदेह यात्रा—कुन्दकुन्द स्वामीने विदेह क्षेत्रमें जाकर श्रीमन्दर स्वामी भगवान्के मुखकमलसे निसृत दिव्यध्वनिका पान किया था, इस घटनाका सबसे प्राचीन उल्लेख देवसेनने अपने दर्शनसारमें किया है जो वि०सं० ९९०में रचा गया है और जिसके सम्बन्धमें उन्होंने यह लिखा है कि प्राचीन गाथाओंका संकलन करके रचा गया है। अतः कुन्दकुन्दके सम्बन्धमें इस तरहकी किंवदन्ती उससे भी बहुत पहलेसे प्रचलित थी यह स्पष्ट है। उनके सम्बन्धमें जो कथाएँ प्रचलित हैं उनमें भी इस घटनाका उल्लेख है। तथा टीकाकार जयसेन (१२वी शताब्दी) और श्रुतसागर सूरि (विक्रमकी १६वीं शती)ने भी इसका उल्लेख अपनी टीकामें किया है। जयसेनने तो इसे प्रसिद्ध कथा कहा है। शुभचन्द्राचार्यने (१६वीं शती) की पट्टावलीमें इसका उल्लेख है।

शिलालेखोंमें यद्यपि इस घटनाका कोई उल्लेख नहीं है किन्तु कुन्दकुन्द को चारण ऋद्धिका धारी बतलाया है और लिखा है कि समीचीन संयमके प्रभावसे उन्हें चारणऋद्धि प्राप्त हुई थी। क्रिया विषयक ऋद्धिके दो भेद हैं—चारण और आकाश गामि। चारणऋद्धिके अनेक प्रकार हैं उनमें एक जंघाचारण है। भूमिसे चार अंगुल ऊपर आकाशमें जंघाओंको जल्दी-जल्दी उठाते रखते हुए सैकड़ों योजन चले जाना जंघाचारण ऋद्धि है। श्रवणवेलगोलाके शिलालेख नं० १०५में लिखा[1] है कि अन्तरंगकी तरह बाह्य भी उनका रजसे अस्पष्ट है, ऐसा व्यक्त करनेके लिए ही मानों वे भूमितलकी धूलिसे चार अंगुल ऊपर चलते थे। श्रुतसागरने भी उन्हें चार अंगुल ऊपर आकाशमें गमन करनेकी ऋद्धिसे विशिष्ट बतलाया है। किन्तु शिलालेखोंमें उनके विदेह जानेका कोई उल्लेख नहीं है। प्रत्युत एक शिलालेखमें पूज्यपादके सम्बन्धमें इस प्रकारका उल्लेख मिलता है। उसमें लिखा[2] है—अनुपम औषधिऋद्धिके धारी तथा विदेहस्थ जिन (श्रीमन्दर स्वामी के दर्शनसे जिनका शरीर पवित्र हो गया है वे श्री पूज्यपाद मुनि जयवन्त हो। उस समय उनके पैरों, कंधों ये हुए जलके

१. 'रजोभिरस्पष्टतमत्वमन्तर्बाह्येऽपि संव्यञ्जयितुं यतीशः। रजः पदं भूमितलं विहाय चचार मन्ये चतुरंगुलं सः ॥१४॥'—जै० शि० सं० भा० १।

२. 'श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि-र्जीयाद् विदेह-जिन-दर्शनपूतगात्रः। यत्पादधौतजल संस्पर्शः प्रभावात्कालायसं किल तदा कनकीचकार ॥१७॥'—जै० शि० सं० भा० १, ले० नं० १०८।

स्पर्शके प्रभावसे लोहा सोना हो गया था' 'राजबलि कथे' में देवचन्द (१७७०-१८४१ ई०) ने भी पूज्यपादके सम्बन्में लिखा है कि अपने पैरोंमें औषधि लगाकर उसके प्रभावसे विदेह क्षेत्र गये थे। किन्तु कुन्दकुन्दने इस सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। वे तो अपनेको मात्र श्रुतकेवली भद्रबाहुका ऋणी बतलाते हैं।

गिरनार पर्वत पर श्वे०दि० विवाद

शुभचन्द्राचार्यने (१५१६-५६ ई०) अपने पाण्डवपुराणमें कुन्दकुन्दका स्मरण इस प्रकार किया है।—

> कुन्दकुन्दगणी येनोज्जयन्तगिरिमस्तके ।
> सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥१४॥

'वे कुन्दकुन्दगणी रक्षा करें, जिन्होंने कलिकालमें उर्जयन्तगिरिके मस्तक पर अर्थात् गिरनार पर्वतके ऊपर पाषाण निर्मित ब्राह्मीकी मूर्तिको बुलवा दिया।'

शुभचन्द्राचार्यकी गुर्वावली[1] के अन्तमें दो श्लोक इस प्रकार हैं—

> पद्मनन्दी गुरुर्जातो बलात्कार-गणाग्रणी ।
> पाषाण-घटिता येन वादिता श्रीसरस्वती ॥
> उर्ज्जयन्तगिरौ तेन गच्छः सारस्वतोऽभवत् ।
> अतस्तस्मै मुनीन्द्राय नमः श्रीपद्मनन्दिने ॥६३॥

'बलात्कारगणके अग्रणी पद्मनन्दि गुरु हुए, जिन्होंने उर्जयन्तगिरि पर पाषाण निर्मित सरस्वतीकी मूर्तिको वाचाल कर दिया। उससे सारस्वत गच्छ हुआ। अतः उन पद्मनंदी मुनीन्द्रको नमस्कार हो।'

कविवर वृन्दावन ने भी उक्त घटनाका उल्लेख एक छन्दके द्वारा किया है—

> 'संघ सहित श्री कुन्दकुन्द गुरु वन्दन हेत गए गिरनार।
> वाद परयौ तह संशयमतिसों साखी वदी अंबिकाकार॥'
> 'सत्यपन्थ निर्ग्रंथ दिगम्बर कही सुरी तहं प्रगट पुकार,
> सो गुरुदेव वसौ उर मेरे विघनहरन मंगलकरतार॥

इसमें बतलाया है कि एक बार कुन्दकुन्द स्वामी संघसहित वन्दनाके लिए गिरनार पर्वत पर गये। वहाँ श्वेताम्बरोंसे उनका विवाद हो गया। दोनोंने पर्वत पर स्थित अम्बिकाकी मूर्तिको मध्यस्थ माना। देवीने प्रकट होकर कहा कि दिगम्बर निर्ग्रंथपन्थ ही सच्चा है।

१. जै० सि० भा०, भा० १, कि० ४, पृ० ५८।

गिरनार पर्वत पर दिगम्बरों और श्वेताम्बरोंमें विवाद[1] होनेकी चर्चा श्वेताम्बरीय ग्रन्थोंमें भी पाई जाती है। १७वीं शताब्दीमें धर्मसागर उपाध्याय-ने 'प्रवचन परीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें उन्होंने लिखा है कि एक समय गिरिनार और शत्रुञ्जय तीर्थ पर दोनों सम्प्रदायोंमें झगड़ा हुआ। और उसमें शासन देवताकी कृपासे दिगम्बरोंकी पराजय हुई। रत्न मण्डल गणिकृत सुकृतसागर नामके ग्रन्थके 'पेथड़ तीर्थयात्रा द्वय' नामक प्रबन्धमें भी एक कथा है। श्रीरत्न मन्दिर गणिकृत उपदेश तरंगिणी (पृ० १४८) में भी एक विवाद-का वर्णन है। उसके अनुसार दिगम्बरोंसे श्वेताम्बरोंका विवाद एक महीने तक हुआ। अन्तमें अम्बिकाने 'उज्जितसेल सिहरे' आदि गाथा कहकर विवादकी समाप्ति कर दी। उसमें कहा है जो स्त्रियोंकी मुक्ति मानता है वही सच्चा जैन मार्ग है और उसीका यह तीर्थ है।

इस तरह दिगम्बर और श्वेताम्बरोंमें गिरनार पर्वतपर विवाद तो अवश्य हुआ प्रतीत होता है। किन्तु वह कुन्दकुन्द स्वामीके समयमें नहीं हुआ। बल्कि पद्मनन्दि नामके एक भट्टारकके समयमें हुआ है। और चूंकि कुन्दकुन्दका भी नाम पद्मनन्दि था और वे दिगम्बर परम्पराके एक प्रभावक प्रधान आचार्य थे अतः उनके नामके साथ उक्त विवाद जुड़ गया है।

सरस्वतीगच्छकी दिगम्बर पट्टावलीमें लिखा है—

'संवत् १३७५ दिन सुं भट्टार्क प्रभाचन्दजीके आचार्य छो। सो गुजरातमें श्री भट्टार्कजी तो न छा अरु वै आचार्य ही छा। सो महाजन एक प्रतिष्ठा कौ उद्यम कियौ। सो वै तो न आय पहुच्या। जदि आचार्यने सूरिमंत्र दिवाय अर भट्टार्क पदवी गुजरातकी दीन्ही प्रतिष्ठा करिवा पांछै। तहा सूं गुजरातमें पट्ट धारो। आचार्य सुं भट्टार्क हुओ। नाम पद्मनन्दीजी दियौं।

इसी गच्छकी दूसरी पट्टावलीमें यह नोट दिया है—

'प्रभाचन्द्रजी कै आचार्य गुजरातमें छो। सो बठै एकै श्रावक प्रतिष्ठा नैं प्रभाचन्द्रजीनैं बुलायां। सो वै नाया। तदि आचार्य नैं सुरमंत्र दे भट्टारक करि प्रतिष्ठा कराई तदि भट्टारक पद्मनन्दिजी हुआ। त्यां पाषाणकी सरस्वती मुटैं बुलाई।'

इसी पट्टावलीसे दो श्लोक पीछै उद्धृत किये गये हैं जिनमें पद्मनन्दिको बलात्कारगणका अग्रणी बतलाया है और लिखा है कि उर्जयन्त गिरि पर उन्होंने पाषाणकी सरस्वतीको बाचाल कर दिया।

१. जै० सा० इ०, पृ० ४६८ पर 'तीर्थोंके विवाद' शीर्षक लेख।

उक्त उल्लेखके अनुसार विक्रम सम्बत्‌की चौदहवीं शताब्दीके अन्तमें अथवा पन्द्रहवींके पूर्वमें उक्त विवाद हुआ है।

देवगढ़[1]की एक मूर्ति पर सम्वत् १४९३ का एक लेख है। जिससे प्रकट होता है उसकी प्रतिष्ठा मूलसंघ बलात्कारगण सरस्वतीगच्छ कुन्दकुन्दाचार्य अन्वयके भट्टारक प्रभाचन्द्रके शिष्य पद्मनन्दि और पद्मनन्दिके शिष्य देवेन्द्र-कीर्तिने कराई थी।

यह पद्मनन्दि सरस्वतीगच्छकी पट्टावलीके पद्मनन्दि जान पड़ते हैं क्योंकि उनके गुरुका नाम प्रभाचन्द्र लिखा है। तथा मूर्ति लेखमें उन्हें 'वादि वादीन्द्र' लिखा है। सम्भवतया गिरिनार पर्वतके विवादमें विजय प्राप्त करनेके कारण ही उन्हें 'वादि वादीन्द्र' का विरुद दिया गया है। इनका समय भी पट्टावलीसे मिल जाता है। इन्हींसे वलात्कारगणकी सूरत शाखाकी भट्टारक परम्पराका आरम्भ हुआ है। उक्त विवादके जो उल्लेख ऊपर दिये गये हैं वे सब उक्त समयके पश्चात्‌के हैं। अतः उक्त विवाद विक्रमकी पन्द्रहवीं शताब्दीमें हुआ होगा इस लिये आचार्य कुन्दकुन्दसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

समय विचार—आचार्य कुन्दकुन्दके समयके सम्बन्धमें अब तक जिन विद्वानोंने प्रकाश डाला है उनमें श्रीयुत नाथूरामजी[2] प्रेमी, पं० जुगलकिशोरजी[3] मुख्तार, डा० के० बी० पाठक[4], प्रोफेसर चक्रवर्ती[5] और डा० ए० एन० उपाध्ये[6]का नाम उल्लेखनीय है। डा० उपाध्येने उक्त विद्वानोंके मतोंकी समीक्षा करके अपना एक मत निर्धारित किया है। नीचे उक्त बिद्वानोंके मत संक्षेपमें दिये जाते है। इससे प्रकृत विषय पर ऊहापोह करनेमें सरलता होगी।

१. प्रेमीजीका मत—प्रेमीजीके विचारका मुख्य आधार इन्द्रनन्दिका श्रुता-वतार है। श्रुतावतारमें लिखा है कि भगवान महावीरके पश्चात् ६२ वर्षमें तीन केवली हुए। उनके पश्चात् १०० वर्षोंमें पाँच श्रुतकेवली हुए। फिर १८३ वर्षोंमें ११ आचार्य दस पूर्वोके ज्ञाता हुए। फिर २२० वर्षोंमें ५ आचार्य ग्यारह अंगोंके ज्ञाता हुए फिर ११८ वर्षोंमें चार आचार्य एक अंगके धारी

---

१. भ० स०, पृ० १६९।
२. जै० हि० भा० १० पृ० ३७८ आदि।
३. र० श्रा० की प्रस्ता०, पृ० १५७ आदि।
४. समय प्राभृत (काशी संस्काण) की संस्कृत प्रस्तावनामें।
५. पञ्चास्तिकायके अंग्रेजी अनुवादकी प्रस्तावना।
६. प्रवचनसार (रा० जै० शा०) की प्रस्तावना।

हुए। इस तरह भगवान महावीरके निर्वाण (५२७ ई० पूर्व) के पश्चात् ६८३ वर्षों तक अंग ज्ञानकी प्रवृत्ति रही। फिर चार आरातीय अंगों और पूर्वोंके एक देशके ज्ञाता हुए। उनके पश्चात् क्रमसे अर्हद्बलि, माघनन्दि और धरसेन हुए। धरसेन महाकर्म प्रकृति प्राभृतके ज्ञाता थे। थोड़ी आयु शेष रहने पर उन्हें चिन्ता हुई कि मेरे पश्चात् इस महाकर्मप्रकृति प्राभृतका विच्छेद हो जायेगा। अतः उन्होंने दो योग्य शिष्योंको बुलाकर जो बादमें पुष्पदन्त और भूतबली नामसे प्रसिद्ध हुए, महाकर्मप्रकृति प्राभृत पढ़ाया और उन्होंने षट्खण्डागम सूत्रोंकी रचना की। इस तरह षट्खण्डागम सूत्रोंकी उत्पत्ति बतलाकर श्रुतावतारमें कषाय प्राभृतकी उत्पत्तिका वृत्तान्त बतलाते हुए लिखा है कि गुणधर मुनीन्द्रने कषाय प्राभृतकी रचना करके नागहस्ती और आर्यमंक्षुको उनका व्याख्यान किया। आर्यमंक्षु और नागहस्तीसे उन गाथा सूत्रोंको पढ़कर यति वृषभ नामक आचार्यने उनपर छै हजार श्लोक प्रमाण चूर्णि सूत्रोंकी रचना की। यति वृषभसे उन चूर्णि सूत्रोंका अध्ययन करके उच्चारणाचार्यने उनपर बारह हजार श्लोक प्रमाण उच्चारणा सूत्र नामक वृत्तिकी रचना की। इस प्रकार गुणधर, यतिवृषभ और उच्चारणाचार्यके द्वारा गाथासूत्र, चूर्णिसूत्र और उच्चारणा सूत्रोंके रूपमें कषाय प्राभृत निबद्ध हुआ। इन दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंको कुण्डकुन्द पुरमें पद्म-नन्दि मुनिने गुरु परम्परासे जाना और उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक ग्रन्थ रचा।"

इससे स्पष्ट है कि कुन्दकुन्द वीर निर्वाणसे ६८३ वर्षोंके पश्चात् हुए। श्री प्रेमी जीने धरसेन तथा उच्चारणाचार्य पर्यन्त अन्य आचार्योंका कम से कम समय निर्धारित करके यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्द विक्रमकी तीसरी शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुए हैं।

इसके सिवाय प्रेमी जीका कहना है कि उर्जयन्त गिरिपर कुन्दकुन्दका श्वेताम्बरोंके साथ विवाद हुआ था। कुन्दकुन्दके सुत्तपाहुडसे यह प्रकट होता है कि कुन्दकुन्दके समयमें जैन संघमें श्वेताम्बर और दिगम्बर भेद हो चुका था। देवसेनके दर्शनसारके अनुसार विक्रमकी मृत्युसे १३६ वर्ष बीतने पर यह भेद हुआ। प्रेमी जीने इसे शालिवाहन शकाब्द मानकर १३६ + १३५ = २७१ विक्रम सम्वत्में संघ भेद माना है। और इस तरह यह काल भी श्रुतावतारके आधार पर निर्धारित किये गये कालके साथ मेल खाता है। अतः प्रेमी जीके मतानुसार कुन्दकुन्दाचार्य विक्रमकी तीसरी शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुए हैं। तथा वीर निर्वाण सम्वत् ६८३ से पहले तो किसी भी तरह नहीं हुए।

डा० पाठकका मत

डा० पाठकको राष्ट्रकूट नरेश गोविन्दराज तृतीयके दो ताम्रपत्र मिले थे

उनमेंसे एक शक सम्वत्[1] ७१९ का है और दूसरा शक सम्वत् ७२४ का है। उनमें कोण्डकोन्दान्वयके तोरणाचार्यके शिष्य पुष्पनन्दीका तथा उसके शिष्य का निर्देश है। इसपरसे डा० पाठकका कहना है कि जब प्रभाचन्द्र शक सम्वत् ७१९ में वर्तमान थे तो उनके दादा गुरु तोरणाचार्य शक सम्वत् ६०० के लगभग हुए होंगे। और चूंकि तोरणाचार्य शक सं० ६०० में हुए थे अतः कुन्दकुन्दको जिनके अन्वयमें तोरणाचार्य हुए थे, १५० वर्ष पूर्व शक सं० ४५० में रखा जा सकता है।

डा० पाठकने अपने उक्त अनुमानका समर्थन एक अन्य आधारसे किया है। चालुक्य नरेश कीर्तिवर्मा महाराज शक सम्वत् ५०० में राज्यासन पर विराजमान थे। उन्होंने बादामीको जीता और कदम्ब राज वंश को नष्ट कर दिया। अतः यह निश्चित हुआ कि कदम्ब राज वंशका शिवमृगेश वर्मा लगभग ५० वर्ष पूर्व शक सं० ४५० के लगभग राज्य करता था। पञ्चास्तिकायकी कनड़ी टीकामें बालचन्द्रने और संस्कृत टीकामें जयसेनने लिखा है कि कुन्दकुन्दने यह ग्रन्थ शिवकुमार महाराजके प्रतिबोधनके लिये लिखा था। यह शिवकुमार महाराज कदम्बवंशी शिवमृगेश वर्मा ही प्रतीत होते हैं। अतः शिवमृगेश वर्माके समकालीन होनेके कारण कुन्दकुन्दका समय शक सं० ४५० (५२८ ई०) आता है।

प्रो० चक्रवर्तीने डा० हार्नलेके द्वारा प्रकाशित सरस्वती गच्छकी दिगम्बर पट्टावलीके आधार पर कुन्दकुन्दके आचार्य पद पर आसीन होनेका काल ईस्वी

---

१. 'आसीद तोरणाचार्यः कोण्डकुन्दान्वयोद्भवः।
स चैतद्विषये श्रीमान् शाल्मली ग्राममाश्रितः ॥१॥
× × ×
तस्याभूत् पुष्पनन्दी तु शिष्यो विद्वान् गणाग्रणी।
तच्छिष्यश्च प्रभाचन्द्रस्तस्येयं वसतिः कृता ॥३॥

२. कोण्कोन्दोन्वयोदारो गणोऽभूद् भुवनस्तुतः।
तदैतद्विषयविख्यातं शाल्मलीग्राममावसन् ॥१॥
आसीद तोरणाचार्यस्तपःफलपरिग्रहः।
तत्रोपशमसंभूतभावना पास्तकल्मशः ॥२॥
पण्डितः पुष्पनन्दीति बभूव भुवि विश्रुतः।
अन्तेवासी मुनेस्तस्य सकलश्चन्द्रमा इव ॥३॥
प्रतिदिवसभवद्वृद्धिर्निरस्तदोषो व्यपेतहृदयमलः।
परिभूतचन्द्रविम्वस्तच्छिष्योऽभूत् प्रभाचन्द्रः ॥४॥

पूर्व ८ मानकर ईस्वी पूर्व ५२ के लगभग उनका जन्म होना माना है। आगे उन्होंने डा० पाठकके मतका विरोध करते हुए पट्टावली प्रतिपादित समयका समर्थन अन्य साधनोंसे किया है। कथाओंमें कुन्दकुन्दको दक्षिण देशका बतलाया है। अतः प्रो० चक्रवर्तीने उसको आधार बनाकर इस बात पर जोर दिया है कि कुन्दकुन्द द्रविण संघके थे। मंत्रलक्षण नामके एक अप्रकाशित ग्रन्थसे उन्होंने एक सूचना प्राप्त की है कि दक्षिणमें मलय नामके देशके अन्तर्गत हेमग्राममें एक एलाचार्य नामके महान् साधु रहते थे वह द्रविण गणाधीश थे। प्रो० चक्रवर्तीका कहना है कि ये सब उल्लेख द्रविण देशमें खोजने पर मिल सकते हैं अतः कुन्दकुन्द द्रविड़ देशके थे और उनका एक नाम एलाचार्य भी था। जैन परम्पराके अनुसार एलाचार्य प्रसिद्ध प्राचीन तमिल ग्रन्थ 'थिरुक्कुरल' के रचयिता थे। उन्होंने इस ग्रंथको रचकर अपने शिष्य तिरुवल्लुअरको दे दिया और उसने उसे मदुरा संघको भेंट कर दिया। एलालसिंह, जो तिरुवल्लुअरका साहित्यिक संरक्षक माना जाता है, एलाचार्यका दूसरा नाम था। कुरलका जैनधर्मी एलाचार्यके द्वारा रचा जाना अन्य तथ्योंसे भी समुचित प्रतीत होता है। जैसे कुरलका धार्मिक वातावरण, वल्लुवोंके द्वारा अपनाई गई कृषिकी सर्वोत्तम व्यवसायके रूपमें प्रशंसा, जमींदारी प्रथाका समर्थन, जिसने द्रविण देशमें जैन धर्मके प्रारम्भिक अनुयायी उत्पन्न किये।

प्रो० चक्रवर्तीका कहना है कि एलाचार्य अथवा कुन्दकुन्दको कुरलका रचयिता माननेमें कुरलके सम्भावित कालके साथ भी कोई असंगति नहीं आती, तथा पट्टावली प्रतिपादित समयको उससे बड़ा समर्थन मिलता है। द्रविड़ संघका प्रधान होनेके कारण कुन्दकुन्दने प्राचीन तमिल साहित्यके बल्लालोके लाभके उद्देशसे कुरलको तमिलमें ही रचा होगा, क्योंकि बल्लाल लोग अहिंसा धर्मके कट्टर अनुयायी थे।

उक्त चर्चाके प्रकाशमें प्रो० चक्रवर्तीने शिवकुमार महाराजकी एकरूपता स्थापित करनेका प्रयत्न करते हुए डा० पाठकके उक्त मतको मान्य नहीं किया है। उनका कहना है कि एक तो कुन्दकुन्दके समयसे कदम्ब राजवंशका समय बहुत अर्वाचीन है, दूसरे इस बातका समर्थन करने वाले प्रमाणोंका अभाव है कि कदम्ब प्राकृत भाषासे परिचित थे, जिसमें कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थ रचे हैं। डा० पाठकके मतके विपरीत प्रो० चक्रवर्तीने पल्लव राजवंशके शिवस्कन्दको शिवकुमार महाराज मानने पर जोर दिया है क्योंकि स्कन्द और कुमार शब्द एकार्थवाची हैं अतः शिवस्कन्दका अर्थ होता है शिवकुमार। शिवस्कन्द युवमहाराज भी कहे जाते थे और युवमहाराज तथा कुमार महाराज एकार्थक हैं। अन्य परिस्थितियाँ भी इस एक रूपताकी पोषक हैं। पल्लवोंकी राजधानी कंजीपुरम् थी।

पल्लव 'थोण्ड मण्डलम् पर शासन करते थे। यह प्रदेश विद्वानोंकी भूमि माना जाता है। इसकी राजधानीने अनेक द्रविड़ विद्वानोंको आकर्षित किया था। कंजी-पुरम्के राजगण ज्ञानके संरक्षक थे। ईसाकी आरम्भिक शताब्दियोंसे लेकर आठवीं शताब्दी तक अर्थात् समन्तभद्रसे लेकर अकलंक तक कंजीपुरम्के चारों ओर जैनधर्मका प्रचार होता रहा है। अतः यदि कंजीपुरम्के पल्लव राजा ईसा-की प्रथम शताब्दोंमें जैनधर्मके संरक्षक थे या जैनधर्मको पालते थे तो यह असंभव नहीं है।

इसके सिवाय मयीडवोलु दानपत्रकी भाषा प्राकृत है। यह दानपत्र कंजी-पुरम्के शिवस्कन्द वर्माके द्वारा जारी किया गया था। इसके प्रारम्भमें 'सिद्ध' शब्दका प्रयोग है तथा मथुराके शिलालेखोंसे यह बहुत मिलता जुलता हुआ है। ये बातें बतलाती हैं कि इसके दाता राजाका झुकाव जैनधर्मकी ओर था। अन्य अनेक शिलालेखों आदिसे यह स्पष्ट है कि पल्लव राजाओंके राज्यकी भाषा प्राकृत थी। अतः प्रो० चक्रवर्तीने यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्दने जिस शिवकुमार महाराजके लिए प्राभृतत्रय लिखे थे वह बहुत सम्भवतया पल्लव वंश-का शिवस्कन्द वर्मा है।

श्री जुगलकिशोरजी[1] मुख्तारने 'समन्तभद्र' विषयक अपने महानिबन्धमें आचार्य समन्तभद्रका समय निर्णय करनेकी दृष्टिसे कुन्दकुन्दाचार्यके समयके सम्बन्धमें भी विचार किया है। मुख्तार साहबने नन्दिसंघकी पट्टावलीमें दिये गये समयको (वि० स० ९४(४९)-१०१) तो विश्वसनीय नहीं माना है क्योंकि पट्टावलीकी हालत ऐसी नहीं है जिसे एक विश्वस्त आधार माना जा सके। अतः उसे छोड़कर आपने दूसरे मार्गसे कुन्दकुन्दका ठीक समय उपलब्ध करनेका प्रयास किया है।

प्रेमीजीकी तरह आपने भी इन्द्रनन्दि आचार्यके श्रुतावतारमें वर्णित दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंकी उत्पत्तिकी कथा तथा गुरु परिपाटीसे दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंको जानकर कुन्दकुन्दके द्वारा षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर बारह हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखनेकी बातको साधार मानकर यह निष्कर्ष निकाला है कि कुन्दकुन्दाचार्य वीर निर्वाण सम्वत् ६८३ से पहले नहीं हुए, किन्तु पीछे हुए हैं। परन्तु कितने पीछे हुए हैं यह स्पष्ट नहीं है। उसको स्पष्ट करते हुए आपने लिखा है—'यदि अन्तिम आचारांगधारी लोहाचार्यके बाद होने वाले विनयधर आदि चार आरातीय मुनियोंका एकत्र समय २० वर्षका और अर्हद्बलि,

१. रत्नकरंड श्रा० की प्रस्ता०, पृ० १५८ से १८९ तक।

माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त, भूतबलि तथा कुन्दकुन्दके गुरुका स्थूल समय १०-१० वर्षका ही मान लिया जाय, जिसका मान लेना कुछ अधिक नहीं है, तो यह सहज में ही कहा जा सकता है कि कुन्दकुन्द उक्त समयसे ८० वर्ष अथवा वीर निर्वाणसे ७६३ वर्ष बाद हुए हैं और यह समय उस समय (७७०) के करीब ही पहुँच जाता है जो विद्वज्जन बोधकसे उद्धृत किये गये पद्यमें दिया है और इसलिये इसके द्वारा उसका बहुत कुछ समर्थन होता है।

आगे मुख्तार साहबने शिवकुमार महाराज वाली चर्चा उठाकर डा० पाठकके मतको अमान्य किया है। और लिखा है कि 'प्रथम तो जयसेनादिका यह लिखना ही कि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके सम्बोधनार्थ अथवा उनके निमित्त इस पञ्चास्तिकायकी रचना की, बहुत कुछ आधुनिक मत जान पड़ता है, मूलग्रन्थमें उसका कोई उल्लेख नहीं और न श्री अमृतचन्द्राचार्यकृत टीका परसे ही उसका कोई समर्थन होता है। दूसरे शिवकुमारका शिवमृगेश वर्मांके साथ जो समीकरण किया गया है उसका कोई युक्तियुक्त कारण भी मालूम नहीं होता। उससे अच्छा समीकरण तो प्रो० ए० चक्रवर्तीका जान पड़ता है।'

आगे अपने प्रो० चक्रवर्तीके इस मतको भी मान्य नहीं किया है कि कुन्दकुन्दका एक नाम एलाचार्य था और वह कुरलके कर्ता हैं। क्योंकि नन्दिसंघकी पट्टावली अथवा गुर्वावलीको छोड़कर दूसरे किसी भी ग्रन्थसे अथवा शिलालेखसे यह मालूम नहीं होता कि एलाचार्य कुन्दकुन्दका नामान्तर था।

आगे आपने पट्टावलि प्रतिपादित समयकी विस्तारसे आलोचना की है। अन्तमें आपने भद्रबाहु शिष्य कुन्दकुन्दको दूसरे भद्रबाहुका शिष्य ठहराते हुए कुन्दकुन्दका समय वीरनिर्वाण ६०८ से ६९२ तक स्थापित किया है।

डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी विद्वतापूर्ण प्रस्तावनामें उक्त सभी विद्वानोंके तोंको देकर विचारके लिये ५ मुद्दे स्थापित किये हैं—

१. श्वेताम्बर दिगम्बर भेद उत्पन्न होनेके पश्चात् कुन्दकुन्द हुए।

२. कुन्दकुन्द भद्रबाहुके शिष्य हैं।

३. श्रुतावतारके अनुसार कुन्दकुन्दने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर टीका लिखी।

४. जयसेन और बालचन्द्रके लेखानुसार कुन्दकुन्द शिवकुमार महाराजके समकालीन थे।

५. कुन्दकुन्द कुरलके रचयिता थे।

१. प्रथम मुद्दे पर विचार करते हुए डा० उपाध्येने लिखा है कि इस विषय में कि कुन्दकुन्द श्वेताम्बर दिगम्बर भेद उत्पन्न होनेके पश्चात् हुए हैं दो मत नहीं हो सकते। क्योंकि उन्होंने अपने ग्रन्थोंमें मुनियोंके वस्त्र परिधान तथा स्त्री मुक्तिका निषेध किया है और ये दोनों बातें श्वेताम्बर मानते हैं। उन्होंने इस भेदकी उत्पत्ति चन्द्रगुप्त मौर्यके समकालीन श्रुतकेवली भद्रबाहुके समयमें (ईस्वी पूर्व तीसरी शताब्दी) बतलाई है। अतः लिखा है कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें पाया जानेवाला श्वेताम्बरीय प्रवृत्तियोंका निराकरण कुन्दकुन्दका समय निर्धारित करनेमें विशेष सहायक नहीं हो सकता।

दूसरे मुद्देके सम्बन्धमें विचार करते हुए डा० उपाध्येने बोधप्राभृत की अन्तिम दोनों गाथाओंको एक साथ उद्धृत करके उनके कुन्दकुन्द रचित होनेकी यथार्थताको स्पष्ट किया है और कालक्रम निर्धारण करनेमें उनके उपयोगको न्याय्य माना है। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि दूसरी गाथाके विशेषणोंसे स्पष्ट है कि प्रथम गाथामें स्मृत भद्रबाहु श्रुतकेवली भद्रबाहुके सिवाय अन्य नहीं हो सकते। तथा उनके शिष्यसे मतलब परम्परा शिष्यसे है।

कुन्दकुन्दने अपनेको भद्रबाहुका शिष्य क्यों बतलाया ? इस प्रश्नका समाधान करते हुए डा० उपाध्येने लिखा है कि दक्षिणको जो मुनिसंघ गया था उसके प्रधान श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। अतः भद्रबाहुके स्वर्गवासके पश्चात् उनके शिष्य और प्रशिष्य उन्हें महान् गुरुके रूपमें मानते रहे होंगे। दक्षिणमें जो साधुगण थे उन्हें सब धार्मिक ज्ञान उत्तराधिकारके रूपमें भद्रबाहुसे ही प्राप्त हुआ था। अतः सुदूर दक्षिण देशके प्रधान आचार्य कुन्दकुन्दने उन्हें अपना गुरु मानकर अपनेको उनका शिष्य बतलाया तो यह कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। किन्तु कुन्दकुन्दको श्रुतकेवली भद्रबाहुका साक्षात् शिष्य माननेमें अनेक रुकावटें हैं। प्रथम तो श्रुतकेवली भद्रबाहुके पश्चात् होनेवाले अंगधारियोंमें कुन्दकुन्दका नाम नहीं है। दूसरे, लिखित या किम्बदन्तीके रूपमें जैन परम्परामें एक भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता जिससे कुन्दकुन्दके श्रुतकेवली भद्रबाहुके समकालीन होनेका किञ्चित् मात्र भी समर्थन होता हो। प्रत्युत उपलब्ध बातें उस कालके विरुद्ध ही जाती हैं।

तीसरे मुद्देके सम्बन्धमें डा० उपाध्येने श्रुतावतारके इस कथनके सम्बन्धमें कि कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दिने दोनों सिद्धान्त ग्रन्थोंका ज्ञान प्राप्त किया और षट्खण्डागमके तीन खण्डों पर टीका रची, लिखा है कि इस पर दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं—प्रथम, क्या कुन्दकुन्दपुरके पद्मनन्दि हमारे कुन्दकुन्द ही हैं और दूसरा, क्या उन्होंने वास्तवमें षट्खण्डागमके कुछ भाग पर टीका लिखी थी ? डा० उपाध्येने इन दोनों प्रश्नोंमेंसे पहले प्रश्नका उत्तर स्वीकारात्मक और दूसरे-

का नकारात्मक दिया है। उन्होंने लिखा है कि शिलालेखों आदिसे यह प्रकट है कि हमारे ग्रन्थकारका नाम पद्मनन्दि था और कुन्दकुन्दके नामसे प्रसिद्ध हुए। इन्द्रनन्दिने इसे स्पष्ट कर दिया है कि जन्मभूमिके नाम पर से वह कुन्द-कुन्द कहलाये। किन्तु पद्मनन्दिने षट्खण्डागम पर कोई टीका लिखी थी, अनेक कारणोंसे इस बातको असन्दिग्ध रूपमें स्वीकार नहीं किया जा सकता। ऐसी कोई टीका न तो वर्तमानमें उपलब्ध है न धवला और जयधवला टीकामें ही मैं उसके कोई चिन्ह प्राप्त करनेमें समर्थ हो सका। बादके साहित्यमें भी उस टीका का कोई उल्लेख प्रकाशमें नहीं आया। इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारके सिवाय किसी अन्य ग्रन्थमें भी इस बातका निर्देश नहीं मिलता कि कुन्दकुन्दने षट्खण्डागम पर कोई टीका लिखी थी। विबुध श्रीधरने अपने श्रुतावतारमें लिखा है कि कुन्दकीर्तिने कुन्दकुन्दाचार्यसे दोनों सिद्धान्तोंका ज्ञान प्राप्त करके षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोपर बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म नामक शास्त्र रचा। प्रमाणोंके अभावमें इसका निर्णय करना शक्य नहीं है कि दोनोंमेंसे किसने परिकर्मकी रचना की। जहाँ तक कुन्दकुन्दका प्रश्न है मैं उसके विषयमें असंदिग्ध नहीं हूँ क्योंकि कुन्दकुन्दमें मैं टीकाकारिताकी अपेक्षा सिद्धान्त विवेचकत्व ही विशेष पाता हूँ। यद्यपि दोनों श्रुतावतार एक विषयमें एक मत है कि कुन्दकुन्द के समयमें षट्खण्डागम वर्तमान था। किन्तु चूंकि उनके दूसरे कथनमें भेद पाया जाता है अतः कालनिर्णयमें सहायक होनेकी दृष्टिसे उसपर विशेष जोर नहीं दिया जा सकता। अतः उक्त चर्चाके प्रकाशमें श्रुतावतारके कथनके आधार पर डॉ० उपाध्येने इस बात पर कि कुन्दकुन्द वीर नि० सं० ६८३ के पश्चात् होने चाहिये, विशेष जोर देनेमें अपनेको असमर्थ बतलाया है।

चौथे मुद्देके सम्बन्धमें डॉ० उपाध्येने मुख्तार सा० की सम्मतिसे अपनी रजा-मन्दी प्रकट करते हुए डॉ० पाठकके एकीकरणसे प्रो० चक्रवर्तीके एकीकरणको समुचित बतलाया है। किन्तु उसके सम्बन्धमें एक कठिनाई यह बतलाई है कि पल्लव राजाओंकी वंशावली और कालपरम्परा अनिश्चित है। एक ही नामके अनेक राजाओंका उल्लेख विभिन्न कालोंमें पाया जाता है। शिवस्कन्द वर्माका नाम पल्लव वंशावलीमें पांचवा है और उसके पहले एक स्कन्द वर्माका नाम है। तथा उनके शिलालेखोंमें राज्य करनेके वर्षोंका तो निर्देश है किन्तु किसी निश्चित सम्वत्का निर्देश नहीं है। अतः पल्लव राजवंशका आरम्भ भी कालक्रमकी दृष्टि-से अनिश्चित है। अन्तमें डॉ० उपाध्येने लिखा है कि यदि जयसेनके इस कथनका कि कुन्दकुन्दने शिवकुमार महाराजके लिये ग्रन्थ रचा, कोई ऐतिहासिक मूल्य है तो पाठकके एकीकरणकी अपेक्षा शिवकुमार महाराजका शिवस्कन्द पल्लवनरेशके साथ एकीकरण अधिक संभाव्य है।

पांचवें मुद्दे पर विचार करते हुए डॉ० उपाध्येने प्रो० चक्रवर्तीके द्वारा जिस ढंगसे कुन्दकुन्दको कुरलका कर्ता स्थापित किया गया है उसे प्रसिद्ध कुण्डवदर न्यायकी संज्ञा दी हैं। फिर भी उन्होंने इस बातको स्वीकार किया है कि कुरल-में बहुतसे ऐसे जैन चिह्न मिलते हैं जिनकी संगति अन्य धर्मोसे नहीं बैठाई जा सकती। तथा जैन ग्रन्थ नीलकेशीका टीकाकार 'कुरल'को अपना पूज्य धर्म ग्रन्थ बतलाता है। आन्तरिक साक्षियोंके साथ ही यह बात सूचित करती है कि काफ़ी सुदीर्घ कालसे जैन लोग कुरलके कर्ताको अपना धर्मानुयायी मानते आने हैं।

जहाँ तक कुन्दकुन्दका प्रश्न है उनका नाम एलाचार्य था, इस विषयमें जो प्रमाण उपस्थित किये गये हैं वे पर्याप्त नहीं हैं। अतः इसकी पुष्टिके लिए अभी प्रमाणोंकी आवश्यकता है। और यदि यह प्रमाणित हो आता है तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि कुन्दकुन्द कुरलके रचयिता हैं और तब उन्हें ईसाकी प्रथम शताब्दीका विद्वान् स्वीकार किया जा सकता है।

अन्तमें डॉ० उपाध्येने जो निष्कर्ष निकाला है वह इस प्रकार है—

१. जैन पट्टावलिके अनुसार वह ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दीके उत्तरार्ध और ईसाकी प्रथम शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं।

२ उनसे पूर्व षट्खण्डागमकी रचना हो चुकनेकी संभावना उन्हें दूसरी शताब्दीके मध्यके पश्चात्का बतलाती है।

३. मकरीके ताम्रपत्रके अनुसार कुन्दकुन्दकी उत्तरावधि ईसाकी तीसरी शताब्दीका मध्य होना चाहिये।

४. और यदि यह प्रमाणित हो जाता है कि कुन्दकुन्दका नाम एलाचार्य था और उन्होंने कुरलकी रचनाकी थी तथा वह पल्लवनरेश शिवस्कन्द वर्माके सम-कालीन थे तो उनके समयकी सीमा ईस्वी सन् की प्रथम दो शताब्दियाँ होनी चाहिए।

प्राप्त सामग्रीकी इस लम्बी छान वीनके पश्चात् मेरा झुकाव इस विश्वासकी ओर है कि कुन्दकुन्दका समय इस्वी सन्का प्रारम्भ है। इस तरह डॉ० उपाध्येने पट्टावली प्रतिपादित समयको ही प्रकारान्तरसे स्वीकार किया है।

कुन्दकुन्दके समय निर्धारणके जितने भी आधार हो सकते हैं उन सभीकी चर्चा तथा ऊहापोह पूर्व विद्वानोंके द्वारा हो चुका है यह ऊपर दिये गये उनके मतोंसे प्रकट है। जहाँ तक डाक्टर पाठकके मतका प्रश्न है वह तो किसी भी तरहसे मान्य नहीं किया जा सकता क्योंकि कुन्दकुदाचार्य इतने पीछेके आचार्य नहीं है। तोरणाचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयके थे अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि वे उनके १५० वर्ष पूर्व ही हुए थे। आज भी जो मूर्तिलेख अंकित किये

जाते हैं उनमें कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख किया जाता है जब कि कुन्दकुन्दको हुए लगभग दो सहस्राब्द बीत रहे हैं। इसके सिवाय पूज्यपाद देवनन्दि प्रथम दिगम्बर जैन टीकाकार है जिन्होंने तत्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि नामकी टीका रची है। उनका समय विक्रमकी छठी शताब्दी है। डा० पाठकके शिवमृगेश वर्माका भी यही समय है और इसी समयमें वह कुन्दकुन्दका होना बतलाते हैं। किन्तु पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें (२–१०) में पाँच गाथाएँ 'उक्तं च' करके उद्धृतकी है और वे पाँचों गाथाएँ जिस क्रमसे उद्धृतकी गई हैं उसी क्रमसे कुन्दकुन्दकी 'वारस अणुवेक्खा'में वर्तमान हैं। तथा ये गाथाएँ अन्य किसी प्राचीन ग्रन्थमें नहीं पाई जातीं। अतः यह निश्चित है कि पूज्यपादने उन्हें कुन्दकुन्दकी 'वारसअणुवेक्खा'से उद्धृत किया है। इसके सिवाय पूज्यपादके समाधि[1] तंत्रमें अनेक श्लोक ऐसे हैं जो कुन्दकुन्दकी गाथाओंके ही छाया रूप हैं। इस तरह दोनों ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे पूज्यपाद सुपरिचित थे। अतः कुन्दकुन्द उनसे पहले हो गये हैं यह निश्चित है।

कुन्दकुन्दके समयके विषयमें विचार करने वाले शेष चारों विद्वानोंको दो भागोंमें रखा जा सकता है। एक भागमें प्रो० चक्रवर्ती और डा० उपाध्ये आते हैं दूसरेमें श्री नाथूरामजी प्रेमी तथा पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार आते हैं।

---

१. जं मया दिस्सदे रूपं तं ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केणहं ॥२९॥—मो० पा०
'यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१९॥—स० तं०।

× × ×

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जंमि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥—मो० पा०
व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥—स० तं

× × ×

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहिं भावए ॥६२॥—मो० पा०
अदुःखभावितं ज्ञान क्षीयते दुःखसन्निधौ।
तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥—सं० तं०

प्रो० चक्रवर्तीने पट्टावली प्रतिपादित समयको ठीक मानकर तथा उपलब्ध सूचनाओंको आधार बनाकर उनके द्वारा पट्टावली प्रतिपादित समयका ही समर्थन किया है। डा० उपाध्येने प्रो० चक्रवर्तीके उन आधारोंको तो सुदृढ़ नहीं माना जिनके आधार पर उन्होंने पट्टावली प्रतिपादित समयका समर्थन किया है, किन्तु मान्य उसी समयको किया है। इनमेंसे प्रो० चक्रवर्तीने तो श्रुतावतारमें वर्णित इतिवृत्तका स्पर्श ही नहीं क्रिया। संभवतया उस समय उनकी दृष्टिमें वह आया नहीं होगा। किन्तु डा० उपाध्येने प्रो० चक्रवर्तीके आधारोंकी तरह श्रुतावतारकी वार्ताकी भी समीक्षा कर डाली। यह तो उन्होंने माना है कि श्रुतावतारमें कुन्डकुन्डपुरके जिस पद्मनन्दिका नाम आया है वह आचार्य कुन्दकुन्द ही हैं किन्तु कुन्दकुन्दके द्वारा षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामक ग्रन्थके रचे जानेवाली बात उन्हें मान्य नहीं है क्योंकि षट्खण्डागमकी टीका धवलामें तथा कसायपाहुड़की टीका जयधवलामें परिकर्मका कोई उल्लेख उन्हें नहीं मिला और न अन्यत्रसे ही उन्हें उसके सम्बन्धमें कोई सूचना मिली। तथा विबुध श्रीधरके श्रुतावतारमें चूंकि कुन्दकुन्दके शिष्य कुन्दकीर्तिको उसको कर्ता बतलाया है, इससे डा० उपाध्येने इन्द्रनन्दिके कथनकी यथार्थतामें तो सन्देह किया और उसके आधार पर उसे अमान्य ठहरा दिया, किन्तु इस ओर ध्यान नहीं दिया कि षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डोंके ऊपर परिकर्म नामक ग्रन्थ रचे जानेकी बातको विबुध श्रीधर भी मान्य करता है। प्रश्न केवल यह रह जाता है कि कुन्दकुन्दने उसे रचा या उनके शिष्य कुन्दकीर्तिने रचा। कुन्दकुन्दके कोई कुन्दकीर्ति नामका शिष्य था, इसका कोई संकेत तक अन्यत्र नहीं मिलता और न दिगम्बर जैन गुरु परम्परामें कुन्दकीर्ति नामके किसी आचार्य या विद्वान्का ही संकेत मिलता है। डा० उपाध्येने कुन्दकुन्दकी जो कथा उद्धृतकी है उसमें कुन्दकुन्दके पिताका नाम कुन्द श्रेष्ठी और माताका नाम कुन्दलता लिखा है। जैसे कथा लेखकने कुन्दकुन्द नामके ऊपरसे उनके माता पिताके नाम कल्पित कर लिये, इसी तरह विबुध श्रीधरने या जहाँसे उसने यह लिया हो उसने कुन्दकुन्द नाम परसे उनके शिष्य कुन्दकीर्तिकी कल्पना कर ली। कथाके दोनों नामोंमें जितना और जैसा तथ्य है उतना और वैसा ही तथ्य विबुध श्रीधरके कुन्दकीर्तिमें है अतः वह उपेक्षणीय है।

परिकर्म नामका एक महान् ग्रंथ वीरसेन स्वामीके सामने वर्तमान था। धवला टीकामें उसके उद्धरण बहुतायतसे पाये जाते हैं। उसके सम्बन्धमें षट्खण्डागमकी टीकाओं पर विचार करते समय पीछे विस्तारसे प्रकाश डाला जा चुका है और यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया गया कि उसके रचयिता कुन्दकुन्दाचार्य होने चाहियें। अतः इन्द्रनन्दिका यह लिखना कि दोनों सिद्धान्त

ग्रंथ कौण्डकुन्द पुरमें पद्मनन्दिको प्राप्त हुए और उन्होंने षट्खण्डागमके आद्य तीन खण्डों पर परिकर्म नामका ग्रंथ रचा यथार्थ है। अतः कुन्दकुन्दके समय निर्धारणके लिये इन्द्रनन्दिके श्रुतावतारका कथन ही दृढ़ आधार हो सकता है और इसलिये श्री प्रेमी जीने तथा मुख्तार साहबने जो उसको आधार बनाकर कुन्दकुन्दके समयका विचार किया हो वह समुचित प्रतीत होता है।

तिलोयपण्णत्तिसे लेकर श्रुतावतार पर्यन्त ग्रंथोंमें महावीर निर्वाणसे लेकर अन्तिम एकांगधारी लोहाचार्य तक ६८३ वर्ष होते हैं। किन्तु नन्दी संघकी प्राकृत[१] पट्टावलीके अनुसार ५६५ बर्ष ही होते हैं इसका कारण यह है कि अन्यत्र पांच एकादशांगधारियों और चार एकांगधारियोंका समय अलग अलग २२० और ११८ वर्ष बतलाया है। किन्तु इस पट्टावलीमें उनका समय क्रमशः १२३ और ९७ वर्ष बतलाया है। अर्थात् २२० वर्षके भीतर नौ ही आचार्य आ जाते हैं। इस तरह ११८ वर्ष शेष रहते हैं। साथ ही पाँच और चार आचार्योंका काल भी २२० और ११८ वर्षोंके स्थानमें १२३ और ९७ वर्ष उचित प्रतीत होता है।

इसके सिवाय तिलोयपण्णत्ति आदिमें उक्त पाँच आचार्योंके पश्चात् होने वाले आचार्योंको एक अंगका धारी बतलाया है जब कि वे पाँच आचार्य ग्यारह अंगोंके धारी थे। इस तरह अकस्मात् दस अंगोंके लोप होनेकी बात खटकती है। किन्तु पट्टावलीमें उन्हें क्रमशः दस, नौ, आठ अंगोंका धारक बतलाया है। जो उचित प्रतीत होता है।

पट्टावलीके अनुसार शेष ११८ वर्षोंमें पाँच आचार्य एकांगधारी हुए उनके नाम क्रमसे अर्हद्वलि, माघनन्दि, धरसेन, पुष्पदन्त और भूतबली थे। अतः पट्टावलीके अनुसार वीर निर्वाणसे ६१४ वर्ष बाद धरसेनाचार्य हुए और भूतबली पर्यन्त ६८३ वर्ष पूर्ण हुए।

[२]धवलामें जोणीपाहुड नामक एक ग्रन्थका निर्देश है जो मंत्र तंत्रसे सम्बद्ध था। वि० सं० १५५६में लिखी गई [3]वहटिप्पणिका नामक ग्रन्थ सूचीमें इसे धरसेन कृत बतलाया है और उसका रचना काल वीरनिर्वाणसे ६०० वर्ष बाद बतलाया है। इससे भी पट्टावलीमें दिये गये कालकी पुष्टि होती है। संभव-

१. जै० सि० भा०, भाग १, कि० ४, पृ० ७३।
२. 'जोणिपाहुडे भणिद मंत-तंत-सत्तीओ पोग्गलाणुभागोत्ति घेतव्वो'

—षट् खं०, पु० १३, पृ० ३४९।

२. 'योनिप्राभृतं वीरात् ६०० धारसेनम्। वृहटिप्प० जै० सा० सं० भा० १।

तया पट्टासीन होनेसे पहले उन्होंने इस ग्रन्थका निर्माण किया होगा। ६१४ से ६३३ वर्ष तक वह पट्टासीन रहे। उसके पश्चात् ३० वर्ष तक पुष्पदन्त और पुष्पदन्तके पश्चात् बीस वर्ष तक भूतवली पट्टासीन रहे। धवलाके अनुसार धरसेनने अपना अन्तिम समय निकट जानकर महाकर्म प्रकृति प्राभृतके विच्छेदके भयसे दो मुनियोंको बुलवाकर उन्हें महाकर्म प्रकृति प्राभृत पढ़ाया था। और उसके पश्चात् वे दोनों मुनि पुष्पदन्त और भूतवली नामसे ख्यात हुए। उनमेंसे पुष्पदन्त तो विंशति प्ररूपणाके सूत्रोंका निर्माण करनेके पश्चात् स्वर्गवासी हुए और शेष षट्खण्डागमकी रचना भूतवलिने की। अतः वीरनिर्वाणसे ६३० वर्ष-के पश्चात् धरसेनाचार्यने उन्हें बुलवाकर महाकर्म प्रकृति प्राभृत पढ़ाया होगा। उसके पश्चात् ही षट्खण्डागमकी रचना होना संभव है। पुष्पदन्त और भूतबलिकी कालावधिको दृष्टिमें रखते हुए वीरनिर्वाण ६५० के पश्चात् षट्-खण्डागमकी उत्पत्ति हुई होगी। अतः वीरनिर्वाणकी सातवीं शताब्दीके तीसरे चरणमें षट्खण्डागमकी रचना की परिसमाप्ति होना संभव प्रतीत होता है। इसके पश्चात् ही कुन्दकुन्दका होना सम्भव है।

किन्तु धवलामें दी गई षट्खण्डागमकी उत्पत्तिकी कथासे धरसेनके पश्चात् तीस वर्ष तक पुष्पदन्तका जीवित रहना संभव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि धरसेनसे महाकर्म प्रकृति प्राभृतका अध्ययन करके वर्षा काल तो दोनों ने अंकलेश्वरमें बिताया था। उसके पश्चात् पुष्पदन्ताचार्य वनवास देशको चले गये थे और उन्होंने जिनपालितको दीक्षा देकर विंशति सूत्रोंकी रचना करके तथा उसे पढ़ाकर भूतबलीके पास भेज दिया था और जिनपालितसे उन्हें भूतबलीको यह ज्ञात हो गया था कि पुष्पदन्त अल्पायु है अतः उन्होंने तत्काल ग्रन्थ रचना कर डाली थी।

अतः वीरनिर्वाण सम्वत् ६३०के लगभग यदि भूतबली पुष्पदन्तने महाकर्म-प्रकृति प्राभृतका पढ़ा था तो षट्खण्डागमकी रचना ६५०के लगभग हो जाना ही अधिक सम्भव प्रतीत होता है।

सरस्वती गच्छकी पट्टावली भद्रबाहु द्वितीयसे शुरू होती है। यह भद्रबाहु द्वितीय वही जान पड़ते हैं जो लोहाचार्यके पूर्वज थे और नन्दिसंघकी पट्टावलीमें जिनका काल वीरनिर्वाण ४९२ से ५१५ तक बतलाया है। सरस्वती गच्छकी पट्टावलिमें इन भद्रबाहुके शिष्यका नाम गुप्तिगुप्त लिखा है तथा यह भी लिखा है कि इनका दूसरा नाम अर्हद्बलि था। और गुप्तिगुप्तके उत्तराधिकारी पट्टधरका नाम माघनन्दि लिखा है। ये अर्हद्बलि और माघनन्दि वे ही जान पड़ते हैं जिन्हें नन्दिसंघकी प्राकृत पट्टावलीमें लोहाचार्यके पश्चात् रखा है। प्राकृत पट्टावलीमें

माघनन्दिके पश्चात् धरसेन और फिर क्रमशः पुष्पदन्त और भूतबलिका नाम आया है। किन्तु सरस्वती गच्छकी पट्टावलीमें माघनन्दिके पश्चात् जिनचन्द्र और फिर कुन्दकुन्दका नाम आया है। यदि धरसेनके पूर्वज माघनन्दि और जिनचन्द्रके पूर्वज माघनन्दि एक ही व्यक्ति हैं तो कुन्दकुन्दके गुरु जिनचन्द्र धरसेनाचार्यके समकालीन होने चाहिये और तब कुन्दकुन्द भी पुष्पदन्त भूतबलि-के समकालीन ठहरते हैं।

इससे हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि षट्खण्डागमके आद्य भाग पर परिकर्म नामक ग्रन्थके रचयिता कुन्दकुन्द भूतबलि पुष्पदन्तसे अधिक समय पश्चात् नहीं हुए। अतः उनका काल वीरनिर्वाण ६५० से ७०० तक (वि०सं० १८० से २३० तक) मानना ही समुचित प्रतीत होता है।

सरस्वती गच्छकी पट्टावलीमें जो कुन्दकुन्द स्वामीका पट्टारोहण काल वि० सं० ४९में लिखा है वह कई भूलोंका परिणाम जान पड़ता है। प्रथम तो उसमें भद्रबाहु द्वितीयका पट्टारोहण काल वि०सं० ४ से २६ तक दिया है जबकि नन्दि-संघकी प्राकृत पट्टावलीके अनुसार वीरनिर्वाण ४९२ से ५१५ तक (वि०सं० २२ से ४५) होता है। यह १८ वर्षका अन्तर विक्रम संवत्की प्रवृत्तिके विषयमें मतभेदके कारण हुआ जान पड़ता है क्योंकि पट्टावलीमें वीरनिर्वाणसे ४७० वर्ष बाद विक्रमका जन्म माना है। १८ वर्षकी उम्रमें वह गद्दी पर बैठा था। अतः उसमें राज्यकालसे विक्रम संवत्की प्रवृत्ति मानकर वैसा लिखा है। पट्टावलीमें लिखा भी है—'बहुरि[1] विक्रमके राजपद मैं वर्ष चत्वारि ४ पीछै पूर्वोक्त भद्रबाहुकूँ आचार्यका पट्ट हुआ।'

इस तरह १८ वर्षका तो यह अन्तर रहा। तथा इस पट्टावलीमें गुप्तिगुप्त उपनाम अर्हद्बलिका पट्टासीन काल ९॥ वर्ष, माघनन्दिका ४॥ वर्ष माना है जबकि प्राकृत पट्टावलीमें अर्हद्बलिका २८ वर्ष और माघनन्दिका २१ वर्ष काल माना है। इस प्रकार पट्टासीन कालमें भी अन्तर होनेसे हमारे निर्धारित किये हुए कालमें और सरस्वती गच्छकी पट्टावलीके कालमें इतना अन्तर पड़ गया है। वैसे पट्टावलीसे कुन्दकुन्दके उक्त कालकां समर्थन होता है।

एक अन्य आधारसे भी उक्त कालका समर्थन होता है। विद्वद्जन बोधकमें नीचे लिखे श्लोक[2] को उमास्वामीके समय वर्णनका प्रसिद्ध श्लोक लिखा है।

श्लोक इस प्रकार है—

१. इं० एं०, जि० २१, पृ० ५७ पर प्रो० हार्नले का लेख—'Three Pattavalies of the Digambaras'।

२. र० श्रा० की प्रस्ता०, पृ० १४७।

वर्षे सप्तशते चैव सप्तत्या च विस्मृतौ ।
उमास्वामि मुनिर्जातः कुन्दकुन्दस्तथैव च ।।

इसमें बतलाया है कि उमास्वामी आचार्य वीरनिर्वाणसे ७७० वर्ष बाद हुए। अथवा ७७० वर्ष तक उनके समयकी मर्यादा है। पीछेसे 'कुन्दकुन्दस्तथैव च' लिखकर यह सूचित किया है कि कुन्दकुन्दका भी यही समय है अथवा कुन्द-कुन्द भी इसी समयके भीतर हो गये हैं।

सरस्वती गच्छकी पट्टावलीमें तो कुन्दकुन्दके अनन्तर ही उमास्वामीका आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होना लिखा है और उससे ऐसा प्रकट होता है मानों उमास्वामी कुन्दकुन्दके शिष्य थे। परन्तु श्रवणवेलगोलाके शिलालेखोंमें[1] उमा-स्वामीका कुन्दकुन्दसे ठीक बादमें उल्लेख न करके 'तदन्वये' और 'तदीयवंशे' शब्दोंके द्वारा कुन्दकुन्दका वंशज प्रकट किया है। मुख्तार सा० कहना है कि यह वंशजत्व कुछ दूरवर्ती मालूम नहीं होता। हो सकता है कि उमास्वाति कुन्दकुन्दके शिष्य न होकर प्रशिष्य रहे हों और इसीसे 'तन्वये' आदि पदोंके प्रयोगकी जरूरत पड़ी हो। इस तरह भी दोनों कितने ही अंशोंमें समकालीन हो सकते हैं और उमास्वामीके समयकी समाप्तिको प्रकारान्तरसे कुन्दकुन्दके समयकी समाप्ति भी कहा जा सकता है। शायद यही वजह हो, जो उक्त पद्यमें उमास्वातिका समय बतलाकर पीछेसे 'कुन्दकुन्दस्तथैव च' शब्दोंके द्वारा यह सूचित किया गया है कि कुन्दकुन्दका भी यही समय है।

उक्त श्लोकसे उमास्वातिका समय वि० सं० ३०० या ३०० तक जाता है। और चूंकि वे कुन्दकुन्दके ही अन्वयमें होते हुए भी दोनोंके बीचमें दीर्घकालका अन्तर नहीं था अतः कुन्दकुन्दका उक्त समय वि० सं० १८०–२३० उचित ही है। यह समय डा० उपाध्येके द्वारा अनुमापित समय (ईस्वी सन् की प्रथम दो शताब्दी) के भी अनुकूल है।

कुन्दकुन्द और यतिवृषभ—

इन्द्र नन्दिके श्रुतावतारमें यह भी लिखा है कि कषाय प्राभृत ग्रन्थ भी कुन्दकुन्दको प्राप्त हुआ था तथा उस कषाय प्राभृतमें गुणधर रचित गाथा सूत्र, यतिवृषभ रचित चूर्णिसूत्र और उच्चारणाचार्य रचित उच्चारणावृत्ति सम्मिलित

१. 'अभूदुमास्वातिमुनिश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः। तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ।।७।।–जै० शि० सं० भा० १, ले० नं० ४०, ४२, ४३, ४७, ५०।

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी। सूत्रीकृतं येन जिन-प्रणीतं शास्त्रार्थं जातं मुनिपुंगवेन ।।११।।–जै० शि० सं० भा० १, ले० नं० १०८।

थे। इससे प्रकट होता है कि कुन्दकुन्द केवल यतिवृषभके ही पश्चात् नहीं हुए किन्तु यतिवृषभके चूर्णिसूत्रों पर उच्चारणा वृत्ति रचनेवाले उच्चारणाचार्यके भी पश्चात् हुए हैं।

चूर्णिसूत्रोंके रचयिता आचार्य यतिवृषभके समयके सम्बन्धमें पहले लिखा जा चुका है। वर्तमानमें जो तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ उपलब्ध है उसके रचयिता भी यति-वृषभ ही थे। किन्तु उसमें कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी बहुत सी गाथाएँ ज्योंकी त्यों पाई जाती हैं। उसके सम्बन्धमें भी पीछे लिखा जा चुका है। वे गाथाएँ ति० प० में कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंसे ली गई हैं। चूंकि ति०प० अपने मूलरूपमें उपलब्ध नहीं है, पीछेसे उसमें मिश्रण हुआ है तथापि उसमें जो भगवान महावीरके निर्वाण काल से लेकर एक हजार वर्ष तककी राजकाल गणना पाई जाती है उससे यह स्पष्ट है कि विक्रम सम्वत्की छठी शताब्दीसे पूर्व उसकी रचना नहीं हुई। जब कि कुन्दकुन्द उससे पहले हो चुके थे, यह निश्चित है। अतः ति० प० के देखनेसे तो यतिवृषभ कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं यही निश्चित होता है। किन्तु यतिवृषभ ने कसायपाहुडका अध्ययन आर्यमंक्षु और नागहस्तीसे किया था। श्वेताम्बर पट्टा-वलीके अनुसार नागहस्तीका समय वीरनिर्वाणकी सातवीं शताब्दी है। अतः चूर्णिसूत्रकार यतिवृषभ कुन्दकुन्दके समकालीन सिद्ध होते हैं। इसलिये जहाँ तक गुणधर रचित कसायपाहुडकी कुन्दकुन्दको प्राप्ति होनेका प्रश्न है वहाँ तक तो उसमें कोई बाधा नहीं है। चूर्णिसूत्रोंकी प्राप्ति भी संभव हो सकती है, किन्तु उच्चारणा वृत्ति वाली बात तो संगत प्रतीत नहीं होती। उच्चारणाचार्यका समय यद्यपि अनिर्णीत है तथापि वह यतिवृषधके समकालीन ज्ञात नहीं होते। क्योंकि वीरसेन स्वामीने यद्यपि उच्चारणाचार्यकी वृत्तिके आधार पर ही जयधवला-टीकाकी रचना की है तथापि उन्होंने चूर्णिसूत्रोंकी तरह उच्चारणाको कषाय-प्राभृतका अंगभूत नहीं माना। अतः कुन्दकुन्दका उक्त समय यतिवृषभकी दृष्टिसे भी उचित ही प्रतीत होता है।

कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघ—

कुन्दकुन्दान्वयका सबसे प्राचीन उल्लेख मर्करासे प्राप्त ताम्रपत्र[1] (९५) में मिलता है। इसमें गंगवंशी नरेश कोगुणि प्रथमसे लेकर अविनीत तककी वंशा-वली दी गई है। और लिखा है कि अविनीत महाराजसे देसिग (देसीय) गण कोण्ड कुन्द अन्वयके गुणचन्द्र भटारके शिष्य अभयनन्दि भटार, उनके शिष्य शीलभद्र भटार, उनके शिष्य जयणन्दि भटार, उनके शिष्य गुणनन्दि भटार, उनके शिष्य चन्द्रणन्दि भटारको तलवन नगरके श्री विजय जिनालयके मन्दिरके

१. जै० शि० सं०, भा० २, पृ० ६३।

लिये बदणेगुप्पे नामका सुन्दर गाँव दानमें प्राप्त कर अकालवर्ष पृथ्वी बल्लभके मंत्रीने संवत्सर ३८८ के माघ महीनेकी शुक्ल पंचमी सोमवारको स्वातिनक्षत्रके समय इसे भेंट किया।

इस ताम्रपत्रमें संवतका नाम नहीं दिया गया है, लेखका परिचय देने वाले वर्जेस महोदयने लेखके सम्बत्को विल्सन साहबके मेकेन्जी कलेक्शनके आधार पर शक सम्वत् माना है किन्तु ज्योतिष शास्त्रके आधार पर उक्त संबत् के दिन और नक्षत्रको ठीक नहीं बतलाया। तथा कुछ ऐतिहासिक अनुपपतियां भी हैं। अतः उसे असली माननेमें[1] सन्देह किया जाता है।

किन्तु नोणमंगलसे[2] प्राप्त ताम्रपत्र (९४) में उक्त वंशपरम्पराके साथ कोंगुणिवर्मा अपर नाम अविनीतके द्वारा अपने कल्याणके लिये अपने बढ़ते हुए राज्य के प्रथम वर्षकी फाल्गुन सुदी पंचमीको, अपने उपाध्याय परमहित विजयकीर्तिकी सम्मतिसे मूलसंघके चन्द्रनन्दि आदिके द्वारा प्रतिष्ठापित उरनूरके जैनमन्दिरको दान देनेका निर्देश है। मर्कराके ताम्रपत्रमें भी अविनीतने चन्द्रनन्दि भटारको दान दिया है और उस चन्द्रनन्दिको मूलसंघका बतलाया है। किन्तु मर्कराके ताम्रपत्रमें उसे कुन्दकुन्दान्वय तथा देसियगणका बतलाया है। डा० गुलाबचन्द्रने लिखा है कि कोण्डकुन्दान्वयके साथ देशीयगणका सर्वप्रथम प्रयोग लेख नं० १५० (सन् ९३१ में) हुआ है और मर्कराके ताम्रपत्रमें अविनीतके साथ अकाल वर्षके मंत्रीका उल्लेख है। अकाल वर्ष राष्ट्रकूट नरेश था। इस परसे अनुमान किया जाता है कि मर्कराके ताम्रपत्रको उक्त राजाके कालमें पुनः लिखा गया तभी उसमें कुन्दकुन्दान्वयके साथ देशीयगणके आचार्योंके नाम लिख दिये गये हैं। किन्तु मूल ताम्रपत्र प्राचीन हैं। और उसमें कुन्दकुन्दान्वयका निर्देश भी होना संभव है। क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्य विक्रमकी दूसरी तीसरी शताब्दीमें हो गये हैं और कोण्डकुन्दपुरके निवासी होनेके कारण ही वह कुन्दकुन्दाचार्य नामसे ख्यात हुए। यद्यपि अरुङ्गलान्वय, श्रीपुरान्वय, और कित्तूरान्वयकी तरह कुन्दकुन्दान्वयका भी अर्थ कुण्डकुन्दपुरसे निकला मुनिवंश किया जा सकता है, किन्तु उत्तरकालमें कुन्दकुन्दाचार्यका प्रयोग जिस रूपमें पाया जाता है और प्रायः सभी आचार्य परम्परायें अपनेको कुन्दकुन्दान्वयी बतलाती हैं उससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कुन्दकुन्दान्वयका अर्थ आचार्य कुन्दकुन्दका अन्वय लिया गया है। और इसी अर्थमें उसका प्रयोग हुआ है। अतः मर्कराके मूल ताम्रपत्रमें यदि कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख रहा हो तो वह कोई असंगत नहीं है। हाँ

१. जै० शि० सं०, भा० ३, प्रस्ता० पृ० ४७ आदि।
२. जै० शि० सं०, भा० २, पृ० ६०।

कुन्दकुन्दान्वयके साथ देसियगण तथा उसके आचार्योंका नाम पीछेसे जोड़ दिया गया हो, यह संभव है।

मर्कराके पश्चात् शक सम्वत् ७१९ और ७२४ (वि० सं० ८५४ और ८५९) के ताम्रपत्रोंमें कुन्दकुन्दान्वयका उल्लेख मिलता है। यह वही ताम्रपत्र हैं जिनके आधार पर डा० पाठकने कुन्दकुन्दका समय शक सम्वत् ४५० के लगभग माना है।

उधर मर्करासे प्राप्त ताम्रपत्र (९४) में चन्द्रनन्दिको मूलसंघका बतलाया है। यह वही चन्द्रनन्दि हैं जिसे ताम्रपत्र (९५) में कुन्दकुन्दान्वयका बतलाया है। अतः कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघका निर्देश लगभग समकालीन मिलता है। एक ताम्रपत्रमें चन्द्रनन्दिको मूलसंघका बतलाना और दूसरेमें कुन्दकुन्दान्वय का बतलाना (जिसकी स्थिति अभी सुनिश्चित नहीं है किन्तु संभाव्य है) कुन्दकुन्दान्वय और मूलसंघको समानार्थक नहीं तो परस्परमें सम्बद्ध अवश्य प्रकट करता है।

बट्टकेराचार्य विरचित मूलाचारका उल्लेख तिलोयपण्णत्ति (८।५३२) में पाया जाता है। मूलाचारका मतलब मूलसंघका आचार होता है। अतः उसकी रचनासे पूर्व अवश्य ही मूलसंघ स्थापित हो चुका था। मूलसंघका मूल आचार मुनियोंके अट्ठाईस मूल गुण और नग्न दिगम्बरत्व है। उसीका प्रतिपादन और समर्थन सबसे प्रथम कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें मिलता है। अतः कुन्दकुन्दान्वयकी तरह यदि मूलसंघके उद्गमके प्रधान कुन्दकुन्द रहे हो तो वह कोई ऐसी बात नहीं है जिसे स्वीकार करनेमें कोई बाधा हो।

ग्रन्थ रचना—ऐसी किम्वदन्ती है कि कुन्दकुन्दाचार्यने ८४ पाहुड़ोंकी रचनाकी थी। 'पाहुड़' शब्द प्राचीन द्वादशांगसे सम्बद्ध है। बारहवें अंग दृष्टि-वादके अन्तर्गत चौदह पूर्वोंमें 'पाहुड' नामक अवान्तर अधिकार थे। जैसे 'महाकर्मप्रकृति पाहुड' अथवा 'कसायपाहुड'। इनमेंसे पहला महाकर्मप्रकृति पाहुड द्वितीय अग्रायणीय पूर्वके अन्तर्गत था उसीसे षट्खण्डागमकी उत्पत्ति हुई है। तथा दूसरा कसायपाहुड ज्ञान प्रवाह नामक पाँचवें पूर्वके अन्तर्गत दसवें वस्तु-अधिकारमें तीसरा पाहुड़ था। उसीको गुणधराचार्यने कसायपाहुडमें उपसंहृत किया।

आचार्य कुन्दकुन्दने भी अपने ग्रन्थोंका नाम 'पाहुड़ान्त' रखा है। जैसे उन्होंने अपनेको श्रुतकेवली भद्रबाहुका शिष्य घोषित करके न केवल उनके प्रति अपनी गहरी आस्थाको प्रकट किया है बल्कि इस बातको भी प्रमाणित किया है कि उन्हें गुरु परम्परासे श्रुतका जो ज्ञान प्राप्त हुआ था वह श्रुत-

केवली भद्रबाहुकी देन था। उसी तरह उन्होंने अपने ग्रन्थोंके नाम पाहुडान्त रखकर प्राचीन श्रुत परिपाटीके प्रति अपनी आस्थाको प्रकट करनेके साथ ही साथ अपने ग्रन्थोंको भी उसीका अंगभूत दर्शाया है। कुन्दकुन्दके पश्चात् रचे गये ग्रन्थोंमें पाहुडान्त नाम क्वचित् ही पाया जाता है। कसायपाहुड[1] पर चूर्णि-सूत्रोंके रचयिता आचार्य यतिवृषभने 'जह्मा पदेहि पुदं (फुडं) तह्मा पाहुडं' ऐसी पाहुड शब्दकी निरुक्ति की है। अर्थात् पदोंसे स्फुट है—व्यक्त है इसलिये उसे पाहुड़ कहते हैं। 'पाहुड़' प्राकृत शब्द है उसका संस्कृत रूप प्राभृत' होता है। कसायपाहुड़की जयधवला टीकाके रचयिता वीरसेन स्वामीने प्राभृत शब्दकी निरुक्ति इस प्रकारकी है—'प्रकृष्ट[2] अर्थात् तीर्थङ्करोंके द्वारा जो आभृत् अर्थात् प्रस्थापित किया गया है वह प्राभृत है। अथवा जिनका विद्या ही धन है ऐसे प्रकृष्ट आचार्योंके द्वारा जो धारण किया गया है अथवा व्याख्यान किया गया है, अथवा परंपरा रूपसे लाया गया है वह प्राभृत है। प्राभृत शब्दकी ये निरुक्तियाँ कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंमें सुघटित होती हैं। उन्होंने जो कुछ कहा है वह तीर्थङ्करोंके द्वारा प्रस्थापित किया गया है, तथा श्रुतकेवली भद्रबाहु जैसे आचार्योंके द्वारा धारण किया गया और लाया गया है। तथा कुन्दकुन्द जैसे महान् आचार्यके द्वारा व्याख्यान किया गया है। अतः उनके ग्रन्थोंका पाहुडान्त नाम यथार्थ है।

दर्शनप्राभृत, चारित्रप्राभृत, सूत्रप्राभृत, बोधप्राभृत, भावप्राभृत, मोक्षप्राभृत, लिंगप्राभृत, शीलप्राभृत, रयणसार, बारह अणुवेक्खा, समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और नियमसार, अभी तक कुन्दकुन्द स्वामीके द्वारा रचित इतने ही ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके सिवाय जो अन्य ग्रन्थ कुन्दकुन्द रचित कहे जाते हैं किन्तु अनुपलब्ध हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. आचारपाहुड[3], २. आलाप-पाहुड, ३. अंग (सार) पाहुड, ४. आराधना (सार) पाहुड, ५. बंध (सार) पाहुड, ६. बुद्धि या बोधि पाहुड, ७. चारणपाहुड, ८. चूलिपाहुड, ९. चूर्णि-पाहुड, १०. दिव्वपाहुड, ११. द्रव्य (सार) पाहुड, १२. दृष्टिपाहुड, १३. इयन्त-पाहुड, १४. जीवपाहुड, १५. जोणि (सार) पाहुड, १६. कर्मविपाकपाहुड, १७.

१. क० पा०, भाग १, पृ० ३२६।
२. 'प्रकृष्टेन तीर्थकरेण आभृतं प्रस्थापितं इति प्राभृतम्। प्रकृष्टैराचार्यैर्विद्यावित्तवद्भिराभृतं धारितं व्याख्यानमानीतमिति वा प्राभृतम्।'—क० पा०, भा० १, पृ० ३२५।
३. प्रवचनसारकी डा० उपाध्ये लिखित अंग्रेजी प्रस्तावनासे यह सूची दी गई है। इनमें अनेक नाम कल्पित प्रतीत होते हैं।

कर्मपाहुड, १८. क्रियासारपाहुड, १९. क्षपणा (सार) पाहुड, २० लब्धि (सार) पाहुड, २१. लोयपाहुड, २२. नयपाहुड, २३. नित्यपाहुड, २४. नोकम्मपाहुड, २५. पंचवर्गपाहुड, २६. पयड्ढपाहुड, २७. पयपाहुड, २८. प्रकृतिपाहुड, २९. प्रमाणपाहुड, ३०. सलमीपाहुड, ३१. संथानपाहुड, ३२. समवायपाहुड, ३३. षट्दर्शनपाहुड, ३४. सिद्धान्तपाहुड, ३५. सिक्खापाहुड, ३६. स्थानपाहुड, ३७. तत्त्व (सार) पाहुड, ३८. तोयपाहुड, ३९. ओघातपाहुड (?), ४०. उत्पादपाहुड, ४१. विद्यापाहुड, ४२. वस्तुपाहुड, ४३. विहिय या विहयपाहुड ।

उद्देश्य तथा शैली—आचार प्रधान जैन परम्परामें अंगज्ञानके उत्तराधिकारी श्रमण ही होते थे । संसारसे विरक्त श्रमण रात-दिन ध्यान और अध्ययनमें ही तल्लीन रहते थे । उनमें ज्ञानके अर्जन तथा संरक्षणकी प्रवृत्तिका वाहुल्य था । वैदिक परम्परामें जो कार्य ब्राह्मणों का था वही कार्य जैन परम्परामें श्रमणों का था । आत्मार्थी मुमुक्षु श्रमण शास्त्राभ्यासके द्वारा एक ओर आत्मकल्याण करते थे और दूसरी ओर श्रुतकी रक्षा करते थे । उन्हींके द्वारा श्रावक और श्राविकाओंको भी आचार और विचार विषयक बोध प्राप्त होता था । कुन्दकुन्दाचार्यने अपने ग्रन्थोंकी रचना प्रधान रूपसे श्रमणोंको लक्ष्यमें रखकर उन्हींके उद्देशसे की है । उनके द्वारा रचित पाहुड श्रमणाचार विषयक शिक्षासे ओतप्रोत हैं । श्रमणोंके सम्बन्धमें कुन्दकुन्दने जितना लिखा है और जितना खुलकर प्रमादी श्रमणोंकी आलोचना की है, किसी दूसरे ग्रन्थकारने न उतना लिखा है और न उतनी खुलकर आलोचना की है । सुत्तपाहुड, भावपाहुड, और मोक्खपाहुड तो उसीसे भरे हैं । समयसार और प्रवचन सार भी श्रमणोंको तत्त्व ज्ञानका बोध करानेके लिये ही रचे गये हैं ।

कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी शैली सरल और स्पष्ट है उसमें दुरूह जैसी बात नहीं है । उन्होंने जो कुछ कहा है बहुत सीधे सादे शब्दोंमें कहा है । जैन अध्यात्म का मुकुटमणि समयसार उसका प्रत्यक्ष उदाहरण है । अध्यात्म जैसे विषयका प्रतिपादन विविध दृष्टान्तोंके द्वारा इतनी सुगम रीतिसे किया गया है कि मोटीसे मोटी बुद्धि वाला भी उसे आसानीसे समझ सकता है । वह माताके दूधकी तरह सुपाच्य और अविकारी है । उसके अवलोकनसे आचार्य कुन्दकुन्दकी अगाध विद्वत्ता किन्तु सुगम प्रतिपादन शैलीका स्पष्ट परिचय मिलता है । प्रवचनसारका वस्तु निरूपण अवश्य ही तर्क प्रधान शैलीको लिये हुए है । किन्तु फिर भी दुरूह नहीं है । जहाँ समयसारसे उनके सांख्य दर्शन और उपनिषद् विषयक पाण्डित्यका पता चलता है वहाँ प्रवचनसारसे ज्ञात होता है कि कुन्दकुन्द न्याय-वैशेषिक दर्शनके भी पण्डित थे । और

बौद्धोंके विज्ञानाद्वैतवाद तथा शून्यवाद भी उनसे अज्ञात नहीं थे। इस स्व-पर समयज्ञताके कारण ही वे जैन तत्त्व ज्ञानका परिमित शब्दोंके द्वारा परिमार्जित शैलीमें निरूपण कर सके और उनका वही निरूपण आगेके लिये आधार शिला बना।

भाषा—डा० ए० एन० उपाध्येने प्रवचनसारकी अपनी प्रस्तावना[1]के अन्तमें प्रवचनसारकी भाषाके सम्बन्धमें विस्तारसे विचार किया है और विभिन्न मतोंकी समीक्षा भी की है।

कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंकी तरह प्रवचनसारकी भाषा भी प्राकृत है। किन्तु उसमें श्वेताम्बर आगमोंकी अर्ध मागधी भाषाके बहुतसे रूप पाये जाते हैं, और संस्कृतका भी गहरा प्रभाव है, साथ ही उसका पालनपोषण सौरसेनीकी पृष्ठ भूमिमें हुआ है। इससे पिशलने उसे 'जैन सौरसेनी' नाम दिया है। डा० जेकोबी ने श्वेताम्बरोंके आगमोत्तर कालीन साहित्यकी प्राकृतको, जो अर्धमागधी और महाराष्ट्रीका मिश्रित रूप है, जैन महाराष्ट्री कहा है। पिशलका उक्त नाम-करण इससे पूर्णतया मेल खाता है। किन्तु कुछ जर्मन विद्वान 'जैन सौरसेनी' नामसे सहमत नहीं हैं। १९२८में डा० शुब्रिंगने देहलीमें जो भाषण दिया था उसमें उन्होंने अपने एक शिष्यकी 'मूलाचार' तथा अन्य प्रमुख दिगम्बर ग्रन्थोंके सम्बन्धमेंकी गई खोजोंका हवाला देते हुए अन्तमें कहा था कि भविष्य बतलायेगा कि पिशलके द्वारा प्रस्तावित जैन सौरसेनी नाम कहाँ तक उचित है। 'डा० शुब्रिंगके एक शिष्य डा० वाल्टर डेनेक (Denocke) ने १९२२में 'दिगम्बर टेक्सटस्' शीर्षकसे एक महा निबन्ध लिखा था। उसमें डा० डेनेकने वट्टकेरके मूलाचार, कुमारकी कार्तिकेयानुप्रेक्षा तथा कुन्दकुन्दके छप्पाहुड (षट् प्राभृत), समयसार और पञ्चास्तिकाय आदि दिगम्बरीय प्राकृत ग्रन्थोंकी भाषाके सम्बन्धमें चर्चा की है। उनकी चर्चाका एक मात्र विषय इन ग्रन्थोंकी भाषा है। और उसमें उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं वे अधिकतर षट् प्राभृतसे लिये गये हैं। उन्होंने लिखा है कि इन ग्रन्थोंकी भाषा अर्धमागधी, जैन महाराष्ट्री और शौर-सेनीसे प्रभावित है। उन्होंने जो उदाहरण दिये हैं उनमेंसे कुछ उदाहरणोंसे वह संस्कृतके प्रभावको भी स्वीकार करने में आगा पीछा नहीं कर सकेंगे। उन्होंने छप्पाहुड तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षासे कुछ अपभ्रंश रूप दिये हैं, किन्तु प्रवचनसारसे उन्होंने एक भी अपभ्रंश शब्दका उदाहरण नहीं दिया। डा० उपाध्येके मतानुसार अकेले कुन्दकुन्दके छप्पाहुडमें अपभ्रंश शब्दोंका अधिक रूपमें पाये जानेका कारण यह है कि छप्पाहुड़ सरल हैं अतः उसका पठन पाठन

१. पृ० १२१–१२३।

अधिक होता आया है, प्राचीन समयमें उनके पढ़नेके लिये टीकाएँ भी आवश्यक नहीं थीं। छप्पाहुड़ पर सम्भवतया एक ही टीका लिखी गई है, जो उपलब्ध है और जिसके रचयिता श्रुतसागर (वि० १६वीं शती) हैं। इसी लिये छप्पाहुडमें यत्र तत्र अपभ्रंश शब्द पाये जाये जाते हैं। अतः डा० उपाध्येने दिगम्बर ग्रन्थोंकी प्राकृत भाषाके लिये पिशलके द्वारा सुझाए गये नामको बिल्कुल उपयुक्त माना है और केवल परिवर्तनके लिये उसमें कुछ परिवर्तन करना अनावश्यक बतलाया है।

अध्यात्मवादका उद्गम और प्रसार

पहले लिख आएँ हैं आचार्य कुन्दकुन्द जैन अध्यात्म और जैन तत्त्वज्ञान दोनों के ही पुरस्कर्ता हैं। और यद्यपि ये दोनों ही विषय द्रव्यानुयोगके अन्तर्गत आते हैं। किन्तु दोनों के दृष्टिकोणमें भेद होनेसे यहाँ दोनोंका पृथक्-पृथक् कथन किया जाता है। सबसे प्रथम अध्यात्मको लेते हैं।

आत्माको आधार मानकर जो चिन्तन और आचरण किया जाता है उसे अध्यात्म कहते हैं। आज भारतीय धर्मोंकी ऐसी कोई भी परम्परा उपलब्ध नहीं है जिसमें आत्माको एक या दूसरे नामसे स्वीकार न किया गया हो। वेद जैसे प्राचीनतम साहित्यमें आध्यात्मिक जिज्ञासा और शोधके सूचक उद्गार मिलते हैं प्राचीन उपनिषदोंमें तो आध्यात्मिक जिज्ञासा और विचारणा विविधरूपोंमें मिलती है। पूर्व पीठिकामें उसपर विस्तारसे प्रकाश डाला जा चुका है यहाँ उसका आभास दिया जाता है।

कठ उपनिषदमें नचिकेता और यममें संवादके द्वारा आत्माका क्या स्वरूप है, क्या वह मृत्युके बाद जीवित रहता है? यदि जीवित रहता है तो कहाँ चला जाता है, इत्यादि प्रश्नों पर प्रकाश डाला गया है। आरूणि उद्दालक ऋषिके पुत्र नचिकेता नामक बालकने यमराजके द्वारा प्रदत्त तीसरे वरकी याचना करते हुए कहा—

> येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके।
> एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥२०॥

'भगवान्' मृत मनुष्यके सम्बन्धमें यह एक बड़ा सन्देह फैला हुआ है। कुछ लोग तो कहते हैं कि मृत्युके बाद भी आत्माका अस्तित्व रहता है और कुछ लोग कहते हैं, नहीं रहता। इस विषयमें आप अपना अनुभव बतलाईये'।

यमराजने बालक नचिकेताको लौकिक अभ्युदयोंका प्रलोभन देकर उसे आत्म-विषयक जिज्ञासासे विरत करना चाहा किन्तु नचिकेता किसी प्रलोभनमें नहीं

आया। तब यमराजको उसकी जिज्ञासा शान्त करनी पड़ी। 'न तो यह आत्मा जन्म लेता है और न मरता है। न यह किसीसे उत्पन्न होता है और न किसीको उत्पन्न करता है। यह नित्य और शाश्वत है। शरीरका नाश होनेपर भी उसका नाश नहीं होता। तथा—'यह आत्मा न तो प्रवचनसे, न बुद्धिसे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है। जो इसके पीछे पड़ जाता है वही उसे प्राप्त कर सकता है।' अन्तमें यमराज आत्माका स्वरूप इस प्रकार बतलाते हैं—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात् प्रमुच्यते ॥१५॥

'यह आत्मा शब्द रहित है, स्पर्श रहित हैं, रूप रहित है, रस रहित है, गन्ध रहित है, नित्य, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। उसे जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे छुटकारा पा जाता है'।

छान्दोग्य उपनिषद प्राचीनतम उपनिषदोंमें माना जाता है। इसमें भी आत्म-जिज्ञासा विषयक अनेक संवाद हैं। जिनसे प्रकट होता है कि उस समय तक वैदिक ऋषि आत्माको नहीं जानते थे। और उसके जाननेके लिये वे क्षत्रियोंके पास जाते थे।

तृतीय खण्डमें लिखा है कि आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु पञ्चालदेशीय जनोंकी सभामें गया। उससे जीवलके पुत्र प्रवाहणने कहा—कुमार! क्या पिताने तुझे शिक्षा दी है। उसने कहा—हाँ, भगवन्। क्या तुझे मालूम है कि इस लोकसे जानेपर प्रजा कहाँ जाती है? नहीं, भगवन्! क्या तू जानता है कि वह फिर इस लोकमें कैसे आती है। नहीं भगवन्!

इस तरह पाँच प्रश्नोंका उत्तर श्वेतकेतुने नहीं में दिया। तब प्रवाहणने उसे फटकारते हुए कहा—तो फिर ऐसा क्यों कहता हैं कि मुझे शिक्षा दी गई है। जो इन बातोंको नहीं जानता वह अपनेको शिक्षित कैसे कह सकता है?

तब बेचारा श्वेतकेतु अपने पिताके पास आया। पिताने सब बातें सुनकर कहा—इन प्रश्नोंका उत्तर तो मैं भी नहीं जानता। तब उसका पिता राजा जैवलिके पास गया और कहा कि आपने मेरे पुत्रके प्रति जो बात प्रश्न रूपसे कही थी वहीं मुझे बतलाइये। तब राजाने ऋषिसे कहा—गौतम, पूर्वकालमें तुमसे पहले यह विद्या ब्राह्मणोंके पास नहीं गई। इसीसे सम्पूर्ण लोकोंमें इस विद्याके द्वारा क्षत्रियोंका ही अनुशासन होता रहा है।

दूसरी उल्लेखनीय बात यह है कि आत्मविद्याके सामने वेदविद्याका महत्त्व उस समय मर चला था। सप्तम अध्यायमें लिखा है कि नारद जी सनत्कुमारजी के पास गये और बोले—मुझे उपदेश दीजिये। सनत्कुमार जीने कहा—तुम क्या

जानते हो सो बतलाओ। नारद जी बोले—भगवन्! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ। इनके सिवाय इतिहास पुराणरूप पांचवा वेद, व्याकरण, गणित, निधिशास्त्र, तर्क शास्त्र, नीति, देवविद्या ब्रह्मविद्या आदि सब जानता हूँ। किन्तु मैं केवल मन्त्रवेत्ता हूँ आत्मवेत्ता नहीं हूँ। मैंने सुना है कि आत्मवेत्ता शोकको पारकर लेता है परन्तु मैं शोक करता हूँ। मुझे शोकसे पारकर दीजिये। तब सनत्कुमार जीने कहा—तुम जो कुछ जानते हो वह केवल नाम है। तब नारदने पूछा—भगवन् क्या नामसे भी अधिक कुछ है। नारद जी इस तरह पूछते गये और सनत्कुमार जी उत्तर देते गये। अन्तमें जाकर सनत्कुमारजी-ने कहा—आत्मदर्शनसे ही सबकी प्राप्ति हो जाती है।

इस तरह मंत्रवेत्ता ब्रह्मर्षियोंका ज्यों-ज्यों आकर्षण राजर्षियोंकी आत्मविद्या-की ओर बढ़ता गया त्यों-त्यों उनकी यज्ञोंके प्रति अरुचि भी बढ़ती गई। इसका उदाहरण मुण्डकोपनिषद्[1]में देखनेको मिलता है। उसमें यज्ञरूप अट्ठारह नौकाओं-को अदृढ़ बतलाते हुए कहा है कि 'उनके द्वारा संसार समुद्रसे पार होना तो दूर रहा, इस लोकके वर्तमान दुःखरूप छोटी-सी नदीको पार करके स्वर्ग तक पहुँचनेमें भी सन्देह है। जो मूर्ख लोग उन्हें ही कल्याणका मार्ग समझ कर उनकी प्रशंसा करते हैं वे वारम्बार, जरामरणको प्राप्त होते हैं।'

इसीसे उपनिषदोंको वेदान्त भी कहते हैं। उन्होंने एक तरहसे वेदोंका अन्त कर दिया था। उपनिषदोंमें वर्णित अध्यात्मवादको उपनिषदों जितना ही प्राचीन समझ लेना भ्रान्त है उसका स्रोत सुदूरवर्ती भूतकालमेंसे बहता आया है। सिन्धु घाटीसे प्राप्त अवशेष इस बातके साक्षी हैं कि उस समय योगका प्रचार था। योगका अध्यात्मसे सम्बन्ध है। जैनोंकी मान्यताके अनुसार, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव योग और अध्यात्मके जनक थे। उपनिषदोंके कालमें वारा-णसीमें तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ भी योगी थे और उनसे २५० वर्ष बाद हुए भगवान् महावीर ने तो १२ वर्षों तक कठोर तपश्चर्या की थी। ये सब क्षत्रिय थे और उन्हें क्षत्रियोंकी आत्मविद्या उत्तराधिकारके रूपमें प्राप्त हुई थी। जैन शास्त्रों[2]

१. 'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभि-वन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यान्ति ॥७॥—मुण्डको०।

२ 'बम्हणेण गोदमगोत्तेण सयलदुस्सुदिपारएण जीवाजीवविसयसंदेहविणासणट्ठ-मुवगमवड्ढमाण-पादमूलेण इदंभूदिणावहारिदो। उत्तं च—गोत्तेण गोदमो विप्पो चाउव्वेयसडंगवि। णामेण इदंभूदित्ति सीलवं बम्हणुत्तमो ॥—षट्खं०, पु० १, पृ० ६४-६५।

के अनुसार भगवान् महावीर के प्रधान शिष्य इन्द्रभूति गौतम वेद-वेदांगमें पारंगत थे किन्तु उन्हें जीवके विषयमें सन्देह था और उसी सन्देहको दूर करनेके लिए वह भगवान् महावीरके समीप गये और उनके शिष्य बन गये।

आवश्यक निर्युक्तिमें भगवान् महावीरके ग्यारह गणधरोंके द्वारा भगवान् महावीरके पास जाकर अपनी शंका निवृत्ति करके उनके शिष्य बननेका कथन विस्तारसे किया है। उन गणधरोंके मनमें जिन विषयोंको लेकर शंकाएँ थीं वे इस प्रकार हैं—

१. जीव[1], २. कर्म, ३. जीव और शरीरका ऐक्य, ४. भूत, ५. इस भव और परभवका सादृश्य, ६. बन्ध और मोक्ष, ७. देव, ८. नारकी, ९. पुण्य और पाप, १०. परलोक और ११. निर्वाण।

भगवान् महावीरने इन सभी शंकाओंका समाधान किया। ये सभी विषय अध्यात्मसे सम्बद्ध है। जीव अथवा अथवा आत्माको शरीर और भूतोंसे भिन्न एक स्वयं सिद्ध अविनाशी तत्त्व मान लेने पर उसका कर्मसे सम्वन्ध और उससे छुटकारेका प्रश्न उपस्थित होना स्वाभाविक है। उसीके साथ शेष बातें भी सम्बद्ध हैं। अतः तात्त्विक जैन ग्रन्थोंमें जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, सँवर, निर्जरा, मोक्ष तथा पुण्य और पाप इन नौ पदार्थोंके श्रद्धान और ज्ञानको ही सम्यग्दर्शन और सम्यक्ज्ञान कहा है और उन्हें तत्त्वार्थ संज्ञा भी दी हैं। अर्थात् ये ही तत्त्वभूत अर्थ हैं जिनको जानना मोक्षार्थीके लिये आवश्यक है। जो इन्हें नहीं जानता वह सारभूत वस्तु तत्त्वको नहीं जानता।

इन नौ पदार्थोंके मूलमें दो ही तत्त्व हैं—एक जीव और एक अजीव। इन दोनोंके मिलन और छुटकारेको लेकर ही शेष तत्त्व उत्पन्न हुए।

नौ पदार्थोंका विवेचन

जैन दर्शनमें मूलतत्त्व दो ही माने गये हैं—एक जीव और एक अजीव। जीव चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य अथवा चेतनाके दो प्रकार हैं—ज्ञान और दर्शन। अतः ज्ञानदर्शन स्वरूप चैतन्यमय जीव है। वह जीव अथवा आत्मा अपने शरीर प्रमाण है। जिस शरीरमें वह बसता है उसीमें व्याप्त होकर रहता है। तथा वह कर्मोंका कर्ता भी है और उनके फलका भोक्ता भी है। यद्यपि वह अमूर्तिक है किन्तु जड़ कर्मोंसे संसार अवस्थामें संयुक्त होनेसे मूर्तिक कहा जाता है।

१. 'जीवे कम्मे तज्जीव, भूअ, तारिसय बंध मुक्खे य।
देवा नेरइया वा पुन्ने परलोअ निव्वाये ॥५९६॥—आ० नि०।

अजीवके पाँच भेद हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमेंसे पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है शेष अमूर्तिक हैं। संसार अवस्थामें जीव जिन जड़ कर्मोंसे बँधा है वे पौद्गलिक हैं।

संसारी जीवकी मानसिक, वाचनिक और कायिक क्रियासे आकृष्ट होकर पौद्गलिक कर्मोंका जो जीवमें आगमन होता है उसे आस्रव कहते हैं। और जीवके काग-द्वेष रूप परिणामोंका निमित्त पाकर जीवसे कर्मोंका बन्ध होनेको बन्घ कहते हैं। व्रत संयम आदिके द्वारा नवीन कर्मबन्धके रोकनेको सँवर कहते हैं। और पूर्वबद्ध कर्मोंके एक देश क्षयको निर्जरा कहते हैं। शुभ कर्मोंको पुण्य और अशुभ कर्मोंको पाप कहते हैं। संक्षेपमें नौ पदार्थोंका यह स्वरूप है।

आचार्य कुन्दकुन्दने इन नौ पदार्थोंके स्वरूपका विवेचन दो प्रकारसे किया है। एक प्रकारका नाम निश्चयनय है और एक प्रकारका नाम व्यवहार है। यौ तो द्रव्यानुयोग विषयक प्रायः सभी जैन ग्रन्थोमें उक्त तत्त्वोंका विवेचन थोड़ा बहुत पाया जाता है किन्तु वह सारा विवेचन व्यवहार मूलक है। निश्चय-नय मूलक विवेचन केवल आचार्य कुन्दकुन्दने अपने समय पाहुडमें किया है। अन्य किसी जैन ग्रन्थमें वह विवेचन नहीं मिलता। अतः समयपाहुड जैन अध्यात्म-का एकमात्र मौलिक ग्रन्थ है।

समयपाहुड या समयसार—आचार्य कुन्दकुन्दने प्रथम और अन्तिम गाथा-में अपनी इस कृतिको समयपाहुड नाम दिया है किन्तु यह समयसारके नामसे ख्यात है। इसका कारण यह है कि समयप्राभृतके टीकाकार श्री अमृतचन्द्रसूरि[1]-तथा श्री जयसेनाचार्य[2]ने अपनी टीकाके प्रारम्भिक पद्यमें समयसार नामसे ही इसे अभिहित किया है।

समय

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने पञ्चास्तिकाय[3] (गा० ३)में लिखा है कि 'जिनेन्द्रदेवने पाँच अस्तिकायोंके (जीव, पुद्गल, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य और आकाश) समवायको समय कहा है। उसीको लोक कहते हैं।' और समयपाहुड[4]

१. 'भवतु समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः' ॥३॥

२. 'वक्ष्ये समयसारस्य वृत्तिं तात्पर्यसंज्ञिकाम् ॥१॥'

३. 'समवाओ पंचण्हं समउत्ति जिणुत्तमेहिं पण्णत्तं।
सो चेव हवदि लोओ तत्तो अमिओ अलोओ खं॥३॥'—पञ्चास्ति०।

४. जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिद तं हि ससमयं जाण।
पुग्गलकम्मुवदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं॥२॥—स० प्रा०।

में समयके दो भेद किये हैं—स्वसमय और परसमय। जो जीव सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप आत्मस्वभावमें स्थित है वह स्वसमय है और जो जीव पौद्गलिक कर्मजन्य भावोंमें स्थित है वह परसमय है। इस तरह जीव अथवा आत्माको ही समय कहा है। इस गाथाकी टीकामें अमृतचन्द्रसूरिने 'सम्' उपसर्ग पूर्वक अय् धातुसे 'समय' शब्दकी निष्पत्ति की है। 'सम्' अर्थात् एक-रूपसे 'अयति' (सबको एक साथ) जानता है वह समय अर्थात् जीव या आत्मा है।

पञ्चास्तिकायमें पाँचों द्रव्योंके समवायको समय कहा है और समयसारमें आत्माको ही समय कहा है। क्योंकि पञ्चास्तिकायमें मुख्य रूपसे पाँचों द्रव्यों-का कथन है और समयसारमें केवल जीवतत्त्वका ही मुख्य रूपसे कथन है।

इससे यह फलित होता है कि प्रत्येक द्रव्य 'समय' पद वाच्य है जैसा कि अमृतचन्द्राचार्यने समयसार (गा० ३)की टीकामें लिखा है। उन्होंने लिखा है कि यहाँ 'समय' शब्दसे सभी पदार्थ कहे गये हैं। क्योंकि सभी द्रव्य 'सम्' एक रूपसे अपने गुणपर्यायोंको 'अयति' प्राप्त करते हैं। इस व्युत्पत्तिके अनुसार पञ्चास्तिकायमें जो समय शब्दका अर्थ किया है वह भी ठीक घटित हो जाता है और समयसारमें जो समयका अर्थ जीव किया है वह भी घटित होता है।

किन्तु समय शब्दका यह अर्थ जो कुन्दकुन्दाचार्यने किया है, अन्यत्र दृष्टि-गोचर नहीं होता। इतर मतोंकी तो बात ही क्या, श्वेताम्बर साहित्यमें भी यह अर्थ नहीं पाया जाता। अनुयोगद्वार सूत्रमें तथा यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्रमें वक्तव्यताके तीन भेद किये हैं—स्वसमय वक्तव्यता, परसमय वक्तव्यता, और तदुभय वक्तव्यता। यहाँ स्वसमयका अर्थ स्वमत और परसमयका अर्थ परमत ही है। सिद्धसेन दिवाकरने अपने सन्मति तर्कमें भी समयके स्वसमय और परसमय भेद किये हैं। किन्तु यहाँ भी उसका अर्थ स्वमत और परमत या जैन-सिद्धांत और इतरसिद्धांत ही है। अतः समयका अर्थ आत्मा कुन्दकुन्दाचार्यने ही किया है उसी समयका कथन समयसार में है।

उस समय अथवा आत्माके दो रूप हैं—एक शुद्ध रूप और एक अशुद्ध रूप। अपने शुद्ध गुणपर्याय रूप परिणत शुद्ध आत्मा स्वसमय है और पौद्गलिक कर्म-बन्धनसे बद्ध अशुद्ध पर्याय रूप परिणत आत्मा परसमय है।

कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारमें स्वसमय रूप आत्माका प्रधान रूपसे कथन किया है। वह कहते हैं कि पर सम्बन्धसे रहित स्व स्वरूपमें स्थित आत्मा लोकमें सर्वत्र सुन्दर प्रतीत होता है। अतः उसके बन्धकी कथा कहनेसे विसंवाद उत्पन्न हो सकता है। किन्तु काम भोग और बन्धकी कथा तो लोगोंको श्रुत (सुनी-

हुई), परिचित और अनुभूत है। किन्तु काम क्रोध, मोह, राग द्वेष आदि भावोंसे और मनुष्य देव आदि पर्यायोंसे रहित आत्माकी बात तो लोगोंने न सुनी, न जानी है। तब अनुभवकी तो बात ही दूर है। अतः आचार्य कुन्दकुन्दने अपनी शक्ति और अनुभवके आधार पर आत्माके शुद्ध स्वरूप का कथन करनेकी प्रतिज्ञा समयसारके प्रारम्भमें की है।

व्यवहारनय और निश्चयनय—ग्रन्थका आरम्भ करते हुए आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है—'व्यवहारनयसे ज्ञानी (आत्मा) के चारित्र, दर्शन और ज्ञान कहे जाते हैं। (किन्तु शुद्धनयसे) न ज्ञान है, न चारित्र है और न दर्शन है, आत्मा केवल शुद्ध ज्ञायक है ॥७॥' आगे कहा है—'जो आत्माको अबद्ध, अस्पृष्ट, अनन्य, नियत, अविशिष्ट और असंयुक्त देखता है वह शुद्धनय है' ॥१४॥ इसका मतलब यह हुआ कि जो नय आत्माको बद्ध, स्पृष्ट, अनियत, गुणोंसे विशिष्ट और कर्मोंसे संयुक्त देखता है वह व्यवहारनय है। चूंकि व्यवहारनय आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं देखता—पर जन्य बद्ध स्पष्ट आदि दशाको ही देखता है इसलिये अशुद्ध रूपका ग्राही होनेसे उसे अशुद्धनय भी कहते हैं, और शूद्ध रूपका ग्राही होनेसे निश्चयनयको शुद्धनय भी कहते हैं।

किन्तु आत्मामें ज्ञान दर्शन आदि गुण हैं यह कथन तो आत्माके ही स्वाभाविक गुणोंको कहता है। इसे व्यवहारनयका विषय क्यों बतलाया? यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्यने द्रव्यको गुण-पर्यायात्मक कहा है और यह भी कहा है कि द्रव्यके बिना गुण नहीं और गुणोंके बिना द्रव्य नहीं। किन्तु वस्तु रूपसे दोनोंकी सत्ता वैशेषिकमतकी तरह पृथक् नहीं है। वस्तु वास्तवमें अखण्ड और अभिन्न है। अतः आत्मामें ज्ञानादिक गुण हैं ऐसा कहनेसे सुनने वालेको अखण्ड वस्तुकी प्रतीति खण्ड रूपसे होती है। इस लिये यह भेद कथन व्यवहारनयका विषय है।

प्रमाणके भेदरूपसे नय दृष्टिका प्रतिपादन जैनदर्शनकी अपनी निजी विशेषता है और उसका उद्गम अनेकान्तवादमें से हुआ है। वस्तुको अनन्त धर्मोंका अखण्ड पिण्ड मानने वाले अनेकान्तवादी जैन दर्शनके पुरस्कर्ताओंने अनन्त धर्मा वस्तु तत्त्वके एक एक धर्मको ही पूर्ण वस्तु मानने वाले विभिन्न दृष्टि कोणोंका समन्वय करते हुए एक धर्मके ग्राही ज्ञानको नय[1] कहा है। किन्तु वह ज्ञान तभी सुनय है जब वह उसी वस्तुमें वर्तमान अन्य धर्मोंके प्रति सापेक्ष भाव

१. 'अर्थस्यानेकरूपस्य धीः प्रमाणं, तदंशधीः।
नयो धर्मान्तरापेक्षी दुर्णयस्तन्निराकृतिः।'—अष्टश० अष्टस० पृ० २९।

रखता है। यदि वह उसी एकांशको पूर्ण वस्तु मान बैठता है तो वह दुर्नय है। नयके मूलभेद दो हैं—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक। दार्शनिक ग्रन्थोंमें इन्हींके भेद-प्रभेदोंका निरूपण मिलता है।

आचार्य कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसार (२।२२) में द्रव्यार्थिकनयसे सब द्रव्योंको अवस्थित और पर्यायार्थिकनयसे अनवस्थित कहा है। इस तरहसे उन्होंने नयके दोनों मूल भेदोंका निर्देश किया है। इन दोनोंके प्रभेदोंका कोई उल्लेख उन्होंने नहीं किया।

तत्त्वार्थसूत्रमें (१–३३) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेदोंका तो कोई निर्देश नहीं है उनके नैगमादि भेदोंका निर्देश है। सिद्धसेनके सन्मतितर्कमें (१ काण्ड) द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक तथा उनके भेदोंका कथन है। इस तरह जिन जैन ग्रन्थकारोंने नयोंका कथन किया है उन्होंने द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक के भेदोंका ही कथन किया है।

निश्चय और व्यवहारनयका कथन प्रायः अध्यात्म विषयक ग्रन्थोंमें विशेष रूपसे मिलता है। इसी लिये देवसेनाचार्यने अपनी आलापपद्धतिमें द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिकनयोंका कथन करके निश्चयनय और व्यवहारनयके भेद प्रभेदोंका कथन करनेसे पूर्व लिखा[1] है कि 'अब अध्यात्म भाषाके द्वारा नयोंका कथन किया जाता है।'

कुन्दकुन्दाचार्यने जैसे द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकके भेदोंका कोई निर्देश नहीं किया, वैसे ही निश्चयनय अथवा शुद्धनय और व्यवहारनयके भेद-प्रभेदोंका भी उन्होंने कोई निर्देश नहीं किया। निश्चय और व्यवहारके भेद-प्रभेदोंकी रचना उत्तरकालमें हुई प्रतीत होती है।

निश्चय भूतार्थ, व्यवहार अभूतार्थ—

कुन्दकुन्द स्वामीने समयसारमें कहा है—'व्यवहार नय अभूतार्थ है और शुद्धनय भूतार्थ है। भूतार्थका अवलम्बन करने वाला जीव सम्यग्दृष्टि होता है।

औपनिषद दर्शनमें तथा बौद्धोंके विज्ञानवाद और शून्यवादमें वस्तुओंका निरूपण दो दृष्टियोंसे किया गया है। उनमेंसे एकका नाम परमार्थ दृष्टि है और दूसरीका नाम व्यवहार दृष्टि या सांवृतिक दृष्टि है। पहली दृष्टि परमार्थ सत् है क्योंकि वह उस दर्शनके द्वारा अभिमत परमार्थ वस्तु स्वरूपको बतलाती है। और दूसरी दृष्टि उससे विपरीत है वह वस्तुके व्यावहारिक अथवा काल्पनिक रूपको बतलाती है।

१. 'पुनरप्यध्यात्मभाषया नया उच्यन्ते'—नय० सं०, पृ० १४७।

कुन्दकुन्दने भी शुद्धनयको भूतार्थ या सत्यार्थ कहा हैं और व्यवहारनयको अभूतार्थ या असत्यार्थ कहा है। क्योंकि शुद्धनय वस्तुके पारमार्थिक शुद्ध स्वरूप-को ग्रहण करता है और व्यवहारनय वस्तुके अपारमार्थिक अशुद्ध स्वरूपको ग्रहण करता है।

जैन मान्यताके अनुसार पहले मूल द्रव्य छै बतलाये हैं। उनमेंसे चार द्रव्य तो अपने अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित रहते हुए अपना कार्य करते रहते हैं। किन्तु जीव और पुद्गलद्रव्य परस्परमें संबद्ध होकर संसारकी प्रक्रियाके जनक अनादि-कालसे बने हुए हैं। पुद्गलसे भिन्न जीवकी उपलब्धि तो सांसारिक दशामें किसी भी इन्द्रियके द्वारा नहीं होती। अतः उसके स्वरूपके विषयमें लोगोंको भ्रम होना स्वाभाविक है। उसी भ्रमके कारण जीवका पुद्गलसे भिन्न स्वतंत्र अस्तित्व तक विवादग्रस्त रहा है। वृहदारण्यक[१] उपनिषदमें याज्ञवल्क्य मैत्रेयीसे कहते हैं कि 'यह परमात्मतत्त्व विज्ञानघन ही है यह इन भूतोंसे ही प्रकट होकर उन्हींमें लीन हो जाता है। परलोक या पुनर्जन्म नहीं है ऐसा मैं तुझसे कहता हूँ।

अद्वैतवादी एक ही मूलतत्त्वको मानकर उसीमेंसे जड़ और चेतनकी सृष्टि मानते हैं। और परिणामवादको स्वीकार करके जड़ चेतनका भेद तथा पुनर्जन्म आदि घटाते हैं। तथा संसारको स्वप्नवत् मिथ्या कहते हैं। सांख्यदर्शन जड़तत्त्व और चेतन तत्त्वको सर्वथा भिन्न मानते हुए भी जड़ तत्त्वको तो परिणामी मानता है किन्तु चेतन तत्त्वको कूटस्थ-अपरिणामी मानता है। अतः उनके यहाँ चेतन कर्ता नहीं है, केवल भोक्ता है। कर्ता केवल जड़ तत्त्व है। आत्मा तो स्वभावसे शुद्ध ही है। वह अपरिणामी होनेसे संसार दशामें भी विकृत नहीं होता। संसार तथा मोक्ष दोनों दशाओंमें एक जैसा सहज शुद्ध ही रहता है। उसपर पुण्य पापका किसी भी तरह असर नहीं पड़ता।

इस तरह सांख्यके मतानुसार संसार और मोक्ष प्रकृति या प्रधान नाम वाले जड़ तत्त्वका होता है, क्योंकि वह परिणामी है अतः उसीमें भिन्न-भिन्न अव-स्थाएँ होना संभव है। आत्मा[२] तो न बंधता है और न मुक्त होता है। प्रकृति ही बँधती और मुक्त होती है। प्रकृतिके ही ये दोनों बंध और मोक्ष उसके समीप-में वर्तमान आत्मामें आरोपित होते हैं।

---

१. विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यो समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति न प्रेत्यसंज्ञा अस्ती-त्यरे ब्रवीमीति होवाच याज्ञवल्क्यः। —वृहदा० उ०, २।४।१२।

२. 'तस्मान्न बध्यते नापि मुच्यते नापि संसरति कश्चित्।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥—सांख्य० का०

इस तरह आत्म तत्त्वके स्वरूप, उसके कर्तृत्व-अकर्तृत्व, तथा बन्ध और मुक्तिके विषयमें मतभेद रहे हैं। अतः प्रथम तो संसार अवस्थामें जड़से भिन्न आत्मतत्त्वकी उपलब्धि न होनेके कारण साधारण लोगोंको आत्मतत्त्वकी प्रतीति नहीं होती। और प्रतीति हो भी जाये तो उक्त मतभेदोंके कारण अनेक ऐसे धर्मोंको भी जीवका समझ लिया जाता है जो वास्तवमें उसके नहीं होते। ऐसे धर्म व्यवहारनयसे जीवके कहे जाते हैं। अतः व्यवहारनय अभूतार्थ कहा जाता है। और चूंकि वे आगन्तुक धर्म जीवके स्वभावभूत नहीं हैं अतः उनसे भिन्न जीवके शुद्ध स्वरूपको ग्रहण करने वाला निश्चयनय भूतार्थ कहा जाता है।

यहाँ यह शंका हो सकती है कि जब व्यवहारनय अभूतार्थ है तो वस्तुतत्त्वके निरूपणमें उसका आलम्बन क्यों लिया जाता है। इसका उत्तर देते हुए कुन्दकुन्द स्वामीने कहा है—जैसे अनार्य भाषाको अपनाये विना अनार्य पुरुषको अपनी बात समझाना शक्य नहीं है वैसे ही व्यवहारके बिना परमार्थका उपदेश देना शक्य नहीं है ॥८॥

अतः जो परम भावदर्शी हैं उनके द्वारा तो शुद्ध आक्ततत्त्वका कथन करने वाला शुद्धनय ही जानने योग्य है। किन्तु जो अपरमभावमें स्थित हैं—वे व्यवहारनयके द्वारा ही उपदेश किये जानेके योग्य हैं ॥१२॥

अतः साधक अवस्थामें वर्तमान मनुष्योंके लिये व्यवहारनय उपयोगी है। इस लिये कुन्दकुन्दाचार्यने दोनों नयोंकी अपेक्षासे आत्मतत्त्वका कथन किया है।

अधिकार भेद—समयसारको दस अधिकारोंमें विभाजित किया गया है। यह विभाजन टीकाकारोंका किया हुआ हो सकता है। वे दस अधिकार इस प्रकार हैं—१. जीव, २. अजीव, ३. कर्ता और कर्म, ४ पुण्य और पाप, ५. आस्रव, ६. संवर, ७. निर्जरा, ८. बन्ध, ९. मोक्ष और १०. सर्व विशुद्ध ज्ञानाधिकार।

विषय परिचय

१. जीव अधिकार—इस अधिकारको प्रारम्भ करते हुए कहा है कि 'साधुको सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रका नित्य सेवन करना चाहिये। किन्तु निश्चयनयसे वे तीनों आत्मा ही हैं ॥१६॥ जैसे कोई धनार्थी मनुष्य राजाको जानकर उस पर श्रद्धान करता है और उसीके अनुकूल आचरण करता है। वैसे ही मोक्षार्थीको जीव रूपी राजाको जानना चाहिये, उसका श्रद्धान करना चाहिये और उसके अनुकूल आचरण करना चाहिये ॥१७-१८॥ जब तक यह जीव कर्म और नोकर्म (शारीरादि) में मैं यह हूँ अथवा ये मेरे हैं ऐसी बुद्धि रखता है तब तक वह अप्रतिबुद्ध (अज्ञानी) होता है ॥१९॥

जिसकी मति अज्ञानसे मोहित है वही जीवसे बद्ध शरीरादि पुद्गलोंको और अबद्ध जमीन जायदाद स्त्री पुत्रादिको 'यह मेरे हैं' ऐसा कहता है ॥२३॥ सर्वज्ञने जीवको सदा चैतन्यमय देखा है। वह चैतन्यमय जीव पुद्गल द्रव्य रूप कैसे हो सकता है जिससे तुम कहते हो यह मेरा है ॥२४॥ यदि जीव पुद्गल रूप और पुद्गल जीवरूप हो सकता तो यह कहा जा सकता है कि मेरा पुद्-गल है ॥२५॥

इस पर यह शङ्काकी गई—'यदि जीव शरीर रूप नहीं है तो तीर्थङ्करों और आचार्योंकी जो शरीरादि मूलक स्तुतियाँ पाई जाती हैं वे सब मिथ्या हो जाती हैं। अतः आत्म शरीर है ऐसा मानना चाहिये ॥२६॥ तो इसका समा-धान करते हुए कहा है—'व्यवहारनय जीव और शरीर को एक कहता है किन्तु निश्चयनयसे जीव और शरीर कभी भी एक नहीं हैं ॥२७॥ किन्तु मुनि जीवसे भिन्न पौद्गलिक शरीरकी स्तुति करके ऐसा मानता है कि मैंने केवली भगवान-की स्तुति और वन्दना की ॥२८॥ किन्तु निश्चयनयसे यह बात युक्त नहीं है, क्योंकि जो शरीरके गुण हैं वे केवलीके गुण नहीं हो सकते। निश्चयनयसे तो जो केवलिके गुणोंकी स्तुति करता है वही केवलीकी स्तुति करता है ॥२९॥

इस तरहसे शरीरसे भिन्न आत्माकी स्वतंत्र स्थितिको जानता हुआ ज्ञानी कहता है—मैं एक शुद्ध दर्शन ज्ञानमय अरूपी हूँ। अन्य परमाणु मात्र भी मेरा नहीं है ॥३८॥ इस तरह ३८ गाथाओंके साथ जीवाधिकार समाप्त होता है।

२. अजीवाधिकार—इस अधिकारका प्रारम्भ करते हुए कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है—आत्माको नहीं जाननेवाले कुछ मूढ़ अध्यवसान को और पौद्गलिक कर्मोंको जीव कहते हैं ॥३९॥ कुछ नोकर्म (शरीरादि) को जीव कहते हैं। कुछ कर्मोंके उदय को तो कुछ कर्मोंके तीव्र मन्द अनुभागको जीव कहते हैं। कुछ कर्म और जीव दोनोंको जीव कहते हैं। इस प्रकार दुर्बुद्धि लोग विविध रूपसे आत्माको कहते हैं। किन्तु निश्चयवादी उन्हें यथार्थवादी नहीं कहते ॥ ४०-४३॥ केवली भगवान्ने इन सब भावोंको पौद्गलिक कहा है। अतः उन्हें जीव कैसे कहा जा सकता है ॥४४॥ जिनेन्द्रदेवने इन अध्यवसानादि भावोंको व्यवहारसे जीव कहा है ॥४६॥

आगे कुन्दकुन्दाचार्य[1]ने आत्माका स्वरूप बतलाते हुए उसे कठोपनिषद्[2]

१. 'अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिदिट्ठसंठाणं' ॥४९॥—सम० प्रा०।

२. 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' ॥१५॥—कठो०।

की ही तरह अरस, अरूप, अगन्ध, अव्यक्त और अशब्द तथा चेतनागुण वाला बतलाया है। आगे उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है—जीवके न रूप है, न गन्ध है, न रस है, न स्पर्श है, न शरीर है, न संस्थान है और न संहनन (अस्थिबन्धन) है ।।५०।। न जीवके न राग हैं, न द्वेष है, न मोह है, न कर्म है, न नोकर्म हैं ।।५१।। न जीवके वर्ग हैं, न वर्गणा है, न स्पर्धक है, न अध्यवसाय स्थान है, न अनुभाग स्थान है ।।५२।। जीवके न कोई योग स्थान है, न बन्ध-स्थान है, न उदयस्थान है, न कोई मार्गणास्थान है ।।५३।। न स्थितिवन्धस्थान है, न संक्लेशस्थान हैं, न विशुद्धिस्थान हैं, न संयमलब्धिस्थान हैं ।।५४।। जीव-के न जीवस्थान हैं और न गुणस्थान हैं क्योंकि ये सभी स्थान पुद्गल द्रव्यके परिणाम हैं ।।५५।। व्यवहारनयसे ये रूपसे लेकर गुणस्थानपर्यन्त भाव जीव के हैं—निश्चयनय से नहीं ।।५६।।

जैसे किसी मार्गमें मनुष्योंको लूटा जाता देखकर व्यवहारी लोग कहते हैं कि अमुक मार्ग लूटता है। किन्तु मार्ग तो किसीको नहीं लूटता ।।५८।। वैसे ही जीवमें कर्मों और नोकर्मोंके वर्णादिको देखकर व्यवहारसे जिनेन्द्रने ऐसा कहा है कि वर्णादि जीवके हैं ।।५९।। यदि वर्णादि भावोंको जीव रूप माना जायेगा तो जीव और अजीवमें कोई भेद नहीं रह सकता ।।६२।। इस तरह ६८ गाथा पर्यन्त अजीव और जीवका भेद बतलाया है।

३. कर्ता और कर्म अधिकार—कर्मोंके आनेको आस्रव कहते हैं। अतः इस अधिकारको प्रारम्भ करते हुए आचार्यने कहा है—'जब तक यह जीव आत्मा और आस्रवके भेदको नहीं जानता तव तक अज्ञानी होता हुआ क्रोधादि करता है ।।६९।। और क्रोधादि करनेसे उसके कर्मोंका संचय होता है। इस प्रकार जीव-के कर्मोंका वन्ध होता है ।।७०।। किन्तु जब यह जीव आत्मा और आस्रवके भेद-को जान लेता है तब उसके बन्ध नहीं होता ।।७१।। अतः आस्रवोंको अध्रुव, अनित्य, अशरण, दुःख रूप तथा दुःख फल वाले, किन्तु जीवसे निबद्ध जानकर ज्ञानी उनसे दूर रहता है ।।७४।।

आशय यह है कि आत्मा और ज्ञानगुणका तादात्म्य सम्बन्ध है अतः उन दोनोंमें कोई भेद नहीं है। अतः आत्मा निःशङ्क होकर जानने देखनेमें प्रवृत्ति करता है। अतः वह ज्ञान क्रियाका कर्ता कहा जाता है और ज्ञान क्रिया उसका कर्म; क्योंकि वह उसका स्वभाव है। किन्तु आत्माका क्रोधादि भावोंके साथ संयोग सम्बन्ध है। क्योंकि आत्मा भिन्न है और क्रोधादि भाव भिन्न हैं। किन्तु अज्ञानी उस भेदको न जानता हुआ क्रोधादि भावोंमें भी उसी प्रकार निःशंक प्रवृत्ति करता है जैसे ज्ञानादिमें करता है। और ज्ञानादिकी तरह

क्रोधादिको भी अपना स्वभाव मानकर राग द्वेष और मोहरूप प्रवृत्ति करता है। अतः वह क्रोधादिका कर्ता आत्माको मानता है और क्रोधादिको आत्माका कर्म मानता है। इस तरह अनादि कालसे यह अज्ञान जन्य कर्ता-कर्मभावकी प्रवृत्ति चली आती है। जीवकी इस प्रवृत्तिका निमित्त पाकर स्वयं ही परिणमनशील पौद्गलिक कर्मका संचय हो जाता है और इस तरह जीव और पौद्गलिक कर्मोंका परस्पर अवगाह रूप सम्बन्ध हो जाता है। किन्तु जब यह आत्मा यह जान लेता है कि ज्ञान आत्मा जैसे एक वस्तुरूप हैं, उस तरह आत्मा और क्रोधादि भाव एक वस्तुरूप नहीं हैं। उसकी अज्ञान मूलक अनादि कर्ता कर्मप्रकृति रुक जाती है। उसके रुकने पर अज्ञान निमित्तक पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध भी रुक जाता है।

यही बात आगे कही है कि—'जीवके परिणामोंका निमित्त पाकर पुद्गल कर्मरूप परिणमन करते हैं। उसी तरह पुद्गल कर्मोंका निमित्त पाकर जीव भी परिणमन करता है ॥ ८० ॥ न तो जीव कर्मके गुणोंको करता है, उसी तरह कर्म भी जीवके गुणोंको नहीं करता। किन्तु परस्परमें निमित्त नैमित्तक भाव होनेसे दोनोंका परिणमन होता है ॥ ८१ ॥ इस कारणसे आत्मा स्वयं अपने भावोंका कर्ता हैं। पुद्गल कर्मकृत सब भावोंका कर्ता आत्मा नहीं है ॥ ८२ ॥ इस प्रकार निश्चयनयसे आत्मा अपना ही कर्ता है और अपने ही भावोंका भोक्ता है ॥ ८३ ॥ इसलिये निश्चय नयसे जीव और कर्ममें जैसे कर्तृ कर्मपना नहीं है वैसे ही भोक्तृ भोग्यपना भी नहीं है। व्यवहार नयसे ही आत्मा और पौद्गलिक कर्ममें कर्तृ-कर्मभाव और भोक्तृ-भोग्यभाव कहा है ॥ ८४ ॥ आगे कहा है कि यदि आत्मा अपने भावोंको और पौद्गलिक भावोंको भी करता है तो आत्मा दो क्रियाओंका कर्ता ठहरता है। किन्तु ऐसा मानने वाला मिथ्यादृष्टि है ॥ ८६ ॥

मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति, योग, मोह तथा क्रोधादि भाव ये सब जीवरूप भी होते हैं और और अजीव रूप भी होते हैं ॥ ८७ ॥ पुद्गल कर्म रूप जो मिथ्यात्व, योग, अविरति और अज्ञान हैं वह तो अजीव है। और उपयोग रूप जो मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति है वह जीव है ॥ ८८ ॥ मोहयुक्त उपयोग के मिथ्यात्व अज्ञान और अविरति ये तीन परिणाम है ॥ ८९ ॥ इनमेंसे आत्मा जिस उपयोगरूप आत्म परिणामको करता है उसका वह कर्ता कहा जाता है ॥ ९० ॥ और उसके होने पर पुद्गल द्रव्य स्वयं कर्म रूप होता है ॥ ९१ ॥ सारांश यह है कि आत्मा मिथ्यात्वादि भावरूप परिणमन न करे तो वह कर्म का कर्ता भी नहीं हो। कर्मके कर्तापनेका मूल अज्ञान है। अज्ञानी अज्ञानवश परद्रव्यको अपने रूप और अपनेको परद्रव्य रूप करता है। अर्थात् 'मैं क्रोधरूप

हूँ' ऐसा मानता है। उसका ऐसा मानना अज्ञान है यह अज्ञान ही बन्धका कारण है ॥९६॥

आगे कहा है—व्यवहारसे आत्माको घटपट वगैरहका तथा कर्म नोकर्मका कर्ता कहा जाता है ॥९८॥ किन्तु जीव न घटका कर्ता है और न पट आदि शेष द्रव्योंका कर्ता है। किन्तु जीवके विकल्प और व्यवहाररूप जो उपयोग और योग हैं वे ही घटादिके उत्पादक हैं और जीव उन अपने योग उपयोगरूप भावोंका कर्ता है ॥१००॥ ज्ञानावरण आदि कर्म पुद्गलके परिणाम हैं। उनका कर्ता आत्मा नहीं है। जो यह बात जानता है वह ज्ञानी है ॥१०१॥ किन्तु जीवके अज्ञानभावका निमित्त मिलनेपर पौद्गलिक स्कन्ध कर्मरूप होते हैं। यह देखकर उपचारसे ऐसा कहा जाता है कि जीव कर्मका कर्ता है ॥१०५॥ जैसे युद्ध तो सैनिक करते हैं और कहा जाता है कि राजा युद्ध करता है ॥१०६॥

आगे कहा है बन्धके चार कारण कहे जाते हैं—मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग ॥१०९॥ किन्तु ये सब भाव पुद्गलकर्मोंके उदय से होते हैं, अतः जड़ हैं। इन जड़ भावोंसे यदि कर्म बँधते हैं तो उसका भोक्ता जीव कैसे हो सकता है ॥१११॥ उक्त प्रत्यय जड़ हैं यह बतलाते हुए कहा है कि जीव-से जैसे उसका उपयोग (ज्ञान-दर्शन) अभिन्न है वैसे क्रोध नहीं है। ज्ञान जीवरूप है और क्रोधादि भाव जड़रूप हैं। यदि ज्ञानकी तरह क्रोधादि भावोंको भी जीवरूप माना जायेगा तो जड़ और चेतन एक हो जायेंगे। अतः क्रोधादिरूप पौद्गलिक भावोंसे किये गये कर्मोंका जीव न कर्ता है और न भोक्ता है। आगे कहा है कि—यदि पुद्गल कर्मके रूपमें स्वयं जीवसे बद्ध नहीं होता और न स्वयं कर्म रूपसे परिणत होता है तो वह अपरिणामी ठहरता है ॥११६॥ और कार्मणवर्गणाएँ यदि कर्मरूपसे परिणमन नहीं करतीं तो सांख्यदर्शनकी तरह संसार के अभावका प्रसंग उपस्थित होता है ॥११७॥ यदि कहा जाये कि जीव पुद्गल द्रव्यका कर्मरूपसे परिणमन कराता है तो जो स्वयं अपरिणामी है उसे जीव कैसे परिणमा सकता है। ऐसी स्थिति में यह कहना है कि जीव कर्मरूप परिणमन कराता है मिथ्या ठहराता है ॥११९॥

इसी तरह पुद्गलको परिणामी बतलाकर आगे कहा है—यदि जीव स्वयं कर्मसे नहीं बँधा है और न स्वयं क्रोधादि रूप परिणमन करता है तो वह अपरि-णामी ठहराता है ॥१२१॥ और यदि जीव स्वयं क्रोधादिभाव रूपसे परिणमन नहीं करता तो सांख्य दर्शनकी तरह संसारके अभावका प्रसंग आता है ॥१२२॥ यदि कहा जाये कि पौद्गलिककर्म क्रोध जीवको क्रोध रूप परिणमाता है तो जो जीव अपरिणामी है क्रोध उसका परिणमन कैसे करा सकता है? ॥१२३॥

यदि तुम्हारा मत है कि जीव स्वयं क्रोध रूप परिणमन करता है तो क्रोध कर्म जीवको क्रोध रूप परिणमता है यह कथन मिथ्या है ।।१२४।। अन्तमें यही निष्कर्ष निकलता है—आत्मा जिस भावको कर्ता है वह उस भावका कर्ता होता है। ज्ञानीके भाव ज्ञानमय होते हैं और अज्ञानी के भाव अज्ञानमय होते हैं ।।१२६।।

आगे कहा है कि पुद्गलका परिणाम जीवसे भिन्न है और जीवका परिणाम पुद्गलसे भिन्न है। कर्म जीवसे बद्ध है या अबद्ध ? इस प्रश्नका उत्तर देते हुए कहा है कि जीवमें कर्म बद्ध और स्पृष्ट है, यह व्यवहार नयका कथन है। कर्म जीवसे अबद्ध और अस्पृष्ट है, यह शुद्ध नयका कथन है ।।१४१।। जीवसे कर्म बद्ध है और जीवसे कर्म अबद्ध है वे दोनों ही नयपक्ष हैं किन्तु समयसार पक्षातिक्रान्त है। अर्थात् नयपक्ष रहित आत्मसंवेदीके अभिप्रायसे तो जीवका स्वरूप इन विकल्पों से रहित चिदानन्दमय है।

वह अधिकार बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। १४४ गाथापर्यन्त ७६ गाथाओंमें इसकी समाप्ति होती है।

४. पुण्य-पाप अधिकार—व्यवहारी मनुष्य शुभकर्म या पुण्यकर्मको अच्छा और अशुभ अथवा पापकर्मको बुरा समझते हैं। किन्तु दोनों ही बन्धरूप हैं। अतः जो शुभकर्म संसारमें जीवको रोके रखता है वह अच्छा कैसे हो सकता ।।१४२।। जैसे लोहेकी सांकल भी पुरुषको बांधती है और सोनेकी सांकल भी बांधती है। इसीतरह शुभ-अशुभ कर्म भी जीवको बांधते हैं ।।१४६।। अतः ग्रन्थकार कहते हैं कि जो बुरे शुभ-अशुभ कर्म हैं उनसे राग मत करो और उनका संसर्ग मत करो। बुरोंके संसर्ग और रागसे जीवकी स्वाधीनता का विनाश हो जाता है ।।१४७ ।।

रागी कर्मसे बंधता है, विरागी कर्म बंधनसे छूटता है, यह जिन भगवानका उपदेश है। अतः शुभाशुभ कर्मोंसे अनुराग मत करो।।१५०।। आगे कहा है—

स्व-स्वभावमें स्थित मुनि निर्वाणको प्राप्त करते हैं ।।१५१।। किन्तु स्व-स्वभाव में जो मुनि स्थित नहीं है, वह जो तप करता है, व्रत पालता है वह सब बालतप और बालव्रत है ।।१५२।। परमार्थसे बहिर्भूत जो व्यक्ति हैं वे मोक्षके कारणको नहीं जानते और अज्ञानवश उस पुण्यको चाहते हैं जो संसारका कारण है ।।१५४।।

इस तरह उन्नीस गाथाओंके द्वारा इस अधिकारमें पापकी तरह पुण्यको भी हेय बतलाया है। वह अधिकार १६३वीं गाथाके साथ पूर्ण होता है।

५. आस्रव अधिकार—इस अधिकारके प्रारम्भमें मिथ्यात्व, अविरत, योग और कषायको ज्ञानावरणादि कर्मोंका कारण बतलाया है। ये मिथ्यात्वादि जड़ भी

होते हैं और चेतन भी होते हैं। जड़को द्रव्य-प्रत्यय कहते हैं और चेतनको भाव-प्रत्यय कहते हैं। द्रव्यप्रत्ययरूप मिथ्यात्व कर्मका उदय होनेपर जब जीव रागादि रूप परिणमन करता है तो कर्मबंधन होता है। इसलिये अज्ञानमय रागादिभाव ही आस्रवके कारण होनेसे आस्रव हैं। वे भाव अज्ञानीके ही होते हैं, ज्ञानीके नहीं होते। अतः ज्ञानीके आस्रव नहीं होता।

इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि यथाख्यातचारित्ररूप अवस्थासे नीचेकी दशामें रागका सद्भाव अवश्य रहता है और राग बन्धका हेतु है तब ज्ञानी निरास्रव कैसे है? इसका उत्तर देते हुए कहा है कि जब तक ज्ञान, दर्शन और चरित्र अपनी उत्कृष्ट स्थितिमें नहीं पहुँचते तबतक ज्ञानीके अबुद्धिपूर्वक रागका उदय है वह अनुमानसे जाना जाता है; क्योंकि यदि ऐसा न होता तो ज्ञानादि गुण जघन्य अवस्थामें क्यों पाये जाते? अतः पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध होता है। किन्तु जब ज्ञानादि गुण अपनी पूर्णावस्थाको प्राप्त हो जाते हैं तब साक्षात् ज्ञानीभूत आत्माके कर्मका आस्रव नहीं होता ॥१७५॥

इस तरह १८० गाथापर्यन्त १७ गाथाओंमें आस्रव अधिकार पूर्ण होता है।

६. संवर अधिकार—संवरका उपाय भेदविज्ञान है। अतः प्रथम तीन गाथाओंके द्वारा भेद-विज्ञानकी रीति बतलायी है। लिखा है—ज्ञान ज्ञानमें है, क्रोधादि भाव क्रोधादि रूप ही हैं। न क्रोध ज्ञानमें है और न ज्ञान क्रोधमें है। यही बात ज्ञान और कर्म-नोकर्मके विषयमें भी जाननी चाहिये ॥१८१-१८२॥ जब जीवको इस प्रकारका अविपरीत ज्ञान होता है तब शुद्धोपयोगी, आत्माका ज्ञान ज्ञानमय ही रहता है और रागादि भावरूप नहीं होता। अतः इसके राग द्वेष मोहका अभावरूप संवर होता है ॥१८३॥

आगे दृष्टान्त द्वारा उसको स्पष्ट करते हुए कहा है—जैसे सोना अग्नि से तप्त होनेपर भी स्वर्ण भावको नहीं छोड़ता उसी तरह कर्मके उदयसे संतप्त ज्ञानी अपने ज्ञानीपनेको नहीं छोड़ता, ऐसा ज्ञानी जानता है। किन्तु अज्ञानी आत्मस्वभावको नहीं जानता हुआ आत्माको रागादि रूप ही जानता है ॥१८४-१८५॥ जो जीव शुद्ध आत्माका अनुभव करता है उसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है और जो अशुद्ध आत्माका अनुभव करता है उसे अशुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है ॥१८६॥

आगे तीन गाथाओंके द्वारा संवरका प्रकार बतलाते हुए कहा है- जो आत्माको आत्माके द्वारा पुण्य और पापरूप योगसे हटकर अपने दर्शन ज्ञानात्मक स्वरूपमें स्थित होता है और परवस्तुकी इच्छा नहीं रखता, तथा समस्त परिग्रहसे मुक्त होकर अपनी आत्माका ध्यान करता है, कर्म और नोकर्मको अपना नहीं मानता। वह आत्माका ध्यान करता हुआ शुद्ध दर्शन ज्ञानमय आत्म-

द्रव्यमें तन्मय होकर शीघ्र ही कर्मबन्धनसे मुक्त आत्माको प्राप्त कर लेता है ॥१८७-१८९॥

इस तरह बारह गाथाओंके द्वारा संवरका कथन किया गया है। यह अधिकार १९२वीं गाथा के साथ समाप्त होता है।

७. निर्जरा अधिकार—इस अधिकारको प्रारम्भ करते हुए कहा है कि सम्यग्दृष्टि इन्द्रियोंके द्वारा जो चेतन और अचेतन द्रव्योंको भोगता है उसका वह भोग निर्जरा (बंधे हुए कर्मोंका छूटना) का कारण है ॥ १९३ ॥ द्रव्यका उपभोग करनेपर नियमसे सुख अथवा दुःख होता है। उस सुख अथवा दुःखका उदय होनेपर जीव उसका अनुभवन करता है और इस तरह वह निर्जराको प्राप्त होता है ॥१९४॥ जैसे विषवैद्य विष खाकर भी नहीं मरता। उसी तरह ज्ञानी पुद्गल कर्मोंके फलको भोगते हुए भी कर्म संबद्ध नहीं होता ॥१९५॥ जैसे अरुचिपूर्वक मद्यपान करनेवाला मनुष्य नशेसे ग्रस्त नहीं होता वैसे ही अरुचिपूर्वक द्रव्यका उपभोग करता हुआ भी ज्ञानी कर्मसे बद्ध नहीं होता ॥१९६॥ सम्यग्दृष्टि ज्ञानी विषयोंका सेवन करते हुए भी सेवन नहीं करता और मिथ्यादृष्टि अज्ञानी नहीं सेवन करते हुए भी विषयोंका सेवक बना रहता है ॥१९७॥ इस अन्तरका कारण बतलाते हुए कहा है—

जिनेन्द्रदेवने कर्मोंके उदयका विपाक अनेक प्रकारका बतलाया है। किन्तु वह सब मेरा स्वभाव नहीं है, मैं तो एक ज्ञायक रूप हूँ ॥१९८॥ राग पौद्गलिक कर्म है। उसका उदय होनेपर राग होता है। अतः वह मेरा स्वभाव नहीं है। मैं तो एक ज्ञायक भावरूप हूँ ॥१९९॥ इस प्रकार सम्यग्दृष्टि आत्माको ज्ञायक भावरूप जानता है और तत्त्वको जानता हुआ कर्मके उदयसे होनेवाले भावों को अपना नहीं मानता ॥२००॥

आगे कहा है—जिसके रागादि भावोंका अणुमात्र भी अंश वर्तमान है वह समस्त आगमोंका ज्ञाता होते हुए भी आत्माको नहीं जानता ॥२०१॥ और जो आत्माको नहीं जानता वह अनात्माको भी नहीं जानता। और जो आत्मा (जीव) और अनात्मा (अजीव) को नहीं जानता वह सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकता है ॥२०२॥

आगे ज्ञानी परवस्तुका ग्रहण क्यों नहीं करता और परिग्रहका त्याग क्यों कर देता है, इसका सुन्दर विवेचन किया है। आगे लिखा है—जैसे कीचड़में पड़ा हुआ स्वर्ण कीचड़से लिप्त नहीं होता वैसे ही ज्ञानी सब द्रव्योंसे विरक्त होनेके कारण कर्मोंके मध्यमें रहते हुए कर्मरूपी रजसे लिप्त नहीं होता ॥२१८॥ किन्तु अज्ञानी सब द्रव्योंसे अनुरक्त रहता है अतः कर्मरूपी रजसे लिप्त होता है। जैसे कर्दममें

पड़ा हुआ लोहा ॥२१९॥ इसी तरह दृष्टांतोंके द्वारा ज्ञानीको भोगते हुए भी कर्मसे निर्लिप्त बतलाया है।

आगे गाथा २२८ से २३६ तक सम्यग्दृष्टिके निःशङ्कित आदि आठ अंगोंका कथन किया है। २३६वीं गाथाके साथ ही निर्जराधिकार पूर्ण हो जाता है।

८. **बन्ध अधिकार**—जैसे कोई मनुष्य अपने शरीरमें तेल लगाकर और धूलसे भरी हुई भूमिमें खड़ा होकर शस्त्रोंके द्वारा व्यायाम करता है ॥२३७॥ ताड़, केला, बाँस वगैरहके वृक्षोंको शस्त्रोंसे छेदन-भेदन करता है। सचेतन और अचेतन द्रव्योंका उपघात करता है ॥२३८॥ इस तरह अनेक अस्त्र-शस्त्रोंके द्वारा छेदन-भेदन करते हुए उस मनुष्यके शरीरमें जो धूल चिपक जाती है, निश्चयसे उसका कारण क्या है, यह विचार करो ॥२३९॥ उसके शरीरमें तेल लगा हुआ है निश्चयसे उसीके कारण उसके शरीरमें धूल चिपट जाती है अन्य शारीरिक चेष्टाओंके कारण नहीं ॥२४०॥ इसी तरह मिथ्यादृष्टि जीव अनेक चेष्टाओंको करता हुआ अपने उपयोगमें जो राग-द्वेष करता है उसीसे वह कर्मरूपी धूलिसे लिप्त होता है ॥२४१॥

यदि वही मनुष्य शरीरमें लगे तेलको बिल्कुल दूर करके उसी धूलभरे स्थानमें शस्त्राभ्यास करे ॥२४२॥ अनेक वृक्षोंका छेदन-भेदन करे तो उसका शरीर धूलसे लिप्त नहीं होता, इसका कारण वास्तवमें क्या है ॥२४३-२४४॥ उसके शरीरमें जो तेल नहीं लगा है उसीके कारण उसका शरीर व्यायाम करने-पर भी धूलसे लिप्त नहीं होता। इसी तरह सम्यग्दृष्टि अनेक शारीरिक, मानसिक और वाचनिक क्रियोंमें प्रवृत्ति करते हुए भी उपयोगमें रागादिभाव नहीं करता, इसलिये वह कर्मसे लिप्त नहीं होता ॥२४६॥

इस तरह प्रथम ही दस गाथाओंके द्वारा बन्धके कारणका विवेचन दृष्टान्त-पूर्वक किया है। आगे अध्यवसानको बन्धका कारण बतलाते हुए जो विचार प्रस्तुत किया गया है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय है। लिखा है—

'जो ऐसा[1] मानता है कि मैं अन्य प्राणियोंकी हिंसा करता हूँ और अन्य प्राणी मेरी हिंसा करते हैं वह मूढ़ अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है ॥२४७॥ जीवोंका मरण उनकी आयुके क्षयसे होता है। तू किसीकी आयुको हर नहीं सकता। तब तू किसीको कैसे मार सकता है ॥२४८॥ इसी तरह अन्य जीव तेरी आयुको नहीं हर सकते तब वे तुझे कैसे मार सकते हैं ॥२४९॥ जो ऐसा

---

१. जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहि सत्तेहिं। सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो ॥२४७॥—स०प्रा०।

मानता है कि मैं अन्य जीवोंको जिलाता हूँ या अन्य जीव मुझे जिलाते हैं। वह मूढ़ अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है ॥२५०॥ आयुके उदयसे जीवन होता है। न तू किसीको आयुका दान दे सकता है और न दूसरे तुझे आयुका दान दे सकते हैं। तब कैसे तू दूसरोंको जिलाता है और कैसे दूसरे तुझे जिलाते हैं ॥२५१-२५२॥ जो ऐसा मानता है कि मैं दूसरोंको दुःखी अथवा सुखी करता हूँ या दूसरे जीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं वह मूढ़ अज्ञानी है। ज्ञानी उससे विपरीत होता है ॥२५३-२५४॥ कर्मके उदयसे जीव दुःखी अथवा सुखी होते हैं। तू किसीको कर्म का दान नहीं दे सकता और न दूसरे जीव तुझे कर्मका दान दे सकते। तब कैसे तू दूसरोंको और दूसरे तुझे सुखी या दुःखी कर सकते हैं ॥२५५-२५६॥

कठो[1]पनिषदमें भी आत्माके अमरत्वका प्रतिपादन करते हुए कहा है—यदि मारनेवाला व्यक्ति अपनेको मारने में समर्थ मानता है और मारा जाने-वाला व्यक्ति अपनेको मारा गया समझता है तो वे दोनों ही नहीं जानते—यह आत्मा न तो किसीको मारता है और न मारा जाता है। गीतामें भी युद्धसे विमुख अर्जुनके लिए श्रीकृष्णके द्वारा यही उपदेश दिलाया गया है। इससे आत्माके अमरत्वकी सिद्धि की गयी है। किन्तु समय-प्राभृतमें यह कथन बन्ध के प्रकरणमें यह बतलानेके लिए किया गया है कि न कोई किसीको मार सकता है, न कोई किसीको जिला सकता है, न कोई किसीको सुखी दुःखी कर सकता है। फिर भी इस प्रकारका जो भाव है वह भाव ही पुण्य और पाप कर्मों के बन्धका कारण होता है। आगे कहा है—

तेरी जो यह भावना है कि मैं जीवोंको दुःखी या सुखी करता हूँ, उन्हें मारता या जिलाता हूँ या दूसरे जीव मुझे दुःखी या सुखी करते हैं या मारते अथवा जिलाते हैं यही पुण्य और पापकर्मके बन्धका कारण है। अतः कहा है—जीवको मारो या मत मारो, मारनेका भाव होनेसे कर्म का बन्ध होता है। निश्चयनयसे यह बन्धका सार है ॥२६२॥ जीवोंके अच्छे या बुरे भाव वस्तुको लेकर ही होते हैं किन्तु वस्तु बन्धका कारण नहीं है, बन्धका कारण जीवके अपने शुभ अशुभ भाव हैं ॥२६५॥

जो मुनि इस प्रकारके भाव नहीं करते वे शुभाशुभ कर्मोंसे लिप्त नहीं होते ॥२७०॥

बुद्धि, व्यवसाय, अध्यवसान, मति, विज्ञान, चित्त, भाव, परिणाम ये सब

१. 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्। उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥—कठो०, २।

शब्द एकार्थक हैं ।।२७१।। इस प्रकार निश्चयनयके द्वारा व्यवहारनय प्रतिषिद्ध है । जो मुनि निश्चयनयका अवलम्बन लेते हैं वे निर्वाणको पाते हैं ।।२७२।।

इस अधिकारमें ५१ गाथाएँ हैं और गाथा २८७ के साथ यह अधिकार समाप्त होता है ।

९ मोक्ष अधिकार—समस्त कर्म बन्धनसे आत्माके छूट जानेका नाम मोक्ष है । अतः प्रारम्भमें कहा गया है कि जैसे कोई आदमी बहुत काल से बन्धनमें पड़ा हुआ है और वह यह बात जानता है । किन्तु जानते हुए भी जब तक वह उस बन्धनको नहीं काटता तब तक वह उससे मुक्त नहीं हो सकता । इसी तरह कर्म बन्धनके स्वरूपको जाननेसे मुक्ति नहीं मिल सकती ।।२८८-२९०।। इसी तरह बन्धकी चिन्ता करनेसे भी बन्धनसे छूटकारा नहीं मिल सकता ।।२९१।। मोक्ष तो बन्धनको काटने पर ही मिल सकता है ।।२९२।। और उसको काटनेका उपाय है बन्धका और आत्माका स्वभाव जानकर बन्धसे विरक्त होना ।।२९३।। प्रज्ञा द्वारा आत्मा और कर्मबन्धको भिन्न-भिन्न जानकर आत्माको ग्रहण करना और बन्धको छोड़ना यही मोक्षका उपाय है ।।२९५।। ऐसा कौन ज्ञानी है जो शुद्ध आत्माके स्वरूपको जानते हुए भी कर्मके उदयसे होने वाले भावोंको 'यह मेरे हैं' ऐसा कहेगा ।।३००।। जो चोरी आदि अपराधोंको करता है वह पकड़े जानेके भयसे सशङ्क होकर इधर-उधर घूमता है ।।३०१।। किन्तु जो निरपराध होता है वह निःशङ्क होकर देशमें घूमता है । उसे पकड़े जानेकी चिन्ता कभी नहीं होती ।।३०२।।

आगे आचार्यने अपराधका स्वरूप बतलाते हुए कहा है—संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित ये सब शब्द एकार्थ वाची हैं । जो आत्मा 'राध' अर्थात् शुद्धात्माकी आराधनासे अपगत—रहित है वह अपराधी है ।

जैनाचारमें मुनिको दोषोंका परिमार्जन करनेके लिए प्रतिक्रमण आदि करनेका विधान है । अतः कोई कह सकता है कि अपराधकी शुद्धि तो प्रतिक्रमणादि करनेसे होती है, शुद्ध आत्माकी उपलब्धिसे अपराधका शोधन कैसे हो सकता है ? इसके उत्तरमें कुन्दकुन्दाचार्यने प्रतिक्रमण, प्रतिसरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा और शुद्धि इन आठोंको विषकुम्भ कहा है ।।३०६।। और अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धिको अमृत कुम्भ कहा है ।।३०७।। इसका आशय यह है कि प्रतिक्रमण अप्रतिक्रमणसे रहित जो तीसरी अवस्था है वह है शुद्ध आत्मामें लीनता, उसीसे आत्मा निर्दोष होता है ।।३०८।। इस तरह मोक्षाधिकार पूर्ण होता है इसमें बीस गाथाएँ हैं ।

१०. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार—यह अधिकार पूर्व अधिकारोंमें प्रतिपादित कथनका निचोड़रूप है । इसमें सर्वप्रथम दृष्टान्तपूर्वक चार गाथाओंके द्वारा

आत्मामें परद्रव्यके कर्तापनेका अभाव बतलाया है। लिखा है—

जो द्रव्य अपने जिन गुणोंको लिये हुए उत्पन्न होता है वह अपने उन गुणोंसे अभिन्न होता है। जैसे स्वर्ण कड़ा आदि पर्यायोंसे अभिन्न होता है ॥३०८॥ आगममें जीव और अजीवके जो परिणाम बतलाये हैं, जीव और अजीव अपने उन परिणामोंसे अभिन्न है ॥३०९॥ अतः आत्मा किसीसे उत्पन्न नहीं होता अतः वह किसीका कार्य नहीं है। और किसीको वह उत्पन्न नहीं करता इसलिये न किसी-का कारण है ॥३१३॥ कर्मकी अपेक्षा कर्ता और कर्ताकी अपेक्षा कर्म होता है।

सारांश यह है कि जीवका अजीवके साथ कार्यकारण भाव नहीं है। अतः न अजीव जीवका कर्म है और न जीव जड़ कर्मका कर्ता है। किन्तु यह जीव अनादि-कालसे जड़ और चेतनके भेदको न जाननेके कारण जड़के साथ आत्माका एकत्वाध्यवसाय करके, जड़के निमित्तसे उत्पन्न होता और नष्ट होता है और जड़ भी चेतनके निमित्तसे उत्पन्न होता और नष्ट होता है ॥ इस तरह इन दोनोंमें यद्यपि कर्ता कर्मपना नहीं है तथापि परस्परमें निमित्त नैमित्तिक भाव होनेसे दोनोंका बन्ध होता है और उससे संसार होता है। इसी कारण उन दोनोंमें कर्ताकर्मव्यवहार माना जाता है ॥३१२-३१३॥

जब तक यह आत्मा जड़के निमित्तसे होनेवा रागादि भावोंमें ममत्वभाव नहीं छोड़ता तबतक वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और असंयमी रहता है ॥३१४॥ किन्तु जब उसे छोड़ देता है तो ज्ञाता दृष्टा मुनि मुक्त हो जाता है ॥११५॥

आगे कहा है कि जैसे निश्चय दृष्टिसे आत्मा कर्मोंका कर्ता नहीं वैसे ही उनका भोक्ता भी नहीं है। आगे कहा है कि लोकमें माना जाता है कि विष्णु इस देव मानुष तिर्यञ्च और नारक पर्यायोंका कर्ता है। उसी तरह यदि श्रमण (जैन) भी ऐसा कहते हैं कि आत्मा उक्त पर्यायोंका कर्ता है तो लोक और श्रमणोंके सिद्धान्तमें कोई भेद नहीं रहता। क्योंकि लोगोंके मतसे विष्णु कर्ता है और श्रमणोंके मतसे आत्मा कर्ता है ॥ ऐसी स्थितिमें इस सचराचर जगतका कर्ता माननेवाले लोक और श्रमणोमें से किसीको भी मोक्ष प्राप्त होना संभव दिखाई नहीं देता ॥३२१-३२३॥ आशय यह है कि जिसकी परद्रव्यमें कर्तृत्व बुद्धि है वह मिथ्यादृष्टि है।

आगे सांख्यमतका अनुसरण करते हुए जो श्रमणाभास आत्माको अकर्ता जड़ कर्मको ही कर्ता मानते हैं तेरह गाथाओंके द्वारा उनके मतका निरूपण और उसपर दोषापादन करते हुए लिखा है—

कर्म ही जीवको अज्ञानी करते है और कर्म ही जीवको ज्ञानी करते है। कर्म ही उसे सुलाते और जगाते हैं। कर्म ही जीवको सुखी और दुखी करते हैं। कर्म ही जीवको मिथ्यादृष्टि और असंयमी करते हैं। कर्म ही जीवको भ्रमण

कराते हैं। जितना शुभाशुभ है वह सब कर्मोंके द्वारा ही किया जाता है। चूंकि कर्म ही सब कुछ करते-धरते, और देते-लेते हैं, अतः सभी जीव अकर्ता ठहरते हैं। ऐसी स्थितिमें पुरुष-वेद कर्म-स्त्रीकी अभिलाषा करता है और स्त्री-वेद कर्म-पुरुषकी अभिलाषा करता है ऐसा आचार्योंका कथन है और शास्त्रमें लिखा है। अतः आपके मतमें कोई भी जीव अब्रह्मचारी नहीं ठहरा; क्योंकि कर्म ही कर्मकी अभिलाषा करता है ॥३३२–३३७॥

तथा जिस कर्मके उदयसे एक जीव दूसरे जीवका घात करता है और एक जीव दूसरे जीवके द्वारा घाता जाता है वह परघातनाम कर्म है। अतः आपके मतमें कोई भी जीव घातक नहीं ठहरता; क्योंकि कर्म ही कर्मको घातता है। इस प्रकार जो श्रमण सांख्यमतका अवलम्बन लेकर इस प्रकार कथन करते हैं उनके मतसे प्रकृति ही कर्त्री है और सब आत्मा अकारक ठहरते हैं। यदि कहा जाय कि और सब काम तो प्रकृति करती है, आत्मा केवल आत्माको करता है तो यह कहना भी मिथ्या है। आत्मा तो नित्य असंख्यात प्रदेशी है। वह उससे न छोटा हो सकता है और न बड़ा। यदि कहा जाय कि आत्मा ज्ञायक स्वभाव है और ज्ञायकभाव सदा ज्ञानस्वभाव रूप ही रहता है तो आत्मा स्वयं अपना कर्ता नहीं ठहरता ॥३४२-३४४॥

आगे कहा है—जिसका ऐसा सिद्धान्त है कि जो करता है वह नहीं भोगता, वह मिथ्यादृष्टि आर्हत मतानुयायी नहीं है ॥३४७॥ जिसका सिद्धान्त है कि अन्य कर्ता है और अन्य भोगता है वह भी मिथ्यादृष्टि है और अर्हत-मतानुयायी नहीं है ॥३४८॥ आगे ग्रन्थकारने दृष्टान्त द्वारा जीवके कर्तृत्व और भोक्तृत्वका निश्चय और व्यवहारदृष्टिसे कथन किया है।

आगे कहा है कि जीवके जो गुण हैं वे जीवमें ही हैं, अन्य द्रव्योंमें नहीं हैं। अतः सम्यग्दृष्टि विषयोंमें राग नहीं करता ॥३७०॥ अन्य द्रव्य अन्य द्रव्यके गुणों-को उत्पन्न नहीं करता। अतः सभी द्रव्य स्वभावसे ही उत्पन्न होते हैं ॥३७२॥

निन्दा और स्तुतिवचन रूप पुद्गल ही परिणत होते हैं। किन्तु उन्हें सुन-कर यह जीव रुष्ट और संतुष्ट होता है कि मुझे इसने ऐसा कहा है ॥३७३॥ परन्तु शब्द तो पौद्गलिक हैं उनका गुण तुमसे भिन्न है। अतः पौद्गलिक शब्दों-ने तुझे कुछ भी नहीं कहा, तू अज्ञानी बनकर क्यों रुष्ट या संतुष्ट होता है ॥३७४॥ इस तरहसे सभी इन्द्रियोंके विषयोंमें राग-द्वेष करनेकी प्रवृत्तिको अज्ञान बतलाया है।

आगे प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और आलोचनाका स्वरूप चार गाथाओंसे (३८३–३८६) बतलाया है।

चेतनाके दो भेद हैं—ज्ञान चेतना और अज्ञान चेतना। ज्ञानके सिवाय अन्य वस्तुमें मैं इसका करता हूँ इस प्रकारकी चेतना कर्म चेतना है। और ज्ञानके सिवाय अन्यमें इसका मैं अनुभविता हूँ इस प्रकारकी चेतनाको कर्मफल चेतना कहते हैं ये दोनों अज्ञान चेतनाके ही भेद हैं। यह अज्ञान ही संसारका बीज है। यही बात गाथा ३८७-३८९ में बतलायी है। आगे पन्द्रह गाथाओंके द्वारा ज्ञानको ज्ञेयोंसे भिन्न बतलाया है। यथा—शास्त्र ज्ञान नहीं है क्योंकि शास्त्र कुछ भी नहीं जानता। अतः शास्त्र भिन्न है और ज्ञान भिन्न है। शब्द ज्ञान नहीं है क्योंकि शब्द कुछ भी नहीं जानता। अतः शब्द अन्य है और ज्ञान अन्य है। इस तरहसे अनेक उदाहरणोंके द्वारा ज्ञानको ज्ञेयोंसे भिन्न बतलाकर अन्तमें कहा है—'चूँकि आत्मा सदा जानता है अतः वह ज्ञायक होनेसे ज्ञानी है और ज्ञान ज्ञायकसे अभिन्न है ॥४०३॥ अतः ज्ञान ही सम्यग्दृष्टि है। ज्ञान ही संयम है ज्ञान ही द्वादशांगसूत्र रूप है। ज्ञान ही धर्माधर्म है और ज्ञान ही प्रव्रज्या है॥४०४॥ ज्ञान न तो कुछ ग्रहण करता है और न कुछ छोड़ता है। क्योंकि ग्रहण करना और छोड़ना इसका स्वभाव नहीं है। वह तो केवल जानता मात्र है।

आगे कहा है—अनेक प्रकारके साधु-लिंगों और गृहस्थ-लिंगोंको धारण करके मूढ़जन कहते हैं कि यह लिंग मोक्षका मार्ग है ॥३०८॥ किन्तु लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है क्योंकि लिंग शरीराश्रित होता है और शरीरसे निर्मोही अर्हन्त लिंग-को त्यागकर दर्शन ज्ञान और चारित्रकी आराधना करते हैं ॥४०९॥ अतः लिंग मोक्षका मार्ग नहीं है किन्तु दर्शन ज्ञान चारित्र ही मोक्षका मार्ग है ॥४१०॥ इसलिये साधु और गृहस्थोंके द्वारा गृहीत लिंगमें ममत्व छोड़कर दर्शन ज्ञान चारित्रमें अपनेको लगा ॥४११॥ जो साधुलिंगों और गृहस्थलिंगोंमें ममत्व करते हैं वे समयसारको नहीं जानते ॥४१३॥ व्यवहारनय साधुलिंग और गृहस्थलिंग दोनोंको मोक्षमार्गमें स्वीकार करता है। किन्तु निश्चयनय मोक्षमार्गमें किसी भी लिंगको स्वीकार नहीं करता ॥४१४॥

इस तरह ४१५ गाथाओंमें समयसार पूर्ण होता है। यह गाथा संख्या अमृत-चन्द्रसूरिकी टीकाके अनुसार है जयसेनाचार्यकी टीकाके अनुसार समयसारकी पद्यसंख्या ४३९ है।

समयसारमें यों तो गाथाएँ ही हैं, किन्तु ४ अनुष्टुप् भी हैं।

पूज्यपाद देवनन्दि

विक्रमकी छठी शताब्दीमें पूज्यपाद देवनन्दि नामके एक समर्थ जैनाचार्य हो गये हैं। यह सिद्धान्त शास्त्र, व्याकरण शास्त्र और वैद्यक शास्त्रमें निष्णात थे और उन्होंने उक्त तीनों ही विषयोंपर संस्कृत भाषामें ग्रन्थ रचना की है। इनके

जीवनादिके सम्बन्धमें आगे प्रकाश डाला जायगा। इनकी अध्यात्मविषयक दो कृतियाँ उपलब्ध हैं। उनमेंसे एकका नाम है इष्टोपदेश और दूसरीका नाम है समाधितंत्र।

इष्टोपदेश[1]—यह ५१ संस्कृत पद्योंका एक छोटा-सा अध्यात्मिक ग्रन्थ है। यह 'यथानाम तथा गुण' है। इसके अन्तिम पद्यमें ग्रन्थकारने कहा है कि बुद्धिमान भव्यजीव इस इष्टोपदेशको अच्छी तरहसे पढ़कर मान और अपमानमें समभावको रखे और आग्रहको छोड़कर वनमें अथवा ग्रामादिमें रहे। वह अनुपम मुक्तिलक्ष्मीको प्राप्त करता है।

ग्रन्थके पचास पद्य संस्कृत अनुष्टुप् छन्दमें है। एक-एक पद्य एक-एक मणिकी तरह बहुमूल्य है। संस्कृत बड़ी परिमार्जित और सरल है किन्तु उसमें जो उपदेश भरा हुआ है वह अमूल्य है। ५०वें पद्यमें कहा है—'जीव अन्य है और पुद्गल अन्य है' इस वाक्यमें सब तत्त्वोंका संग्रह हो जाता है। इसके सिवाय जो कुछ कहा जाता है वह इसीका विस्तार है'।

उसी विस्तारको करते हुए ग्रन्थकारने कहा है—'शरीर, मकान, स्त्री, पुत्र, मित्र, शत्रु ये सब अपनी आत्मासे भिन्न स्वभाववाले हैं। अज्ञानी इन्हें अपना मानता है ॥८॥ रात्रिके समय नाना देशों और दिशाओंसे आकर पक्षीगण वृक्षोंपर बसेरा लेते हैं और दिन निकलनेपर अपने-अपने कार्यवश विभिन्न देशों और दिशाओंको चले जाते हैं। वही दशा संसारकी है ॥९॥

जो निर्धन इसलिए धनका संचय करता है कि मैं इसके द्वारा धर्म कार्य करूँगा। वह स्नान करनेकी भावनासे अपने शरीरको कीचड़से लिप्त करता है ॥१॥

भोगोंकी निन्दा करते हुए लिखा है—आरम्भमें संताप देनेवाले, और प्राप्त हो जानेपर अतृप्तिको उत्पन्न करनेवाले तथा अन्तमें जिनको त्यागना अतिकष्ट साध्य होता है ऐसे भोगोंको कौन बुद्धिमान् चाहेगा ॥९७॥

शरीरकी निन्दा करते हुए लिखा है—जिसके संसर्गसे पवित्र पदार्थ भी अपवित्र हो जाते हैं जो सदा भूख रोग आदि व्याधियोंका घर है, उस शरीरकी स्वस्थताके लिए प्रार्थना करना व्यर्थ है।

1. इष्टोपदेश पं० आशाधर रचित संस्कृत टीकाके साथ प्रथमवार श्री माणिकचन्द दि० जैन ग्रन्थमाला बम्बईसे प्रकाशित 'तत्त्वानुशासनादिसंग्रह' में प्रकाशित हुआ था। तथा हिन्दी टीकाके साथ वीरसेवा मन्दिर, सरसावा (सहारनपुर) से प्रकाशित हुआ है।

आगे आत्माका स्वरूप और उसका ध्यान करनेकी प्रेरणा करते हुए कहा है यह आत्मा स्वसंवेदनसे स्पष्ट अनुभवमें आता है। यह स्वशरीर प्रमाण, अविनाशी है, अत्यन्त सुखका भण्डार है तथा लोक और अलोकका ज्ञाता दृष्टा है ॥२१॥

इन्द्रियोंको वशमें करके एकाग्र चित्तसे आत्माका आत्मामें आत्माके द्वारा ध्यान करो ॥२२॥ अज्ञानकी उपासनासे अज्ञान मिलता है और ज्ञानीके समागमसे ज्ञान मिलता है। सो ठीक है जिसके पास जो होता है वह वही तो देता है ॥२३॥

इस तरहके आत्मभावनापूर्ण उपदेशोंसे यह इष्टोपदेश भरा हुआ है। यद्यपि इसमें निश्चय और व्यवहारमूलक कथन भेदका चित्रण नहीं है किन्तु सारा उपदेश कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित आत्मस्थितिरूप अध्यात्मकी ओर ही ले जाता है। कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका उसपर स्पष्ट प्रभाव है। एक श्लोक तो उनकी गाथाकी छाया जैसा है। यथा—

एगो मे सासदो अप्पा णाणदंसणलक्खणो।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा ॥५९॥ भावश०

× × ×

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।
बाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥ इष्टोप०

समाधि तंत्र[1]—ग्रन्थकारने अन्तिम पद्यमें इस ग्रन्थका समाधितंत्र नाम दिया है। किन्तु टीकाकार प्रभाचन्द्रने अपनी टीका-प्रशस्तिमें इसका नाम 'समाधि-शतक' दिया है। इसमें १०५ पद्य हैं अतः इसे शतक संज्ञा देना अनुचित नहीं है। क्योंकि भर्तृहरिके नीतिशतकमें ११० और वैराग्यशतकमें ११३ पद्य हैं और समन्तभद्रके जिनशतकमें ११६ है। अतः १०५ पद्योंके होते हुए भी ग्रन्थको 'शतक' संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु ग्रन्थकारने स्वयं उसे समाधितंत्र नाम ही दिया है। यथा—

मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहं धियं च संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः।
ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठस्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितन्त्रम् ॥१०५॥

ग्रन्थके मंगल-श्लोकके द्वारा भी ग्रन्थकारने अविनाशी अनन्त ज्ञानस्वरूप सिद्धात्माको नमस्कार करते हुए कहा है कि उस सिद्धात्माने आत्माको आत्मा

---

१. समाधितन्त्र निर्णयसागर प्रेस, बम्बईसे प्रथम गुच्छकके अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् वीरसेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर)से प्रभाचन्द्राचार्य कृत संस्कृत टीका और हिन्दी टीकाके साथ प्रकाशित हुआ है।

रूप से और पर को पररूपसे जाना है। अर्थात् आत्माको आत्मरूपसे परको पररूप से जानना ही मोक्षका मार्ग है, यही आचार्य कुन्दकुन्दने कहा है।

दूसरे श्लोकके द्वारा पूज्यपादने 'जिनको' नमस्कार किया है और उनके विशेषण रूपसे शिव, धाता (ब्रह्मा), सुगत (बुद्ध) और विष्णु पदोंका प्रयोग किया है। प्रकारान्तरसे समन्वयकी यह भावना कम से कम जैन-परम्परामें तो पूज्यपादकी ही देन प्रतीत होती है। उनसे पहलेके किसी ग्रन्थमें इस प्रकारका प्रयोग नहीं देखनेमें आता।

तीसरे श्लोकके द्वारा पूज्यपादने कैवल्यसुखकी प्राप्तिके इच्छुक जनोंके लिए शुद्ध आत्माका कथन करनेकी प्रतिज्ञा की है और उसके लिए श्रुत, लिंग, समाहित अन्तःकरण और स्वानुभवको सहायक बतलाया है। यहाँ श्रुतसे उनका संकेत कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंकी ओर जान पड़ता है, क्योंकि इस ग्रन्थका विषय ही नहीं, किन्तु अनेक पद्य कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके शब्दशः ऋणी प्रतीत होते हैं।

आत्माका वर्णन प्रारम्भ करते हुए पूज्यपादने आत्माके तीन भेद किये हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा तथा बहिरात्माको छोड़कर अन्तरात्माके द्वारा परमात्माको अपनानेको कहा है। ठीक यही बात कुन्दकुन्दाचार्यने मोक्ष-प्राभृतमें कही है—

> तिपयारो सो अप्पा परमंतरबहिरो हु देहीणं।
> तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥ मो० पा०
> बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।
> उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद् बहिस्त्यजेत् ॥४॥ स० तं०

जो शरीरादिको आत्मा मानता है वह बहिरात्मा है। चित्त (विकल्प) और रागादि दोषोंसे भी आत्माको जो भिन्न अनुभव करता है वह अन्तरात्मा है। और जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है। ये लक्षण भी कुन्दकुन्दके अनुकरण रूप ही हैं। तथा—

आगे ग्रन्थकारने बहिरात्मा किस प्रकार शरीरादिको आत्मा मानता है इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि स्त्री, पुत्र आदिमें ममत्वबुद्धिके होनेसे अविद्या नामका एक संस्कार दृढ़ हो जाता है जिसके कारण यह अज्ञानी लोक शरीरको ही आत्मा मानता है। यह कथन भी कुन्दकुन्दके मोक्षप्राभृत की भी ११वीं गाथाका ही ऋणी है। किन्तु इसमें अन्तर यह है मिथ्या ज्ञानके स्थानमें अविद्या नामक संस्कारका निर्देश किया है, यथा—

> अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः।

आगे भी अविद्या[1] और संस्कार शब्दोंका प्रयोग किया गया है। बौद्धोंके द्वादशांग प्रतीत्य-समुत्पाद सिद्धान्तका पहला अंग है—अविद्याप्रत्ययाः संस्काराः। यह उसीका प्रभाव प्रतीत होता है; क्योंकि पूज्यपादके समयमें बौद्धदर्शनका गहरा प्रभाव था। उस समय तक अनेक प्रख्यात बौद्ध दार्शनिक हो चुके थे।

आगे अन्तरात्माका स्वरूप बतलाते हुए आत्माको अतीन्द्रिय और अनिर्देश्य कहा है—

यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।
अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥

आत्माके लिये यह अनिर्देश्य पद भी बौद्धोंके 'स्वलक्षणमनिर्देश्यं' का स्मरण कराता है।

परमात्माके स्वरूपको अनुभव करनेकी प्रक्रिया बतलाते हुए कहा है—

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना।
यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥

अर्थात् सब इन्द्रियोंको संयमित करके स्थिर अन्तरात्माके द्वारा क्षणभरके लिये अनुभव करनेवाले जीवको जो कुछ प्रतिभासित होता है वही परमात्माका स्वरूप है। बौद्धाचार्य धर्मकीर्तिने अपने प्रमाणवार्तिकमें निर्विकल्प दर्शनकी भी यही प्रक्रिया बतलायी है। यथा—

संहृत्य सर्वतश्चिन्तां स्तिमितेनान्तरात्मना।
स्थितोऽपि चक्षुषा रूपमीक्षते साऽक्षजा मतिः ॥२४॥
—३. परि.

दोनों श्लोकोंके द्वितीयचरण 'स्तिमितेनान्तरात्मना' ध्यान देने योग्य है। धर्मकीर्ति तो पूज्यपादके पश्चात् हुए हैं यह निश्चित है। अतः उक्तपद संभव है दिङ्नाग वगैरहका हो। जो हो। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि पूज्यपादने आत्मतत्त्वका वर्णन कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके आधारपर ही किया है। किन्तु अपने समयके बौद्धादि दर्शनोंके शब्दोंको जो उस समय विशेष रूपसे प्रचलित रहे होंगे, उन्होंने अपनाया है तथा बौद्धदार्शनिकोंने निर्विकल्पतत्त्वको जिस प्रकारसे अनिर्देश्य आदि बतलाया है, पूज्यपादने उस प्रक्रियाका अवलम्बन लेकर आत्मतत्त्वका प्रतिपादन किया है। आत्माका स्वरूप स्वसंवेद्य है, वचनोंके द्वारा उसे नहीं कहा जा सकता, इस बातका कथन करते हुए लिखा है—

१. 'अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।
तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥ स० तं०।
तद्ब्रूयात् तत्परान् पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत्।
येनाविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥५३॥ स० तं०।

यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।
ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ।।५९।।

जिस स्वरूपको समझानेकी मैं इच्छा करता हूँ उसे मैं समझा नहीं सकता । क्योंकि जो मेरा स्वरूप है उसे दूसरा अनुभव नहीं कर सकता । तब मैं दूसरोंको क्या समझाऊं ? आत्मा ही आत्माको संसार में भ्रमण कराता है और आत्मा ही आत्माको निर्वाण प्राप्त कराता है, अतः परमार्थसे आत्माका गुरु आत्मा ही है, दूसरा नहीं है—

नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च ।
गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ।।७५।।

कुन्दकुन्दाचार्यकी ही तरह पूज्यपाद स्वामीने भी मुक्तिके लिये पापकी तरह पुण्यको और पुण्यबन्धके कारण व्रतोंको भी त्याज्य बतलाया है तथा लिंग और जातिके भी आग्रहको त्यागनेका उपदेश दिया है । यथा—

अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।
अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ।।८३।।

× × ×

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताग्रहाः ।।८७।।
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भव. ।
न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ।।८८।।

इस तरह समाधितंत्रमें शरीरादिसे भिन्न एकमात्र आत्मतत्त्वकी उपासना का बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है । प्रत्येक श्लोक एक रत्नकी तरह बहुमूल्य है । साहित्यकी दृष्टिसे भी रचना अनमोल है ।

जोइंदु-योगीन्दु

जैन-परम्परामें जोइंदु या योगीन्दु एक महान् अध्यात्मवेत्ता हो गये हैं । किन्तु उनकी जीवनीके सम्बन्धमें कोई वर्णन नहीं मिलता । उनके ग्रन्थोंमें भी उनके जीवन तथा स्थानके बारेमें कोई निर्देश नहीं मिलता । उनके द्वारा रचित परमात्म-प्रकाशमें उनका नाम 'जोइंदु' आता है यथा—

भाविं पणविवि पंचगुरु सिरि-जोइंदु-जिणाउ ।
भट्ट पहायरि विण्णविउ विमलु करेविणु भाउ ।।८।।

अर्थात् शुद्ध भावसे पञ्चपरमेष्ठियोंको नमस्कार कर भट्ट प्रभाकर अपने परिणामोंको निर्मल करके श्री योगीइंदु जिनसे प्रार्थना करता है ।

परमात्म-प्रकाशके टीकाकार ब्रह्मदेवने अपनी संस्कृत टीकामें 'श्री जोइंदु

जिणाउ'का अर्थ 'श्रीयोगीन्द्रदेव नामा भगवान्' किया है। जयसेनने समयसारकी टीकामें तथा योगीन्द्रदेवैरप्युक्तम्' करके परमात्मप्रकाश का एक पद्य (१-६८) उद्धृत किया है। श्रुतसागरने कुन्दकुन्दके चरित्त पाहुड़ (गा० १५) की टीकामें 'उक्तं च योगीन्द्रनाम्ना भट्टारकेण' करके परमात्मप्रकाश से एक पद्य (१।१२१) उद्धृत किया है और इसी नामसे वह प्रसिद्ध हुए हैं। एक ग्रन्थ योगसार नामक है। शब्दों तथा भावोंकी समनताके कारण वह भी जोइंदु की रचना माना जाता है। किन्तु उसके अन्तिम पद्यमें ग्रन्थकार कर नाम 'जोगिचन्द' आता है। यथा—

संसारह भय-भीयएण जोगिचंद मुणिएण।
अप्पा संवोहण कया दोहा इक्कमणेण ॥१०८॥

'जोइंदु का संस्कृत रूपान्तर 'योगीन्दु' होता है जिसका अर्थ होता है 'योगीचन्द्र'। चन्द्रान्त नामोंका अनेक ग्रन्थकारोंने इन्दुके साथ प्रयोग किया है। यथा शुभचन्द्रका शुभेन्दु, प्रभाचन्द्रका प्रभेन्दु। अतः डा० ए० एन० उपाध्ये का वह सुझाव सर्वथा उचित प्रतीत होता है कि परमात्म-प्रकाशके रचयिता का नाम योगीन्द्र नहीं, किन्तु योगीन्दु था। वह नाम योगसार में दिये गये जोगिचंद नामसे एकदम मिलता है।

रचनाएं—परम्परासे आगे लिखे ग्रन्थ योगीन्दु रचित कहे जाते हैं—परमात्म-प्रकाश (अपभ्रंश), योगसार (अपभ्रं०), नौकार श्रावकाचार (अप०), अध्यात्म-सन्दोह (सं०), सुभाषित तंत्र (सं०), और तत्त्वार्थटीका (सं०)। इनके सिवाय दोहापाहुड (अप०), अमृताशीति (सं०) और निजात्माष्टक (प्राकृत) को भी योगीन्दुके साथ जोड़ा गया है। इनमेंसे अध्यात्म-सन्दोह और सुभाषित-तंत्र नामक ग्रन्थोंके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त नहीं है तथा तत्त्वार्थटीका के रचयिताका नाम योगदेव है। योगदेव योगीन्दु से भिन्न व्यक्ति हैं। टीकाकी प्रशस्तिमें इन्होंने अपनेको पं० बन्धुदेवका शिष्य बतलाया है।

डा० उपाध्ये[1] ने उक्त ग्रन्थोंके कर्तृत्व पर विस्तारसे विचार करके अन्तमें यही निष्कर्ष निकाला है कि जिस परम्पराके आधारपर परमात्म-प्रकाश और योग-सारके सिवाय शेष ग्रन्थोंको योगीन्दुरचित कहा जाता है, वह प्रामाणिक नहीं है। अतः वर्तमानमें परमात्म-प्रकाश और योगसार वे दो ग्रन्थ ही जोइंदु रचित सिद्ध होते हैं।

---

१. परमात्म-प्रकाश (रा० शा० मा०) की प्रस्तावना, पृ० ५७-६३।

परमात्म प्रकाश—यह ग्रन्थ भट्ट प्रभाकरके निमित्तसे लिखा गया है यह बात आदि और अन्तमें ग्रन्थकारने स्वयं स्वीकार की है। तथा मध्यमें भी कई स्थलोंपर भट्ट प्रभाकरको संबोधन करते हुए कथन किया गया है। प्रभाकर भट्ट प्रख्यात मीमांसक भी होगया है जो कुमारिलका समकालीन था। किन्तु यह भट्ट प्रभाकर उससे भिन्न होना चाहिए। ग्रन्थकारने लिखा है—पण्डित जनोको इस ग्रन्थमें पुनरुक्ति दोष नहीं देखना चाहिए; क्योंकि भट्ट प्रभाकरके कारण मैंने उसी बातको बारंबार कहा है। अतः भट्ट प्रभाकर परमात्माके स्वरूपको जाननेका इच्छुक कोई मुमुक्षु योगी था। यद्यपि इस ग्रन्थसे ऐसा प्रतीत होता है। इसीसे यह ग्रंथ मुख्य रूपसे मुनियोंको लक्ष्य करके रचा गया है। तथापि साधारणजनोंके लिए भी यह अत्यन्त हितकर है। क्योंकि ग्रन्थकारने ग्रन्थके अन्तमें कहा है—'जो मुनि भाव पूर्वक इस परमात्म प्रकाशका चिन्तन करते हैं वे समस्त मोहको जीतकर परमार्थको जानते है। अन्य भी जो भव्य जीव इस परमात्म प्रकाशको जानते हैं वे भी लोक और अलोकका प्रकाश करनेवाले प्रकाश (ज्ञान) को प्राप्त करते हैं। ॥२०४-२०५॥

शैली और भाषा—ग्रन्थकी शैली बहुत सरल है। इसका प्रथम कारण तो भट्ट प्रभाकर ही जान पड़ता है। उसको समझानेके लिए इसे सरल शैलीमें रचा गया जान पड़ता है। एक ही बातको बारंबार कहा गया है जिससे श्रोता समझ जायें। इसीसे शायद इसमें पारिभाषिक शब्दोंका भी बाहुल्य नहीं है। इसकी भाषा सुगम अपभ्रंश है। अपभ्रंश भाषाका सबसे पहले प्रकाशित[2] होनेवाला यही ग्रन्थ है। और संभवतया अबतक प्रकाशित अपभ्रंश साहित्यमें यह सबसे प्राचीन भी है। संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेवने परमात्म प्रकाशके दो भाग किये हैं। प्रथम अधिकारमें १२६ और दूसरेमें २१९ पद्य हैं। इनमें क्षेपक भी सम्मिलित हैं। ब्रह्मदेवने क्षेपकके भी दो भेद किये हैं—एक प्रक्षेपक जिसे

१ इत्थु ण लेवउ पंडियहिं गुणदोसु वि पुणरुत्तु। भट्ट पभायर कारणइँ मइँ पुणु-पुणु वि पउत्तु ॥२११॥ पर० प्र० २।

२. सन् १९०९ में देवबन्दके बाबू सूरजभानु वकीलने हिन्दी अनुवादके साथ इस ग्रन्थको प्रथमवार प्रकाशित किया था। सन् १९१५ में इसका अंग्रेजी अनुवाद आरासे प्रकाशित हुआ। सन् १९१६ में रायचन्द शास्त्र माला बम्बईने ब्रह्मदेवकी संस्कृत टीका और हिन्दी टीकाके साथ इसे प्रकाशित किया। १९३७ में उक्त शास्त्रमालाने डॉ० ए० एन० उपाध्यसे सम्पादित कराकर उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित किया। उसकी प्रस्तावनाका उपयोग इस ग्रन्थके परिचयादिमें किया गया है।

मूलमें सम्मिलित कर लिया गया है और दूसरा स्थल संख्याबाह्य प्रक्षेपक, जो मूलमें सम्मिलित नहीं किया गया है। तदनुसार प्रथम अधिकारमें मूल पद्य ११८, प्रक्षेपक ५ और स्थ० बा० प्र० ३ हैं। दूसरे अधिकारमें मूल पद्य २१४ और स्थ० बा० प्र० ५ हैं। किन्तु जिन आठ पद्योंको उन्होंने मूलमें सम्मिलित नहीं किया उनकी भी उन्होंने टीका की है।

मलधारी बालचन्द्रने परमात्म प्रकाशपर कन्नड़में एक टीका लिखी है। उन्होंने लिखा है कि मैंने ब्रह्मदेवकी टीका से सहायता ली है किन्तु उनके मूलमें ब्रह्मदेवके मूलसे ६ पद्य[1] अधिक हैं।

छन्द—ब्रह्मदेवके मूलके अनुसार परमात्म प्रकाशमें सब ३४५ पद्य हैं। उनमें ५ गाथाएँ, एक स्रग्धरा और एक मालिनी है किन्तु इनकी भाषा अपभ्रंश नहीं है। तथा एक चतुष्पादिका और शेष ३३७ दोहे हैं जो अपभ्रंशमें हैं।

विषय परिचय—प्रारम्भके सात दोहोंके द्वारा पंच परमेष्ठीको नमस्कार करनेके पश्चात् भट्ट प्रभाकर जोइंदुसे निवेदन करता है—

मउ संसारि बसंताहँ सामिय काल अणंतु।
पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्ख जि पत्तु महंतु ॥९॥
चउगइ दुक्खहं तत्ताहं जो परमप्पउ कोई।
चउगइ-दुक्ख-विणासयरु कहहु पसाएँ सो वि ॥१०॥

'हे स्वामिन्' इस संसारमें रहते हुए अनन्त काल बीत गया। परन्तु मैंने कुछ भी सुख नहीं पाया। उल्टा महान दुःख ही पाया। अतः चारों गतियोंके दुःखोंसे संतप्त प्राणियोंके चारो गति सम्बन्धी दुःखोंका विनाश करनेवाला जो कोई परमात्मा है उसका भी स्वरूप कहो।

इसके उत्तरमें जोइन्दु कहते हैं कि आत्माके तीन प्रकार हैं—मूढ़, विचक्षण और ब्रह्म। जो शरीरको ही आत्मा मानता है वह मूढ़ है ॥१३॥ जो शरीरसे भिन्न ज्ञानमय परमात्माको जानता है वह विचक्षण या पण्डित है ॥१४॥ और जिसने कर्मोंको नाश कर और शरीर आदि पर द्रव्योंको छोड़ कर ज्ञानमय आत्माको प्राप्त कर लिया है वह परमात्मा है ॥१५॥

कुन्दकुन्दाचार्य और पूज्यपादने आत्माके जिन तीन प्रकारोंका कथन बहिरात्मा अन्तरात्मा और परमात्माके नामसे किया है, जोइन्दुने उन्हींका कथन मूढ़, पण्डित और ब्रह्म या परमात्माके नामसे किया है। कुन्दकुन्दकी ही तरह जोइंदु भी नित्य, निरंजन, ज्ञानमय परमानन्द स्वरूप परमात्माका स्वरूप इस-प्रकार बतलाते हैं—

१. इनके लिए देखो—प० प्र० की प्रस्ता०, पृ० ९५

जासु ण वण्णु ण गंधु रसु जासु ण सद्दु ण फासु।
जासु ण जम्मणु मरणु ण वि णाउ णिरंजणु तासु ॥१९॥
जासु ण कोहु ण मोहु मउ जासु ण माय ण माणु।
जासु ण ठाणु ण झाणु जिय सोजि णिरंजणु जाणु ॥२०॥
अत्थि ण पुण्णु ण पाउ जसु अत्थि ण हरिसु विसाउ।
अत्थि ण एक्कु वि दोसु जसु सो जि णिरंजणु भाउ ॥२१॥

जिसके न वर्ण है, न गंध है, न रस है, न शब्द है, न स्पर्श है, न जन्म है और न मरण है उसका नाम निरंजन है। जिसके न क्रोध है, न मोह है, न मद है, न माया है, न मान है, जिसके न स्थान है, और न ध्यान है उसे निरंजन जानो। जिसके न पुण्य है और न पाप है, और न हर्ष विषाद है तथा जिसके एक भी दोष नहीं है वही निरंजन परमात्मा है।

कुन्दकुन्द आचार्यने भी आत्माको इन सब भावोंसे रहित बतलाया है। किन्तु जोइन्दु योगाभ्यासके साधन प्राणायाम मण्डल और मुद्रा आदिसे भी आत्माको पृथक् बतलाते हुए कहते हैं—

जासु ण धारण धेउ ण वि जासु ण जंतु ण मंतु।
जासु ण मंडलु मुद्द ण वि सो मुणि देउँ अणंतु ॥२२॥

जिस परमात्माके न धारणा है, न ध्येय है, न यंत्र है और न मंत्र है। तथा जिसके न मण्डल है और न मुद्रा है उसे देव (परमात्मा) जानो।

बौद्ध महायान सम्प्रदायकी दो शाखाएँ थी—मंत्रयान और वज्रयान। मंत्रयानमें मंत्रपदोंके द्वारा निर्वाणकी प्राप्ति मानी गई है। वज्रयानमें मंत्रों द्वारा तथा वज्र द्वारा निर्वाणका लाभ होता है। मंत्रयान तथा वज्रयानका साहित्य तंत्र कहलाता है। तंत्र साहित्यमें साधनाओंका भी समावेश है। साधनाओंमें मंत्रों मुद्राओं और ध्यानके द्वारा सिद्धियोंके अतिरिक्त सर्वज्ञता तथा निर्वाणके उपाय बताये गये हैं। सम्भवतया जोइन्दुका उक्त कथन तंत्रशास्त्रोंके उक्त साधनोंसे आत्माको भिन्न बतलाना प्रतीत होता है।

जैनधर्मके अनुसार आत्मा ही परमात्मा हो जाता है। अतः निश्चयनयसे आत्मा और परमात्मामें कोई अन्तर नहीं है। यही बात कुन्दकुन्दने मोक्ष प्राभृतमें कही है। जोइन्दुने भी लिखा है—'जैसा निर्मल ज्ञानमय देव मुक्तिमें निवास करता है वैसा ही पर ब्रह्म शरीरमें निवास करता है अतः दोनोंमें भेद मत कर ॥२६॥ यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि जोइंदुने आत्माके लिये ब्रह्म शब्दका प्रयोग विशेष रूपसे किया है जो उल्लेखनीय है।

१. बौ० ध० द०, पृ० १७६-१७७।

आत्मा अथवा जीवके स्वरूप और आकारके विषयमें विभिन्न मतोंका निर्देश तथा उन सब मतोंको जैनदृष्टिसे मान्य करते हुए जोइन्दुने लिखा है—कोई जीवको सर्वगत कहते हैं। कोई जड़ कहते हैं। कोई जीवको शरीर प्रमाण कहते हैं और कोई उसे शून्य भी कहते हैं।।५०।। ये चारों ही कथन ठीक हैं। कर्म बन्धनसे रहित आत्मा केवल ज्ञानके द्वारा लोकालोकको जानता है, इसलिये उसे सर्वगत कहते हैं ।।५२।। आत्मज्ञानमें लीन जीव इन्द्रिय जनित ज्ञानसे रहित हो जाते हैं इसलिए उन्हें जड़ जानों, क्योंकि जड़ पदार्थ इन्द्रियज्ञानसे रहित होता है ।।५३।। शरीरके बन्धनसे रहित हुआ शुद्ध जीव अन्तिम शरीर प्रमाण ही रहता है, न वह घटता है और न बढ़ता है अतः उसे जिनेन्द्रदेवने शरीर प्रमाण कहा है ।।५४।। शुद्ध जीव आठों कर्मोंसे और अट्ठारह दोषोंसे शून्य होता है इसलिए उसे शून्य कहते हैं ।।५५।।

कुन्दकुन्दने भी प्रवचनसार (१।२६) में इसी प्रकार आत्माको सर्वगत बतलाया है। तथा पञ्चास्ति० (३६) में कहा है कि आत्मा न किसीका कारण है और न कार्य। जोइन्दुने भी (५६) यही बात कही है। तथा जीव और कर्मके सम्बन्धको अनादि बतलाया है। अन्तमें सम्यग्दृष्टिका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—जो आत्माको आत्मा जानता है वह सम्यग्दृष्टि है ।।७६।।

इसतरह पहले अधिकारमें आत्माका बहुत ही सरल और सुन्दर वर्णन है। दूसरे अधिकारमें मोक्ष, मोक्षका फल और मोक्षके कारणका कथन किया गया है। प्रथम ग्यारह गाथा पर्यन्त मोक्ष और उसके फलका कथन है। पश्चात् मोक्षके कारणोंका कथन है। जोइंदुने भी कुन्दकुन्दकी तरह ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको मोक्षका कारण बतलाकर उन तीनोंको निश्चय दृष्टिसे आत्म स्वरूप ही बतलाया है (२।१२)। आगे समभावकी बहुत प्रशंसा की है।

कुन्दकुन्दाचार्यने मोक्ष प्राभृतमें (२।३१) तथा पूज्यपादने समाधितंत्र (७८) में व्यवहारमें सोनेवालेको आत्म कार्यमें जाग्रत और व्यवहारमें जाग्रतको आत्मकार्यमें सुषुप्त बतलाया है। किन्तु जोइन्दुने गीताके[1] एक श्लोकका अनुसरण करते हुए लिखा है कि समस्त प्राणियोंके लिए जो निशा है उसमें योगी जागत है और जिसमें सकल जगत जागता है उसको रात्रि मानकर योगी सोता है—

१. 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। गी० २-६९। 'जा णिसि सवलहँ देहियहँ जोग्गिउ तहिं जग्गेइ। जहिं पुण जग्गइ सयलु जगु सा णिसि मुणिवि सुवेइ—प० प्र० २।४६।

१. हेमचन्द्राचार्यने अपने अपभ्रंश-व्याकरणके सूत्रोंके उदाहरणमें थोड़े बहुत परिवर्तनके साथ परमात्मा प्रकाशसे कुछ दोहे उद्धृत किये हैं तथा अन्य भी कुछ सामग्री ली है। जिससे यह प्रकट होता है कि हेमचन्द्र परमात्मप्रकाशसे परिचित थे। हेमचन्द्रका जन्म १०८९ ई० में हुआ था और स्वर्गवास ११७३ ई० में हुआ था। डा० उपाध्येका कहना है कि किसी भाषाके इतिहासमें यह कोई अनहोनी बात नहीं हैं कि साहित्यिक रूपमें अवतरित होनेके बाद ही उस भाषा के विशाल व्याकरणोंकी रचना की जाती है। अतः इस कल्पनाके लिए कि हेमचन्द्रके द्वारा निबद्ध अपभ्रंश ही उस समयकी प्रचलित भाषा थी, पर्याप्त साधनोंका अभाव है। यह कहना अधिक युक्ति संगत प्रतीत होता है कि अपने व्याकरणके द्वारा उन्होंने अपभ्रंशके साहित्यिक रूपको निबद्ध किया है। और यह रूप उनके समयमें प्रचलित भाषाके पूर्वका अथवा उससे भी अधिक प्राचीन रहा होगा; क्योंकि व्याकरणका आधार केवल बोल चालकी भाषा नहीं होती। अतः हेमचन्द्रसे कम से कम दो शताब्दी पूर्व जोइंदुका समय मानना होगा।

२. प्रो० हीरालालजीने दोहा पाहुडकी प्रस्तावना (पृ० २२) में लिखा है कि हेमचन्द्रने रामसिंहके दोहा पाहुडसे कुछ पद्य उद्धृत किये हैं और रामसिंहने जोइंदुके योगसार और परमात्म प्रकाशसे बहुतसे दोहे लेकर अपनी रचनाको समृद्ध बनाया है। अतः जोइंदु हेमचन्द्रके केवल पूर्ववर्ती ही नहीं हैं किन्तु उन दोनोंके मध्यमें रामसिंह हुए हैं।

३. देवसेन कृत तत्त्वसारके अनेक पद्य परमात्म प्रकाशके ऋणी प्रतीत होते हैं। उदाहरणके लिये यहाँ दो तीन पद्य दिये जाते हैं—

उदयहँ आणिविकम्मु मइँ जं भुंजेवउ होइ।
तं सइ आविउ खविउ मइँ सो पर लाहु जि कोइ ॥१८३॥-पर० प्र० २।

जं होइ भुंजियव्वं कम्मं उदयस्स आणियं तवसा।
सय मागयं च तं जइ सो लाहो णत्थि संदेहो ॥५०॥–त० सा०।

× × ×

विसयकसायहि मणसलिलु ण वि डहुलिज्जइ जासु।
अप्पा णिम्मलु होइ लहु वढ पच्चक्खु वि तासु ॥१५६॥-पर. प्र. २।

रायद्दोसादीहि य डहुलिज्जइ णेव जस्स मणसलिलं।
सो णियतच्चं पिच्छइ ण हु पिच्छइ तस्स विवरीओ ॥४०॥-त. सा.

इन दोनों पद्योंका पूर्वार्ध तो शब्दशः भी मेल खाता है। ऐसे और भी अनेक पद्य उपस्थित किये जा सकते हैं।

तत्त्वसारके रचयिता देवसेनने ही परमात्म प्रकाशका अनुसरण किया जान पड़ता है क्योंकि उन्होंने अपनी अन्य कृतियोंमें भी पूर्वाचार्योंका अनुसरण किया है। देवसेनने विक्रम सम्वत् ९९० में (९३३ ई०) में अपना दर्शनसार रचा था। अतः यह निश्चित है कि जोइंदु उससे पहले हो गये हैं।

४. योगसारका ६५ वां दोहा इस प्रकार है—

विरला जाणहिं तत्तु बुहु विरला णिसुणहिं तत्तु।
विरला झायहिं तत्तु जिय विरला धारहिं तत्तु ॥६५॥

और कार्तिकेयानुप्रेक्षाकी एक गाथा इस प्रकार है—

विरला णिसुणहिं तच्चं विरला जाणंति तच्चदो तच्चं।
विरला भावहि तच्चं विरलाणं धारणा होदि ॥२७९॥

का० अ० अपभ्रंश भाषामें नहीं लिखी गई है। अतः वर्तमानकाल तृतीय पुरुषके बहुवचनके रूप 'णिसुणहि' और 'भावहि' उसमें जबरन घुस गये हैं। किन्तु योगसार में वे ही रूप ठीक हैं क्योंकि उसकी भाषा अपभ्रंश है। दोनों पद्योंका आशय एक है। केवल दोहेको गाथाका रूप दे दिया गया है। और डॉ० उपाध्येके अनुसार का० अ० के रचयिता कुमार ने ही जोइंदुके दोहेको गाथाका रूप दिया है। अतः उन्होंने जोइंदुको कुमारसे प्राचीन माना है।

५. प्राकृत लक्षणके कर्ता चण्डने अपने सूत्र 'यथा तथा अनयोः स्थाने' के उदाहरणमें निम्नलिखित दोहा उद्धृत किया है—

काल लहेविणु जोइया जिम-जिम मोहु गलेइ।
तिम-तिम दंसणु लहइ जो णियमें अप्पु मुणेइ ॥

यह परमात्म प्रकाशके प्रथम अधिकारका ८५ वां दोहा है। दोनों में केवल इतना अन्तर है कि परमात्म प्रकाशमें 'जिम' के स्थानपर 'जिमु' तिमके स्थान पर 'तिमु' तथा 'जो' के स्थान पर 'जिउ' पाठ है। चण्डके समयके बारेमें अनेक मत हैं। उनमेंसे गुणेका मत है कि चण्ड उस समय हुए हैं जब अपभ्रंश भाषा केवल आभीरोंके बोलचाल की ही भाषा नहीं थी बल्कि साहित्यिक भाषा हो चुकी थी। अर्थात् ईसाकी छट्ठी शताब्दीके बादमें। इस प्रकार चण्डके व्याकरणके व्यवस्थित रूपका समय सातवीं शताब्दी रखा जा सकता है। अतः परमात्म-प्रकाश उससे प्राचीन होना चाहिये।

६. जो इंदुके परमात्म प्रकाशके तुलनात्मक अध्ययनसे यह स्पष्ट है उनका ग्रन्थ कुन्दकुन्दके मोक्ष प्राभृत और पूज्यपाद के समाधिशतक का ऋणी है। परमात्म प्र० (१।१२१-४) में जो आत्माके तीन प्रकारोंका वर्णन है वह मोक्खपाहुड (४-८) से बिल्कुल मिलता है। सम्यग्दृष्टी और मिथ्यादृष्टिकी परि-

भाषाएँ भी (पर० प्र० १।७६–७७) कुन्दकुन्दके मो० पा० (१४–१५) में दी गई परिभाषाओं जैसी ही हैं। और ब्रह्मदेवने उक्त दोहोंकी टीकामें मो० पा० की दोनों गाथाओंको उद्धृत भी किया है। इसी तरह और भी गाथाओं और दोहोंमें समानता है। यथा-मो० पा० २४ और प० प्र० १।८६। मो० पा० ३७ और प० प्र० २।१३। मो० पा० ५१ और प० प्र० २।१७६-१७७। आदि। मोक्ख पाहुड़ आदिकी संस्कृत टीकामें श्रुतसागर सूरिने प० प्रकाशके जो दोहे उद्धृत किये हैं उससे भी उक्त बात का ही समर्थन होता है। अतः यह स्पष्ट है कि जोइन्दु कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं।

७. पूज्यपादके समाधि शतक और परमात्म प्रकाशके तुलनात्मक अध्ययनसे दोनोंमें घनिष्ठ समानता प्रतीत होती है। समानताके निदर्शक कुछ उल्लेख इस प्रकार है—स० श० ४-५ और प० प्र० १।११-१४; स० श० ३१ और प० प्र० २।१७५, १।१२३ २; स० श० ६४-६६ और प० प्र० २।१७८-१८०; स० श० ७० और प० प्र० १।८०। दोनों ग्रन्थोंमें गहरा विचार साम्य भी है किन्तु शैलीमें अन्तर है। वैयाकरण होनेके कारण पूज्यपादके उद्गार संक्षिप्त, भाषा परिमार्जित और भाव व्यवस्थित हैं। किन्तु योगीन्दुने उसी बातको विस्तारसे और सरल करके कहा है। फिर भी उनके कुछ दोहे समाधि शतकके श्लोकोंके रूपान्तर जैसे प्रतीत होते हैं। यथा—

> यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः।
> अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥-स० श०।
> जो परमप्पा णाणमउ सो हउँ देउ अणंतु।
> जो हउँ सो परमप्पु परु एहउ भावि णिभंतु ॥१७५॥-प० प्र०
>
> × × ×
>
> जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं न जीर्णं मन्यते तथा।
> जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥-स० श०
> जिण्णि वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु।
> देहिं जिण्णि णाणि तहँ अप्प ण मण्णइ जिण्णु ॥१७९॥-प० प्र०
>
> × × ×
>
> नष्टे वस्त्रे यथात्मानं न नष्टं मन्यते तथा।
> नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥-स० श०
> वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु।
> णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥१८०॥ प० प्र०

अतः डॉ० उपाध्येने परमात्म प्रकाशको समाधि शतक और चण्डके प्राकृत लक्षणके मध्यकालकी रचना माना है। चूँकि पूज्यपादका समय ईसाकी पाचवीं

शताब्दीके अन्तिम पादसे कुछ पूर्व है। और चण्डके प्राकृत लक्षणके व्यवस्थित रूपका समय ईसाकी सातवीं शताब्दीके लगभग अनुमान किया गया है। अतः डॉ० उपाध्येने जोइन्दुका समय ईसाकी छठी शताब्दी माना है।

किन्तु परमात्म प्रकाशकी एक गाथा (२।६०) तिलोय पण्णत्ति में (९-५८) ज्योंकी त्यों पाई जाती है केवल अन्तिम चरणमें थोड़ा अन्तर है।यथा—

पुण्णेण होइ विहवो विहवेण मओ मएण मइ मोहो।
मइ मोहेण य पावं ता पुण्णं अम्ह मा होउ ॥६०॥-प० प्र०

ति० प० में अन्तिम चरण है 'तम्हा पुण्णो वि वज्जेज्जो'। दोनोंके अभिप्रायमें कोई अन्तर नहीं है। प० प्र० के दूसरे अधिकारमें उक्त गाथा प्रकरण संगत है। ५३ वें दोहे से ६४ तक पुण्य और पाप दोनोंको त्याज्य बतलाया है। उसीके मध्यमें उक्त गाथा है। कुल ५ गाथाएँ परमात्मप्रकाशमें हैं और वे सब अपभ्रंशमें नहीं हैं। केवल दोहोंकी भाषा अपभ्रंश है।

उधर ति० प० नौवां अध्यायमें कुन्दकुन्दके समयसार प्रवचनसारकी अनेक गाथाएँ भरी हुई हैं। उन्हींके बीचमें उक्त गाथा भी है। अतः उक्त गाथा प० प्र०से ही ति० प०में ली गई प्रतीत होती है।

प्रवचनसार गाथा १-७७का रूपान्तर पर० प्रकाश दोहा (१-५५) के रूपमें वर्तमान है। उक्त ६०वीं गाथा भी प्रव० (१।७४-७५) का आशय लेकर ही बनाई गई जान पड़ती है। उन गाथाओंमें कुन्दकुन्दाचार्यने कहा है कि यदि पुण्यकर्म होता है तो वह देव पर्यन्त प्राणियोंको विषयोंकी तृष्णा उत्पन्न करता है। उस तृष्णाके वशीभूत हुए वे प्राणी तृष्णासे दुखी होकर जीवनपर्यन्त विषयसुखको भोगते रहते हैं और उसीकी इच्छा करते हैं।

इसी बातको जोइन्दुने प० प्र०में बड़े सुन्दर ढंगसे उक्त गाथामें कहा है कि पुण्यसे वैभव मिलता है। वैभव पाकर मद होता है मदसे बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और बुद्धिके भ्रष्ट होनेपर जीव पापका संचय करता है।

अतः उक्त गाथा जोइन्दुकृत होनी चाहिये। ऐसी स्थितिमें प्रवचनसार ति० प०से पूर्वका ठहरता है।

उक्त दोहेके आगे अशरण और एकत्व भावनासे सम्बद्ध (६८-७०) तीन दोहें हैं। आगे एक दोहे (९८) के द्वारा पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यानोंके नाम गिनाये हैं। उससे आगे दोहा (९९-१०३) द्वारा सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहार विशुद्धि और सूक्ष्म साम्पराय संयमका स्वरूप बतलाया है। यथाख्यातका स्वरूप छूट गया है। अन्तमें कहा है कि जो सिद्ध हो चुके हैं, जो सिद्ध होंगे और जो वर्तमानमें हो रहे हैं वे सब आत्मदर्शनसे ही सिद्ध हुए हैं ॥१०७॥

कुन्दकुन्दाचार्यकी[1] तरह ही जोइन्दुने भी लिखा है कि जो जीव पुण्य और पापको समान नहीं मानता वह मोहके वशीभूत होकर चिरकालतक भ्रमण करता है। इतना ही नहीं, किन्तु जोइन्दुने उस पापको अच्छा बतलाया है जो जीवको दुःख देकर उसे मोक्षकी तरफ लगाता है ।।५६।। इसी प्रकरणमें पुण्यकी बुराई करनेवाली एक गाथा (२।६०) आती है जो तिलोय पण्णत्ति (९।५२)में भी है। इससे आगेवाले दोहेमें आर्य शान्तिका मत आया है जिसमें लिखा है कि देव, शास्त्र और मुनिवरोंकी भक्तिसे पुण्य होता है, कर्मोंका क्षय नहीं होता ऐसा आर्य शान्ति कहते हैं ।।६१।।

कुन्दकुन्दकी तरह ही जोइन्दुने भी वन्दना, निन्दा, प्रतिक्रमण आदिको पुण्यका कारण बतलाकर एक मात्र शुद्ध भावको ही उपादेय बतलाया है। लिखा है—शुद्धोपयोगीके ही संयम शील और तप होता है, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान होता है तथा उसीके कर्मोंका क्षय होता है अतः शुद्धोपयोग ही प्रधान है ।।६७।।

अरे जीव ! जहाँ तेरा जी चाहे वहाँ जा और जो तेरी इच्छा हो, वह कर। किन्तु जब तक चित्तकी शुद्धि नहीं है, मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता ।।७०।।

आत्म ज्ञानसे विहीन योगियोंका तीर्थ पर्यटन, चेला चेलियोंका पालन पोषण सब निरर्थक है। जो जिनलिंग धारण करके भी परिग्रह रखते हैं उन्हें वमनका खानेवाला कहा है ।।९१।। भिक्षामें मिष्ट भोजनकी कामना रखनेवाले नग्न भेष-धारी मुनियोंकी भी भर्त्सना की है ।।१११-२।।

अन्तमें विषयोंमें आसक्तिकी बुराई बतलाकर आत्माका ध्यान करनेपर जोर दिया है। दोनों अधिकारोंका अन्तिम भाग अध्यात्मपूर्ण उपदेशोंसे भरा हुआ है।

योगसार[2]—यह एक १०८ दोहोंका, जिनमें एक चौपाई और दो सोरठा भी सम्मिलित है, एक छोटा सुन्दर ग्रन्थ है। इसे परमात्म प्रकाशका सार कह सकते है, क्योंकि जो परमात्म प्रकाशका विषय है वही योगसारका भी विषय है। इसके आरम्भमें भी आत्माके उक्त तीन प्रकारोंका कथन उसी रीतिसे किया गया है और लिखा है कि यदि जीव तू आत्माको आत्मा समझेगा तो

---

१. 'ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसोत्ति पुण्ण पावाणं। हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो। प्रव० सा० १-७७।
जो ण वि मण्णइ जीउ समु पुण्णु वि पाउ वि दोइ। सो चिरु दुक्खु सहंतु जिय मोहिं हिंडइ लोइ—प० प्र० २।५५।

२. योगसारका प्रकाशन भी हिन्दी अनुवादके साथ रायचन्द्र जैनशास्त्र मालासे हुआ है। परमात्म प्रकाशके अन्तमें उसीके साथ इसे जोड़ दिया गया है।

निर्वाण प्राप्त करेगा। किन्तु यदि पर पदार्थोंको आत्मा मानेगा तो संसारमें भटकेगा ॥१२॥

कुन्दकुन्दने[1] कर्मविमुक्त आत्माको परमात्मा बतलाते हुए उसे ज्ञानी, परमेष्ठी, सर्वज्ञ, विष्णु, चतुर्मुख और बुद्ध कहा है। योगसारमें भी उसके जिन, बुद्ध, शिव आदि नाम बतलाये हैं। जोइन्दुने भी कुन्दकुन्दकी तरह निश्चय और व्यवहार नयोंके द्वारा आत्माका कथन किया है। योगसारमें दोनों दृष्टियाँ विशेष रूपसे मिलती हैं।

लिखा है— श्रुतकेवलीने कहा है कि देव न देवालयमें है और न तीर्थोंमें। देव तो शरीर रूपी देवालयमें है यह निश्चयसे जानो ॥४२॥ देव तो शरीर रूपी देवालयमें है और लोग उसे देवालयोंमें देखते हैं। यह देखकर मुझे हंसी आती है ॥४३॥

योगसारके अध्ययनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि परमात्म प्रकाशकी तरह उसका विषय क्रमवद्ध नहीं है किन्तु यह एक संग्रह जैसा प्रतीत होता है। इसमें एक दोहा आता है—

> विरला जाणहि तत्तु बुह विरला णिसुणहि तत्तु।
> विरला झायहि तत्तु जिय विरला धारहि तत्तु ॥६६॥

'विरले जन तत्त्वको जानते हैं, विरले ही तत्त्वको सुनते हैं, विरले ही तत्त्वका ध्यान करते हैं और विरले हो तत्त्वको धारण करते हैं।

इसका पूर्वापर सम्बन्ध वैठाया जा सकता है किन्तु अपने स्थानपर यह फिट नहीं बैठता। इसी दोहेका गाथा रूप कार्तिकेयानुप्रेक्षा (गा० २७१) में पाया-जाता है।ति०प०के सम्बन्ध में पहले विस्तारसे प्रकाश डाला जा चुका है। उसका वर्तमान रूप सन्दिग्ध है। फिर भी उसमें जो भगवान महावीरके निर्वाणसे लेकर एक हजार वर्षकी काल गणना दी है उससे वह विक्रमकी छठी शताब्दीके पूर्वकी रचना सिद्ध नहीं होती है। ऐसी स्थितिमें जोइन्दुके परमात्मप्रकाशको समाधिशतक और तिपण्णत्तिके मध्यकालकी रचना मानना चाहिये। संभव है कि जो इन्दु पूज्यपादके लघुसमकालीन हों अथवा उनके पश्चात् तुरन्त ही हुए हों। अतः जोइन्दु विक्रमकी छठी शताब्दीके ग्रन्थकार होने चाहिये।

---

१. 'णाणी सिव परमेट्ठी पव्वण्हु विण्हु चउमुहो बुद्धो। अप्पोविय परमप्पो कम्म-विमुक्को य होइ फुद्रो ॥१४९॥ ।—भा० प्रा०। णिम्मल णिक्कलु सुद्धु जिणु विण्हु बद्ध सिव संतु। सो परमप्पा जिण भणिउ एहउ जाणि णि भंतु ॥९॥ यो० सा०।

अन्तिम दोहेमें लिखा है कि संसारके भयसे भीत जोगिचन्द मुनिने अपने सम्बोधनके लिए इन दोहोंको रचा है।

जोइन्दु ओर जोगिचन्द नामोंमें कोई अन्तर नहीं है। तथा परमात्म प्रकाश और योगसारके विषयमें ही समानता नहीं हैं, किन्तु पदों और शब्दोंमें भी समानता है। दोनों ग्रन्थोंके मंगलाचरणोंके कुछ अन्तिम चरण एक हैं यथा—

जे जाया झाणग्गियए कम्मकलंक डहेवि।
णिच्च णिरंजणणाणमय ते परमप्प णवेवि ॥१॥—प० पु०
णिम्मलझाण परिट्ठया कम्मकलंक डहेवि।
अप्पा लद्धउ जेण परु ते परमप्प णवे वि ॥१॥ यो० सा०।

दोनों ग्रन्थोंका प्रारम्भ भी जिस दोहेसे हुआ है उसमें भी समानता है—

गउ संसार बसंताहँ सामिय कालु अणंतु।
पर मइँ किं पि ण पत्तु सुहु दुक्खु जि पत्तु महंतु ॥९॥ प० प्र०
कालु अणाइ अणाइ जिउ भव सायरु जि अणंतु।
मिच्छा दंसण मोहियऊ ण वि सुहु दुक्ख जि पत्तु ॥४॥

इस तरहकी समानता बहुतायतसे पाई जाती है। अतः योगसार भी अवश्य ही परमात्म प्रकाशके कर्ताकी ही कृति है।

●

जैनसाहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

तृतीय अध्याय

अध्यात्म-विषयक टीका-साहित्य

द्वितीय अध्यायमें अध्यात्म-विषयक मूल-साहित्यका ईतिवृत्त निबद्ध किया जा चुका है। इस अध्यायमें अध्यात्म-विषयक टीका-साहित्यका प्रतिपादन किया जायगा।

आचार्य अमृतचन्द्रसूरि टीकाकार होते हुए भी मूलग्रन्थ रचनेकी क्षमतासे युक्त हैं। समयसारकी टीकामें उन्होंने 'कलश' नामसे जिन पद्योंको ग्रथित किया है उत्तरकालमें उन पद्योंका संकलन 'समयसार-कलश' नामसे ग्रन्थरूपमें अभिहित हुआ। अतएव अध्यात्म-विषयक टीका-साहित्य प्रमेयकी दृष्टिसे उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना मूल अध्यात्म-साहित्य।

इस अध्यायमें टीका-साहित्यके अतिरिक्त ऐसे लघुकाय ग्रन्थोंका भी विवेचन रहेगा, जो उत्तरकालमें उक्त साहित्यके आधारपर लिखे गये हैं।

टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि

कुन्दकुन्दके समयसार, और पञ्चास्तिकायके टीकाकार अमृतचन्द्रसूरि कुन्दकुन्दाचार्यके सफल व्याख्याता और अध्यात्मवेत्ता थे। इनकी टीकाएँ ही इनकी विद्वत्ता, वाग्मिता और प्राञ्जल शैलीकी परिचायक हैं। इन्होंने अपनी किसी भी कृतिमें अपने सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। अतः वे कब हुए और उनके गुरु आदि कौन थे, यह सब एक तरहसे अज्ञात है। केवल उनकी कृतियोंसे ही उनके व्यक्तित्वको समझा जा सकता है।

जैनपरम्पराके आध्यात्मिक विद्वानोंमें कुन्दकुन्दके पश्चात् यदि किसीका नाम आदरके साथ लिया जा सकता है तो वे अमृतचन्द्र ही हैं। अतः उन्होंने अपनी टीकाओंके अन्तमें भी अपने उसी अध्यात्मभावका ही परिचय देते हुए लिखा[1] है—

१. 'स्वशक्ति संसूचित वस्तुतत्त्वैर्व्याख्या कृतेयं समयस्य शब्दैः।
स्वरूपगुप्तस्य न किञ्चिददस्ति कर्तव्यमेवामृतचन्द्रसूरेः॥'
—समयसार टीका तथा पञ्चा० टी० के अन्तमें यह पद्य है।

आगमकी यह व्याख्या अपनी शक्तिसे वस्तु तत्त्वको सूचित करनेवाले शब्दोंके द्वारा की गई है। अपने स्वरूपमें लीन अमृतचन्द्रके लिये कुछ भी करणीय नहीं है। अपने एक ग्रन्थके[1] अन्तमें लिखा है—'तरह-तरहके वर्णोंसे पद बन गये। पदोंसे वाक्य बन गये और वाक्योंसे यह पवित्र शास्त्र बन गया। मैंने कुछ भी नहीं किया।' कुन्दकुन्दके समयसारमें जो आत्माको परवस्तुका अकर्ता बतलाया है, उसीका अनुसरण करते हुए अमृतचन्द्रने अपनी कृतियोंमेंसे अपने कर्तृत्वके भावका परिहार उक्त शब्दोंमें किया है। जो इस तरह अपनी कृतियोंका कर्ता भी अपनेको नहीं बतलाता उससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि वह अपने सांसारिक सम्बन्धोंके विषयमें कुछ प्रकट करेगा।

पं० आशाधरने अनगार धर्मामृतकी टीकामें[2] अमृतचन्द्रसूरिका उल्लेख ठक्कुर पदके साथ किया है। ठक्कुरका हिन्दी रूप ठाकुर है। जागीरदारों और ओहदेदारोंको ठाकुर कहते हैं। वे प्रायः क्षत्रिय होते हैं। कुछ ब्राह्मण भी ठाकुर कहे जाते हैं। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि अमृतचन्द्रसूरि कौन ठाकुर थे। फिर भी इससे व्यक्त होता है कि वे किसी सम्मानित कुलके थे। इसके सिवाय उनके सम्बन्धमें और कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

रचनाएँ—अमृतचन्द्रकी पाँच रचनाएँ वर्तमानमें उपलब्ध हैं। १ पुरुषार्थ सिद्धयुपाय इसका दूसरा नाम 'जिनप्रवचनरहस्यकोश' भी है। इसमें श्रावकाचार-का वर्णन है। संस्कृत भाषामें आर्याछन्दमें इसकी रचना की गई है। २ दूसरी रचना है तत्त्वार्थसार। यह तत्त्वार्थसूत्रका एक श्लोकबद्ध रूप है। इन दो ग्रन्थोंके सिवाय तीन टीका ग्रन्थ हैं। समयसारकी टीकाका नाम आत्म-ख्याति है। प्रवचनसारकी टीकाका नाम तत्त्वदीपिका है। और पञ्चास्तिकायकी टीकाका नाम तत्त्वप्रदीपिका वृत्ति है। इन तीनों टीकाओंके अन्तमें अमृतचन्द्रने अपना नाम दिया है।

इनके सिवाय समयसार कलश नामसे भी अमृतचन्द्रकी एक कृति मिलती है और उसपर शुभचन्द्रकृत टीका भी है। किन्तु वास्तवमें वह कोई स्वतंत्र कृति नहीं है किन्तु समयसारकी टीकामें आगत पद्योंका एक संकलनमात्र है। वे पद्य अति सुन्दर और अध्यात्मरससे भरे हुए हैं। इसलिये किसीने उनका पृथक्

१. 'वर्णैः कृतानि चित्रैः पदानि तु पदैः कृतानि वाक्यानि। वाक्यैः कृतं पवित्रं शास्त्रमिदं न पुनरस्माभिः॥'—पु० सि०।

२. 'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रसूरिविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यम्।'
—अन० ध० टी० पृ० ५८८

संकलन करके उसे समयसार कलश संज्ञा देदी है। अमृतचन्द्रकी उक्त पाँचों रचनाएँ सुललित सुन्दर संस्कृतमें है ।

कुन्दकुन्दाचार्यके प्राकृत भाषामें निबद्ध ग्रन्थोंकी टीका रचनेसे यह तो स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र प्राकृत भाषाके भी विद्वान थे। किन्तु उन्होंने प्राकृतमें भी ग्रन्थरचनाकी हो ऐसा कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु डॉ० ए० एन० उपाध्येने लिखा[1] है कि समयसार टीकाकी कुछ प्रतियोंके अन्तमें एक प्राकृत गाथा पाई जाती है जो संभवतया अमृतचन्द्रकी रची हुई है। तथा मेघविजय गणीने कुछ प्राकृत गाथाओंको अमृतचन्द्रकी बतलाया है जो उनके द्वारा प्राकृतमें रचित श्रावकाचारकी बतलाई गई हैं।'

मेघविजयगणिने अपने युक्ति प्रबोध नाटककी संस्कृत टीकामें अमृतचन्द्रके नामसे पाँच गाथाओंका उल्लेख किया है यह ठीक है। किन्तु उनमेंसे चार गाथाएँ कुन्दकुन्दके समयसार और प्रवचनसार की है। गणिजीने[2] मूलग्रन्थ और उसकी टीकाको एक ग्रन्थ मानकर उसका कर्ता कुन्दकुन्द और अमृतचन्द्र दोनोंको बतलाया है। श्रावकाचारके नामसे जो संस्कृत पद्य उद्धृत किये गये हैं वे सब पुरुषार्थ सिद्धयुपायके हैं। केवल एक गाथा ऐसी है जो ढाढसी गाथाओंमें पाई जाती है।

किन्तु गणिजीने उसे 'इतिहासे, श्रावकाचारे अमृतचन्द्रोऽप्याह' कहकर उद्धृत किया है। उस गाथामें[3] कहा है—'कोई भी संघ, चाहे वह काष्ठा संघ हो मूलसंघ हो या निष्पिच्छ संघ हो, नहीं तारता। आत्मा ही आत्माको तारता है, अतः आत्माका ध्यान करना चाहिये।' ढाढसी गाथाओंमें इस गाथाकी स्थिति भी ऐसी प्रतीत नहीं होती जिसपरसे यह संदेह किया जा सके कि उक्त गाथा वहाँ प्रक्षिप्त है। फिर गणिजीके द्वारा उसे श्रावकाचारकी बतलाना भी विचित्र है। गणिजीके पूर्ववर्ती श्री श्रुतसागरजीने अपनी षट्प्राभृत ठीका (पृ० १२)में भी एक गाथा उद्धृतकी है और लिखा है—'उक्तं च 'ढाढसी गाथासु।' अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन ढाढसी गाथाओंकी प्रसिद्धि श्रावकाचारके नामसे कभी थी, न उनका विषय श्रावकाचार रूप ही है।

१. प्रव० सा० की प्रस्ता०, पृ० ९८। २. 'समयप्राभृतसूत्र वृत्ति समुदाय रूपस्य समयसारस्य कुन्दकुन्दाचार्य अमृतचन्द्रचार्याभ्यां प्रणीतस्य ग्रन्थस्य —यु० प्र० टी०, पृ० ३०।

२. 'संघो को वि न तारइ कट्ठो मूलो तहेव णिप्पिच्छो। अप्पा तारइ अप्पा तम्हा अप्पा हु झादव्वो ॥२०॥ ढा० गा० (तत्त्वानु० सं०, पृ० १६४)।

इसके सिवाय गणिजीने[1] अमृतचन्द्रको मूल संघका अनुयायी लिखा है। तब वह काष्ठासंघी आचार्यकृत ढाढसी गाथाओंके कर्ता कैसे हो सकते हैं। हमारे विचारसे तो गणिजी का उक्त उल्लेख भ्रमपूर्ण ही है, उसका समर्थन उनके अन्य उल्लेखोंसे भी होता है। कुन्दकुन्दकी गाथाओंको उन्होंने अमृतचन्द्रकी लिख दिया है और अमृतचन्द्रकी समयसार टीकामें उद्धृत एक गाथाको कुन्द-कुन्दकी[2] लिख दिया है। अतः उनके उल्लेखोंके आधारपर अमृतचन्द्रको किसी प्राकृत ग्रन्थका रचयिता नहीं माना जा सकता।

शैली—टीकाकार अमृतचन्द्राचार्यकी शैलीका प्राञ्जल रूप समयसारकी टीकामें देखनेको मिलता है। उन्होंने गाथाके शब्दोंका व्याख्यान न करके उसमें निहित आशयको ही अपने परिष्कृत गद्य पद्यात्मक टीकाके द्वारा व्यक्त किया है। उनकी भाषा भावोंके अनुरूप है। उसमें कृत्रिमताकी गंध नहीं है। अध्यात्म विषयक उनका पाण्डित्य जितना गम्भीर और तलस्पर्शी है, उसको व्यक्त करने के लिये उनकी भाषा भी उसीके अनुरूप स्वाभाविक धाराके रूपमें प्रवाहित होती है। उनकी टीकामें आगत पद्य, जो समयसार कलशके नामसे बहु प्रचरित हैं, उनकी सरस सुबोध कवित्व शक्तिके जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। उनकी रचना इतनी सरस है कि भावोंको हृदयंगम किये बिना भी उसके पाठमें आनन्द मिलता है। सचमुचमें अमृतचन्द्र आध्यत्मिक कवियोंके मुकुटमणि हैं। उनके पद्य उतने दुरुह नहीं हैं जितनी दुरुह उनकी गद्य है। किन्तु दोनोंही प्रकारकी रचनाओंमें एकसा सौष्ठव पाया जाता है। उदाहरणके रूपमें यहाँ कुछ अंश दिया जाता है—

'इह किल सकलोद्भासिस्यात्पदमुद्रितशब्दब्रह्मोपासनजन्मा समस्तविपक्ष-क्षोदक्षमातिनिस्तुषयुक्तयवलम्बनजन्मा निर्मलविज्ञानघनान्तर्निमग्नपरापरगुरु-प्रसादीकृतशुद्धात्मतत्त्वानुशासनजन्मा अनवरतस्यन्दिसुन्दरनन्दमुद्रितामन्दसंविदा-त्मकस्वसंवेदनजन्मा च यः कमनापि मच्चात्मनः स्वोविभवस्तेन समस्तेनाप्य यमेकत्वविभक्तमात्मानं दर्शयेऽहमिति बद्धव्यवसायोऽस्मि।'

यह समयसारकी गाथा पाँचके पूर्वार्द्ध—'तं एयत्तविभत्तं दाएहं अप्पणो सवि-हवेण की व्याख्या है। अब एक पद्यका नमूना भी देखिये—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदाङ्के
जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहाः।

१. 'अमृताचन्द्राचार्यस्य मूलसंघ यूथ्यत्वेन'—यु० प्र० टी०, ४-३१।
२. 'यदुक्तं समयसारे कुन्दकुन्दाचार्येण'—'जइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छाए मुहय'। वही, पृ० १५।

सपदि समयसारं ते परं ज्योतिरुच्चै—
रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ।।५।।'

यह स्पष्ट है कि मूल समयसारसे उसकी टीका गहन है क्योंकि कुन्दकुन्दाचार्यने जिस तत्त्वका प्रतिपादन बड़ी सरल रीतिसे किया है, अमृतचन्द्रचार्यने उसीका विवेचन अपने समयकी पाण्डित्यपूर्ण दार्शनिक शैलीमें किया है और इस तरहसे उन्होंने कुन्दकुन्दके द्वारा प्रतिपादित अध्यात्मको दार्शनिक शैलीमें अवतरित करके कुन्दकुन्दके पश्चात् विकासको प्राप्त हुए दार्शनिक मन्तव्योंको भी उसमें समन्वित करनेकी चेष्टा की है।

इतना ही नहीं कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंमें जो तत्त्व निहित थे किन्तु अस्पष्ट थे, उन्हें भी उन्होंने स्पष्ट करके जैनतत्त्वज्ञानको समृद्ध बनाया है।

विशेषताएँ—यह पहले लिख आये हैं कि अमृतचन्द्रने ही समयसारको अवान्तर विभागोंमें विभाजित किया है। इतना ही नहीं, किन्तु समयपाहुडको समयसार नाम भी उनका ही दिया हुआ है; क्योंकि उन्होंने अपनी टीकाके आरम्भमें 'नमःसमयसाराय' तथा 'समयसार व्याख्ययैवानुभूतेः' लिखकर समयसार संज्ञा दी है और इसी नामसे वह सर्वत्र ख्यात भी है।

उन्होंने इसे एक नाटकका रूप दिया है। और नाटककी तरह ही इसे अंकोंमें विभाजित किय है। प्रथम अंकसे पहलेके आरम्भिक भागको 'पूर्वरंग संज्ञा दी है। तथा जैसे नाटकमें पात्रोंका निष्क्रमण और प्रवेश दिखाया जाता है वैसे ही इसमें भी दिखाया गया है। प्रथम अंक जीवाजीवाधिकारमें जीवको अजीवसे भिन्न बतलाया गया है। अतः अन्तमें लिखा है—'जीवा-जीवौ पृथग्भूत्वा निष्क्रान्तौ' अर्थात् जीव और अजीव जुदे-जुदे होकर चले गये। और दूसरे कर्तृ-कर्म अधिकारके आरंम्भमें लिखा है—'जीव और अजीव ही कर्ता और कर्मका वेष धारण करके प्रवेश करते हैं। तथा अन्तमें लिखा है—'जीव और अजीव कर्ता और कर्मका वेष छोड़कर निकल गये। तीसरे पुण्य पाप अधिकारके आदिमें लिखा है—'एक ही कर्म पुण्य और पापके रूपमें दो पात्रोंका वेष धारण करके प्रवेश करता है।' और अन्तमें लिखा है—पुण्य और पापके रूपसे दो पात्रोंका वेष धारण करनेवाला कर्म एक पात्र रूप होकर निकल गया। अर्थात् कर्ममें पुण्य पापका भेद मिथ्या है। दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। इसी तरह आश्रव, संवर, निर्जरा बन्ध और मोक्ष अधिकारमें उन-उन तत्त्वोंको प्रवेश कराया और निकाला है।

यथार्थमें यह संसार एक रंग-मंच है जिसपर जीव और अजीव नाना रूप

धारण करके अभिनय कर रहे हैं। सांख्यकारिकामें[1] प्रकृतिको नर्तकी बतलाया है और पुरुषको दर्शक। इसी तरह अमृतचन्द्रने भी इस संसारको रंगभूमि मानकर प्रकृतिके स्थानापन्न पुद्‌गलको ही उसका सूत्रधार बतलाते हुए लिखा[2] है कि इस अनादि महान् अविवेकपूर्ण नाटकमें वर्णादिमान् पुद्‌गल ही नटरूपसे आचरण करता है। यह जीव तो शुद्ध चैतन्यरूप धातुमय है।

अमृतचन्द्राचार्यने अपनी तीनों टीकाओंमेंसे प्रवचनसार[3]की टीकामें केवल चार गाथाएँ उद्धृत की हैं। पञ्चास्तिकायकी[4] टीकामें भी चार गाथाएँ उद्धृत की हैं और समयसारकी टीकामें तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं। ये तीनों गाथाएँ जयसेनाचार्यने भी अपनी टीकामें उद्धृत की हैं। इनमेंसे इन्होंने दो गाथाएँ 'उक्तञ्च व्यवहारसूत्रे' लिखकर उद्धृत की हैं जो इस प्रकार हैं—

अपडिकमणं अपरिसरणं अप्पडिहारो आधरणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदा अगरुहाऽसोहीय विसकुंभो ॥१॥
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरुहा सोही अट्ठविहो अमयकुंभो दु ॥२॥

ये दोनों गाथाएँ उन्होंने कुन्दकुन्दाचार्यकी आगेकी गाथाओंकी उत्थानिकाके रूपमें शङ्काके साथ उपस्थित की हैं। शङ्काकार कहता है कि प्रतिक्रमण आदिके विना अपराध-विशुद्धि नहीं होती। अतः प्रतिक्रमणादिका न करना विषकुम्भ है और करना अमृतकुम्भ है। इसीके समर्थनमें वे दो गाथाएँ अमृतचन्द्रने उद्धृत की है जो उनके कथनानुसार व्यवहारसूत्रकी हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदायमें व्यवहारसूत्र नामका एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है किन्तु उसमें हमें ये गाथाएँ नहीं मिलीं। जयसेनने इन्हें 'तथाचोक्तं चिरन्तनप्रायश्चित्तग्रन्थे' करके उद्धृत किया है, जो बतलाता है कि व्यवहारसूत्र प्राचीन प्रायश्चित्त-ग्रन्थ था। आगे कुन्दकुन्दने उक्त उद्धृत गाथाओंके ठीक विपरीत कथन किया है और बतलाया है कि प्रतिक्रमण आदि करना विषकुम्भ और न करना अमृत कुम्भ है, उसका खुलासा अमृतचन्द्रने आत्मख्यातिमें किया है। कुन्दकुन्दकी गाथाएँ इस प्रकार हैं—

१. 'रंगस्य दर्शयित्वा निवर्तते नर्तकी यथा नृत्यात्। पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५९॥—सां० का०।
२. 'अस्मिन्ननादिनि महत्यविवेकनाट्ये वर्णादिमान् नटति पुद्‌गल एव नान्यः। रागादिपुद्‌गलविकारविरुद्धशुद्धचैतन्यधातुमयमूर्तिरयं च जीवः ॥४४॥— स० प्रा० गा० ६८।
३. प्रव० सा० टी०, पृ० २२७-२२८, ३७२।
४. पञ्चा० टी०, पृ० २१२ तथा २५०–२५१।

पडिकमणं पडिसरणं परिहरणं धारणा णियत्ती य ।
णिंदा गरुहा सोहि य अट्ठविहो होदि विसकुंभो ।।
अपडिक्कमणं अप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियत्ती य अणिंदा अगरहा विसोहि य अमयकुंभो ।।

ये दोनों गाथाएँ ऊपर उद्धृत गाथाओंको लक्ष्यमें रखकर रची गई हैं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है । अमृतचन्द्र इस बातसे अभिज्ञ थे । इससे प्रकट होता है कि अमृतचन्द्राचार्यको समयसार आदि ग्रन्थोंका कितना साधार परिज्ञान था ।

समय—यह हम ऊपर लिख आये हैं कि अमृतचन्द्रने अपने विषयमें कुछ भी नहीं लिखा और न अन्यत्रसे उनके सम्बन्धमें कोई जानकारी प्राप्त होती है । अतः उनकी टीकाओंमें उद्धृत पद्योंके द्वारा तथा अन्य ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले उनके पद्य आदिके आधारपर कई विद्वानोंने[1] उनका समय निर्णीत करनेका प्रयत्न किया है ।

१. विक्रम सम्बत् १३०० में रचकर पूर्ण हुई अनगारधर्मामृतकी[2] टीकामें पं० आशाधरने ठक्कुर अमृतचन्द्रविरचित समयसार टीकाका उल्लेख किया है । तथा उनके पुरुषार्थ सि० से एक पद्य भी उद्धृत किया है । अतः यह निश्चित है कि अमृतचन्द्र आशाधरसे पहले हुए हैं ।

२. श्रीयुत प्रेमजीने लिखा[3] है कि शुभचन्द्रने ज्ञानार्णव (पृ० १७७) में अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्ध्युपायका 'मिथ्यात्व वेदराग' आदि पद्य उक्तञ्च' रूपसे उद्धृत किया है । इसलिये अमृतचन्द्र शुभचन्द्र से भी पहले के हैं । और पद्मप्रभ मलधारिदेवने नियमसार टीकामें (पृ० ७२) शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका एक श्लोक (४२, ४) उद्धृत किया है । इसलिए शुभचन्द्र पद्मप्रभसे पहलेके हैं । प्रेमीजीने पद्मप्रभका समय विक्रम की बारहवीं सदी का अन्त और तेरहवीं सदी का प्रारम्भ[4] बतलाया है । तथा शुभचन्द्रके ज्ञानार्णवका रचना काल विक्रमकी ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी अनुमान किया है । अतः अमृतचन्द्र उससे पहले हुए हैं यह निश्चित है ।

१. प्रव० सा० की प्रस्ता० (डॉ० उपाध्ये) पृ० १००-१०१ । अनेकान्त, वर्ष ८, कि० ४-५, पृ० १७३-१७५ । तथा जै० सा० इ०, पृ० ३०९-३१३ ।
२. 'एतच्च विस्तरेण ठक्कुरामृतचन्द्रविरचितसमयसारटीकायां दृष्टव्यम्:— अन० ध० टी०, पृ० ५८८ ।
३. जै० सा० इ०, पृ० ३१० ।
४. जै० सा० इ०, पृ० ४०६ ।

३. पं० परमानन्दजीने[1] प्रकट किया है कि आचार्य जयसेनके धर्मरत्नाकरमें आचार्य अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्धयुपायके बहुत से पद्य उद्धृत हैं। और ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन व्यावरके शास्त्रभण्डार की एक प्रतिमें उसका रचनाकाल वि० सं० १०५५ दिया है। अतः अमृतचन्द्र वि० सं० १०५५ से पहले हो गये हैं।

अमृतचन्द्रसूरिने प्रवचनसारकी टीकामें चार गाथाएँ उद्धृत की हैं। 'णिद्धा णिद्धेण' और 'णिद्धस्स णिद्धेण' ये दो गाथाएँ (गा० २।७४ की) टीकामें क्रमसे एक साथ उद्धृत हैं। और 'जावदिया वयणवहा' आदि तथा 'परसमयाणं वयणं' आदि दो गाथाएँ 'तदुक्तम्' करके क्रमसे एक साथ टीकाके अन्तमें (पृ० ३७२) उद्धृत हैं। पहलेकी दोनों गाथाएँ गोमट्टसार जीवकाण्डमें क्रमसे ६१२ तथा ६१४ नम्बरकी गाथाएँ हैं। और दूसरी दो गाथाएँ कर्मकाण्ड गोमट्टसारकी क्रमसे ८९४ और ८९५ नम्बर की गाथाएँ हैं। दूसरी दो गाथाओंके सम्बन्धमें डा०[2] उपाध्येने लिखा है कि चूंकि गो० कर्मकाण्डमें वे दोनों गाथाएँ उसी क्रमसे पाई जाती हैं और उनकी शाब्दिक समानता भी है अतः इन दोनों बातोंको देखकर यह सुझाव देने का लोभ होता है कि अमृतचन्द्रने उन्हें गोमट्टसारसे लिया होगा। किन्तु गोमट्टसार एक संग्रह ग्रन्थ है। और इसलिए इन गाथाओंके धवला और जय धवलामें पाये जानेकी संभावना है। इन दोनों में से पहली 'जावदिया वयणवहा' आदि गाथा सिद्धसेनके सन्मतितर्क (३. ४७) में भी पाई जाती है। किन्तु डाँ० उपाध्येने लिखा है कि यद्यपि अमृतचन्द्र सिद्धसेनके सन्मतितर्कसे परिचित थे किन्तु नीचे लिखे कारणोंसे उन्होंने यह गाथा उससे उद्धृत नहीं की है। प्रथम तो, सिद्धसेनकी गाथाका रूप महाराष्ट्री है जबकि अमृतचन्द्रके द्वारा उद्धृतरूप सौरसेनी है। दूसरे अमृतचन्द्रने दोनों गाथाओंको एक साथ उद्धृत किया है जबकि सिद्धसेनके ग्रथमें उनमें से एक ही पाई जाती है। अतः डॉ० उपाध्येने अमृतचन्द्र का समय ईसाकी दसवीं शताब्दीके लगभग माना है।

पं० परमानन्दजीने अपने लेखमें डॉ० उपाध्येके उक्त मत की आलोचना भी की है जो उचित ही है क्योंकि जब वि० सं० १०५५में बने हुए ग्रन्थमें आचार्य अमृतचन्द्रके पद्य उद्धृत हैं तो अमृतचन्द्र विक्रमकी ११वीं सदीके पूर्वार्धमें रचे गये गोमट्टसारसे पद्य कैसे उद्धृत कर सकते हैं। किन्तु प्रवचनसारकी प्रस्तावना लिखते समय डॉ० उपाध्येके सामने धर्मरत्नाकर वाली बात नहीं थी। तथा अमृतचन्द्रके द्वारा प्रवचनसारकी टीकामें उद्धृत उक्त चार गाथाओंमेंसे

---

१. अनेकान्त, वर्ष ८, पृ० १७३-१७५ तथा २००-२०३।
२. प्रव० सा०, की प्रस्ता०, पृ० १००–१०१।

प्रथम दो गाथाएँ षट्खण्डागम से उद्धृत की गई हैं यह भी ठीक है। किन्तु दूसरी दो गाथाओंमें से यद्यपि प्रथम गाथा सिद्धसेनके सन्मतितर्क की है किन्तु उसके साथ-वाली दूसरी गाथा गोमट्टसार कर्मकाण्डके सिवाय अन्यत्र नहीं मिलती। फिर भी धर्मरत्नाकर में अमृत चन्द्रके पद्योंको उद्धृत देखकर यही माननेके लिए विवश होना पड़ता है कि गोमट्टसारमें भी वह गाथा कहींसे संगृहीत की गई होगी। अथवा यह भी संभव हैं कि गोमट्टसारमें उक्त दूसरी दोनों गाथाएँ अमृतचन्द्रकी प्रवचनसार टीकासे ही ली गई हों क्योंकि वह एक संग्रह ग्रन्थ है। और जब उसकी रचना अमृतचन्द्र के पश्चात् हुई है तो ऐसा होना असंभव नहीं है।

४. आचार्य अमितगतिने अपना श्रावकाचार भी धर्मरत्नाकर के समय के लगभग रचा है। अतः हमने यह जाननेके लिए कि अमृतचन्द्र के पुरुषार्थसिद्ध्यु-पायका उसपर कुछ प्रभाव है या नहीं, उसका तुलनात्मक अध्ययन किया तो हम इस परिणामपर पहुँचे कि अमितगतिने पुरुषार्थसिद्धयुपाय देखा है। नीचे हम अपने मतके समर्थनमें कुछ प्रमाण उपस्थित कर देना उचित समझते हैं—

आचार्य अमितगतिने अपने श्रावकाचारके पाँचवे अध्यायसे श्रावकों के व्रतों का कथन प्रारम्भ किया है। उन्होंने[1] पाँच उदुम्बर और तीन मकार के साथ रात्रि भोजनको भी त्याज्य बतलाया है। अमृतचन्द्राचार्यने पाँच उदुम्बर और तीन मकारको त्याज्य बतलाकर पाँच अणुव्रतोंके पश्चात् अहिंसाणुव्रत की पुष्टिके रूपमें रात्रिभोजनके त्यागपर जोर दिया है। और सोमदेवने[2] भी अपने उपासकाचारमें अहिंसाणुव्रतके कथनमें केवल एक श्लोकके द्वारा अहिंसा व्रतकी रक्षाके लिये और मूलव्रतोंकी विशुद्धिके लिये रात्रि भोजन का त्याग आवश्यक बतलाया है और रत्नकरंड श्रावकाचारमें तो रात्रि भोजन त्याग प्रतिमाओंमें सम्मलित है। इस तरह रात्रि भोजन त्याग को दिये जाने वाले उत्तरोत्तर महत्त्वकी दृष्टिसे सबसे प्रथम रत्नकरंड श्रावकाचार का नम्बर आता है। उसके पश्चात् पुरुषार्थसिद्धयुपाय का नम्बर आता है। और उसके पश्चात् सोमदेवके उपासकाचारका नम्बर आता है। और पश्चात् अमितगतिके श्रावका-चार का नम्बर आता है। अतः पुरुषार्थसि० न केवल अमितगतिके श्रावकाचारसे किन्तु सोमदेवके उपासकाचारसे भी पूर्वका होना चाहिये।

१, 'मद्यमाँस-मधु-रात्रिभोजनं क्षीरवृक्षफलवर्जनं त्रिधा। कुर्वते व्रतजिघृक्षया बुधास्तत्र पुष्यति निषेविते व्रतम् ॥१॥

—अमि०, श्रा०, अ० ५।

२. 'अहिंसाव्रतरक्षार्थं मूलव्रतविशुद्धये। निशायाँ वर्जयेद् भुक्तिमिहामुत्र च दुःख-दाम् ॥'

—सोम०, उ०, श्लोक ३२५।

अमृतचन्द्राचार्यने अपना पुरुषार्थ० मुख्यरूपसे तत्त्वार्थसूत्र और उसकी सवार्थसिद्धि टीका तथा तत्त्वार्थवार्तिक टीकाको आधार बनाकर लिखा है। इन दोनों टीकाओं[१] में रात्रि भोजन त्यागके छठे अणुव्रत होनेकी शंका की है। और दोनोंमें ही उसका अन्तर्भाव अहिंसाव्रत की भावनाओं में किया है। उसीको आलम्बन बनाकर अमृतचन्द्राचार्यने पाँचों अणुव्रतोंके पश्चात् रात्रिभोजन त्याग व्रत का कथन किया है। और अकलंकदेवने उसके समर्थनमें जो युक्ति दी है उसी को पल्लवित किया है।

२. पु० सि० (श्लो० ६३) में मद्यमें बहुतसे जीवोंकी उत्पत्ति बतलाई है वही कथन अमितगति ने भी उसी रूपमें किया है। तथा अमृतचन्द्र की ही तरह मद्यके लिए सरक शब्दका प्रयोग किया है, जो अन्य श्रावकाचारोंमें नही पाया जाता।

३. पु० सि० (श्लोक ६५) में प्राणिघात के बिना माँस की उत्पत्ति नहीं बतलाई। अमितगतिने भी (५।१४) वैसा ही कथन किया है।

४. पु० सि० (श्लो० ७४) में आठोंको त्याग करनेपर जिनधर्म देशनाका पात्र होता है ऐसा कहा है। अमितगतिने भी (५।७३) वैसाही कथन किया है।

५. पु० सि० (श्लो० ८३) में जीवोंको घात करने वाले प्राणियोंको मारने का निषेध किया है। अमितगतिने भी (६।३३) वैसाही कथन किया है।

६. पु० सि० श्लो० (८६) में सुखी जीवोंको मारने का निषेध किया है। अमित गतिने भी (६।४०) वैसा ही कथन किया है।

७. पु० सि० में (श्लो० ९२-९८) असत्यके चार भेद किये हैं और उनका स्वरूप कहा है। अमितगतिने भी ६।४९-५५ रूपान्तर करते हुए चार भेदों का कथन किया है। तथा चतुर्थ भेदके पु० सि० में जो गर्हित सावद्य और अप्रिय तीन भेद किये हैं; वही भेद अमितगतिने भी किये हैं।

८. अकलंकदेव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिक (७।९)में नीचे लिखा श्लोक उद्धृत किया है—

'यदेतत् द्रविणं नाम प्राणा ह्येते वहिश्चरा.।
य तस्य हरते प्राणान् यो यस्य हरते धनम् ॥

अमृतचन्द्र ने इसे आर्याछन्दका रूप दिया है—

अर्था नाम य एते प्राणा एते बहिश्चराः पुसाम्।
हरति स तस्य प्राणान् यो यस्य जनो हरत्यर्थान् ॥१०३॥

१. ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम्। न, भावनास्वन्तर्भावात्—सर्वा०, सि०, तत्त्वा०, वा० ७।१।

अमितगति ने उक्त आर्याको परिवर्तित करके यह रूप दिया है—

> यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति ।
> आश्वासकारं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तं ॥६१॥

व्रतोंके अतिचारोंका कथन करनेवाले पु० सि० के पद्योंको ही अमितगति ने परिवर्तित करके लिखा है। यह दोनोंकी तुलनासे स्पष्ट हो जाता है। नीचे दो एक उदाहरण देना अनुचित न होगा।

> प्रतिरूपव्यवहारः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
> राजविरोधातिक्रम हीनाधिकमानकरणे च ॥१८५॥ पु० सि०
> व्यवहारकृत्रिमकः स्तेननियोगस्तदाहृतादानम् ।
> ते मानवैपरीत्यं विरूद्धराज्यव्यतिक्रमणम् ॥५॥
> —अमि० श्रा०, अ०, ७ ।

× × ×

> कन्दर्पः कौत्कुच्यं भोगानर्थक्यमपि च मौखर्यं ।
> असमीक्षिताधिकरणं तृतीयशीलस्य पञ्चेति ॥१९॥ पु० सि० ।
> असमीक्षितकारित्वं प्राहुर्भोगोपभोगनैरर्थ्यम् ।
> कन्दर्पं कौत्कुच्यं मौखर्यमनर्थदण्डस्य ॥१०॥ अमि० श्रा० ७ ।

× × × ×

९ पु० सि० (श्लो० १९६) में कहा है कि जो इन अतिचारों को छोड़कर व्रतादि आचरण करते हैं वे पुरुषार्थसिद्धिको प्राप्त करते हैं। अमितगतिने (७।१७)में भी लिखा है कि जो इन सत्तर अतिचारोंका परिहार करते हैं वे भुवनके उत्तमनाथ होते हैं।

इस तुलनासे स्पष्ट है कि अमृतचन्द्र अमितगतिसे पहले हो गये हैं।

अमृतचन्द्र और देवसेन

डॉ० उपाध्ये ने लिखा कि अमृतचन्द्र देवसेनाचार्य (वि० सं० ९९०) की आलापपद्धतिसे परिचित थे। चूँकि डॉ० उपाध्ये ने अमृतचन्द्रका समय ईसाकी दसवीं शताब्दीकी समाप्तिके लगभग माना है अतः उनका वैसा लिखना अनुचित नहीं है। किन्तु जब ईसाकी दसवीं शताब्दीके अन्तमें हुए ग्रन्थकारोंके द्वारा अमृत-चन्द्रके पुरुषार्थसिद्धयुपायसे उद्धरण लिये जाने तथा उसका अनुसरण किये जानेकी बात निस्सन्देह है तब यह भी निस्सन्देह है कि अमृतचन्द्र उससे पूर्वमें हुए हैं और ऐसी स्थितिमें देवसेनकी आलापपद्धतिसे उनका परिचित होना भी विचारणीय हो जाता है।

जहाँ तक हमने अध्ययन किया है हमें अमृतचन्द्र आलापपद्धतिसे परिचित नहीं जान पड़े। बल्कि देवसेन ही अमृतचन्द्रकी टीकाओंसे परिचित जान पड़े हैं।

१. अमृतचन्द्राचार्यकी टीकाओंमें हमें कुन्दकुन्दाचार्यकी तरह ही या तो द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयका उल्लेख मिलता है या निश्चयनय अथवा शुद्धनय और व्यवहारनय अथवा अशुद्धनय का उल्लेख मिलता है। उन्होंने न तो निश्चयनयके शुद्ध और अशुद्ध भेदोंका कहीं उल्लेख किया है और न व्यवहारनय के सद्भूत असद्भूत आदि भेदोंका ही निर्देश किया है। जयसेनाचार्यकी टीकाओंमें इन भेद-प्रभेदोंका उल्लेख मिलता है। जयसेन तो निश्चयरूपसे आलापपद्धति-कारके पश्चात् हुए हैं। किन्तु अमृतचन्द्रके विषयमें ऐसा नहीं कहा जा सकता। अमृतचन्द्र आलापपद्धतिसे पहले हो गये हैं, क्योंकि देवसेनकी आलापपद्धतिमें निश्चयनय और व्यवहारनयके भेद-प्रभेदोंका जो कथन है, वह हमें अमृतचन्द्राचार्य के द्वारा समयसारकी टीकामें प्रतिपादित तत्त्वव्यवस्थाके आधारपर रचा गया प्रतीत होता है। उससे पहलेके किसी ग्रन्थमें उन भेद-प्रभेदोंका कथन नहीं मिलता। जिनमें मिलता है वे सब ग्रन्थ आलापपद्धति के पश्चात् के हैं।

अमृतचन्द्र और पाहुड़दोहा

किन्तु अमृतचन्द्रने पञ्चास्तिकाय (गा० १४६) की टीकामें नीचे लिखी गाथा उद्धृत की है—

'अंतो णत्थि सुईणं कालो थोवो वयं च दुम्मेहा।
तण्णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणं खइं कुणइ॥'

यह गाथा पाहुड़दोहा में ९८वें नम्बर पर स्थित है। अन्य किसी ग्रन्थमें नहीं पाई जाती। अतः यही कहना पड़ता है कि गाथा अमृतचन्द्रने पाहुड़दोहा से ली है।

प्रो० हीरालालजी ने पाहुड़दोहा की प्रस्तावना में उसका रचनाकाल सन् १००० ई० के लगभग अनुमान किया है क्योंकि उन्होंने सावयधम्म दोहाको देवसेन की रचना माना है और देवसेनने वि० सं० ९९० में या ई० ९३३ में अपना दर्शनसार रचा था। सावयधम्म दोहाके दोहा नम्बर ३० और १२९ तथा पाहुड़ दोहा के दोहा नम्बर २१५ और ४३ समान हैं। प्रोफेसर साहबने यह भी सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है वे दोनों दोहा पाहुड़दोहामें सावयधम्मदोहासे लिये गये हैं। अतः उन्होंने पाहुड़ दोहाका उक्त रचनाकाल स्थित किया है।

किन्तु सावयधम्म दोहाका कर्तृत्व विवादग्रस्त रहा है, इसीसे प्रो० हीरा-लालजीने न तो 'सावयधम्म दोहा' पर उसके रचयिताका नाम दिया और न 'क' प्रतिमें पाये जानेवाले उस अन्तिम पद्यको ही मूलमें स्थान दिया, जिसमें 'देवसेनै उवदिट्ठ' पद आता है जिसके आधारपर उन्होंने सावयधम्म दोहाको देवसेन रचित माना है। परमा० प्रका० की प्रस्तावनामें डा० ए० एन०

उपाध्येने उनके इस मतको मान्य नहीं किया है और लक्ष्मीचन्दको सावयधम्म दोहाका रचयिता माना है तथा उन्हें श्रुतसागर और ब्रह्मनेमिदत्त (१५२८ ई०) से अधिक प्राचीन बतलाया है।

सावयधम्म दोहामें वर्णित श्रावकाचारके तुलनात्मक परीक्षण से हमारा भी यही मत है कि सावयधम्म दोहा पाहुड़ दोहासे अर्वाचीन होना चाहिये। पाहुड़ दोहाका उल्लेख जयसेनने प्रवचनसारकी टीकामें 'दोहकसूत्र' नामसे किया है और एक दोहा उद्धृत किया है। किन्तु सावयधम्म दोहाका उल्लेख आशाधर तकने नहीं किया, जबकि उन्होंने धर्मामृतकी टीकामें अपने पूर्ववर्ती अनेकों श्रावकाचार विषयक ग्रन्थोंका उल्लेख किया है तथा उनसे उद्धरण लिए हैं। अतः सावयधम्म दोहा आशाधरके सामने उपस्थित नहीं था ऐसा प्रतीत होता है। अतः आशाधरके पश्चात् और श्रुतसागरसे पूर्व उसकी रचना हुई हो यह संभव है। इसलिये देवसेन रचित होनेके आधारपर दोहा पाहुड़को उसके पश्चात्की रचना नहीं माना जा सकता।

डॉ० उपाध्येने उसे जोइन्दु और हेमचन्द्रके मध्यकी रचना माना है। अब चूँकि अमृतचन्द्रने उससे एक गाथा उद्धृत की है अतः पाहुड़ दोहा जोइन्दु और अमृतचन्द्रके मध्यमें किसी समय रचा गया होना चाहिए। और अमृतचन्द्र अमित गतिसे पहले हो गये हैं यह हम ऊपर बतला ही आये हैं। तथा देवसेनकी आलापपद्धतिसे भी यह परिचित नहीं थे यह हम लिख आये हैं।

अमृतचन्द्र और तत्त्वानुशासन

इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है। देवसेनने अपनी आलाप पद्धतिमें कुछ श्लोक और गाथाएँ भी दी हैं। उनमेंसे एक गाथा तो कुन्द-कुन्दके ग्रन्थोंमें पाई जाती है। शेष पद्य भी सम्भव है—अन्य ग्रन्थोंसे उद्धृत किये गये हों। उनमेंसे एक श्लोक इस प्रकार है—

'अनाद्यनिधने द्रव्ये स्वपर्यायाः प्रतिक्षणम्।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति जलकल्लोलवज्जले ॥१॥'

यह श्लोक रामसेन रचित तत्त्वानुशासनका ११२वाँ श्लोक है। तत्त्वानुशासन ग्रन्थका उल्लेख जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी टीकामें (पृ० २१२ तक २५३) कई बार किया है। अतः यह निश्चित है कि तत्त्वानुशासन जयसेनाचार्य (ईसाकी १२वीं शताब्दीका उत्तरार्ध) से पहलेका है। अब यदि उक्त श्लोक देवसेनने तत्त्वानुशासन से लिया है तो तत्त्वानुशासन देवसेनसे पहले का ठहरता है। इसमें मुख्य रूपसे ध्यानका वर्णन है और इसीसे जयसेनाचार्यने इसे ध्यान ग्रन्थ कहा है। यह एक उच्चकोटि का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसकी रचनाका मुख्य आधार

कुन्द-कुन्दके ग्रन्थ, उनपर अमृतचन्द्रकी टीका तथा अकलंकदेवका तत्त्वार्थ-वार्तिक आदि ज्ञात होते हैं। ज्ञानार्णवके साथ तुलना करनेसे एकका दूसरेपर कोई प्रभाव ज्ञात नहीं होता। रत्नकरंडश्रावकाचारका 'सद्दृष्टि ज्ञान वृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः' यह पद इसके ५१वें श्लोकका पूर्वार्ध है। यों तो पूरा ग्रन्थ संस्कृतके अनुष्टुप् श्लोकोंमें हैं किन्तु बीचमें कहीं-कहीं आर्यावृत्त भी पाये जाते हैं। एक आर्या इस प्रकार है—

> स च मुक्ति हेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
> तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यं ॥३३॥

द्रव्य संग्रहकी नीचे लिखी गाथा बिल्कुल इसका रूपान्तर जैसी है—

> दुविहं पि मोक्ख हेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा।
> तम्हा पयत्तचित्ता यूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

अतः यदि उक्त श्लोक तत्त्वानुशासनसे आलापपद्धतिमें लिया गया है तब तो अमृतचन्द्र और देवसेनके बीचमें काफी कालका अन्तराल होना संभव है। किन्तु यदि ऐसा नहीं है तो भी यह निश्चित है कि अमृतचन्द्र देवसेनसे पूर्ववर्ती हैं। अतः अमृतचन्द्रकी उत्तरकालावधि वि० सं० ९५० के लगभग समझना चाहिए। और पूर्वावधि अकलंकदेवके पश्चात् समझना चाहिए क्योंकि तत्त्वार्थसारकी रचनामें अमृतचन्द्रने अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकका विशेष उपयोग किया है। और उसकी वार्तिकों को ही श्लोकोंका रूप दे डाला है। यथा—

निमित्तान्तरानपेक्षं संज्ञा कर्म नाम ॥१॥ सोयमित्यभिसम्बन्धत्वेन अन्यस्य व्यवस्थापनामात्रं स्थापना ॥२॥ अनागतपरिणामविशेषं प्रति गृहीताभिमुख्यं द्रव्यं ॥३॥ त० वा०।

> या निमित्तान्तरं किञ्चिदनपेक्ष्य विधीयते।
> द्रव्यस्य कस्यचित् संज्ञा तन्नाम परिकीर्तितम् ॥१०॥
> सोऽयमित्यक्षकाष्ठादेः सम्बन्धेनान्यवस्तुनि।
> यद् व्यवस्थापनामात्रं स्थापना साभिधीयते ॥११॥
> भाविनः परिणामस्य यत्प्राप्ति प्रति कस्यचित्।
> स्याद् गृहीताभिमुख्यं हि तद्व्यं ब्रुवते जिनाः ॥१२॥ त० सा०।

इस तरहके उदाहरणोंकी बहुतायत है। अतः यह निश्चित है कि अमृत-चन्द्र अकलंकदेवके पश्चात् हुए हैं। अकलंकदेवके समयकी उत्तरावधि विक्रमकी आठवीं शताब्दीके पश्चात् नहीं जा सकती। अतः विक्रमकी नौवी और दसवीं शताब्दीके अन्तरालमें अमृतचन्द्रका होना सुनिश्चित है। बहुतकुछ संभव तो

यही प्रतीत होता है कि वे दसवीं शताब्दीमें हुए हैं। क्योंकि तत्त्वार्थसारके दो नयोंके लक्षणवाले श्लोक विद्यानन्दिकी तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकसे मिलते हैं।

१ तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः।

× × ×

तथा प्रस्थादि संकल्पः तदभिप्राय इष्यते ॥१९॥ त० श्लो०, (पृ. २६९)

× × ×

अर्थसंकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः।

प्रस्थोदनादिजस्तस्य विषयः परिकीर्तितः ॥४४॥ त० सा०

२ संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।

योवहारो विभागः स्याद् व्यवहारो नयः स्मृतः ॥५८॥

त० श्लो० ४. २७१।

× × ×

संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः।

व्यवहारो भवेद्‌यस्माद् व्यवहारनयस्तु सः ॥४६॥ त० सा०।

देवसेन का[1] तत्त्वसार

मुनिनाथ देवसेनके प्राकृत गाथाओंमें रचित तत्त्वसार नामका एक छोटा सा सुन्दर ग्रन्थ है। इसमें केवल ७४ गाथाएँ हैं।

यह तत्त्वसार कुन्दकुन्दके समयसार आदिसे प्रभावित होकर रचा गया प्रतीत होता है। इसमें तत्त्वके दो भेद किये हैं एक स्वगत और एक परगत। अपनी आत्मा स्वगत तत्त्व है और पंच परमेष्ठी परगत तत्त्व हैं। स्वगत तत्त्वके भी दो भेद हैं—एक सविकल्प और एक अविकल्प। सविकल्प तत्त्व सास्रव होता है और अविकल्प तत्त्व निरास्रव होता है। ३-५। इनमें से जो अविकल्प तत्त्व है वही मोक्षका कारण होनेसे सारभूत है। अतः निर्ग्रन्थ होकर उसीका ध्यान करनेकी प्रेरणा की गई है ॥९॥

शंका और आकांक्षाके वशीभूत कुछ मार्ग भ्रष्ट विषयासक्त मनुष्य कहते हैं कि यह काल ध्यानके योग्य नहीं है। किन्तु आज भी रत्नत्रयके धारी आत्मा ध्यानके द्वारा स्वर्गमें जाते हैं और स्वर्गसे च्युत होनेपर मनुष्य जन्म पाकर मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥१४-१५॥ ये दोनों गाथाएँ कुन्दकुन्दके मोक्खपाहुडका अनुकरण मात्र हैं। यथा—

चरियावरिया वद समिदि वज्जया सुद्ध भावपब्भट्ठा।

केई जंपंति णरा ण हु कालो झाणजोयस्स ॥७३॥

---

१. मा० जै० ग्र० बम्बईसे तत्त्वानुशासनादिसंग्रहके अन्तर्गत प्रकाशित हुआ है।

अज्जवि तिरयणसुद्धा अप्पा झाएवि लहहि इंदत्तं ।
लोयंतियदेवत्तं तत्थ चुआ णिव्वदि जंति ।।७७।।-मो० पा०

संकाकंखागहिया विसयपसत्था सुमग्गपब्भट्ठा ।
एवं भणंति केई ण हु कालो होइ कालस्स (झाणस्स) ।।१४।।

अज्जवि तिरयणवंता अप्पा झाऊण जंति सुरलोयं ।
तत्थ चुआ मणुयत्ते उप्पज्जिय लहहि णिव्वाणं ।।१५।।-त० सा० ।

जिस तरहसे कुन्दकुन्दाचार्यने आत्माका वर्णन निषेधरूपमें किया है कि आत्माके मार्गणा स्थान नहीं, गुणस्थान नहीं, वर्णादि नहीं (स० प्रा० गा० ५०–५५) वैसे ही तत्त्वसार में भी संक्षेपसे आत्माका कथन किया गया है (गा० १९-२१) । तथा आत्मा और कर्मका सम्बन्ध दूध और पानीकी तरह बतलाकर (गा० २३) ध्यानके द्वारा उन दोनोंको भिन्न करनेका उपदेश दिया है । तथा व्यवहारनय और निश्चयनयके द्वारा वस्तुका स्वरूप बतलाकर लिखा है कि जो दोनों नयों के द्वारा वस्तु स्वभावको जानता है उसका मन रागद्वेष और मोह से चंचल नहीं होता ।। (गा० ३९) ।

आगे कहा है कि जो आत्मा है वही ज्ञान है, वही दर्शन है और वही चारित्र है । तथा निश्चयनयसे वह सब शुद्ध चैतन्यमय है (गा० ५७) । उसीका ध्यान करनेसे मोहका नाश होता है । और जैसे राजाके मर जानेपर सेना स्वयं ही नष्ट भ्रष्ट हो जाती है वैसे ही मोहनीयकर्मके नष्ट होने पर समस्त घातिया कर्म नष्ट हो जाते हैं (गा० ६५) घातिकर्मोंके नष्ट हो जानेपर केवलज्ञान उत्पन्न होता है । उसके पश्चात् समस्त कर्मोंको क्षयकरके जीव सिद्ध हो जाता है और लोकके अग्रभागमें निवास करता है (गा० ६६-६७) ।

इस तरह कुन्दकुन्दाचार्य की ही शैलीमें इस तत्त्वसारकी रचना की गई है ।

रचना काल—इसके रचयिता मुनिनाथ देवसेन हैं । यह वही देवसेन हैं जिन्होंने विक्रम संवत् ९९०में धारा नगरीके पार्श्वनाथ चैत्यालयमें दर्शनसारकी रचना की थी । आराधनासार तथा नयचक्र भी इन्हींके बनाये हुए हैं । दर्शनसार (गा० ४३)में इन्होंने लिखा है 'यदि पद्मनन्दिनाथ (कुन्दकुन्दाचार्य) सीमन्धर स्वामीसे प्राप्त दिव्यज्ञानके द्वारा विशेष बोध न देते तो श्रमण सन्मार्गको कैसे जानते ?' इससे कुन्दकुन्द स्वामीमें उनकी गहरी आस्था प्रकट होती है । किन्तु अमृतचन्द्राचार्य का उनपर कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता । जिससे प्रकट होता है कि अमृतचन्द्रके साहित्यसे वह परिचित नहीं थे । और इसका कारण यही प्रतीत

होता है कि चूंकि अमृतचन्द्र उनके समयके लगभग ही हुए थे इस लिये उनके सामने उनका साहित्य नहीं आ सका था।

स्वरूप सम्बोधन पंचविंशति

स्वरूप सम्बोधन नामका एक छोटा सा प्रकरण ग्रन्थ है जो संस्कृतके २५ अनुष्टुप श्लोकोंमें रचा गया है। इसके अन्तिम पद्यमें 'स्वरूप सम्बोधन पञ्चविंशति' पद आता है। जिससे प्रकट होता है कि इसका नाम स्वरूप सम्बोधन है और चूँकि इसकी श्लोक संख्या २५ है अतः उसके अन्तमें पञ्चविंशति पद जोड़ दिया गया है जैसे 'पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका'।

जैसा कि इसके नामसे प्रकट होता है इसमें अध्यात्म शैलीमें आत्मस्वरूपका संबोध कराया गया है।

इसकी शैली अमृतचन्द्राचार्य रचित समयसार कलशके पद्यों से मिलती है।

इसका प्रथम मंगल श्लोक है—

मुक्तामुक्तैकरूपो यः कर्मभिः संविदादिना।
अक्षयं परमात्मानं ज्ञानमूर्ति नमामि तम् ॥१॥

यह श्लोक काशीस्थ भारतीय जैनसिद्धान्त प्रकाशिनी संस्थासे प्रकाशित समयप्राभृतमें अमृतचन्द्रकी टीकाके अन्तमें छपा हुआ है। किन्तु समयसार कलशके संगृहीत पद्योंमें नहीं पाया जाता। यह मंगल श्लोक अमृतचन्द्रकी रचनासे बिल्कुल मेल खाता है। अन्य भी श्लोकोंकी प्रायः यही शैली है।

किन्तु इस ग्रन्थके रचयिताके सम्बन्धमें मतभेद पाया जाता है। स्व० डॉ० विद्याभूषणने[1] अकलंक रचित ग्रन्थोंमें इसका निर्देश किया है। लघीयस्त्रयादि संग्रहमें इसका प्रकाशन भट्टाकलंकके नामसे हुआ है। मूड़बिद्रीके जैनमठमें[2] इस ग्रन्थकी ताड़पत्रीय अनेक प्रतियां हैं। उन सबमें इसके कर्त्ताका नाम आचार्य अकलंकदेव लिखा हुआ है।

सप्तभंगी तरंगिणी (पृ० ७९)में इसका तीसरा श्लोक 'तदुक्तं अकलंकदेवैः' करके उद्धृत है। इस तरह इसके अकलंकदेव कृत होनेके प्रमाण उपलब्ध हैं। किन्तु डॉ० ए० एन० उपाध्येने[3] अपने एक लेखमें प्रकट किया था कि कोल्हापुरके लक्ष्मीसेन मठमें स्वरूप सम्बोधनकी एक कनड़ी टीका मौजूद है उसमें नयसेनके शिष्य महासेनको उसका कर्ता बतलाया है। तथा नियमसारकी संस्कृतटीकामें

१. हि० मि० इं० ला०, पृ० २६।
२. क० ता० जै० ग्र० सू०, पृ० ३१।
३. भां० इं० प०।

उसके रचयिता पद्मप्रभ मलधारी देवने 'उक्तंञ्च षण्णवति पाषंडि विजयोपार्जित विशालकीर्तिभिर्महासेनपण्डितदेवैः' तथा 'तथा चोक्तं श्री महासेन पण्डित देवैः' लिखकर स्वरूप सम्बोधनका १२वा तथा चौथा श्लोक उद्धृत किया है।

किन्तु इस सम्बन्धमें विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि मूड़बिद्रीके जैनमठमें जो इसकी अनेक प्रतियाँ हैं उनमेंसे अनेक प्रतियोंमें संस्कृत तथा कन्नड़-टीका भी है। कन्नड़ ग्रन्थ सूचीमें स्वरूप सम्बोधन पञ्चविंशतिकी प्रतियोंके नीचे जो नोट दिये गये हैं उनसे यह बात प्रकट होती है। पृ० ३१ पर ग्रन्थ नं० २६ के नीचे लिखा है—कन्नड़ टीकाकार नयसेनके शिष्य महासेन तथा श्रोता सिद्धान्त चक्रवर्ती वासुपूज्य सिद्धान्तदेवके शिष्य पद्मरस हैं। ग्रन्थ नं० १०१ के नीचे लिखा है—वृत्तिकार पं० नयसेनके शिष्य पद्मसेन हैं। ग्रन्थ नं० १६२ के नीचे लिखा है—इसमें पण्डित महासेनकृत कन्नड़वृत्ति है। यह वृत्ति सूरस्तगणीय वासुपूज्य सिद्धान्तचक्रवर्तीके शिष्य पद्मरसके वास्ते पण्डित महासेन द्वारा रची गई। पृ० ३२ पर ग्रन्थ नं० ३१६ के नीचे लिखा है—'इसमें नयसेनके शिष्य महासेनकृत संस्कृत टीका तथा सिद्धान्त मुनि वासुपूज्यके शिष्य पद्मरसकृत कन्नड टीका है। ग्रन्थ नं० ५१४ के नीचे लिखा है—इसमें पद्मरसकृत कन्नड टीका और साथ ही साथ संस्कृत टीका भी है। ग्रन्थ नं० ५२९ के नीचे लिखा है। इसमें केशववर्यकृत कन्नड़ टीका है। ग्रन्थ नं० ५५२ के नीचे एक संस्कृत टीकाका प्रारम्भिक पद्य भी दिया है जो इसप्रकार है—

> स्वरूपसम्बोधनाख्यग्रन्थस्यानम्य तन्मुनिम्।
> रचितस्याकलङ्केन वृत्तिं वक्ष्ये जिनं नमिम्॥

यह संस्कृत टीका किसकी रची हुई है यह उसमें नहीं लिखा। ग्रन्थ नं० ३१६ में जो संस्कृत टीका है उसका रचयिता नयसेनके शिष्य महासेनको बतलाया है। यदि उक्त श्लोक उसी टीका है तो कहना होगा कि टीकाकार महासेन भी, जिन्हें मूलग्रन्थका कर्ता मान लिया गया है, अकलंकदेवको ही स्वरूप सम्बोधनका कर्ता मानते थे। और महासेन मूलग्रन्थके कर्ता नहीं थे बल्कि उसके टीकाकार थे। यदि स्वरूप सम्बोधन अकलंकदेवकी ही कृति है, जिसकी उक्त उल्लेखोंसे अधिक संभावना प्रतीत होती है और वे अकलंक प्रसिद्ध अकलंक ही है तो स्वरूप सम्बोधन विक्रमकी ७वीं ८वीं शताब्दीकी रचना ठहरता है। और उस स्थितिमें अमृतचन्द्रके द्वारा उसकी शैलीका अनुकरण किया जाना सर्वथा संभव है।

शायद टीकाकार महासेनको मूलकार समझकर तो पद्मप्रभदेवने नियमसारकी टीकामें स्वरूप सम्बोधनके पद्योंको उनके नाममें उद्धृत नहीं कर दिया। किन्तु महासेनके साथ लगाये गये विशेषणोंसे ज्ञात होता है कि पद्मप्रभ महासेनसे

परिचित थे। किन्तु उपलब्ध महासेनोंमेंसे कोई नयसेनका शिष्य नहीं है। प्रेमीजीने पद्मप्रभका समय विक्रमकी तेरहवीं शताब्दी निश्चित किया है, अतः उससे पहले स्वरूप सम्बोधन बन चुका था।

पद्मनन्दिकृत निश्चयपञ्चाशत्

अमृतचन्द्र सूरिने कुन्द-कुन्दके समयसारपर आत्मख्यातिको रचकर अध्यात्मकी जो गंगा प्रवाहित की, उसने उनके पश्चात् होनेवाले अनेक जिन ग्रन्थकारोंको अध्यात्मकी ओर आकृष्ट किया, उनमें एक आचार्य पद्मनंदि भी थे। पद्मनन्दि पञ्चविंशतिकाके नामसे उनका एक उपदेश प्रधान ग्रन्थ अति प्रसिद्ध है जिसमें पच्चीस प्रकरण संगृहीत हैं। उन्हींमेंसे एक प्रकरणका नाम निश्चय पञ्चाशत् है।

यह ६२ श्लोकोंका प्रकरण समयसार और उसकी आत्मख्याति टीकाके आधारपर रचा गया है। इसमें आत्मख्यातिके अन्तर्गत समयसार कलशाके कई श्लोक भी उद्धृत पाये जाते हैं। समय सारके सुदपरिचिदाणुभूदा आदि गाथा ४ को लेकर नीचे लिखा पद्य रचा गया है—

श्रुतपरिचितानुभूतं सर्वं सर्वस्य जन्मने सुचिरम्।
न तु मुक्तयेऽत्र सुलभा शुद्धात्मज्योतिरुपलब्धिः ॥६॥

इसी तरह समयसारके 'ववहारो भूदत्थो' आदि गाथा ११ को संस्कृतमें रूपान्तरित करके लिखा है—

व्यवहारोऽभूतार्थो भूतार्थो देशितस्तु शुद्धनयः।
शुद्धनय आश्रिता ये आप्नुवन्ति यतयः पदं परमम् ॥९॥

इसीतरह इसके प्रारम्भिक पद्योंमें अमृतचन्द्राचार्यके पुरुषार्थ सिद्धयुपायके श्लोकोंकी झलक भी प्रतीत होती है। तथा श्लोकोंमें आत्मख्यातिकी झलक स्पष्ट है।

इस ग्रन्थके अन्तर्गत अन्य भी कई प्रकरण ऐसे हैं जिनमें लेखककी अध्यात्म दृष्टि सन्निहित है। उसमें एक प्रकरणका नाम 'एकत्व सप्ततिका है। इस प्रकरणके इसी नामसे अनेक पद्य पद्मप्रभ मलधारि देवने अपनी नियमसार टीकामें उद्धृत किये हैं। एकत्व सप्ततिमें चैतन्य स्वरूप आत्माको ही सब कुछ बतलाते हुए यहाँ तक लिखा है कि वही महती विधा है। वही मंत्र तंत्र और जन्म जरा रूपी रोगोंकी औषधि है ॥४९॥ उस शुद्ध चैतन्य स्वरूप आत्माकी उपासनाका उपाय है एक मात्र साम्य भाव। साम्य, स्वास्थ्य, समाधि, योग, चित्तनिरोध, और शुद्धोपयोग ये सब एकार्थवाचक हैं ॥६४॥

इस तरह ये छोटे-छोटे प्रकरण बहुत ही सुन्दर सरल संस्कृतमें रचे गये हैं और उनमें सारभूत तत्त्व भर दिया गया है।

समय विचार—आचार्य पद्मनन्दिने पहले प्रकरणके अन्तमें अपने गुरु वीर नन्दि को नमस्कार किया है। जिससे केवल इतना ही ज्ञात होता है कि उनके गुरूका नाम वीरनन्दि था। जम्बूद्वीप पण्णत्तिके कर्ताका नाम भी पद्मनन्दि है किन्तु उनके गुरुका नाम बलनन्दि और प्रगुरुका नाम वीरनन्दि है। अतः इन दोनोंका ऐक्य संभव प्रतीत नहीं होता। पद्मनन्दि नामके अन्य भी अनेक आचार्य होगये हैं जिनका निर्देश जम्बूद्वीप पण्णत्तिके कर्ताका समयविचार करते हुए पहले किया जा चुका है। अतः पद्मनन्दी आचार्यके नामके आधारपर समय निर्णय कर सकना तो अशक्य ही है।

१. यह निश्चित है कि यह पद्मनन्दी अमृतचन्द्र (विक्रमकी दसवीं शती) के पश्चात् हुए हैं। क्योंकि उनके उक्त प्रकरणोंपर उनके ग्रन्थोंका प्रभाव है। अतः उनकी पूर्वावधि विक्रमकी दसवीं शतीका अन्तिम भाग समझना चाहिए।

२. जयसेनाचार्यने अपनी पञ्चास्तिकायकी टीका (४.२३५) में नीचे लिखा पद्य तथा चोक्तमात्माश्रितनिश्चयरत्नत्रयलक्षणं, लिख कर उद्धृत किया है—

'दर्शनं निश्चयः पुंसि बोध स्तद्बोध इष्यते।
स्थितिरत्रैव चारित्रमिति योगः शिवाश्रयः॥'

पद्मप्रभ मलधारिदेवने यही पद्य नियमसारकी टीका (४.४७) में 'तथा चोक्तमेकत्वसप्ततौ' लिखकर उद्धृत किया है। उक्त पद्य पद्मनन्दिकी एकत्व सप्तति का १४वाँ श्लोक है। अतः यह निश्चित है कि उक्त पद्मनन्दि जयसेनाचार्यसे पहले हुए हैं। डॉ० उपाध्येने जयसेनका समय ईसाकी बारहवीं शताब्दीका उत्तरार्ध निश्चित किया है। इसे पद्मनन्दिकी उत्तरावधि मानना चाहिए। अतः पद्मनन्दि विक्रमकी दसवीं शताब्दीके अन्तसे लेकर विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके आरम्भ तकके कालमें किसी समय हुए हैं।

पद्मप्रभ मलधारीने भी अपनी नियमसार टीकाके प्रारम्भमें अपने गुरु वीरनन्दिको नमस्कार किया है। श्री प्रेमीजीने[1] इसपरसे पद्मप्रभ और पद्मनन्दिके एक ही गुरुका शिष्य होनेकी संभावना करके दोनोंके समकालीन होनेका अनुमान किया है तथा एक शिलालेखके आधारपर पद्मप्रभ और उनके गुरु वीरनन्दिको वि० सं० १२४२ में विद्यमान बतलाया है।

किन्तु पद्मप्रभसे पूर्व जयसेनाचार्यने पद्मनन्दि की एकत्व सप्ततिसे पद्य उद्धृत किया है। और पद्मप्रभने जयसेनकी टीकाओंको देखा था, यह उनकी टीकाके तुलनात्मक अध्ययनसे स्पष्ट है। अतः पद्मनन्दि और पद्मप्रभके मध्यमें जयसेनाचार्य हुए हैं यह निश्चित हैं।

१. जै० सा० ई०, पृ० ४०७।

जयसेनने अपनी पचांस्तिकायटीकाके आरम्भमें (९.८) वीरनन्दिके आचारसारसे दो पद्य (४।९५-९६) उद्धृत किये हैं। और वीरनन्दिने अपने आचारसार पर एक कन्नड़ टीका लिखी थी जो उन्होंने वि० सं० १२१० में पूर्ण की थी। अतः आचारसार उससे कुछ पहले रचा गया था यह निश्चित है। और प्रेमीजी के कथनानुसार पद्मप्रभ और उनके गुरु १२४२ वि० सं० में विद्यमान थे। तो कहना होगा कि विक्रमकी १३वीं शताब्दीके प्रारम्भमें आचारसार रचा गया, और उसके प्रथम चरणके अन्तमें जयसेनाचार्यने अपनी टीकाएं रचीं और द्वितीय चरणके अन्तमें पद्मप्रभने नियमसारकी टीका रची। अतः पद्मनन्दिने अपनी एकत्वसप्तति आचारसारके समकालके लगभग तो अवश्य रची होनी चाहिये। ऐसी स्थितिमें उनका पद्मप्रभ मलधारी देवके गुरु वीरनन्दिका शिष्य होना सम्भव प्रतीत नहीं होता है। आचारसारके कर्ता वीरनन्दिके शिष्य होनेमें भी कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि प्रस्तुत पद्मनन्दि अमितगतिके पश्चात् हुए हैं। उनकी पद्म-पचवि०के क्रियाकाण्ड चूलिका नामक अधिकारमें एक पद्य इस प्रकार है—

मनोवचोऽङ्गैः कृतमङ्गिपीडनं
प्रमोदितं कारितमत्र यन्मया।
प्रमादतो दर्पत एतदाश्रयं
तदस्तु मिथ्या जिन दुष्कृतं मम ॥११॥

अमितगति सूरि रचित 'द्वात्रिंशतिका' के नीचे वाले पद्यकी झलक इस पद्यमें मिलती है।

एकेन्द्रियाद्या यदि देव देहिनः
प्रमादतः संचरता इतस्ततः।
क्षता विभिन्ना मिलिता निपीडिता
तदस्तु मिथ्या दुरनुष्ठितं तदा ॥५॥

अमित गतिने विक्रम सम्वत् १०७३ में अपना पंच संग्रह रचा था। अतः पद्मनन्दि विक्रमकी बारहवीं शताब्दीमें हुए हैं।

टीकाकार जयसेन

आचार्य जयसेनने भी अमृत चन्द्रकी तरह आचार्य कुन्दकुन्दके समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय नामक ग्रन्थोंपर टीकाएँ लिखी हैं और तीनों टीकाएँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

जयसेनने समयसारकी टीकामें अमृतचन्द्रके नामका उल्लेख किया है और उनकी टीकासे कुछ पद्य भी यथास्थान उद्धृत किये हैं। अतः यह सुनिश्चित है कि जयसेनके सन्मुख अमृतचन्द्रकी टीका थी। फिर भी जयसेनकी टीकाकी शैलीमें अमृतचन्द्रसे भिन्नता है तथा मूल ग्रन्थकी गाथासंख्यामें भी अन्तर है। अमृतचन्द्रके अनुसार समयसारकी गाथा संख्या ४१५ है किन्तु जयसेनके अनुसार ४४५ है।

अमृतचन्द्र जैसे मनीषीकी टीकाके सामने रहते हुए भी जो जयसेनाचार्यने अतिरिक्त गाथाओंको अपनी टीकामें सम्मिलित किया और विशिष्ट पाठोंको स्थान दिया, इसका कारण यह तो होगा ही कि उनके सामने मूल ग्रन्थकी अधिक गाथावाली तथा विशिष्ट पाठवाली प्रति रही है। किन्तु इससे उनकी स्वतंत्र विचारशीलता तथा पाण्डित्य भी प्रकट होता है। जयसेन प्रथम प्रत्येक गाथाके पदोंका शब्दार्थ देते हैं। पीछे '*अयमत्राभिप्रायः*' आदि लिखकर उसका स्पष्टीकरण करते हैं। अतः उन्होंने अपनी टीकाओंको जो 'तात्पर्यवृत्ति' नाम दिया है वह यथार्थ प्रतीत होता है। उनकी टीकामें प्रायः समस्त मूल ग्रन्थ शब्दशः समाविष्ट है।

उनकी टीकामें उद्धरणोंकी भी विशेषता है जिससे प्रकट होता है कि अध्यात्मवित् होते हुए भी वह ग्रन्थावलोकनके प्रेमी थे। समयसारकी टीका[1]में अनेक प्राकृत गाथाएँ तथा श्लोक उद्धृत हैं। गाथाएँ सिद्धभक्ति, मूलाचार, परमात्मप्रकाश, गोमट्टसार आदिकी हैं। किन्तु कुछ गाथाएँ ऐसी भी हैं जो उपलब्ध ग्रन्थोंमें नहीं मिलती। इसी तरह अनेक श्लोकों के भी मूलस्थानका पता नहीं चलता। स्वयंभूस्तोत्र, रत्नकरंड श्रावकाचार तथा इष्टोपदेशके भी श्लोक उद्धृत हैं। एक श्लोक पञ्चास्तिकायके[2] नामसे उद्धृत किया है। यह संस्कृतका पञ्चास्तिकाय कब किसने बनाया कुछ ज्ञात नहीं।

कुन्दकुन्दके तीनों प्राभृतों पर रचित टीकाओंके सिवाय इन जयसेनाचार्यकी अन्य किसी कृतिका पता नहीं चलता।

समय विचार—प्रवचनसारके तात्पर्यवृत्तिटीकाके पश्चात् एक छोटी सी प्रशस्ति मुद्रित है जिसे टीकाकारकी प्रशस्ति बतलाया है। किन्तु वह प्रशस्ति टीका-

---

१. पृ० ११२, ११३, १६७, १७०, १९४, २०९, २१०, २११।

२. तत्र शुद्धपारिणामिकस्य बंधमोक्षस्य कारणरहितत्वं पञ्चास्तिकायेऽनेन श्लोकेन भणितमास्ते—'मोक्षं कुर्वन्ति मिश्रौपशमिकः क्षायिकाभिधाः। बन्धमौदयिको भावो निष्क्रियः पारिणामिकः।'—सम० सा०, पृ० २०९।

कारसे सम्बद्ध होनेपर भी स्वयं टीकाकारके द्वारा नहीं रची गई है, किन्तु उनके किसी शिष्यादिके द्वारा रची गई। प्रशस्तिमें कुल आठ श्लोक हैं, किन्तु बीचमें अर्थ स्पष्ट न हो सकनेसे त्रुटित प्रतीत होती है। उसके प्रथम श्लोकमें कुमुदेन्दुको नमस्कार किया है। आगे लिखा है कि मूलसंघमें श्रीवीरसेन नामक निर्ग्रन्थ तपस्वी मुनि हुए। उसके पश्चात् गणी श्रीसोमसेन हुए। उनके शिष्य तपस्वी जयसेन हैं।

इससे जयसेनाचार्यके गुरु और प्रगुरुका नाम ज्ञात हो जाता है। किन्तु वे कब हुए यह ज्ञात नहीं होता। और इसके निर्णयके लिए जयसेनके द्वारा अपनी टीकाओंमें उद्धृत पद्योंका ही सहारा लेना पड़ता है। यह हम ऊपर लिख आये हैं कि जयसेनाचार्यने अपनी टीकाओंमें बहुत से श्लोक और गाथाएँ अन्य ग्रन्थोंसे उद्धृत की हैं। कुछ गाथाओंके तो स्थलोंका पता लग जाता है किन्तु श्लोकों का तो पता ही नहीं लगता और उद्धृत श्लोकोंकी संख्या अधिक है। कुछ ग्रन्थों का भी नामोल्लेख किया है—यथा द्रव्य संग्रह, तत्त्वानुशासन, चारित्रसार, त्रिलोकसार, लोकविभाग आदि।

१. इनमेंसे चारित्रसारकी रचना चामुण्डरायने की है। और त्रिलोकसार इन्हीके समकालीन नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीने रचा है। चामुण्डरायने अपना चामुण्डराय पुराण श० सं० ९०० अर्थात् वि० सं० १०३५ में समाप्त किया था। अतः निश्चित है कि जयसेन विक्रमकी ११ वीं शताब्दीके पूर्वार्धसे पहले नहीं हुए।

२. उन्होंने अपनी पञ्चा० टी० (पृ० ८) में दो पद्य उद्धृत किये हैं जो वीरनन्दिके आचारसार (४-९५, ९६) के हैं। कर्नाटक कवि चरितेके अनुसार इन वीरनन्दि ने अपने आचारसार पर एक कन्नड़ टीका सन् १०७६ (वि० सं० १२११) में लिखी थी। अतः निश्चित है कि जयसेन विक्रमकी बारहवीं शताब्दीके पश्चात् हुए हैं।

डॉ० उपाध्येने लिखा[१] है कि नयकीर्तिके शिष्य बालचन्द्रने कुन्दकुन्दके तीनों प्राभृतों पर कन्नड़में टीका लिखी हैं और उनकी टीकाका मुख्य आधार जयसेनकी टीकाएं हैं। उनकी टीका रचनाका काल ईसाकी तेरहवीं शताब्दी का प्रथम चरण है। अतः जयसेनने अपनी टीकाएं ईसाकी बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्धमें अर्थात् विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके पूर्वार्ध में रची हैं।

प्रभाचन्द कृत टीका

स्व० रायबहादुर हीरालाल कृत मध्य प्रदेश और बरारके संस्कृत और

---

१. प्रव-सा०, की प्रस्ता०, पृ० १०४।

प्राकृत ग्रन्थोंके कैटलागमें कारंजाके बलत्कारगणके भण्डारमें प्रभाचन्द्रकृत समयसार टीकाका नाम दिया हुआ है। प्रवचनसारकी अंग्रेजी प्रस्तावनामें डॉ० उपाध्येने प्रवचनसारकी प्रभाचन्द्र कृत प्रवचनसरोज भास्कर नामकी संस्कृत टीकाका उल्लेख किया है और लिखा है कि प्रवचनसारके इस संस्करणके सम्पादनमें उसका उपयोग किया है। उन्होंने यह भी संभावना की है कि प्रभाचन्द्रने कुन्दकुन्दके शेष दोनों ग्रन्थों पर भी अर्थात् समय प्राभृत और पञ्चास्तिकाय पर भी टीकाएं रची होंगी।

प्रवचनसरोज भास्करके कर्ता प्रभाचन्द्रका समय निर्णीत करते हुए डॉ० उपाध्येने[1] श्रुत मुनिकी प्राकृत भावत्रिभंगीकी प्रशस्तिका उल्लेख किया है। श्रुत मुनिने प्रभाचन्द्रको अपना शास्त्रगुरु बतलाया है और उन्हें 'सारत्रयनिपुण' लिखा है। श्रुतमुनिने अपने परमागमसारकी[2] प्रशस्तिके अन्तमें भी प्रभाचन्द्रका स्मरण करते हुए उन्हें सारत्रयमें निपुण कहा है—वे सारत्रय हैं, समयसार प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय। अतः इन्हीं प्रभाचन्द्र को प्रवचन सरोज भास्करका कर्ता उन्होंने माना है। श्रुतमुनिने परमागमसार को शक सं० १२६३ (ई० सन् १३४१) में समाप्त किया था। अतः प्रभाचन्द्रको उन्होंने ईसाकी १४वीं शताब्दी के प्रथमचरणमें हुआ बतलाया है। यदि यही प्रभाचन्द्र समयसार की उक्त टीकाके रचयिता हैं तो उनका समय भी यही होना चाहिये।

पूज्यपाद के समाधितंत्रपर भी प्रभाचन्द्र नामके अचार्यकी एक टीका[3] है जो प्रकाशित हो चुकी है। वह टीका मूल ग्रन्थके श्लोकोंके पदोंको लेकर उनकी व्याख्या रूप है। जैसे प्रसन्न और लघुकाय मूल श्लोक हैं वैसी ही प्रसन्न और लघुकाय टीका भी है। उससे श्लोकोंका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है।

टीकाके अन्तमें प्रशस्ति रूपसे एक पद्य है जिसमें टीकाकारने अपना संक्षिप्त नाम प्रभेन्दु मात्र दिया है। उसके सिवाय अपने सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। उसके पश्चात् अन्तिम वाक्य है—'इति श्रीपण्डित प्रभाचन्द्रविरचिता समाधि-तंत्र टीका समाप्ता।

इस टीकाके सम्पादक पं० श्री जुगल किशोरजी मुख्तारने अपनी प्रस्तावनामें

१. प्रव-सा० की प्रस्ता०, पृ० १०८-१०९।
२. जै० ग्र० प्र० सं०, १ भाग, पृ० १९१।
३. यह टीका वीर सेवा मन्दिर सरसावा (सहारनपुर) से प्रकाशित हुई है। और इसके सम्पादक पं० जुगलकिशोर मुख्तार हैं।

लिखा है कि वह टीका उन्हीं प्रभाचन्द्रकी है जिन्होंने समन्तभद्रके रत्नकरंड श्रावकाचारकी टीका बनाई है। इसके लिये उन्होंने दोनों टीकाओं से कुछ वाक्यादि उद्धृत करके उनकी समानताकी पुष्टि की है। रत्नकरंडश्रावकाचार की अपनी विद्वतापूर्ण विस्तृत प्रस्तावनामें मुख्तार साहबने प्रभाचन्द्र नामके अनेक आचार्यों भट्टारकों और मुनियोंका संक्षिप्त परिचय दिया है तथा रत्नकरण्ड टीकाके कर्ता प्रभाचन्द्रको विक्रमकी १३वीं शताब्दीका विद्वान सिद्ध किया है। चूंकि मुख्तार सा० के मतानुसार समाधितंत्रकी टीका भी उन्हीं प्रभाचन्द्रकी है। अतः उन्होंने इसको विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीकी रचना बतलाया है। किन्तु मूडबिद्रीके[1] जैनमठमें इस टीकाकी ताड़पत्रीय प्रतिके अन्तमें लिखा है—'श्री जयसिंह देव राज्ये श्रीमद्धारा निवासिना परापर परमेष्ठि-प्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलङ्केन श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन समाधि-शतक टीका कृतेति।' यह वही प्रसिद्ध वाक्य है जो आवश्यक परिवर्तनके साथ प्रभाचन्द्र विरचित 'प्रमेयकमल मार्तण्ड, गद्यकथाकोश' आदि ग्रन्थोंके अन्तमें पाया जाता है। प्रमेयकमल मार्तण्ड में 'भोजदेवराज्ये' है। किन्तु न्याय कुमुदचन्द्रके अन्तमें 'जयसिंहदेवराज्ये' है। जयसिंह देव भोज देवके उत्तराधि-कारी थे और भोजदेवकी मृत्युके बाद ई० १०५६–५७ में मालवाके सिंहा-सनपर बैठे थे। इन्हीं दोनोंके समयमें प्रसिद्ध नैयायिक और दार्शनिक प्रभाचन्द्रने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रोदय नामके ग्रन्थोंकी रचना की थी। समाधितंत्र टीकाकी ताड़पत्रीय प्रतिमें पाये जानेवाले उक्त वाक्यसे तो यही प्रतीत होता है कि उक्त टीका उन्हीं प्रभाचन्द्रकी है। उसमें एक जगह[2] उक्त दोनों ग्रन्थोंका उल्लेख भी है। न्यायाचार्य पं० महेन्द्र कुमारजी ने प्रमेय-कमलमार्तण्डकी प्रस्तावनामें समाधितंत्र टीका को तथा प्रवचनसरोज भास्करको भी उन्हीं प्रभाचन्द्रकी कृति माना है। प्रवचन सरोज भास्कर तो हमारे सामने उपस्थित नहीं है। और समाधितंत्र टीकामें ऐसे कोई सबल प्रमाण नहीं है जिनके आधार पर निश्चित रूपसे यह कहा जा सकता हो कि यह टीका प्रमुक प्रभाचन्द्र-कृत ही है।

टीकाकार पद्मप्रभ मलधारिदेव

कुन्दकुन्द रचित नियमसारको हमने द्रव्यानुयोगके तत्त्वार्थ विभागके अन्त-

---

१. क० ता० ग्र० सू०, पृ० २९।

२. 'यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्ड न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः।'—

स० तं० टी०, पृ. १५।

र्गत रखा है। इसीसे यहाँ उसका परिचय नहीं दिया है। किन्तु उसके टीकाकार पद्मप्रभ मलधारीदेवने अमृतचन्द्राचार्यकी शैलीमें ही उसकी टीका की है। इसी लिये उसका उल्लेख इस प्रकरण में किया जाता है।

पद्मप्रभदेव ने इस टीकामें अमृतचन्द्रके अनेक पद्योंको ही उद्धृत नहीं किया है किन्तु उन्हींकी शैलीको अपनाकर टीकाके अन्तर्गत अनेक पद्य भी बीच-बीच में रचे हैं। जयसेन की अपेक्षा पद्मप्रभ ने अमृतचन्द्रकी शैलीको अधिक अपनाया है, उन्हीं की तरह सुललित गद्यात्मक शैलीमें टीकाका निर्माण किया है।

किन्तु जयसेनाचार्यकी तरह ग्रन्थान्तरोंसे उद्धरण बहुतायतसे दिये हैं। इस तरहसे उन्होंने कुन्दकुन्दाचार्यके अपने पूर्ववर्ती दोनों टीकाकारोंका अनुसरण किया है। उन्होंने अपनी टीकामें पद्य उद्धृत करते हुए समन्तभद्र, पूज्यपाद, योगीन्द्रदेव, विद्यानन्दि, गुणभद्र, अमृतचन्द्र तथा सोमदेव पण्डित, वादिराज, महासेन नामके आचार्योंका तथा समयसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार, उपासकाध्ययन, अमृताशीति, मार्गप्रकाश, प्रवचनसारव्याख्या, समयसारव्याख्या एकत्व सप्तति, तत्त्वानुशासन, श्रुतबिन्दु नामके ग्रन्थोंका उल्लेख किया है। इसमें मार्ग प्रकाश नामक ग्रन्थका अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता।

पद्मप्रभने अपनेको सुकविजनपयोज मित्र, पञ्चेन्द्रिय प्रसर वर्जित, और गात्रमात्रपरिग्रह लिखा है। यह जयसेनके पश्चात् विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके मध्यमें हुए हैं। और जयसेनके लघु समकालीन प्रतीत होते हैं।

अन्य टीकाएँ—मल्लिषेण नामके एक आचार्यने भी समयसारादि पर टीका रची थी और वह जैनमठ श्रवणबेलगोला में है, ऐसा मैसूर कुर्गके संग्रह में लिखा है। सी० पी० और बरारके संस्कृत प्राकृत ग्रन्थोंके कैटलाग में (५.६६३-६७१) मल्लिषेण आचार्यकृत पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसार पर टीका होनेका निर्देश है, किन्तु समयसार पर भी मल्लिषेणने टीका लिखी थी इसका समर्थन अन्यत्रसे नहीं होता। पीछे हम देख आये हैं, कि टीकाकारोंने कुन्दकुन्दके प्रायः तीन प्राभृतों पर टीकाएं रची है। अतः संभव है, मल्लिषेणने भी तीनों प्राभृतोंपर टीका रची हो। यह मल्लिषेण कौन हैं और कब हुए है, बिना किसी आधारके कुछ कहना संभव नहीं है।

इष्टोपदेश टीका[1]

विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीमें[2] आशाधर नामके एक महान ग्रन्थकार हो गये

१. माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बईसे 'तत्त्वानुशासनादि संग्रह' के अन्तर्गत।

२. आशाधरका विस्तृत परिचय जानने के लिए देखें—जै० सा० इ०, पृ० ३४ आदि।

हैं। उन्होंने प्रत्येक विषय पर अपनी लेखनी चलाई है और लगभग बीस ग्रन्थोंकी रचनाओंको जन्म दिया है। वे न केवल जैनशास्त्रोंमें ही निष्णात थे, बल्कि इतर शास्त्रोंमें भी उनकी अबाधगति थी। जैनधर्मका उनका अध्ययन तो बड़ा-विशाल था। उनके टीकाग्रन्थोंको देखनेसे पता चलता है कि उन्होंने अपने समयके उपलब्ध तमाम जैनग्रन्थोंका तलस्पर्शी अवगाहन किया था। उनकी टीकाएं जैन और जैनेतर ग्रन्थोंके उद्धरणोंसे भरपूर हैं। अपने ग्रन्थोंकी अन्तिम प्रशस्तियों में उन्होंने अपना पूरा परिचय दिया है।

वे मूलमें मांडलगढ़ (मेवाड़) के निवासी थे। शहाबुद्दीन गोरीके आक्रमणों से त्रस्त होकर मालवाकी राजधानी में आकर बस गये थे। वे बघेरवाल जातिके वैश्य थे।

उनके द्वारा रचित ग्रन्थोंमें से एक 'अध्यात्म रहस्य' नामका ग्रन्थ था जो अभीतक अप्राप्य है। इसके नामसे प्रकट है कि यह अध्यात्मविषयका मार्मिक ग्रन्थ होना चाहिए। उसके सिवाय प्रकृत विषयसे सम्बद्ध ग्रन्थोंमें उन्होंने पूज्यपादके इष्टोपदेशपर एक टीका लिखी है, जो प्रकाशित हो चुकी है।

इस ग्रन्थकी श्लोकसंख्या ५१ है। जैसा मूलग्रन्थ छोटा-सा है तदनुरूप ही उसकी टीका भी है। किन्तु पं० आशाधर जी ने उसके अन्तर्गत मूल श्लोकोंकी संख्याके लगभग ग्रन्थान्तरों से पद्य उद्धृत किये हैं। उद्धृत[1] पद्योंमें से कुछ पद्य कुन्दकुन्दाचार्यके पञ्चास्तिकाय, अकलंकदेवके लघीयस्त्रय, गुणभद्र के आत्मानुशासन, गोम्मटसार जीवकाण्ड, द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र, अमृतचन्द्रकी आत्मख्याति टीका, पुरुषार्थसिद्धयुपाय और तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थोंसे दिये गये हैं और इस दृष्टिसे छोटी-सी टीका भी काफी समृद्ध है।

श्लोकके पदोंका अर्थ करके उसका व्याख्यान किया गया है तथा शिष्यके द्वारा शंका उठाकर उसके समाधान द्वारा प्रकृत विषयको स्पष्ट किया गया है।

टीकाकार ब्रह्मदेव

अध्यात्मशैलीके टीकाकारोंमें ब्रह्मदेवका नाम उल्लेखनीय है। उनके दो टीकाग्रन्थ उपलब्ध हैं, एक परमात्मप्रकाश-टीका और एक बृहद्द्रव्यसंग्रह टीका। अपनी टीकाओंमें उन्होंने अपने सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। केवल बृहद्द्रव्य-संग्रहकी अन्तिम पुष्पिकामें उनका नाममात्र आया है। परमात्मप्रकाशकी टीकाके अन्तमें उसका भी अभाव है।

बृ० द्र० सं० की भूमिकामें पं० जवाहरलालजीने लिखा था कि ब्रह्म उनकी

---

१. तत्त्वानुशासनादिसंग्रह—पृ० ३३, ३०, ३६, ४३, ४१, ५२, ४८, ४९।

उपाधि है जो बतलाती है कि वे ब्रह्मचारी थे और देव उनका नाम है। यद्यपि कई ग्रन्थकारोंने अपने नामके प्रारम्भमें ब्रह्म शब्दका उपयोग उपाधिके रूपमें किया है, यथा—आराधना-कथाकोशके कर्ता ब्रह्म नेमिदत्तने, श्रुतस्कन्धके रचयिता ब्रह्म हेमचन्द्रने तथा अनेक ग्रन्थोंके रचयिता ब्रह्म श्रुतसागरने। किन्तु ब्रह्मदेवमें ब्रह्म नाम उपाधिसूचक प्रतीत नहीं होता। किन्तु ब्रह्मसेन, ब्रह्मसूरि आदि नामोंकी तरह यह पूरा नाम ही प्रतीत होता है। फिर भी यह संभव है कि वे भी ब्रह्मचारी ही हों।

ब्रह्मदेवजी जैनसिद्धान्तके तो अच्छे ज्ञाता थे ही, इतर दर्शनोंके भी ज्ञाता थे। उनकी विद्वत्ताका प्रभाव बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकामें प्रतिफलित हुआ है। उसमें उन्होंने कतिपय गाथाओंके व्याख्यानमें जैनसिद्धान्तकी बहुत-सी बातोंकी सुन्दर जानकारी करायी है। यथा—गाथा १०की व्याख्यामें समुद्घातका, गाथा १३की व्याख्यामें गुणस्थानों और मार्गणाओंका, गाथा १४ के व्याख्यानमें सिद्धोंके गुणोंका, गाथा ३५ के व्याख्यानमें बारह अनुप्रेक्षाओंका और उनमेंसे भी लोकानुप्रेक्षाके अन्तर्गत तीनों लोकोंका बहुत ही विस्तारसे कथन किया है। इसी तरह कुछ सैद्धान्तिक चर्चाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं। यथा—गाथा ५के व्याख्यानमें मतिज्ञान के परोक्षत्व और सांव्यवहारिक प्रत्यक्षकी चर्चा की है, गाथा ४४ की व्याख्यामें दर्शनोपयोगकी प्रचलित व्याख्या सामान्यावलोकनका निर्देश करके 'अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते' लिखकर धवलामें प्रतिपादित सैद्धान्तिक व्याख्या की है, और फिर इन दोनों व्याख्याओंका दृष्टिभेदसे समन्वय भी किया है। गाथा ५० की व्याख्यामें सर्वज्ञके विरोधमें पूर्वपक्ष भट्ट चार्वाकका बतलाया है जो भट्ट मीमांसकका होना चाहिए था।

इस टीकामें दो ऐसे ग्रन्थोंका नाम आया है जो अनुपलब्ध हैं। उनमेंसे एकका नाम पञ्चपरमेष्ठी[1] और दूसरेका पञ्चनमस्कार बतलाया है। गाथा १३की टीकामें 'गुणजीवापज्जती'[2] आदि गाथाको उद्धृत करके लिखा है—'इस गाथाके द्वारा जो कथन किया है वही धवल, जयधवल महाधवल नामक तीनों ग्रन्थोंका बीजपद है।' इससे प्रकट होता होता है कि ब्रह्मदेवजीने इन ग्रन्थोंका नाममात्र ही सुना था। स्वयं उनके अवलोकनका सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हुआ था।

परमात्मप्रकाशवृत्ति—परमात्मप्रकाशकी टीकामें बृहद्द्रव्यसंग्रहकी टीकाकी तरह सैद्धान्तिक चर्चाएँ नहीं हैं। इसका कारण यह भी है कि परमात्म प्रकाश एक

---

१. 'विस्तरेण पञ्चपरमेष्ठीग्रन्थकथितक्रमेण, अतिविस्तरेण तु सिद्धचक्रादि-देवार्चनविधिरूपमंत्रवादसम्बन्धि-पञ्चनमस्कारग्रन्थे चेति'—बृहद्द्र० सं० टी० गा० ५४।

२. इति गाथाप्रभृतिकथितस्वरूपं धवल-जयधवलप्रबन्धाभिधानसिद्धान्तत्रय-बीजपदं सूचितम्।'—बृहद्द्र० सं०, टी०, गा० १३।

भावनात्मक ग्रन्थ है, उसमें किन्हीं सैद्धान्तिक तत्त्वोंका प्रतिपादन नहीं है। फिर भी जहाँ अवसर मिल सका, ब्रह्मदेवजो सम्बद्ध विषयकी चर्चासे विरत नहीं रह सके।

यथा, गाथा २।१७ के व्याख्यानमें यह शंका की है कि यहाँ आपने कहा कि निश्चय सम्यक्त्व वीतराग चारित्रका अविनाभावी होता है। किन्तु निश्चय सम्यक्त्व तो गृहस्थ अवस्थामें भी रहता है परन्तु वहाँ वीतराग चारित्र नहीं रहता। अतः पूर्वापर विरोध आता है। 'तत्र परिहारमाह' लिखकर उसका परिहार भी किया गया है।

गाथा २।३३ के व्याख्यानमें प्रभाकरभट्ट शंका करता है—यहाँ आपने कहा है कि जो शुद्धात्माका ध्यान करते हैं, वे ही मोक्षको प्राप्त करते हैं। किन्तु [1]चारित्रसार वगैरहमें कहा है कि द्रव्य-परमाणु, भाव-परमाणुका ध्यान करनेसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, अतः हमारा इसमें सन्देह है। इसी तरह यथास्थान शंका-समाधान किये गये हैं जो तात्त्विक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण हैं।

शैली—ब्रह्मदेवजी ग्रन्थके प्रारम्भमें ही उसकी विषयसूची दे देते हैं कि 'इत्यादि गाथाएँ इन-इन विषयोंसे सम्बद्ध हैं।' यह क्रम उनकी दोनों टीकाओंमें वर्तमान है। दोनों ही टीकाओंके[2] आरम्भमें उन्होंने शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ,

---

१. "चारित्रसारादौ पुनर्भणितं द्रव्यपरमाणुं भाव परमाणुं वा ध्यात्वा केवलज्ञान-मुत्पादयन्तीत्यत्र विषये अस्माकं सन्देहोऽस्ति। अत्र श्रीयोगीन्द्रदेवाः परिहारमाहुः। तत्र द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भावसूक्ष्मत्वं ग्राह्यम् न च पुद्गलद्रव्यपरमाणुः। तथा चोक्तं सर्वार्थसिद्धि-टिप्पणके—द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं भावपरमाणुशब्देन भाव-सूक्ष्मत्वमिति।"—पर० प्र० टी०, पृ० १६९।

२. 'अत्र पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः। शुद्धाशुद्धनयद्वयविभागेन नयार्थोऽप्युक्तः। इदानीं मतार्थः कथ्यते····आगमार्थः पुनः 'अस्त्यात्मानादि-बद्धः' इत्यादि प्रसिद्ध एव। शुद्धनयाश्रितं जीवस्वरूपमुपादेयं शेषं च हेयं इति हेयोपादेयरूपेण भावार्थोऽप्यवबोद्धव्यः। एवं शब्द-नय-मतागम भावार्थो यथासम्भवं व्याख्यानकाले सर्वत्र ज्ञातव्यः।'—बृ० सं० टी०, गाथा० २।
'एवं पदखण्डनारूपेण शब्दार्थः कथितः। नयविभागकथनरूपेण नयार्थो भणितः। बौद्धरादिमतस्वरूपकथनप्रस्तावे मतार्थोऽपि निरूपितः। एवं गुण-विशिष्टाः सिद्धा मुक्ताः सन्तीत्यागमार्थः प्रसिद्धः। अत्र नित्यनिरञ्जनज्ञान-मयरूपं परमात्मद्रव्यमुपादेयमिति भावार्थः। अनेन प्रकारेण शब्दनयमतागम-भावार्थो व्याख्यानकाले यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यः।
—प० प्रका०, टी० पृ० ७-८।

आगमार्थ और अन्तमें भावार्थ कहनेकी पद्धतिको स्वीकार किया है और प्रायः तदनुसार ही गाथाओंका व्याख्यान किया है।

इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि दोनों टीकाओंके कर्ता ब्रह्मदेव जी ही हैं। यह बात इसलिए लिखनेकी आवश्यकता हुई कि परमात्मप्रकाशकी टीकामें टीकाकारका नाम नहीं है, किन्तु हिन्दी-टीकाकार दौलतरामजी परमात्मप्रकाशकी संस्कृतवृत्तिको ब्रह्मदेवरचित कहते हैं।

परमात्मप्रकाशकी टीकाके अन्तमें ब्रह्मदेवजीने लिखा है—इस ग्रन्थमें अधिकतर पदोंकी सन्धि नहीं की गयी है और सुखपूर्वक बोध करानेके लिए वाक्य भी जुदे-जुदे रखे गये हैं। अतः विद्वानोंको इस ग्रन्थमें लिंग, वचन, क्रिया, कारक, संधि, समास, विशेष्य, विशेषण, वाक्यसमाप्ति आदि दूषण नहीं देखने चाहिए।'

इससे प्रतीत होता है कि ब्रह्मदेवजीने अपनी यह टीका सरल संस्कृतमें लिखी है जिससे साधारण ज्ञाता भी उसका लाभ उठा सके। बृ० द्रव्यसंग्रहकी टीकामें इस तरहकी कोई बात नहीं लिखी है, क्योंकि उसकी रचना इस दृष्टिसे नहीं की गयी है।

ब्रह्मदेवजीकी इन टीकाओंसे उनके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता, अतः उनके समयका निश्चय करनेके लिए ग्रन्थमें उद्धृत ग्रन्थान्तरोंके पद्यों आदिका ही सहारा लेना पड़ता है।

ब्रह्मदेवजीमें भी ग्रन्थान्तरोंसे पद्य उद्धृत करनेकी अभिरुचि जयसेनाचार्यकी जैसी ही प्रतीत होती है। जयसेनकी पञ्चास्तिकाय-टीकाओंके साथ उनकी टीकाओंका मिलान करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपनी टीकाओंमें जयसेनका अनुकरण किया है। जयसेनाचार्यने[1] भी टीकाके आदिमें शब्दार्थ,

---

१. 'एवं····शब्दार्थः कथितः।····नयार्थोऽप्युक्तः।····मतार्थोऽप्युक्तः। इन्द्रशतवन्दिता इत्यागमार्थः प्रसिद्ध एव····इति भावार्थः। अनेन प्रकारेण शब्द नयमतागम भावार्थः।····मंगल णिमित्तहेऊ····॥१॥ वक्खाणउ व्याख्यातु। स कः कर्ता। आइरिओ आचार्यः किं। सत्थं शास्त्रं-पच्छा पश्चात्। किं कृत्वा पूर्वं। वागरिय व्याकृत्य व्याख्याय। कान्! छप्पि' षडपि मंगलणिमित्तहेऊ परिणाम णाम तह य कत्तारं। मंगलनिमित्तहेतु परिमाणनामकर्तृत्वाधिकाराणीति।'—पञ्चा० टी०, पृ० ४-५। 'उक्तं च—मंगलंणिमित्तहेउं····॥१॥ वक्खाणउ व्याख्यातु। कं सकः? आयरिओ आचार्यः। सत्थं शास्त्रं, 'पच्छा' पश्चात् किं कृत्वा पूर्वं? वागरिय व्याकृत्य व्याख्याय। कान्?छप्पि षडपि अधिकारान्। कथंभूतान्? मंगल णिमित्त····।'—बृहद्, सं० टी०, पृ० ६-७।

नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ और भावार्थका कथन करनेका निर्देश किया है। तथा मंगलादिकी चर्चामें मंगल णिमित्त हेऊ आदि गाथा उद्धृत करके उसका व्याख्यान किया है। तदनुसार ही द्रव्यसंग्रहकी टीकाके आरम्भमें ब्रह्मदेवजीने किया है। अन्य भी कई समानताएँ[1] ऐसी हैं जिनमें शब्दशः अनुकरण किया गया है। अतः यह निश्चित है कि ब्रह्मदेवजीने जयसेनका पूरा-पूरा अनुकरण किया है। जयसेन ईसाकी बारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धके लगभग हुए हैं, अतः ब्रह्मदेव बारहवीं शताब्दीसे बादके होने चाहिए।

किन्तु इस विषयमें एक प्रश्न हो सकता है कि ब्रह्मदेवजीने ही जयसेनाचार्यका अनुसरण किया है और जयसेनाचार्यने ब्रह्मदेवजीका अनुसरण नहीं किया, इसमें क्या प्रमाण है ? क्योंकि ब्रह्मदेवकी टीकामें जयसेनजी अथवा उनकी टीकाका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

दोनों टीकाओंके मिलानसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रह्मदेवजीने ही जयसेनाचार्यका अनुसरण किया है। उदाहरणके लिए द्रव्यसंग्रह गाथा ५७ की टीकामें ब्रह्मदेवजीने पञ्चास्तिकाय गाथा १४६ तथा समयसार गाथा २१७ की जयसेनाचार्यकृत टीकाका अनुसरण करके दोनोंमें उद्धृत पद्योंको अपने ढंगसे जमाया है। साथ ही एक उद्धरण[2] भी पंचास्तिकायकी टीकाका पाया जाता है। अतः यह निश्चित है कि ब्रह्मदेवजीने जयसेन अनुसरण किया है।

द्रव्यसंग्रहकी गाथा १३ की टीकामें एक वाक्य इस प्रकार है—

'स्वाभाविकानंतज्ञानाद्यनन्तगुणाधारभूतं निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम्, इन्द्रियसुखादिपरद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञप्रणीत............परं किन्तु भूमिरेखादिसदृशक्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमित्तं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेर्लक्षणम्। यः पूर्वोक्तप्रकारेण सम्यग्दृष्टिः सन् भूमिरेखादिसमानक्रोधादिद्वितीयकषायोदयाभावे सत्यभ्यन्तरे निश्चयनयेनैकदेश-राग।विरहित-स्वाभाविक सुखानुभूतिलक्षणेसु, बहिर्विषयेषु पुनरेकदेशहिंसानृतास्तेयाब्रह्मपरिग्रहनिवृत्ति लक्षणेषु····वर्तते स पञ्चमगुणस्थानवर्ति श्रावकः स्यात्।'

---

१. 'चारित्रसारादौ ग्रन्थे भणितमास्ते। छद्मस्थतपोधनाः द्रव्यपरमाणुं भावपरमाणुं वा ध्यात्वा केवलज्ञानमुत्पादयन्ति। तत्परद्रव्यालंबनरहितं कथं घटत इति। परिहारमाह—द्रव्यपरमाणुशब्देन द्रव्यसूक्ष्मत्वं ग्राह्यं भावपरमाणुशब्देन च भावसूक्ष्मत्वं न च पुद्गलपरमाणवः। इदं व्याख्यानं सर्वार्थसिद्धिटिप्पणके भणितमास्ते।'—पञ्चास्ति० टी०, पृ० २१९।

२. 'तथाचोक्तं पञ्चास्तिकाये'—पर्यायार्थिकनयेन, 'अभूदपुव्वो हवदि सिद्धो', द्रव्यार्थिकनयेन पुनः।'—पर० प्र० टी०, पृ० ६ तथा पञ्चास्ति० टी०, पृ० ४३।

आशाधरजीके सागार धर्मामृतका एक श्लोक इस प्रकार है—

'भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्धधत् ।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवाऽऽत्मनिन्दादिमान्
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः ।।१३।।

उक्त गद्य तथा पद्यमें जो शब्द तथा अर्थसादृश्य है वह अकस्मात् प्रतीत नहीं होता । अवश्य ही इन दोनों में से किसी एक ने दूसरेका अनुसरण किया है । पं० आशाधरजीका समय तो सुनिश्चित है उन्होंने अपने सागारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १२९६ में समाप्त की थी । अब यदि आशाधरजीने ब्रह्मदेवजी की टीकाको देखकर उक्त पद्य रचा है तो ब्रह्मदेवजी विक्रमकी तेरहवीं शतीके मध्यके विद्वान् होने चाहिए और इस तरह वे जयसेनजी और आशाधरजीके अन्तरालमें हुए हैं । किन्तु यदि ब्रह्मदेवजीने आशाधरजीके सागारधर्मामृतके उक्त पद्यके ऊपरसे सम्यग्दृष्टिका उक्त स्वरूप लिखा है तो वह आशाधरजीके पश्चात् विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें होने चाहिए ।

डॉ०[1] उपाध्येने लिखा है कि जैसलमेरके भण्डारमें ब्रह्मदेवकी द्रव्यसंग्रह वृत्तिकी एक प्रति मौजूद है जो वि० सं० १४८५ में माण्डवमें लिखी गई है । अतः इतना निश्चित है कि ब्रह्मदेवजी उससे पहले हुए हैं ।

परमात्मप्रकाशपर कुक्कुटासन-मलधारी बालचन्द्रकी एक कन्नड़ टीका उपलब्ध है । डॉ०[2] उपाध्येने लिखा है कि उसके प्रारम्भिक उपोद्घातसे यह स्पष्ट है कि उस टीकाका मुख्य आधार ब्रह्मदेवकी वृत्ति है । क्योंकि बालचन्द्रने लिखा है कि ब्रह्मदेवकी टीकामें जो विषय स्पष्ट नहीं हो सके हैं, उन्हें प्रकाशित करनेके लिये उन्होंने यह टीका रची है ।यह स्पष्टोक्ति बतलाती है कि उन्होंने ब्रह्मदेवका अनुसरण किया है । किन्तु इन बालचन्द्रका समय भी निश्चित नहीं हो सका है ।

अध्यात्मरसिक उपाध्याय यशोविजयजी

श्वेताम्बर-परम्परामें निश्चयनय और व्यवहारनय तो मान्य हैं । किन्तु कुन्दकुन्दने समयसारमें जो निश्चयनयसे आत्मस्वरूपका प्रतिपादन किया है उस ढंगका प्रतिपादन श्वेताम्बर-साहित्यमें नहीं मिलता । इससे अध्यात्मरसिक श्वेताम्बर विद्वानोंका कुन्दकुन्दके समयसारकी ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक है । ऐसे ही विद्वानोंमें पं० बनारसीदास थे । वह हिन्दीभाषाके श्रेष्ठ कवि थे । जैन-परम्परामें हिन्दीभाषाका उन जैसा श्रेष्ठ कवि दूसरा नहीं हुआ । उनका जन्म जौनपुरमें वि०सं० १६४३में हुआ था । किन्तु व्यापारके निमित्त वे आगरा आकर रहने लगे

१. २. पर० प्र० की प्रस्ता०, पृ० ७१ ।

थे। आगरेमें एक अर्थमल्ल नामके अध्यात्मरसिक सज्जनके साथ कविका परिचय हो गया। उनकी प्रेरणासे कविने कुन्दकुन्दाचार्यकृत समयसारकी रायमल्लकृत बालावबोध टीकाका मननपूर्वक स्वाध्याय किया। उसे पढ़कर उनकी व्यवहारपरसे श्रद्धा उठ गयी और उन्हें सर्वत्र निश्चयनय ही निश्चयनय दिखाई देने लगा। इसमें उनके साथी तीन मित्र और भी थे। उनके नाम थे चन्द्रभानु उदयकरण और थानमल। चारों कोठरीमें नंगे हो जाते थे और अपनेको दिगम्बर मुनि समझ लेते थे। वि० सं० १६९२ तक यही दशा रही।

उसके पश्चात् आगरेमें पं० रूपचन्दका समागम हुआ। उन्होंने उनसे गोम्मटसार आदि ग्रन्थोंको पढ़नेकी प्रेरणा की। उनके पढ़नेसे कवि और उनके साथियोंकी परिणति स्याद्वादरूप हुई और एकान्तवादका लोप हो गया। तब १६८३ में समयसारपर अमृतचन्द्राचार्य रचित आत्मख्याति टीकामें आगत संस्कृत पद्योंके आधारपर 'समयसार नाटक' नामका हिन्दीपद्योंमें अपूर्व ग्रन्थ रचा। उसका प्रचार तथा आदर श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें खूब है।

तबसे आगरेमें बनारसीदासजीके अनुयायियोंकी एक शैली प्रचलित हो गई जिसके अनुयायी आध्यात्मिक कहे जाते थे। उन्होंने लोगोंको अपनी ओर आकृष्ट किया। विपक्षियोंने उसे बनारसीदासका आध्यात्मिक मत नाम दे दिया।

फलस्वरूप उसके बढ़ते हुए प्रभावको रोकनेके लिए श्वेताम्बराचार्य यशोविजय उपाध्यायने उसके खण्डनमें आध्यात्मिकमत-खण्डन और आध्यात्मिकमत[1]-परीक्षा नामके ग्रन्थोंकी रचना की और मेघविजय उपाध्यायने प्राकृत गाथाओंमें बाणारसीय दिगम्बरमत खण्डनमय [2]युक्तिप्रबोध नामके ग्रन्थकी रचना की और उसपर संस्कृतमें टीका भी रची।

श्री यशोविजयजी श्वेताम्बर तपागच्छके थे और अकबर बादशाहके प्रतिबोधक हीरविजय सूरिके शिष्य उपाध्याय कल्याणविजय उनके शिष्य लाभविजय उनके शिष्य जीतविजयके गुरुभाई नयविजयके शिष्य थे। इन्होंने तीन वर्ष तक काशीमें रहकर न्यायशास्त्रका अभ्यास किया था। पीछे चार वर्षतक आगरामें रहकर विद्याभ्यास किया था। इन्होंने प्राकृत, संस्कृत और गुजरातीमें अनेक ग्रन्थोंकी रचना की है तथा न्याय, योग, अध्यात्म, दर्शन, धर्म, कथाचरित

१. आध्यात्मिकमत-परीक्षा (टीका सहित), देवचन्द लालचन्दभाई सूरतसे, प्रकाशित हुई है।
२. युक्तिप्रबोध, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर-संस्था, रतलामसे प्रकाशित हुआ है।

आदि सभी विषयोंपर अपनी लेखनी चलायी है। इनकी प्रतिभा अपूर्व थी। इनके बहुतसे ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

जैनधर्मप्रसारक सभा भाव नगरकी ओरसे यशोविजय-ग्रन्थमाला नामके संग्रह ग्रन्थमें दस ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। उनके नाम हैं—अध्यात्मसार, देव-धर्म-परीक्षा, अध्यात्मोपनिषद्, आध्यात्मिकमत-खण्डन सटीक, यतिलक्षण समुच्चय, नयरहस्य, नयप्रदीप, नयोपदेश, जैनतर्क-परिभाषा और ज्ञानबिन्दु। अन्तके नय रहस्य आदि प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

इनमेंसे नयोपदेशमें[1] उपाध्यायजीने दिगम्बरोंके निश्चयनयको जगत्का उसी प्रकार हितकारी नहीं बतलाया जैसे विषकी रसायन सबके लिए हितकर नहीं होती। जैसे चक्रवर्तीका भोजन थोड़ोंका उपकारक और बहुतोंका अपकारक होता है वैसे ही निश्चयनय थोड़ोंका उपकारी और बहुतोंका अपकारी है। निश्चयनयमें न कोई शिष्य है और न कोई गुरु, न क्रिया और न क्रियाका फल है, और न कोई दाता है और न कोई भोक्ता। ऐसे निश्चयनयका उपदेश पुरुषोंके मिथ्यात्वका ही कारण होता है।

इसतरह उपाध्यायजीने दिगम्बरोंके निश्चयनयको उन्हींके योग्य बतलाया है जो उसे पचा सकनेकी शक्ति रखते हों।

किन्तु श्री उपाध्याय यशोविजयजीने जहाँ एक ओर दिगम्बरोंके निश्चयनयकी भर्त्सना की वहाँ दूसरी ओर भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके समयसारको अपने अध्यात्म-विषयक प्रकरणोंमें आत्मसात् करनेकी भी चेष्टा की। उनके अध्यात्मसार और अध्यात्मोपनिषद् नामक ग्रन्थोंमें समयसारकी अनेक गाथाओंका संस्कृतमें रूपान्तर मिलता है।

---

१. 'शुद्धा ह्येतेषु सूक्ष्मार्था अशुद्धाः स्थूलगोचराः।
फलतः शुद्धतां त्वाहुर्व्यवहारे न निश्चये ॥७४॥
क्रियाक्रियाफलौचित्यं गुरुः शिष्यश्च यत्र न।
देशना निश्चयस्यास्य पुंसां मिथ्यात्वकारणम् ॥७५॥
परिणामे नयाः सूक्ष्मा हिता नापरिणामके।
न वाति परिणामे च चक्रिणो भोजनं यथा ॥७६॥
आमे घटे यथा न्यस्तं जलं स्वघटनाशकृत्।
तथाऽपरिणते शिष्ये रहस्यं नयगोचरम् ॥७७॥
तेनादौ निश्चयोद्ग्राहो नग्नानामपहस्तितः।
रसायनीकृतविषप्रायोऽसौ न जगद्धितः ॥७९॥

—नयोपदेश

अध्यात्मसार—इस ग्रन्थमें २० अधिकार हैं। उनके नाम हैं—माहात्म्याधिकार १, अध्यात्मस्वरूप २, दंभत्याग ३, भवस्वरूपचिन्ता ४, वैराग्यसंभव ५, वैराग्यभेद ६, वैराग्यविषय ७, ममतात्याग ८, समता ९, सदनुष्ठान १०, मनःशुद्धि ११, सम्यक्त्व १२, मिथ्यात्याग १३, असद्ग्रहत्याग १४, योग १५, ध्यान १६, ध्यानस्तुति १७, आत्मनिश्चय १८, जिनमतस्तुति १९ और अनुभवाधिकार। सम्पूर्ण ग्रन्थ संस्कृतमें अनेक छन्दोंमें निर्मित है।

अध्यात्मका माहात्म्य बतलाते हुए लिखा है कि 'अध्यात्मशास्त्रसे उत्पन्न हुए सन्तोषके सुखमें मग्न पुरुष इन्द्र, कुबेर और राजाको कुछ नहीं समझते ॥१०॥ कामसेवनका रस तभी तक रहता है जबतक कामसेवन किया जाता है। भोजनका सुख भी भोजन करनेतक ही रहता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्रका अनुशीलन करनेपर जो सुख प्राप्त होता है, उसकी कोई अवधि नहीं है ॥२१॥ अतः अध्यात्मशास्त्रको बारंबार पढ़ना चाहिये और उसके अनुसार आचरण करना चाहिये तथा उसे सुपात्रको ही देना चाहिये' ॥२४॥

दूसरे अधिकारमें अध्यात्मका स्वरूप बतलाते हुए लिखा है—'मोहके अधिकारसे छूटे हुए मनुष्य आत्माके आश्रयसे जो शुद्ध आचरण करते है उसे जिनदेवने अध्यात्म कहा है ॥२॥ जैसे सामायिक सब चारित्रोंमें अनुस्यूत रहता है वैसे ही अध्यात्म सब योगोंमें अनुगत माना गया है ॥३॥ शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया ये दोनों अध्यात्मरूपी रथके चक्र हैं ॥१२॥ यह पञ्चमगुण स्थानसे लेकर माना गया है ॥१३॥ वैसे उपचारसे पहले भी रहता है ॥ अशुद्ध भी क्रिया सदाशय होनेसे शूद्ध क्रियाकी हेतु होती है। जैसे रसायनके योगसे ताम्बा स्वर्ण हो जाता है ॥१६॥ अतः मार्गमें प्रवेश करानेके लिये मिथ्यादृष्टिमें भी द्रव्यसम्यक्त्वका आरोप करके व्रत देते हैं ॥१७॥ दंभत्याग आदि अधिकारोंमें अध्यात्मके लिए उपयोगी आचार और विचारोंका बड़ा ही सुन्दर और भावपूर्ण विवेचन किया है और सांख्यादि मतोंके विचारोंकी पर्यालोचना की है।

आत्मनिश्चय नामक अट्ठारहवें अधिकारमें समयसारमें दर्शित दिशाके द्वारा उसीके शब्दोंमें आत्मतत्त्वका विनिश्चय करते हुए समयसारकी अनेक गाथाओंको संस्कृतरूप दिया है।

लिखा है—आत्मज्ञान ही मुक्तिदाता है, अतः सदा आत्मज्ञानके लिए ही प्रयत्न करना चाहिये ॥१॥ आत्माके जान लेनेपर जाननेके लिए कुछ भी बाकी नहीं रहता और उसको न जानकर बाकीका जानना निरर्थक है ॥२॥ आत्मको जाननेके लिये नवों तत्त्वोंको जानना चाहिए; क्योंकि अजीवादि तत्त्व आत्माके प्रतियोगी हैं ॥३॥ अतः एकत्व और पृथक्त्वसे युक्त आत्मज्ञान ही हितकर

है ॥५॥ आत्माको ज्ञानदर्शन और चारित्रलक्षणवाला कहा है ॥६॥ जैसे रत्नकी प्रभा रत्नसे भिन्न नहीं है वैसे ही आत्मासे ज्ञान दर्शन और चारित्र भिन्न नहीं है ॥७॥ व्यवहारनय लक्ष्य और लक्षणमें भेद मानता है, निश्चयनय नहीं ॥८॥

यह कथन समयसार गाथा ५ और ७ का ऋणी है। आगे लिखा है—'व्यवहारी शरीर और आत्माको एक मानता है, किन्तु निश्चयको यह बात सह्य नहीं है। जैसे उष्ण अग्निके योगसे घृतमें उष्णताका भ्रम होता है वैसे मूर्त शरीरके योगसे आत्मामें मूर्तताका भ्रम होता है ॥३६॥ जिसमें न रूप है, न रस है, न गंध है, न स्पर्श है, न आकार है, वह कैसे मूर्त हो सकता है ॥३७॥ मूर्तता पुद्गलका गुण है और आत्मा ज्ञान गुणवाला है। अतः आत्मा पुद्गलोंसे भिन्न है ॥४८॥

इसी तरह आत्मा न पुण्य है और न पाप है। पुण्य पाप तो पौद्गलिक हैं ॥५९॥ लोग पुण्यकर्मको शुभ और पापको अशुभ कहते हैं। किन्तु जो जीवको संसारमें भटकाता है वह शुभ कैसे हुआ—

'पुण्यं कर्म शुभं प्रोक्तमशुभं पापमु यते।
तत्कथं तु शुभं जन्तून् यत् पातयति जन्मनि ॥१६॥'

यह समयसारके पुण्यपाप द्वारकी प्रथम गाथाका ही रूपान्तर है—

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
किह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि ॥१४५॥

इस अधिकारमें समयसारके अनुसार आत्माके स्वरूपका वर्णन करके भी उपाध्यायजीने दिगम्बरोंको बेलाग नहीं छोड़ा। बीचमें लिख ही दिया—

ये तु दिक्पटदेशीयाः शुद्धद्रव्यतयात्मनः।
शुद्धस्वभावकर्तृत्वं जगुस्तेऽपूर्वबुद्धयः ॥८७॥

'जो दिगम्बर शुद्धद्रव्यरूपसे आत्माको शुद्ध स्वभावका कर्ता मानते हैं उनकी बुद्धि अपूर्व है।' क्योंकि सिद्धसेन दिवाकरने सन्मति नामक ग्रन्थमें द्रव्यार्थिकनयको शुद्धसंग्रहको विषय करनेवाला कहा है ॥८८॥ उनके मतसे आत्मा भावोंका कर्ता नहीं है, केवल कूटस्थ द्रष्टामात्र रहता है ॥८९॥

समयसारमें अन्तमें कुन्दकुन्दने कहा है कि जिनका लिंगमें ममत्व है वे समयसारको नहीं जानते।

पाखंडिलिंगेसु व गिहिलिंगेसु व बहुप्पयारेसु।
कुव्वंति जे ममत्तं तेहिं ण णायं समयसारं ॥४१३॥

उपाध्यायजीने इसका अनुवाद इस प्रकार दिया है—

पाषंडिगणलिंगेषु गृहिलिंगेषु ये रताः ।
न ते समयसारस्य ज्ञातारो बालबुद्धयः ॥१८१॥

इसीको आधार बनाकर उपाध्यायजीने आगे लिखा है—'जो भावलिंगमें रत हैं, वे गृहस्थ हों या मुनि, मुक्त हो जाते हैं ॥१८२॥ तथा दिगम्बरोंके नग्नताके आग्रहको कदाग्रह आदि बतलाया है। किन्तु कुन्दकुन्दाचार्यने उस गाथासे आगेकी ४१४वीं गाथामें कह दिया है कि व्यवहारनय मोक्षमार्गमें दोनों लिंगोको मान्य करता है, किन्तु निश्चयनय किसी भी लिंगको नहीं पसन्द करता।

अध्यात्मोपनिषद्—इसके प्रारम्भमें भी उपाध्यायजीने अध्यात्मका लक्षण कहा है—'आत्माको लेकर जो पाँच आचारोंका पालन किया जाता है। उसे अध्यात्म कहते हैं ॥२॥ इस ग्रन्थमें केवल चार अधिकार हैं—१. शास्त्रयोगशुद्धि, २. ज्ञानयोगशुद्धि, ३. क्रियायोगशुद्धि और ४. साम्ययोगशुद्धि।

पहले अधिकारमें बतलाया है कि अतीन्द्रिय पदार्थोंको जाननेका साधन शास्त्र है। और ऐसा शास्त्र सर्वज्ञ वीतराग-उपदिष्ट ही हो सकता है। अतः योगियोंको शास्त्रचक्षु होना चाहिए। यथा—

चर्मचक्षुर्भृतः सर्वे देवाश्चावधिचक्षुषः ।
सर्वतश्चक्षुषः सिद्धाः योगिनः शास्त्रचक्षुषः ॥१६॥

यह श्लोक कुन्दकुन्दके प्रवचनसारकी नीचे लिखी गाथाकी ही छाया है—

आगम चक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्व भूदाणि ।
देवा य ओहि चक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥३४॥

दूसरे अधिकारमें ज्ञानयोगकी शुद्धिका कथन है। लिखा है—जो अन्यसे भिन्न आत्माको चिन्मात्र लक्षणके द्वारा जानता है वही ज्ञान उत्तम है ॥१५॥

परमात्माके स्वरूपको शुद्धानुभवसंवेद्य बतलाकर समयसारकी ही तरह परमात्माको गुणस्थानों और मार्गणाओंसे अछूता बतलाया है तथा लिखा है कि जो कर्मोंकी उपाधिसे होनेवाले भावोंको आत्माका मानता है वह परमात्माके स्वाभाविक रूपको नहीं जानता।

इस प्रकरणमें भी समयसारकी अनेक गाथाओंको संस्कृतमें अनूदित किया गया है—

यथा भृत्यैः कृतं युद्धं स्वामिन्येवोपचर्यते ।
शुद्धात्मन्यविवेकेन कर्मस्कन्धोर्जितं तथा ॥३०॥

मुषितत्वं यथा पान्थगतं पथ्युपचर्यते ।
तथा व्यवहरत्यज्ञे चिद्रूपे कर्मविक्रियाम् ॥३१॥

× × ×

जोधेहिं कदे जुद्धे राएण कदंत्ति जप्पदे लोगो ।
तह ववहारेण कदं णाणावरणादि जीवेण ॥१०६॥
पथे मुस्संतं पस्सिदूण लोगा भणंति ववहारी ।
मुस्सदे एसो पंथो ण य पंथो मुस्सदे कोई ॥५८॥
तह जीवे कम्माणं णोकम्माणं च पस्सिदुं वण्णं ।
जीवस्स एस वण्णो जिणेहिं ववहारदो उत्तो ॥५९॥

तीसरे अधिकारमें क्रियायोगकी आवश्यकता बतलाते हुए लिखा है जो क्रियाको छोड़कर ज्ञानमात्रके ही अहंकारमें लीन रहते हैं, वे ज्ञान और क्रियासे भ्रष्ट नास्तिक होते हैं ॥३८॥ किन्तु जो ज्ञान और क्रियामें समान आदरभाव रखते हैं वे मुक्त हो जाते हैं ॥४२॥ इसी तरह चौथे अध्यायमें साम्ययोगका कथन करते हुए कहा है—जो योगी आत्मप्रवृत्तिमें सदा जागरूक रहता है और परप्रवृत्तिमें गूंगा, बहरा और अन्धा बन जाता है वही लोकोत्तर साम्यभावको प्राप्त करता है ॥२॥ विना साम्यभावके सामायिक केवल मायाचार है ॥८॥ साम्यभावको धारण करनेवाले अनेक महात्माओंके उदाहरण भी दिये हैं ।

इस तरह उपाध्यायजीके उक्त दोनों ग्रन्थोंमें जैन-अध्यात्मका और उसके लिए उपयोगी बातोंका अच्छा चित्रण किया है। साथ ही तुलनात्मक रूपमें वेदान्त, सांख्य, आदि दर्शनोंके विचारोंकी यथास्थान समीक्षा की है। उनके इन ग्रन्थोंसे जैन-अध्यात्मविषयक साहित्यमें कुछ नवीनताका भी समावेश हुआ है। उनके पश्चात् संस्कृत-प्राकृतमें अध्यात्मविषयक कोई रचना हमारे देखनेमें नहीं आयी।

इस तरह आचार्य कुन्दकुन्दने जो अध्यात्मविषयक साहित्यके मुकुटमणि समयसारकी रचना की, अमृतचन्द्रने अपनी आत्मख्यातिके द्वारा उसमें चार चाँद लगाये और अन्तमें उपाध्याय यशोविजयजीने उसके आवश्यक अंशोंको अपनाकर ग्रन्थरचना की ।

●

जैन-साहित्यका इतिहास

द्वितीय भाग

चतुर्थ अध्याय

तत्त्वार्थविषयक मूल साहित्य

तत्त्वार्थ-विषयक साहित्यका पल्लवन अध्यात्म-विषयक साहित्यके समान आचार्य कुन्दकुन्दसे होता है। इन्होंने पंचास्तिकाय, प्रवचनसार और नियमसार जैसे ग्रन्थरत्न लिखकर इस साहित्यका विस्तार किया है।

आचार्य कुन्दकुन्दके पश्चात् तत्त्वार्थ-विषयक मूल साहित्यके प्रणेताओंमें आचार्य गृद्धपिच्छका नाम आदरके साथ लिया जाता है। इन्होंने 'तत्त्वार्थसूत्र' जैसे गम्भीर ग्रन्थकी रचनाकर जैन-दर्शनका विविध दृष्टियोंसे सूत्ररूपमें निरूपण किया है। वास्तवमें यह ऐसा आकर-ग्रन्थ है जिसपर उत्तरकालमें इतना अधिक टीकादि साहित्य लिखा गया है, जिसे हम उपमाकी दृष्टिसे ग्रन्थागार कह सकते हैं।

इस अध्यायमें तत्त्वार्थ-विषयक मूल साहित्यका सर्वाङ्गीण विश्लेषण और विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. पंचास्तिकाय

आचार्य कुन्दकुन्दने अपने ग्रन्थोंको किस क्रमसे रचा था, इसको जाननेका कोई निश्चित साधन नहीं है। तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने अपनी ग्रन्थत्रयीमें सर्वप्रथम पञ्चास्तिकाय रचा था; क्योंकि इसमें आधारभूत तत्त्वोंका संक्षेपमें कथन है। पश्चात् उन्हींके विशेष कथनके लिए प्रवचनसार और समयसार रचे होंगे।

उद्देश्य--पञ्चास्तिकायकी अन्तिम गाथामें[1] ग्रन्थकारने उसकी रचनाका उद्देश्य भी बतलाया है कि प्रवचनकी भक्तिसे प्रेरित होकर मार्गकी प्रभावनाके लिए मैंने प्रवचनके सारभूत पञ्चास्तिकाय-संग्रह नामक सूत्रको कहा है।' इस तरहका कथन न समयसारके अन्तमें किया गया है और न प्रवचनसारके अन्तमें किया

१. 'मग्गपभावणट्ठं पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया। भणियं पवयणसारं पंचत्थियसंग्रहं सुत्तं ॥१७३॥

गया है। उन दोनोंमें तो उन ग्रन्थोंके अभ्याससे होनेवाले फलको बतलाया है। हाँ, नियमसारके अन्तमें प्रवचनभक्तिवश उसकी रचना करनेका निर्देश अवश्य है। किन्तु 'मार्गप्रभावना'की बात उसमें भी नहीं है। शायद ग्रन्थकारके उदार धर्मप्रेमी चित्तमें मार्गप्रभावनाके लिए ग्रन्थरचना करनेके प्रथम विचारके उद्-गमके फलस्वरूप ही यह ग्रन्थ रचा गया हो।

ग्रन्थका रूप—कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंकी तरह यह ग्रन्थ भी प्राकृत गाथाओंमें निबद्ध है। उसके दो रूप हैं। एक रूप अमृतचन्द्रकी संस्कृत टीकाके साथ पाया जाता है। उसकी गाथा संख्या १७३ है। दूसरा रूप जयसेनकी टीकाके साथ पाया जाता है उसकी गाथा संख्या १८१ है। अमृतचन्द्रने ग्रन्थको चार भागोंमें विभाजित किया है। प्रारम्भ में एक पीठिका है, अन्तमें एक चूलिका है और दोनोंके बीच दो श्रुतस्कन्ध हैं। जयसेनने भी इस विभागको ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया है। अन्तर केवल इतना है कि उन्होंने दोनों श्रुत-स्कन्धोंको श्रुतस्कन्ध नाम न देकर महाधिकार नाम दिया है। पीठिकाकी गाथा संख्या दोनोंमें २६ है। किन्तु प्रथम श्रुतस्कन्धकी गाथा संख्या ७८ है जबकि प्रथम महाधिकारकी गाथा संख्या ८५ है। इस तरह ७ गाथाएँ अधिक है। इनमें से छै गाथाएँ मति श्रुत आदि ज्ञानोंके वर्णनसे सम्बद्ध हैं और एक गाथा पुद्गलके पृथ्वी आदि भेदोंसे सम्बद्ध है। दूसरे श्रुतस्कन्धमें ४९ गाथाएँ हैं, किन्तु दूसरे महाधिकारमें ५० गाथाएँ हैं। चूलिकाकी गाथा संख्या दोनोंमें बीस ही है। इस तरह अमृतचन्द्रसे जयसेनाचार्य की टीकामें आठ गाथाएँ अधिक हैं।

जहाँतक ग्रन्थके विभागका प्रश्न है, प्रथम श्रुतस्कन्धकी गाथा १०३ से तथा दूसरे श्रुतस्कन्धकी प्रथम गाथासे यह स्पष्ट है कि ये दोनों दो ग्रन्थों अथवा दो विभागोंके रूपमें रचे गये हैं। गाथा १०३ में कहा है कि इस प्रकार प्रवचन-के सारभूत पञ्चास्तिकाय संग्रहको जानकर जो राग-द्वेषको छोड़ देता है वह दुखसे छूट जाता है। गाथा १०५ में कहा है—'महावीर स्वामीको नमस्कार करके उन पञ्चास्तिकाय सम्बन्धी पदार्थोंके भेद तथा मोक्षके मार्गको कहूँगा।' अतः दो मूल विभाग कुन्दकुन्दकृत ही होने चाहिए। उनमें पीठिका और चूलिका नामक अवान्तर अधिकार अमृत चन्द्रकृत प्रतीत होते हैं।

विषय-परिचय—प्रथम गाथाके द्वारा जिनोंको नमस्कार करके ग्रन्थकारने दूसरी गाथाके द्वारा 'समय' को कहनेकी प्रतिज्ञा की है। और तीसरी गाथाके द्वारा पाँचो द्रव्योंके समवायको समय तथा उसीको लोक कहा है और बाहरमें सब ओर फैले हुए अनन्त आकाशको अलोक कहा है। गाथा चारमें उन पाँचोंका नाम बतलाया है—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश। और इन सबको

सत्स्वरूप अनन्यमय और 'अणुमहान्त' बतलाया है। अमृतचन्द्रने 'अणुमहान्त' का अर्थ किया है 'प्रदेशप्रचयात्मकाः' अर्थात् ये पाँचों द्रव्य बहुप्रदेशी हैं। इसीलिये उन्हें अस्तिकाय कहते हैं। गाथा ५ में उन अस्तिकायोंको विविध गुणों और पर्यायोंके साथ अस्तिस्वभाव बतलाया है और लिखा है कि यह त्रैलोक्य उन्हींसे बना हुआ है। गा० ६ में उन अस्तिकायोंको नित्य और परिणमन शील बतलाकर द्रव्य बतलाया है। अस्तिकाय तो पाँचही है किन्तु द्रव्य छै हैं, उनमें काल भी सम्मिलित है। गाथा ७ में बतलाया है कि ये छहों द्रव्य इस लोकमें परस्परमें हिले मिले रहते हुए भी, और एक दूसरेको परस्परमें जगह देते हुए भी अपने-अपने स्वभावको नहीं छोड़ते हैं।

इस तरह सात गाथाओंके द्वारा जैन सिद्धान्तके अनुसार इस विश्वके मूलभूत तत्त्वोंके नाम, उनकी सामान्य संज्ञा द्रव्य, और उनके अस्तित्व, स्वभाव तथा अवस्थितिको संक्षेपमें बतलाकर कुन्दकुन्दाचार्यने आगे सत्ता, द्रव्य, गुण और पर्यायका कथन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे समयसारका प्रतिपादन करते हुए उनके सामने उपनिषदोंमें प्रतिपादित अद्वैत सिद्धान्त तथा सांख्य दर्शनकी प्रक्रिया थी वैसे ही पञ्चास्तिकायका प्रतिपादत करते समय वैशेषिक दर्शनकी प्रक्रिया उनके सामने थी। वैशेषिक दर्शनमें सत्सामान्य सत्ताको द्रव्यसे जुदा माना गया है। गाथा ८ में सत्ताका स्वरूप बतलाकर गा० ९ में उन्होंने द्रव्यको सत्तासे अनन्यभूत बतलाया है। गा० १० में द्रव्यके तीन लक्षण बतलाये हैं—जो सत् है वह द्रव्य है, जो उत्पाद व्यय ध्रौव्यसे संयुक्त है वह द्रव्य है और जो गुण और पर्यायोंका आश्रय है वह द्रव्य है। गा० ११ में बतलाया है कि द्रव्यकी न तो उत्पत्ति होती है और न विनाश। किन्तु पर्यायोंका उत्पाद और विनाश होता है। और पर्याय द्रव्यसे अनन्यभूत हैं क्योंकि न पर्यायके बिना द्रव्य होता है और न द्रव्यके बिना पर्याय होती हैं ॥ १२ ॥ इसी तरह द्रव्यके बिना गुण नहीं होते और गुणोंके बिना द्रव्य नहीं होता। अतः द्रव्य गुण पर्याय ये सब अभिन्न हैं ॥ १३ ॥

गाथा १४ में सप्तभंगीके सात भंगोंके केवल नाम गिनाये हैं और उनके प्रकाशमें गा० १५ से २१ तक सात गाथाओंके द्वारा द्रव्यके भाव, अभाव, भावाभाव और अभावका निरूपण द्रव्य दृष्टि और पर्याय दृष्टिसे किया है।

गीता (२।१६) में कहा है—'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः'। कुन्दकुन्द भी कहते हैं—'भावस्स णत्थि णासो णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो' ॥ १५ ॥ किन्तु यह बात द्रव्य दृष्टिसे है। सदुच्छेद और असदुत्पादके बिना भी गुणों और पर्यायोंमें विनाश और उत्पाद होता है। जैसे एक देही मनुष्य पर्याय-

को छोड़कर देव हो जाता है। यहाँ जीवत्वका न तो उत्पाद होता है और न विनाश ।। १७ ।। किन्तु उस जीवकी मनुष्य पर्याय नष्ट होती है और देवपर्याय उत्पन्न होती है ।। १८ ।। इस तरह सत् जीवका न विनाश होता है और न उत्पाद ।। १९ ।। इस तरह द्रव्योंका सामान्य कथन करके आगे उनका विशेष कथन किया है।

जीव—गा० २७में जीवको चेतयिता, उपयोगवाला, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, शरीर प्रमाण, आकार वाला, मूर्त और कर्म संयुक्त बतलाया है और गा० २८–२९ में लिखा है कि वह जीव कर्म मलसे मुक्त होकर लोकके अन्तमें जाकर विराजमान हो जाता है और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अतीन्द्रिय अनन्त सुखको भोगतां है।

गाथा ३० से गाथा २७ में कहे हुए जीवत्व, चेतयिता आदि जोवकी विशेषताओंका व्याख्यान प्रारम्भ किया गया है। उनसे जीवके सम्बन्ध में जैन सम्मत सभी विशेषताओंका परिज्ञान हो जाता है। उसीमें जीवके उपयोग—ज्ञान दर्शन गुणों-का व्याख्यान करते हुए गाथा ४४ से ५२ तक द्रव्यसे गुणोंके भेदाभेद-का सयुक्तिक प्रतिपादन किया गया है। लिखा है—यदि द्रव्य गुणोंसे भिन्न है और गुण द्रव्यसे भिन्न है तो द्रव्य अनन्त हो जायेंगे और द्रव्यका अभाव हो जायेगा ।।४४।। द्रव्य और गुणोंमें अनन्यत्व है, अन्यत्व और विभक्तत्व नहीं है ।।४५।। जैसे धनके योगसे धनी होता है वैसे ज्ञानके योगसे ज्ञानी नहीं होता ।।४७।। यदि ज्ञानीसे ज्ञानको भिन्न माना जायेगा तो दोनों जड़ हो जायेंगे ।।४८।। शायद कहा जाय कि ज्ञान गुणके साथ समवाय सम्बन्ध होनेसे जीव ज्ञानी कहा जाता है। किन्तु ऐसा माननेसे जीव स्वभावसे अज्ञानी ठहरता है ।।४९।। दूसरी बात यह है कि द्रव्य और गुणोंका अस्तित्व एक होनेके कारण उनमें जो सहवर्तीपना है वही तो समवाय है। समवाय नामका कोई स्वतंत्र पदार्थ नहीं है। अतः द्रव्य और गुणोंमें स्वभावसे अयुतसिद्धि बतलाई है ।।५०।। पहले गाथा १५ में द्रव्य दृष्टिसे कहा था कि भावका विनाश नहीं होता और अभाव का उत्पाद नहीं होता। गा० ५४ में पर्याय दृष्टिसे कहा है कि इस तरह सत् जीवका विनाश होता है और असत्की उत्पत्ति होती है। ये दोनों कथन परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होते हुए भी अविरुद्ध हैं क्योंकि दोनों कथन दो विभिन्न दृष्टियों से किये गये हैं।

कर्तृत्व—५७ से जीवके कर्तृत्व गुणका कथन प्रारम्भ होता है। गाथा ५८ में कहा है कि कर्मके विना जीवके औदयिक औपशमिक आदि भाव नहीं होते। अतः ये भाव कर्मकृत हैं। इसपर शंकाकी गई कि यदि जीवके औदयिक आदि भाव कर्मकृत हैं तो जीव कर्मोंका कर्ता ठहरता है। किन्तु जीव तो अपने भावोंके

सिवाय किसीका भी कर्ता नहीं है ।।५९।। इसका उत्तर दिया गया—जीवके औदयिक आदि भाव कर्मोंके निमित्तसे होते हैं। और कर्म जीवके भावोंके निमित्त-से होते हैं। किन्तु परमार्थसे न तो कर्म जीवके भावोंका कर्ता है और न जीवके भाव पौद्गलिक कर्मोंके कर्ता है ।।६०।। कर्म अपने कर्ता स्वयं है और जीव भी अपने भावोंका स्वयं कर्ता है ।।६२।। तब पुनः प्रश्न हुआ कि यदि कर्म कर्मका कर्ता है और जीव अपने भावोंका कर्ता है तो कर्मके किये हुए कर्मोंका फल जीव क्यों भोगता है और कर्म अपना फल कैसे देता है ।।६३।। इसके उत्तरमें कहा गया है कि—यह लोक पुद्गलोंसे खचाखच भरा हुआ है ।।६४।। उसके बीचमें रहनेवाला जीव अपने भावोंको करता है और उसके भावोंका निमित्त पाकर पौद्गलिककर्म स्वभावसे ही जीवके कर्मरूप हो कर उससे बँध जाते हैं ।।६५।। जब उनका विपाक काल आता है तो जीवको उनका फल भोगना पड़ता है ।।६७।। अतः कर्म निश्चयसे केवल अपना कर्ता है और व्यवहारसे जीवके भावोंका कर्ता है। इसी तरह आत्मा भी निश्चयसे अपने भावोंका कर्ता है और व्यवहारसे कर्मोंका कर्ता है। किन्तु भोक्ता तो अकेला जीव ही है क्योंकि वह चेतन है ।।६८।।

पुद्गल—गाथा ७४ से ८२ तक पुद्गल द्रव्यका कथन किया गया है। गाथा ७६ में पुद्गलके छै भेद बतलाये हैं। किन्तु उन छै भेदोंको बतलानेवाली गाथा जयसेनकी टीकामें तो है किन्तु अमृत चन्द्रकी टीकामें नहीं है। गाथा ७७, ७८, ८० और ८१ के द्वारा परमाणुका स्वरूप बतलाया है। 'सब स्कन्धोंका जो अन्त है वही परमाणु है। वह परमाणु शाश्वत है, अशब्द रूप है, एक और अविभागी है तथा मूर्तिक है ।।७७।। वह परमाणु पृथ्वी, जल अग्नि और वायुका कारण है अर्थात् एक जातीय परमाणुसे ही चारो उत्पन्न होते हैं, परिणमनकी विचित्रताके कारण किसीमें कोई गुण व्यक्त होता है तो किसीमें अव्यक्त ।।७८।। उसमें एक रस, एक रूप, एक गंध और दो स्पर्श रहते हैं। उसीसे शब्दकी निष्पत्ति होती है। अर्थात् शब्द पौद्गलिक है ।।८१।। अन्तमें लिखा है—'इन्द्रियोंके द्वारा जो कुछ भोगनेमें आता है, तथा इन्द्रिय, शरीर, मन, कर्म आदि जो भी मूर्तिक पदार्थ हैं वे सब पुद्गल हैं ।।८२।।'

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य—गाथा ८३ से ८९ तक धर्मद्रव्य और अधर्म-द्रव्यका स्वरूप बतलाया है। इन दोनों द्रव्योंमें न रस है, न रूप है, न वर्ण है, न गन्ध है और न स्पर्श है। दोनों समस्त लोकमें व्याप्त हैं। नित्य हैं। धर्मद्रव्य जीव और पुद्गलोंकी गतिमें वैसे ही निमित्त है जैसे मछलियोंके लिये जल। और अधर्मद्रव्य उनके ठहरनेमें वैसा ही निमित्त है जैसे पृथ्वी। उन दोनोंके सद्भावसे ही जीवों और पुद्गलोंकी गति और स्थिति होती है। और उन्हींके

कारण आकाशके लोक और अलोक विभाग कायम हैं। किन्तु ये दोनों द्रव्य न तो स्वयं गतिशील हैं और न अन्य द्रव्योंकी गतिके प्रेरक हैं। इन दो द्रव्योंकी इस रूपमें मान्यता जैन दर्शनके सिवाय किसी अन्य दर्शनमें नहीं है।

आकाश द्रव्य—जो सब जीवोंको सब पुद्गलोंको तथा अन्य सबको अवगाह देता है वह आकाश है ॥९०॥ जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आदि द्रव्य तो केवल लोकमें ही पाये जाते हैं। किन्तु आकाश तो अनन्त है। वह लोकमें भी पाया जाता है और उससे बाहर भी पाया जाता है ॥९१॥

९२ गा० से ९५ गाथा तक इस आशंकाका समाधान किया गया है कि गति और स्थितिका कारण यदि आकाश ही को माना जाये तो क्या हानि है? इस आशंकाका समाधान इस आगमिक मान्यताके आधार पर किया गया है कि जीवका स्वभाव उर्ध्व गमन है और मुक्त जीव ऊपर जाकर लोकके अग्रभागमें रुक जाता है। लिखा है कि यदि आकाश गमन और स्थितिका कारण है तो सिद्ध जीव ऊपर जाकर लोकके अग्रभागमें ही क्यों ठहर जाते हैं ॥९२॥ चूँकि जिनेन्द्र देवने सिद्धों का स्थान ऊपर लोकके अग्रभागमें बतलाया है अतः आकाश यदि गति और स्थितिका कारण हो तो लोक आलोकका भेद नहीं रह सकता।

आकाश, काल, जीव, धर्म अधर्म अमूर्तिक हैं, केवल पुद्गल मूर्तिक है। अकेला जीव द्रव्य चेतन है ॥९७॥ जीव और पुद्गल सक्रिय हैं, शेष द्रव्य निष्क्रिय हैं ॥९८॥

काल द्रव्य—गाथा १०० और १०१ में काल द्रव्यका स्वरूप बतलाया है।

इस तरह प्रथम श्रुतस्कन्ध अथवा महाधिकारमें छै द्रव्योंका कथन है। दूसरेमें नौ पदार्थोंका कथन है। वे नौ पदार्थ हैं—जीव अजीव, पुण्य पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष।

गाथा १०९ से १२३ तक जीवके भेद प्रभेदोंका कथन है। मूल भेद दो हैं—संसारी और मुक्त। संसारी सशरीर होते हैं ओर मुक्त अशरीर होते हैं ॥१०९॥ संसारीके भी दो भेद हैं स्थावर और त्रस। स्थावर जीवोंके पाँच भेद हैं—पृथिवी कायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। इन सबके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय होती है। इसलिये ये सब एकेन्द्रिय होते हैं ॥११२॥ शंख, सीप, लट वगैरह जीव दो इन्द्रिय होते हैं क्योंकि वे स्पर्श और रसको ही जानते हैं ॥११४॥ विच्छु, चींटी, जूं, खटमल वगैरह जीव स्पर्श, रस और गन्धको जानते हैं इसलिये वे तीन इन्द्रियवाले होते हैं ॥११५॥ डांस, मच्छर, मक्खी, भौरा, आदि स्पर्श, रस, गन्ध, और रूप को जानते हैं इसलिये वे सब चौइन्द्रिय हैं ॥११६॥ मनुष्य, देव, नारकी, पशु, पक्षी, वगैरह स्पर्श, रस,

गन्ध, रूप और शब्दको जानते हैं इसलिये वे पञ्चेन्द्रिय हैं ॥११७॥ आगे लिखा है—इन्द्रियां जीव नहीं हैं, और न पृथिवी आदि रूप जो शरीर है वही जीव है। किन्तु उसमें जो जानने देखने वाला है वही जीव है ॥१२१॥ जीव सबको जानता देखता है, सुखकी इच्छा करता है, दुःख से डरता है। हित अथवा अहित करता है और उसका फल भोगता है ॥१२२॥

जो सुख दुखका अनुभव नहीं करता, न हितमें प्रवृत्ति करता है और न अहितसे डरता है, उसे श्रमण अजीव कहते हैं ॥१२५॥ संसार चक्रका वर्णन करते हुए लिखा है-संसारी जीव राग द्वेष रूप परिणाम करता है। परिणामोंसे कर्मबन्ध होता है। कर्मका उदय होनेसे नरक आदि गतियोंमें जन्म लेना होता है। जन्म लेनेसे शरीर मिलता है। शरीरमें इन्द्रियां होती हैं। इन्द्रियोंसे वह विषयोंको भोगता है। उससे राग द्वेष होता है। इस तरह संसारका चक्र चला करता है ॥१२९-१३०॥

कर्म मूर्तिक हैं—चूंकि कर्मका फल सुख दुख विषयके द्वारा मिलता है और विषय मूर्तिक है। उस विषयको जीव मूर्तिक इन्द्रियोंके द्वारा भोगता है। अतः कर्म मूर्तिक हैं ॥१३३॥

पुण्यास्रव और पापास्रव—जिसके चित्तमें दया भाव है, कालिमा नहीं है, प्रशस्त राग हैं उसके पुण्यकर्मोका आस्रव होता है ॥१३५॥ प्रमादी आचरण, कलुषता, विषयोंमें लोलुपता आदि होनेसे पाप कर्मका आस्रव होता है ॥१३९॥

संवर—इन्द्रिय, कषाय और संज्ञाओंका निग्रह करनेसे पापका आना रुक जाता है ॥१४१॥ जिस सुख दुखमें सम भाव रखने वाले भिक्षुके सब द्रब्योंमें राग द्वेष औंर मोह नहीं रहता, उसके न पुण्य कर्मका आस्रव होता है और न पाप कर्मका आस्रव होता है ॥१४२॥

निर्जरा—जो संवरको करके तपस्या करता है। आत्माको जानकर उसका ध्यान करता है उसके बहुतसे कर्मो की निर्जरा होती है ॥१४४-१४५॥

बन्ध—यदि यह जीव कर्मके उदयसे होने वाले राग द्वेष रूप परिणामोंको करता है तो वह पौद्गलिक कर्मोंसे बंधता है ॥१४७॥ योगके द्वारा जीव कर्मोंको ग्रहण करता है ओर योग मन बचन और कायसे होता है। तथा भावके निमित्तसे जीव कर्मोंका बंध करता है और वे भाव राग द्वेष और मोह रूप होते है ॥१४९॥

मोक्ष—जब ज्ञानीके कर्मबन्धके कारण भूत राग द्वेष और मोहरूप भाव नहीं होते तो उसके कर्मोंका आस्रव नहीं होता। आस्रवके अभावमें कर्मका बन्ध नहीं होता। तब वह सर्वज्ञ सर्वदर्शी होकर अतीन्द्रिय सुखको भोगता है ॥१५४-१५१॥ इस तरह जो संवरसे युक्त होता है, सब कर्मोकी निर्जरा करता है वह वेदनीय, आयु नाम और गोत्र कर्मका भी अभाव करके मुक्त हो जाता है ॥१५३॥

इस तरह नौ पदार्थोंका स्वरूप बतलाकर मोक्षके मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका कथन किया है।

धर्म आदिका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अंगों और पूर्वोंको जानना सम्यग्ज्ञान है। तपस्या करना सम्यक्चारित्र है। ये तीनों व्यवहार रूप मोक्ष-मार्ग हैं ॥१६०॥ और निश्चयनयसे उन तीनोंसे समाहित आत्मा ही मोक्षका मार्ग है ॥१६१॥ आगे लिखा है—यदि कोई ज्ञानी अज्ञानवश ऐसा मानता है कि अर्हंतादिकी भक्तिसे मोक्ष होता है तो वह परसमयरत है ॥१६५॥ क्योंकि अरहंतादिकी भक्तिसे पुण्य कर्मका बन्ध होता है, कर्मोंका क्षय नहीं होता ॥१६६॥ जिसके चित्तमें परवस्तुके प्रति अणुमात्र भी राग है वह समस्त आगमोंका ज्ञाता होनेपर भी आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं जानता ॥१६७॥ अतः मुमुक्षुको निःसंग होकर और ममत्वको त्यागकर सिद्धोंकी भक्ति करना चाहिये। उसीसे निर्वाणकी प्राप्ति होती है ॥१६९॥

२. प्रवचनसार

पञ्चास्तिकायकी तरह प्रवचनसारके भी दो मूल पाये जाते हैं। एक अमृतचन्द्रकी टीकाके साथ पाया जाता है और एक जयसेनाचार्यकी टीकाके साथ पाया जाता है। अमृतचन्द्रके अनुसार प्रवचनसार तीन श्रुतस्कन्धोंमें विभाजित है। प्रथममें ज्ञानतत्त्वका, दूसरेमें ज्ञेय तत्त्वका और तीसरेमें चरण तत्त्वका विवेचन है। तथा तीनोंमें क्रमसे ९२, १०८ और ७५ गाथाएँ हैं। इस तरह अमृतचन्द्रके अनुसार प्रवचनसारकी गाथा संख्या २७५ है।

जयसेनने भी अमृतचन्द्रके द्वारा अपनाये गये तीन विभागोंको स्वीकार करते हुए उन्हें महाधिकार संज्ञा दी है। किन्तु उनमें गाथा संख्या क्रमसे १०१, ११३ और ९७ है। इस तरह जयसेनके अनुसार प्रवचनसारकी गाथा संख्या ३११ है।

ग्रन्थके तीन विभाग कुन्दकुन्द द्वारा किये गये हो सकते हैं। अन्तके तीसरे विभागके आदिमें जिनेन्द्र ऋषभदेवको नमस्कार किये जानेसे उस विभाग-का पृथक्त्व स्पष्ट ही है। दूसरे विभागके आदिमें जयसेनवाले पाठमें नमस्का-रात्मक गाथा है वह गाथा अमृतचन्द्राचार्यवाले पाठमें नहीं है। फिर भी विषयकी दृष्टिसे दोनोंका पृथक्त्व व्यक्त होता है।

यद्यपि अन्तिम गाथामें 'पवयणसार' नाम प्रकारान्तरसे दिया गया है किन्तु पञ्चास्तिकायकी तरह न तो इसमें स्पष्ट रूपसे ग्रन्थका नामोल्लेख ही किया गया है और न उसके रचनेकी प्रेरणा आदिका ही कोई निर्देश किया गया है।

इस ग्रन्थका प्रारम्भ गाथा पंचकसे होता है। प्रथम गाथामें धर्मतीर्थके

कर्ता वर्द्धमानको, दूसरी गाथामें शेष तीर्थङ्करोंको, तीसरी गाथामें मनुष्यलोकमें वर्तमान अरहन्तोंको नमस्कार किया गया है। चौथी-पाँचवीं गाथामें कहा है कि अरहंतों, सिद्धों, गणधरों (आचार्यों), अध्यापक वर्गों (उपाध्यायों) और सब साधुओंको नमस्कार करके, उनके विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान आश्रमको प्राप्त करके मैं सम्यभावको धारण करता हूँ जिससे निर्वाणकी प्राप्ति होती है।

इस तरह ग्रन्थकारने अपने व्याजसे सराग चारित्रमें स्थित श्रमणोंको बीत-राग चरित्रमें स्थिर करनेके लिये इस ग्रन्थकी रचना की प्रतीत होती है। आगे गाथा ६ में कहा है कि दर्शन ज्ञान प्रधान चारित्रसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। गाथा ७ में कहा है कि चारित्र धर्म है और धर्म साम्यभावका नाम है। तथा मोह और क्षोभ से रहित आत्माके परिणामको साम्य कहते हैं। अतः ग्रन्थकारने वीतराग चरित्ररूप साम्यभावको ही धर्म कहा है। वही उपादेय है।

गाथा ९ में जीवके भाव तीन प्रकारके बतलाये हैं—शुभ, अशुभ और शुद्ध। गाथा ११ में कहा है कि धर्माचरण करनेवाला आत्मा यदि शुद्ध भाव करता है तो उसे मोक्ष मिलता है और यदि शुभ भाव करता है तो उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। और यदि अशुभ भाव करता है तो संसारमें दुःख उठाना पड़ता है ॥१२॥

शुद्धोपयोग और उसका फल—शुद्धोपयोगका फल उस अनुपम अनन्त अविनाशी सुखकी प्राप्ति है जो सुख विषयोंसे प्राप्त न होकर आत्मासे ही उत्पन्न होता है ॥१३॥ तथा वह शुद्धोपयोगी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीय कर्मोंको नष्ट करके सर्वज्ञ सर्वदर्शी हो जाता है ॥१५॥ उसे केवल-ज्ञानी कहते हैं। उसके शारीरिक सुख दुःख नहीं होते ॥२०॥ वह केवली विश्वके पदार्थोंको हमलोगोंकी तरह क्रमसे नहीं जानते। अतः वह द्रव्योंकी सब पर्यायोंको प्रत्यक्ष जानते हैं ॥२१॥ कोई भी वस्तु उनसे अज्ञात नहीं रहती ॥२२॥

इसका कारण उन्होंने यह बतलाया है कि आत्मा ज्ञान स्वरूप है। उपनिषद् वगैरहमें आत्माको सर्वगत (व्यापक) कहा है। कुन्दकुन्दने भी उसे ज्ञानरूपसे व्यापक बतलाते हुए लिखा है—आत्मा ज्ञान के बराबर है और ज्ञान ज्ञेयोंके बराबर है। ज्ञेय समस्त लोकालोक है। अतः ज्ञान सर्वगत है ॥२३॥ जो आत्माको ज्ञान प्रमाण नहीं मानते उसके मतसे आत्मा ज्ञानसे या तो बड़ा हुआ या छोटा हुआ ॥२४॥

यदि आत्मा ज्ञानसे छोटा है तो आत्माके बिना अचेतन ज्ञान पदार्थोंको कैसे जान सकता है। यदि आत्मा ज्ञानसे बड़ा है तो ज्ञानके बिना आत्मा कैसे जान

सकता है ॥२५॥ गीता[1] (९।४)में श्रीकृष्णने अपनेको सर्वजगतमें व्याप्त बतलाया है तथा सर्व भूतोंको अपनेमें स्थित बतलाया है। कुन्दकुन्दने जिनवर वृषभको ज्ञान रूपसे सर्वगत बतलाया है और जगतके सब पदार्थोंको विषय रूपसे जिनवर वृषभके ज्ञानगत बतलाया है ॥२६॥

किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि ज्ञान अर्थोंके पास जाता है या अर्थ ज्ञानमें आ जाते हैं। जैसे चक्षु रूपसे आविष्ट नहीं होती ओर न रूप ही चक्षुमें प्रविष्ट होता है। फिर भी चक्षु रूपको जानती है। वैसे ही ज्ञानी न तो ज्ञेयोंसे आविष्ट होता है और न ज्ञेय ही ज्ञानमें प्रविष्ट होते हैं। फिर भी ज्ञानी विना-इन्द्रियोंकी सहायताके अशेष जगतको जानता है ॥२८-२९॥ जो जानता है वह ज्ञान है। ज्ञानके योगसे आत्मा ज्ञायक नहीं है (जैसा वैशेषिक मानते हैं)। आत्मा ही स्वयं ज्ञान रूप परिणमन करता है ॥३५॥ अतः जीव ही ज्ञान रूप है या ज्ञान जीव रूप है और ज्ञेय भूत, भविष्यत् और वर्तमानके भेदसे तीन प्रकार का है ॥३६॥ जितनी भूत और भावि पर्यायें हैं वे सब सर्वज्ञके ज्ञानमें वर्तमानकी तरह प्रति भासित होती हैं ॥३७॥ यदि सर्वज्ञका ज्ञान अतीत और अनागत पर्यायोंको नहीं जानता तो कौन उसे दिव्य ज्ञान कहेगा ॥३९॥ जो ज्ञान सप्रदेशी, अप्रदेशी, मूर्त, अमूर्त, अतीत, अनागत आदि सबको जानता है उसी ज्ञानको अतीन्द्रिय कहते हैं ॥४१॥

इस तरहसे कुन्दकुन्दने सर्वज्ञताका बड़े विस्तारसे सयुक्तिक समर्थन किया है। और आगे जैन आगमोंके 'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ', (आचाराग १-३-४-१२२) के अनुसार लिखा है 'जो त्रिलोक और त्रिकाल-वर्ती पदार्थोंको एक एक साथ नहीं जानता वह समस्त पर्याय विशिष्ट एक द्रव्य (आत्मा)को भी नहीं जान सकता ॥४८॥ तथा जो अनन्त पर्याय सहित एक द्रव्य (आत्मा)को नहीं जानता वह सब द्रव्योंको एक साथ कैसे जान सकता है ॥४९॥ जैन (जिनसम्बन्धी) ज्ञान त्रिकालवर्ती तथा त्रिलोकवर्ती नाना प्रकारके विचित्र पदार्थोंको एक साथ जानता है। अहो, ज्ञानका माहात्म्य अद्भुत है ॥५१॥

इन्द्रिय सुखका साधन इन्द्रिय ज्ञानको हेय बतलाते हुए लिखा—इन्द्रियोंके विषय स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द रूप पौद्गलिक द्रव्य हैं। इनको भी इन्द्रियां एक-एक करके जानती हैं ॥५६॥ फिर वे इन्द्रियां पर हैं आत्म रूप नहीं हैं।

१. 'मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्तिना। मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः ॥४॥—गीता० अ० ९।

२. सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा। णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिया ॥२६॥—प्र० सा०।

उनके द्वारा जो ज्ञान होता है उसे आत्माका प्रत्यक्ष ज्ञान कैसे कह सकते हैं।।५६।। जो परकी सहायतासे ज्ञान होता है उसे परोक्ष कहते हैं और जो केवल जीवके द्वारा जाना गया हो उसे प्रत्यक्ष कहते हैं ।।५८।। ऐसा ज्ञान ही सुख रूप होता है ।।५९।। अतः केवल ज्ञान सुख स्वरूप है ।

इन्द्रिय जन्य सुख हेय है—

गाथा ६३ आदिसे इन्द्रिय जन्य सुखको हेय बतलाकर सुखको आत्माका ही गुण बतलाया है । लिखा है—इन्द्रियोंके द्वारा इष्ट विषयोंको प्राप्त करके यह आत्मा स्वयं ही सुख रूप परिणमन करता है ।।६५।। और जब आत्मा स्वयं सुख रूप है तो विषय उसमें क्या कर सकते हैं ।।६७।। जैसे सूर्य स्वभावसे ही तेजस्वी और उष्ण होता है उसी प्रकार सिद्ध परमेष्ठी भी ज्ञानस्वरूप और सुख स्वरूप होते हैं ।।६८।।

आगे इन्द्रियसुख सम्पन्नोंमें सर्वोपरि देवताओंको भी दुःखी बतलाकर लिखा है जो सुख परकी सहायतासे प्राप्त होकर पुनः छूट जाता है, कर्मबन्धका कारण है, घटता बढ़ता रहता है, ऐसा इन्द्रियोंसे प्राप्त होने वाला सुख दुःख रूप ही है ।।७६।।

इस तरहका सुख शुभोपयोगसे प्राप्त होता है । अतः इन्द्रिय सुखके साधन शुभोपयोगको भी हेय बतलाकर शुद्धोपयोगके लिए ही यत्न करनेका उपदेश दिया है; क्योंकि शुद्धोपयोगके द्वारा ही मोहको नष्ट किया जा सकता है ।

दूसरे ज्ञेय तत्त्वाधिकारमें पञ्चास्तिकायकी तरह ही कतिपय विशेषताओंको लिये हुए द्रव्योंका कथन है । इसमें गाथा ८ से १२ तक उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका वर्णन है । तीनोंका परस्परमें अविनाभाव बतलाकर उन्हें द्रव्यसे अभिन्न बतलाया है । तथा तीनोंको एकक्षणवर्ती बतलाया है ।

गाथा १३ आदिसे सत्ता और द्रव्यमें गुणगुणी भाव बतलाकर सत्ताको द्रव्यसे अभिन्न बतलाया है । और इस तरह गुण-गुणीमें वैशेषिकके द्वारा माने गये भेदका निरास किया है । गाथा २३ में सप्तभंगीका कथन है । इसमें पञ्चास्तिकायसे विशेषता यह है कि पञ्चास्तिकायमें अवक्तव्यको चतुर्थभंग बतलाया है । इसमें उसे तीसरा भंग बतलाया है । आगे चलकर इन दोनोंका उल्लेख विभिन्न दार्शनिक ग्रन्थोंमें मिलता है ।

गा० ३१ आदि में चेतनाके ज्ञान चेतना, कर्म चेतना और कर्मफल चेतना, ईन तीन भेदोंका तथा उनके स्वरूपका कथन है । इस तरह चौतीस गाथाओंके द्वारा द्रव्य सामान्यका वर्णन करके आगे द्रव्योंके छहों भेदोंका क्रमसे विशेष कथन किया गया है । फिर गाथा ५३ से जीवका विशेष कथन है । उसमें कहा है—'न

मैं शरीर हूँ, न मन हूँ, न बचन हूँ, न उनका कारण हूँ, न उनका कर्ता हूँ, न कारयिता हूँ और न अनुमन्ता हूँ ॥ ६८ ॥ शरीर, मन, वचन पुद्गलद्रव्यरूप हैं। और पुद्गलद्रव्य परमाणुओंका पिण्ड है ॥ ६९ ॥

फिर परमाणुका अन्य परमाणुके साथ कैसे बन्ध होता है इसका विवेचन है। परमाणुमें पाये जाने वाले स्निग्ध और रूक्ष गुण ही परमाणुको परमाणुके साथ बन्ध करानेमें कारण होते हैं।

तब यह प्रश्न हुआ कि स्निग्ध और रूक्ष गुणके कारण एक परमाणुका दूसरे परमाणुके साथ बन्ध हो सकता है किन्तु आत्मा तो अमूर्तिक है उसके साथ पौद्गलिक कर्मोंका बन्ध कैसे होता है ॥८१॥ तो उसके उत्तरमें कहा गया कि यद्यपि आत्मामें रूपादि गुण नहीं हैं, किन्तु वह उन्हें जानता देखता है और जान देख कर उनसे राग द्वेष करता है, इस लिये कर्मोंसे बद्ध होता है॥ इस तरह आगे बन्ध तत्त्वका उपयोगी विवेचन है जिसका निष्कर्ष यह है कि—'रागीके कर्मोंका बन्ध होता है और विरागी कर्मबन्धन से छूट जाता है ॥ ८७ ॥

आगे इसमें भी समयसारकी ही तरह आत्माको अपने भावोंका कर्ता और पौद्गलिक भावोंका अकर्ता बतलाया है ॥ ९२ ॥ तथा अन्तमें चूँकि शुद्ध नयसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति होती है अतः उसीको प्राप्त करनेका उपदेश किया गया है।

तीसरे अधिकारमें श्रमणोंके आचारका वर्णन है। प्रारम्भमें ही श्रमण बननेके इच्छुक जनको क्या करना चाहिये और कैसे प्रव्रज्या लेनी चाहिये इसका कथन है। गाथा ८ में श्रमणोंके २८ मूल गुण बतलाये हैं। वे हैं—पांच महाव्रत, पांच समितियां, पांचों इन्द्रियोंका निरोध, केशोंका लोच, छ आवश्यक कर्म, अचेल, स्नान न करना, पृथ्वी पर सोना, दन्तधावन न करना, खड़े होकर भोजन करना और एक बार, दिनमें भोजन करना। श्वेताम्बरसाहित्यमें इन मूल गुणों-की कोई चर्चा नहीं है।

आगे श्रमणको कैसे रहना चाहिये, संयमका छेद होने पर कैसे उसका संधारण करना चाहिये, श्रमण किसे कहते हैं आदि सभी आवश्यक एवं उपयोगी बातोंका इसमें कथन है।

३. नियमसार

नियमसार पर पद्मप्रभ मलधारी देवकी संस्कृत टीका है। उन्होंने इस ग्रन्थ-को कुन्दकुन्द रचित बतलाया है। साथ ही इसका विषय वर्णन तथा प्रतिपादन शैली कुन्दकुन्दके अन्य ग्रन्थोंसे बिल्कुल मेल खाती है। अतः इसके कुन्दकुन्द रचित होनेमेंरंच मात्र भी सन्देहको स्थान नहीं है।

टीकाकारके अनुसार इसकी गाथा संख्या १८७ है। जिन्हें उन्होंने बारह श्रुत स्कन्धोंमें विभाजित किया है। उन श्रुत स्कन्धोंके नाम इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, शुद्धभाव, व्यवहार चरित्र, निश्चय प्रतिक्रमण, निश्चय प्रत्याख्यान, निश्चय आलोचना, निश्चय प्रायश्चित, परम समाधि, परम भक्ति, निश्चय आवश्यक, शुद्धोपयोग।

जैसे कुन्दकुन्दाचार्यने समयसारकी प्रथम गाथामें सिद्धोंको नमस्कार करके समय पाहुड़को कहनेकी प्रतिज्ञा की है, वैसे ही नियमसारकी प्रथम गाथामें वीर जिनको नमस्कार करके नियमसारको कहनेकी प्रतिज्ञा की है। उधर समयसारको श्रुतकेवलीभणित कहा है, इधर नियमसारको केवली और श्रुतकेवलीके द्वारा भणित कहा है।

आगे गाथा २, ३, ४ में कहा है कि जिन शासनमें मार्ग और मार्गके फलका कथन किया है। मोक्षके उपायको मार्ग कहते हैं और उसका फल निर्वाण है ॥ २ ॥ तथा नियमपूर्वक जो किया जाये उसे नियम कहते हैं। वह नियम है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र, मोक्षके उपायको नियम कहते हैं और उसका फल है परमनिर्वाण। इन तीनोंका ही कथन इस ग्रन्थमें है। अतः इसका नाम नियमसार है।

सम्यग्दर्शन—सबसे प्रथम सम्यग्दर्शनका वर्णन करते हुए अर्थ, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्दर्शन कहा है। तथा क्षुधा तृषा आदि दोषोंसे रहित परमात्माको आप्त कहा है। और उनके मुखसे निकले हुए वचनोंको आगम तथा आगममें कहे हुए पदार्थोंको तत्त्वार्थ कहा है। वे तत्त्वार्थ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल, और आकाश। (गा० ५–९)

जीवका लक्षण उपयोग है। उपयोग दो प्रकारका होता है—ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोगके भी दो प्रकार हैं—स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान। जो ज्ञान इन्द्रियादिको सहायताके बिना होता है वह स्वभाव ज्ञान है। मतिज्ञान आदि विभावज्ञान हैं। दर्शनोपयोगके भी स्वभाव और विभावकी अपेक्षा दो भेद हैं। चक्षु, अचक्षु और अवधि दर्शन विभावरूप है। केवल दर्शन स्वभाव रूप है ॥ १०–१४।

पर्याय भी दो प्रकारकी होती हैं—स्वभावपर्याय और विभावपर्याय। मनुष्य, नारकी, तिर्यञ्च और देव पर्याय विभाव पर्याय हैं। कर्मोपाधि निरपेक्ष पर्यायोंको स्वभाव पर्याय कहते हैं ॥१५॥

पुद्गल द्रव्यके वर्णनमें स्कन्धके छै भेद बतलाये हैं—अतिस्थूल, स्थूल, स्थूलसूक्ष्म, सूक्ष्मस्थूल, सूक्ष्म और अति सूक्ष्म। परमाणुको अविभागी और इन्द्रिय-

द्वारा अग्राह्य बतलाया है ॥२०-२९॥ इसी तरह आगे धर्मादिद्रव्योंका कथन किया है।

आगे लिखा है कि केवल एक आत्मा ही उपादेय है जो कि कर्मजन्य गुण-पर्यायोंसे भिन्न है। शेष सब हेय है ॥३८॥ उसी शुद्ध आत्माका वर्णन समयसार की ही तरह यहाँ भी किया गया है ॥३९-५०॥ आगे व्यवहार चारित्र और निश्चयचारित्रका कथन है।

चारित्र—व्यवहार चारित्र में अहिंसा आदि पाँच महाव्रतोंका, तथा पाँच समितियों और तीन गुप्तियोंका वर्णन है ॥५६-६८॥ आगे दो गाथाओंसे निश्चयरूप तीन गुप्तियोंका वर्णन है। फिर पाँच गाथाओंसे (७१-७५)पंच परमेष्ठी (अर्हन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु) का स्वरूप बतलाया है। आगे निश्चय चारित्रका कथन है।

सबसे प्रथम आत्माको सब परभावोंसे भिन्न चिन्तन करनेका उपदेश है—मैं मार्गणा, गुणस्थान, जीवस्थानरूप नहीं हूँ। न मैं उनका कर्ता, कारयिता या अनुमन्ता हूँ ॥ न मैं मनुष्य, देव, नारकी या तिर्यञ्चरूप हूँ। न उनका कर्ता, कारयिता या अनुमन्ता हूँ ॥ न मैं बाल, वृद्ध या तरुण हूँ। और न उनका कर्ता, कारयिता या अनुमन्ता हूँ ॥ न मैं राग, द्वेष या मोहरूप हूँ। न मैं उनका कर्ता कारयिता या अनुमन्ता हूँ ॥ न मैं क्रोध, मान, माया या लोभ रूप हूँ। न मैं उनका कर्ता, कारियता या अनुमन्ता हूँ ॥

इस प्रकारका भेद ज्ञान हो जानेपर जीव मध्यस्थ होकर चारित्रका लाभ करता है। उस चारित्रको दृढ़ करनेके लिये प्रतिक्रमण आदि किये जाते हैं।

अतः आगे आचार्यने प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, आलोचना, प्रायश्चित्त, कायोत्सर्ग, परमसमाधि, सामायिक, परम भक्ति इन छै आवश्यकोंका निश्चयनयसे स्वरूप बतलाया है।

मूलाचारमें[1] सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, बन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग, ये छै आवश्यक बतलायें हैं। दिगम्बर परम्पराके साहित्यमें ये ही छै आवश्यक प्रचलित है। श्वेताम्बर परम्परामें भी ये ही छै भेद मान्य हैं। इनमें आलोचना नहीं है। तथा परम भक्तिके स्थानमें स्तुति और बन्दना हैं।

---

१. सामाइय चउवीसत्थय, वंदणयं पडिक्कमणं। पच्चक्खाणं च तहा काओसग्गो हवदि छट्ठो ॥१५॥—मूलाचा०, अ० ७।

इस तरह मूलाचारमें नियमसारसे अन्तर पाया जाता है। किन्तु आवश्यक[1] निर्युक्ति' पदका व्याख्यान करनेवाली गाथा दोनोंमें एक ही है। संभव है वह गाथा प्राचीन हो और दोनों ग्रन्थकारोंने उसे किसी प्राचीन परम्परासे ग्रहण किया हो।

'आवश्यक' शब्दकी जो व्युत्पत्ति नियमसार तथा मूलाचारमें दी है वह श्वेताम्बरसाहित्यमें[2] नहीं मिलती। वहाँ आवश्यकका प्रचलित अर्थ ही पाया जाता है—जिसका करना जरूरी हो। किन्तु उक्त दोनों ग्रन्थोंमें जो अन्यके बशमें नहीं है वह 'अवश' है और उसका जो कर्म है वह आवश्यक है। अर्थात् आत्माधीन व्यक्तिके करणीय कर्मको आवश्यक कहते हैं।' यह अर्थ बहुत ही उपयुक्त है। श्वेताम्बर साहित्यमें निश्चयदृष्टिका कथन न होनेसे शायद वहाँ यह लक्षण नहीं पाया जाता। अस्तु।

प्रतिक्रमणसम्बन्धी पाठोंको आचार्यने वचनमय प्रतिक्रमण कहा है और उनके पाठको स्वाध्याय कहा है ॥१५३॥ और कहा है कि यदि शक्ति हो तो ध्यानमय ही प्रतिक्रमणादि करना चाहिये। यदि शक्ति न हो तो उसका श्रद्धान ही करना चाहिये।

केवल ज्ञान और केवल दर्शन—नियमसारके अन्तमें गाथा १५८ से आचार्य कुन्दकुन्दने केवल ज्ञान और केवल दर्शनके सम्बन्धमें महत्त्वपूर्ण चर्चा आरम्भ की है। लिखा है—व्यवहारनयसे केवली भगवान सबको जानते देखते हैं। किन्तु निश्चयनयसे केवल ज्ञानी आत्माको जानते देखते हैं ॥१५८॥ जैसे सूर्यमें प्रकाश और प्रताप एक साथ रहते हैं वैसे ही केवल ज्ञानीमें ज्ञान और दर्शन एक साथ रहते हैं ॥१५९॥

आगममें ज्ञानको पर प्रकाशक, दर्शनको स्व प्रकाशक तथा आत्माको स्वपर प्रकाशक माना है। कुन्दकुन्द स्वामीने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि यदि ऐसा मानते हो तो ज्ञानसे दर्शन भिन्न ठहरता है क्योंकि आगममें दर्शनको पर प्रकाशक नहीं कहा है ॥१६१॥ इसी तरह आत्माको पर प्रकाशक माननेसे भी

१. 'ण वसो अवसो अवसस्स कम्म आवस्सयंति बोधव्वा। जुत्तित्ति उवाप्रंति य णिरवयवो होदि णिज्जुत्ति ॥—नि० सा० १२२ गा०। मूला चा०-७।१४।
२. आवस्सयं अवस्सकरणिज्जं धुव निग्गहो विसोही य। अज्झयणछक्क वग्गो नाओ आराहणा मग्गो ॥८७२॥ समणेण सावएण य अवस्सकायव्वयं हवइ जम्हा। अंतो अहो निसिस्स उ तह्मा आवस्सयं नाम ॥८७३॥—विशे० भा०।

आत्मासे दर्शन भिन्न ठहरता है ।।१६२।। अतः व्यवहारनयसे जैसे ज्ञान और आत्मा पर प्रकाशक हैं वैसे ही दर्शन भी परप्रकाशक हैं ।।१६४।। तथा निश्चयनयसे ज्ञान और आत्मा स्वप्रकाशक है अतः दर्शन भी स्वप्रकाशक है। इस तरह ज्ञान, दर्शन और आत्मामें निश्चयनय और व्यवहार नयसे भेदाभेदका कथन किया है।

आगे पुनः कहा है—यदि कोई ऐसा कहता है कि केवली भगवान आत्मस्वरूपको जानते हैं, लोकालोकको नहीं जानते तो इसमें क्या दोष है ।।१६६।। इसका उत्तर देते हुए कहा है कि—'जो मूर्त अमूर्त, चेतन अचेतन, स्व और पर, सबको जानता है, वही ज्ञान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष होता है ।।१६७।।

पुनः शंका की है कि—यदि कोई ऐसा कहता है कि केवली भगवान लोकालोकको जानते हैं, अपनेको नहीं जानते, तो इसमें क्या दोष है ।।१६९।। इसके उत्तरमें कहा है कि—ज्ञानस्वरूप जीव है इसलिये आत्मा निश्चयसे आत्माको जानता है। यदि वह आत्माको नहीं जानता तो ज्ञान आत्मासे अलग ठहरता है ।।१७०।। अतः आत्मा ज्ञान है और ज्ञान आत्मा है। इसलिये ज्ञान और दर्शन दोनों स्वपर प्रकाशक हैं ।।१७१।।

केवलज्ञानी इच्छापूर्वक नहीं जानते देखते, न इच्छापूर्वक चलते-फिरते और बोलते हैं। इसलिये उनकी ये क्रियाएँ बन्धकी कारण नहीं हैं ।।१७२-१७५।। जब केवलीके आयुकर्मका क्षय होता है तो शेष कर्मोंका भी क्षय हो जाता है। उसके पश्चात् वे शीघ्र ही एक समयमें लोकके अग्रभागमें जाकर स्थिर हो जाते हैं ।।१७६।।

गाथा १७७ से १८३ तक निर्वाणका कथन है। निर्वाण जन्म जरा और मरणसे रहित है। अक्षय और अविनाशी है, पुण्य पाप और पुनरागमनसे रहित है। वहाँ आत्मामें केवलज्ञान, केवलसुख, केवलवीर्य, केवलदर्शन, तथा अमूर्तिकत्व और सप्रदेशत्व रहते हैं।

जहाँ तक धर्मद्रव्य है वहीं तक जीव और पुद्गल जा सकते हैं। अतः मुक्त जीव लोकके अग्रभाग तक जाकर ही ठहर जाता है।

दंसण पाहुड—दंसण पाहुण या दर्शन प्राभृतमें ३६ गाथाएँ हैं। इसमें सम्यग्दर्शनका वर्णन है। व्यवहारनयसे जीवादि पदार्थोंका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। और निश्चयनयसे आत्माका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन। (गा० २०) यह सम्यग्दर्शन मोक्षकी पहली सीढ़ी है ।।२१।। जो सम्यग्दर्शनसे भ्रष्ट है वही भ्रष्ट है। उसे निर्वाणकी प्राप्ति नहीं हो सकती ।।३।। सम्यग्दर्शनसे

भ्रष्ट साधु कितना ही कठोर तपश्चरण करें, करोड़ों वर्ष बीतनेपर भी उन्हें बोधिलाभ नहीं हो सकता ॥४॥

असंयमीको नमस्कार नहीं करना चाहिये। असंयमी नग्न भी हो तौ भी नमस्कार नहीं करना चाहिये ॥२६॥ न तो शरीर बन्दनीय है, न कुल और न जाति। गुण ही वन्दनीय है। जो गुणहीन है वह श्रमण हो अथवा श्रावक हो, वन्दनीय नहीं है ॥२७॥ इत्यादि कथन किया है।

कुन्दकुन्दाचार्यके अन्य पाहुडोंमें तथा बारह अणुवेक्खा, दशभक्ति वगैरहमें तत्त्वसे अधिक, आचारका प्रतिपादन है। अतः उनके सम्बन्धमें चरणानुयोग वषयक माहित्यमें प्रकाश डाला जायगा।

आचार्य गृद्धपिच्छ और उनका तत्त्वार्थ सूत्र

श्रवणवेलगोलाके शिलालेख नं० ४०, ४२, ४३, ४७ और ५० में आचार्य किुन्दकुन्दके स्मरणके पश्चात् नीचे लिखा श्लोक पाया जाता है—

अभूदुमास्वातिमुनीश्वरोऽसावाचार्यशब्दोत्तरगृद्धपिच्छः।
तदन्वये तत्सदृशोऽस्ति नान्यस्तात्कालिकाशेषपदार्थवेदी ॥७॥

अर्थात् आचार्य कुन्दकुन्दके अन्वयमें गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति मुनीश्वर हुए। तत्कालीन अशेष पदार्थोंका जानकार उनके समान दूसरा नहीं है।

श्रवणवेलगोलाके ही शिलालेख नं० १०५ और १०८ में इन्ही उमास्वाति को तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाया है। यथा—

श्रीमानुमास्वातिरयं यतीशस्तत्त्वार्थसूत्रं प्रकटीचकार।
यन्मुक्तिमार्गाचरणोद्यतानां पाथेयमर्घ्यं भवति प्रजानाम् ॥१५॥
—शि० नं० १०५।

अभूदुमास्वातिमुनिः पवित्रे वंशे तदीये सकलार्थवेदी।
सूत्रीकृतं येन जिनप्रणीतं शास्त्रार्थजातं मुनिपुंगवेन ॥११॥
—शि० नं० १०८।

'ऐपिग्राफ़िया कर्णाटिका' की ८वीं जिल्दमें प्रकाशित नगर ताल्लुकेके ४६वें शिलालेखमें भी उमास्वातिको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता तथा श्रुतकेवलिदेशीय बतलाया है यथा—

'तत्त्वार्थसूत्रकर्तारमुमास्वातिमुनीश्वरम्।
श्रुतकेवलिदेशीयं वन्देऽहं गुणमन्दिरम्।''

शुभचन्द्राचार्यने अपनी गुर्वावलीमें भी कुन्दकुन्दके पश्चात् उमास्वातिका स्मरण करते हुए उन्हें तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाया है। यथा—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तृत्वप्रकटीकृतसन्मनाः ।
उमास्वातिपदाचार्यों मिथ्यात्वतिमिरांशुमान् ॥५॥
—जै० सि० भा० १, कि० ४, पृ० ५१ ।

उक्त शिलालेखोंसे प्रकट होता है कि कुन्दकुन्दाचार्यके पश्चात् उनके अन्वय में उमास्वाति नामके आचार्य हुए और उन्होंने तत्त्वार्थसूत्रकी[1] रचना की ।

किन्तु दिगम्बर जैन परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता उमास्वामी नामसे ही प्रसिद्ध हैं । मूल तत्त्वार्थसूत्रकी जो लिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं उनके अन्तमें प्रायः यह श्लोक पाया जाता है—

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं गृद्धपिच्छोपलक्षितम् ।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामिमुनीश्वरम् ॥

इसमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताका नाम उमास्वामी बतलाया है और उन्हें गृद्ध-पिच्छसे युक्त कहा है । अर्थात् वह गृद्धके पंखोंकी पीछी रखते थे । इसीसे श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें उन्हें गृद्धपिच्छाचार्य कहा है ।

विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीके टीकाकार श्रुतसागरने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें भी तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताका नाम उमास्वामी लिखा है । तथा औदार्य चिन्तामणि नामके अपने व्याकरण ग्रन्थमें 'श्रीमानुमाप्रभुरनन्तर पूज्यपादः' लिखकर 'उमा' के साथ 'प्रभु' शब्द लगाकर उमास्वामी नामको और भी अधिक स्पष्ट क दिया है ।

श्री मान् पं० जुगल किशोरजी मुख्तारने यह संभावना व्यक्त की है रिक

---

१. तत्त्वार्थसूत्रके रचयिता के विषयमें लिखे गये साहित्यका विवरण इस प्रकार है—पं० सुखलाल जी द्वारा लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना, पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार लिखित समन्त भद्र नामक निबंधके अन्तर्गत उमास्वाति विषयक काल विचार, भा० ज्ञा० पीठसे प्रकाशित सर्वार्थ सिद्धिकी पं० फूलचन्द्रजी लिखित प्रस्तावना । पं० कैलाशचन्द्र लिखित तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना । अनेकान्त वर्ष १, में 'तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता कुन्दकुन्द' पृ०१९८, 'उमास्वाति या उमास्वामी' पृ० २६९, तत्त्वार्थसूत्र की उत्पत्ति पृ० २७० । अने०, वर्ष ३, में—'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' पृ० ३०४; ६२३, ३०७, १२१ । अनेकान्त वर्ष ४, में—पृ० १७, २४९, २८३ । अने०, वर्ष ५ में—'तत्त्वार्थसूत्रका अन्त.परीक्षण पृ० ५१ । अने०, वर्ष ९, स्वोपज्ञ भाष्य, पृ० ६४१, उमास्वातिका सभाष्य तत्त्वार्थ जै० सा० इ० पृ० ५२१-५४७। तत्त्वार्थसूत्रकी परम्परा—जै० सि० भा०, वर्ष १२ कि० १-२ ।

उमास्वातिकी जगह 'उमास्वामी' यह नाम श्रुतसागरका निर्देश किया हुआ है क्योंकि आपने लिखा है कि विक्रमकी १६वीं शताब्दीसे पहलेका ऐसा कोई ग्रन्थ अथवा शिलालेख आदि अभीतक मेरे देखनेमें नहीं आया जिसमें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताका नाम उमास्वामी लिखा हो।

श्रुत सागरजीने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें[1] उमास्वामीकी स्वामिसंज्ञा क्यों थी, इसके सम्बन्धमें नीतिसारके कुछ श्लोक उद्धृत किये हैं। उनमें एक श्लोक इस प्रकार है—

'तत्त्वार्थसूत्र व्याख्याता स्वामीति परिपठ्यते'

इसमें तत्त्वार्थ सूत्रके व्याख्याताको स्वामी कहा है। शायद इसीपरसे श्रुतसागरजीने तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताको उमास्वामी नाम देना उचित समझा हो; क्योंकि उमाके साथ स्वाति नामकी संगति नहीं बैठती।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें एक मात्र उमास्वाति नाम ही सर्वमान्य है। श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रका जो पाठ प्रचलित है उसपर एक भाष्य भी है जिसे स्वोपज्ञ माना जाता है। उसकी अन्तिम प्रशस्तिमें भी ग्रन्थकारका नाम उमास्वाति दिया है और लिखा है कि स्वाति उनके पिताका नाम था।

श्री पं० सुखलालजीने तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी भूमिकामें यह सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है कि उमास्वाति दिगम्बर परम्पराके नहीं थे किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके थे। 'उमास्वाति दिगम्बर परम्पराके नहीं थे' ऐसा निश्चय करनेके लिए उन्होंने नीचे लिखी दलीले दी हैं—

१. प्रशस्तिमें सूचितकी हुई उच्च नागर शाखा या नागर शाखाके दिगम्बर सम्प्रदायमें होनेका एक भी प्रमाण नहीं पाया जाता है।

२. काल किसीके मतसे वास्तविक द्रव्य है, ऐसा सूत्र (५।३८) और उसके भाष्यका वर्णन दिगम्बर पक्ष (५।३९) के विरुद्ध है। केवलीमें (९।११) ग्यारह परीषह होनेकी सूत्र और भाष्यगत सीधी मान्यता एवं भाष्यगत वस्त्र-पात्रादिका स्पष्ट उल्लेख भी दिगम्बर परम्पराके विरुद्ध है। सिद्धोंमें लिंग द्वार और तीर्थद्वारका भाष्यगत वक्तव्य दिगम्बर परम्परासे उल्टा है।

३. भाष्यमें केवल ज्ञानके पश्चात् केवलोके दूसरा उपयोग मानने न माननेका जो मन्तव्य भेद (१।३१) है वह दिगम्बर ग्रन्थोंमें नहीं दिखाई देता।

तथा उमास्वातिको श्वेताम्बर परम्पराका सिद्ध करनेके लिए पंडितजीने नीचे लिखी दलीलें दी हैं—

१. 'संसारिणां ग्रहणं पूर्वं कृतं स्वामिना उमास्वामिना। स्वामीति संज्ञा कथम् ? उक्तं हि आचार्यादीनां लक्षणम्—।'—त० वृ०, पृ० ८७।

१. प्रशस्तिमें उल्लिखित उच्चनागरी शाखा श्वेताम्बर पट्टावलीमें पाई जाती है।

२. अमुक विषय सम्बन्धी मतभेद या विरोध बतलाते हुए भी कोई ऐसे प्राचीन या अर्वाचीन श्वेताम्बर आचार्य नहीं पाये जाते जिन्होंने दिगम्बराचार्योंकी तरह भाष्यको अमान्य किया हो।

३. जिसे उमास्वातिकी कृति रूपसे माननेमें शंकाका अवकाश नहीं, जो पूर्वोक्त प्रकारसे भाष्य विरोधी (?) है, ऐसे प्रशम रति ग्रन्थमें मुनिके वस्त्र पात्रका व्यवस्थित निरूपण देखा जाता है, जिसे श्वेताम्बर परम्परा निर्विवाद रूपसे स्वीकार करती है।

४. उमास्वातिके वाचक वंशका उल्लेख और उसी वंशमें होनेवाले अन्य आचार्योंका वर्णन श्वेताम्बर पट्टावलियों पन्नवणा और नन्दीकी स्थविरावलीमें पाया जाता है।

इस तरह पण्डितजीने भाष्य, उसकी अन्तिम प्रशस्ति तथा प्रशमरतिके आधारपर उमास्वातिको श्वेताम्बर परम्पराका सिद्ध किया है और दिगम्बर परम्पराका होनेका निषेध किया है। मूल सूत्रोंके आधारसे वह कोई ऐसे सबल प्रमाण उपस्थित नहीं कर सके जिनसे उनका रचयिता श्वेताम्बर परम्पराका ही सिद्ध होता हो। प्रत्युत सूत्रोंमें कई ऐसी बातें हैं जो श्वेताम्बर परम्पराके प्रतिकूल और दिगम्बर परम्पराके अनुकूल हैं। उनकी चर्चा आगे की जायेगी।

किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताका नाम एक मात्र उमास्वाति ही पाया जाता है। श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रका जो मूल पाठ प्रचलित है उसपर एक भाष्य भी है जिसे स्वोपज्ञ माना जाता है। उसके अन्तमें एक प्रशस्ति भी है जिसमें ग्रन्थकारने अपना पूर्ण परिचय दिया है। उसमें उसने अपना नाम उमास्वाति दिया है। वह प्रशस्ति इस प्रकार है—

> वाचकमुख्यस्य शिवश्रियः प्रकाशयशसः प्रशिष्येण।
> शिष्येण घोषनन्दिक्षमणस्यैकादशाङ्गविदः ॥१॥
> वाचनया च महावाचकक्षमणमुण्डपादशिष्यस्य।
> शिष्येण वाचकाचार्यमूलनाम्नः प्रथितकीर्तेः ॥२॥
> न्यग्रोधिकाप्रसूतेन विहरता पुरवरे कुसुमनाम्नि।
> कौभीषणिना स्वातितनयेन वात्सीसुतेनाऽर्ध्यम् ॥३॥
> अर्हद्वचनं गुरुक्रमेणागतं समुपधार्य।
> दुःखार्तं च दुरागमविहतमतिं लोकमवलोक्य ॥४॥

इदमुच्चैर्नागरवाचकेन सत्त्वानुकम्पया दृब्धम् ।
तत्त्वार्थाधिगमाख्यं स्पष्टमुमास्वातिना शास्त्रम् ॥५॥

अर्थात्—जो वाचक मुख्य शिवश्रीके प्रशिष्य, ग्यारह अंगधारी घोषनन्दि क्षमणके शिष्य और वाचनासे (विद्या ग्रहणकी दृष्टिसे) महावाचक क्षमण मुण्डपादके प्रशिष्य तथा 'मूल' नामके वाचकाचार्यके शिष्य थे, जिनका जन्म न्यग्रोधिकामें हुआ था, जो उच्चनागर शाखाके थे और श्रेष्ठनगर कुसुम पुरमें विहार करते थे, उन उमास्वातिने गुरुपरम्परासे प्राप्त अर्हद् वचनोंको भले प्रकार अवधारण करके, लोगोंको दुःखोंसे पीड़ित और दुरागमोंसे हतबुद्धि देखकर, प्राणियोंकी अनुकम्पासे प्रेरित होकर यह तत्त्वार्थाधिगम नामक स्पष्ट शास्त्र रचा अथवा तत्त्वार्थाधिगमनामक रचे शास्त्रको स्पष्ट किया ।

इस प्रशस्तिमें ग्रन्थकार उमास्वातिने अपने दीक्षा गुरु तथा दीक्षा प्रगुरुका नाम, दीक्षा गुरुकी योग्यता, विद्या गुरु तथा विद्या प्रगुरुका नाम, अपना गोत्र पिता तथा माताका नाम, जन्म स्थानका नाम, ग्रन्थ रचनाका स्थान नाम अपनी शाखा आदि सभी कुछ तो दे दिया है । फिर भी उनके विषयमें जैन परम्परामें जो तथोक्त भ्रान्ति फैली वह आश्चर्य जनक है । और उससे अनेक प्रकारके सन्देहोंका उत्पन्न होना स्वाभाविक है ।

यह तथोक्त भ्रान्ति दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्तृत्वको लेकर है । यद्यपि श्रवण बेलगोलाके उक्त शिला लेखोंमें जो प्रायः १२वीं शताब्दीके लगभगके हैं, गृद्धपिच्छसे युक्त उमास्वातिको तत्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाया है तथापि उससे पूर्वके प्राचीन साहित्यमें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताके रूपमें अथवा अन्य किसी रूपमें उमास्वातिका कोई उल्लेख नहीं मिलता । यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रको सर्वाधिक प्रतिष्ठा दिगम्बर परम्परामें प्राचीनकालसे पाई जाती है और सबसे प्राचीन टीका भी दिगम्बराचार्य पूज्यपादकी तत्त्वार्थ सूत्रपर उपलब्ध है तथापि सूत्रकारके नामका कोई निर्देश उसमें नहीं है ।

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि दिगम्बर परम्परामें तत्वार्थ सूत्रके उक्त स्वोपज्ञ भाष्य और उसकी अन्तिम प्रशस्तिका कोई निर्देश नहीं मिलता ।

श्रवणबेलगोलाके उक्त शिलालेखोंमें गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति को तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाया है, यह हम ऊपर लिख आये है । किन्तु उससे पूर्वके साहित्यिक उल्लेखोंमें तत्त्वार्थ सूत्र कर्ताके रूपमें अथवा अन्य किसी रूपमें उमास्वातिका कोई नाम नहीं है । दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रकी सबसे प्राचीन टीका पूज्यपादकी सर्वार्थ सिद्धि है । उसमें टीकाकारने न तो अपना ही नाम दिया है और न सूत्रकारका ही नाम दिया है । उसके

आरम्भिक उत्थानिकासे केवल इतना ही प्रकट होता है कि किसी स्वहितैषी भव्यकी जिज्ञासाके फलस्वरूप किसी निर्ग्रन्थाचार्यने तत्त्वार्थ सूत्रको रचा है। यह निर्ग्रन्थाचार्य कौन थे यह उससे ज्ञात नहीं होता। सर्वार्थसिद्धिके पश्चात् रची गई तत्त्वार्थवार्तिकमें भी अकलंकदेवने सूत्रकारका कोई नामादि नहीं दिया। तत्त्वार्थवार्तिकके पश्चात् रची गई तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें विद्यानन्दिने भी सूत्रकारका नामोल्लेख तो स्पष्ट रूपसे नहीं किया। किन्तु 'एतेन गृद्धपिच्छाचार्यपर्यन्त मुनिसूत्रेण व्यभिचारिता निरस्ता' लिखकर तत्त्वार्थ सूत्रको गृद्धपिच्छाचार्य कृत बतलाया है। विद्या[1]नन्दिके ही समकालीन श्रीवीरसेन स्वामीने तो अपनी धवला[2] टीकामें स्पष्ट रूपसे तत्त्वार्थ सूत्रको गृद्धपिच्छाचार्यकी कृति कहा है।

इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है। विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके आचार्य श्री वादिराज सूरिने अपने पार्श्वनाथचरितके प्रारम्भमें गृद्धपिच्छ नामके आचार्य को सबसे प्रथम नमस्कार किया है। यथा।

अतुच्छगुणसम्पातं गृद्धपिच्छं नतोऽस्मि तं।
पक्षीकुर्वन्ति यं भव्या निर्वाणायोत्पतिष्णवः ॥१६॥

अर्थात्—मैं महान गुणोंके आधार उन गृद्धपिच्छको नमस्कार करता हूँ, निर्वाणके लिये उड़नेके इच्छुक भव्य जीव जिनको अपना पंख बनाते हैं।

इसमें यद्यपि गृद्धपिच्छको तत्त्वार्थसूत्रका कर्ता नहीं बतलाया। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रके प्रथम सूत्रमें ही 'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' लिखकर मोक्षके मार्गका ही प्रधान रूपसे कथन किया गया है। अतः मोक्षार्थियोंके द्वारा उनकी उस कृति को अपनाना स्वभाविक है। उसी का कथन साहित्यिक भाषामें उक्त श्लोकमें किया गया है। अतः विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दी तक दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता गृद्धपिच्छ नामसे ख्यात थे। तथा वे बहुत प्राचीनी माने जाते थे; क्यों कि वादिदेवने पूज्यपाद देवनन्दि और समन्तभद्रसे भ पहले उनका स्मरण किया है।

उक्त कालके पश्चात् विक्रमकी बारहवीं तेरहवीं शताब्दीके शिलालेखोंमें हम गृद्धपिच्छ नामके दो आचार्योका उल्लेख पाते हैं। उनमेंसे एक हैं कुन्द-कुन्द और दूसरे हैं उमास्वाति। किन्तु उनमेंसे तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता गृद्ध पिच्छाचार्य-

---

१. विद्यानन्दिकी आप्त परीक्षाकी स्वोपज्ञवृत्तिमें 'तत्त्वार्थसूत्रकारै उमास्वामि प्रभृतिभिः' पाठ भी (वा० ११९) सनातन जैनग्रन्थ माला काशीसे मुद्रित प्रतिमें मिलता है। किन्तु लिखित अनेक प्रतियोंमें यह पाठ नहीं पाया जाता। इसकी चर्चाके लिये देखें—अनेकान्त, वर्ष १, पृ० ४०६।

२. 'तह गिद्धपिच्छाइरियप्पयासिद तच्चत्थसुत्ते वि 'वर्तनापरिणामक्रियापरत्वापरत्वे च कालस्य' इति दव्वकालो परूविदो.—षट्खं०, पु० ४, पृ० ३१६।

उमास्वातिको ही बतलाया है, कुन्दकुन्दाचार्यको नहीं। इस तरह उक्त शिलालेखों से पूर्व दिगम्बर परम्परामें उमास्वातिको तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलानेवाला कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता। इसपरसे यह सन्देह होसकता है कि गृद्धपिच्छाचार्यका का नाम उत्तरकालमें श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रके कर्ताके रूपमें प्रसिद्ध भाष्यकार उमास्वातिके साथ तो नहीं जोड़ दिया गया है। दिगम्बर परम्पराके तो उक्त प्राचीन उल्लेख गृद्धपिच्छ आचार्यको ही तत्त्वार्थ सूत्रका कर्ता बतलाते हैं।

किन्तु इस सम्बन्धमें एक बात और भी उल्लेखनीय है। यद्यपि कुन्दकुन्दाचार्यका उल्लेख तो प्राचीन शिलालेखोंमें मिलता है परन्तु पद्मनन्दिका, जो कौण्डकुन्दपुरके निवासी होनेके कारण कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ख्यात हुए, उल्लेख भी नौवीं-दसवीं शताब्दीके साहित्यमें ही प्रथम बार मिलता है। इस तरह कुन्दकुन्द और तत्त्वार्थसूत्र कर्ता गृद्धपिच्छाचार्य ये दोनों लगभग समकालमें ही साहित्यिक उल्लेखोंमें अवतरित होते हैं, यद्यपि ये दोनों ही प्राचीन हैं।

शिलालेखों तथा टीकाकार जयसेन और श्रुतसागरके उल्लेखोंसे यह स्पष्ट है कि कुन्दकुन्दका एक नाम गृद्धपिच्छाचार्य भी था। शायद इसीसे [1]अर्हत्सूत्रवृत्ति नामक तत्त्वार्थसूत्रकी टीकामें, जिसके रचयिता भट्टारक राजेन्द्रमौलि हैं, तत्त्वार्थ सूत्रको स्पष्टतया कुन्दकुन्दाचार्यकी कृति कहा है। यह राजेन्द्रमौलि मूल संघ सरस्वतीगच्छके भट्टारक तथा सागत्यपट्टके अधीश्वर थे। इनका समय ज्ञात नहीं है।

श्री पं० जुगल किशोरजी मुख्तारने उक्त बात प्रकट करते हुए तत्त्वार्थसूत्रके एक श्वेताम्बर टिप्पणीकारकी टिप्पणी भी इस सम्बन्धमें[2] प्रकाशित की थी। टिप्पणीके अन्तमें तत्त्वार्थसूत्रके कर्तृत्वविषयमें दुर्वादापहार नाम कुछ पद्य देते हुए लिखा है—

---

१. यह ग्रन्थ बम्बईके ऐलक पन्नालाल सरस्वती भवनमें है। इसका प्रारम्भ इस प्रकारसे होता है—'अथ अर्हत्सूत्रवृत्तिमारभे। तत्रादौ मंगलाद्यानि मंगलमध्यानि मंगलान्तानि च शास्त्राणि प्रथ्यन्ते। तदस्माकं विघ्नघाताय अस्मदाचार्यो भगवान् कुन्दकुन्दमुनिः स्वेष्टदेवतागुणोत्कर्षकीर्तनपूर्वकं तत्स्वरूपवस्तुनिर्देशात्मकं च शिष्टाचारविशिष्टेष्टजीववादं सिद्धान्तीकृत्य तद्गुणोपलब्धिफलोपयोग्यवन्दनानुकूलव्यापारगर्भं मंगलमाचरति—
अन्तमें लिखा है—'मूलसंघबलात्कारगणे गच्छे गिरां शुभे। राजेन्द्रमौलिभट्टार्कः सागत्यपट्टराडिमां। व्यरचीत् कुन्दकुन्दाचार्यकृत सूत्रार्थ दीपिकाम्'—अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १९९।

२. अनेकान्त, वर्ष १, पृ० १९८।

य: कुन्दकुन्दनामा नामान्तरितो निरुच्यते कैश्चित् ।
ज्ञेयोऽन्य एव सोऽस्मात् स्पष्टमुमास्वातिरिति विदितात् ॥

टिप्पणी—तर्हि कुन्दकुन्द एवैतत् प्रथम कर्त्तेति संशयापहाय स्पष्टं ज्ञापयामः यः कुन्दकुन्दनामेत्यादि । अयं च परतीर्थिकैः कुन्दकुन्द इडाचार्यः पद्मनन्दी उमास्वातिरित्यादि नामान्तराणि कल्पयित्वा पठ्यते सोऽस्मात् प्रकरणकर्तुरुमास्वातिरित्येव प्रसिद्धनाम्नः सकाशादन्य एव ज्ञेयः किं पुनः पुनर्वेदयामः ।''

इसमें कहा है. कुन्दकुन्द, इडाचार्य (एलाचार्य) पद्मनन्दि और उमास्वाति ये एक ही व्यक्तिके नाम कल्पित करके जो लोग इस ग्रन्थका असली अथवा आद्यकर्ता कुन्दकुन्दको बतलाते हैं वह ठीक नहीं, वह कुन्दकुन्द हमारे इस तत्त्वार्थ सूत्रकर्ता प्रसिद्ध उमास्वातिसे भिन्न ही व्यक्ति है ।

इससे प्रकट होता है कि दिगम्बर लोग कुन्दकुन्दको तत्त्वार्थ सूत्रका असली आद्य कर्ता मानते थे । किन्तु कुन्दकुन्दका एक नाम उमास्वाति भी था और इस तरह कुन्दकुन्द और उमास्वाति एक ही व्यक्ति थे, ऐसी मान्यताका कोई संकेत दिगम्बर परम्परामें हमारे देखने में नहीं आया ।

इस तरह दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताके रूपमें उमास्वाति गृद्धपिच्छाचार्यका उल्लेख, गृद्धपिच्छाचार्य कुन्दकुन्दके शिष्यके रूपमें श्रवणबेलगोला आदिके शिलालेखोंमें ही मिलता है ।

श्वेताम्बर परपम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रके कर्तृत्वको लेकर तो मामूली सी भ्रान्ति फैली है । किन्तु उसके कर्ता आचार्य उमास्वातिकी स्थिति अवश्य ही चिन्त्य है । श्वेताम्बर सम्प्रदायकी पट्टावलियोंमें सबसे प्राचीन कल्पसूत्र स्थविरावली और नन्दिसूत्र स्थविरावली हैं । उनका संकलन वी० नि० सं० ९८० (वि० सं० ५१०) में किया गया माना जाता है । किन्तु उनमें उमास्वाति का नाम नहीं है । नन्दिसूत्रमें तो वाचकाचार्योंकी वंशावली दी हुई है, फिर भी उसमें न उमास्वातिका नाम है और न उनके गुरुजनोंमेंसे ही किसीका नाम है, जिन्हें उमास्वातिने वाचक मुख्य, महावाचक और वाचकाचार्य बतलाया है ।

पिछले समयकी रची हुई पट्टावलियोंमें यद्यपि उमास्वातिका नाम आता है किन्तु उनमें भी एकवाक्यताका अभाव है । दुषमाकाल श्रमणसंघ स्तोत्र[1] (वि० की तेरहवीं शताब्दी) में हारिल और जिनभद्रके बाद उमास्वातिका नाम आता है । और जिनभद्रगणिने विशेषावश्यक भाष्य वि० सं० ६६६ में पूर्ण किया था ।

१. 'सिरि सच्चमित्त हारिलं जिणभद्द वंदिमो उमासाई ।'

—पट्टा० स०, पृ० १६ ।

धर्मसागर उपाध्यायकृत तपागच्छपट्टावली[1] (वि० सं० १६४६) में जिनभद्रके पश्चात् विबुधप्रभ, जयानन्द और रविप्रभका नाम देकर उनके पश्चात् उमास्वातिको युगप्रधान बतलाया है। तथा उनका समय वी० नि० सं० ११९० (वि० सं० ७२०) लिखा है। पट्टावलीसारोद्धारमें[2] भी उमास्वातिका समय वी० नि० सं० ११९० लिखा है। किन्तु उसमें उमास्वातिके बाद जिनभद्रको बतलाया है। लोकप्रकाशमें (वि० सं० १७७८) विनय विजयगणिने जिनभद्रके पश्चात् उमास्वातिको बतलाया है।

धर्मसागरने तो यद्यपि तपागच्छ पट्टावलीमें उमास्वातिका नाम रविप्रभके बाद युगप्रधान रूपमें दिया है जिनका निर्देश ऊपर किया गया है। किन्तु, आर्य महागिरिके शिष्य बहुल (बलि), बलिस्सहमेंसे वलिस्सहके शिष्य स्वातिको ही तत्त्वार्थसूत्र[3] वगैरहका कर्ता बतलाया है।

इससे प्रतीत होता है कि श्वेताम्बर सम्प्रदायके लेखक भी उमास्वातिके समय तथा परम्परा आदिके सम्बन्धमें अंधेरेमें रहे हैं और उन्होंने बहुत पीछे उन्हें अपनी परम्परामें बैंठानेका प्रयत्न किया है। फिर भी पं० सुखलालजीने उन्हें भाष्यके आधारपर श्वेताम्बर परम्पराका ही सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है।

तथा भाष्यमें भी अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो श्वेताम्बर आगमोंके साथ मेल नहीं खाते।

चूंकि उमास्वातिने अपने भाष्यकी प्रशस्तिमें अपने जिन गुरुओं और प्रगुरुओंके नाम दिये हैं, वे न तो दिगम्बर परम्परामें मिलते हैं और न श्वेताम्बर परम्परामें। अतः श्री नाथूराम जी प्रेमीका ऐसा विचार है कि वे इन दोनोंके अतिरिक्त किसी तीसरे सम्प्रदायके थे और वह शायद यापनीय सम्प्रदाय हो। अपनी संभावनाकी पुष्टिमें उन्होंने भाष्य और प्रशस्तिके प्रकाशमें कुछ प्रमाण भी दिये हैं जो कुछ संभावनाओंपर अवलम्बित हैं। अतः उनके आधारपर उमास्वातिको यापनीय नहीं माना जा सकता।

भगवती आराधनाके टीकाकार श्री अपराजित सूरिने जो कि यापनीय थे, अपनी टीकामें तत्त्वार्थ सूत्रसे अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं। किन्तु उनके द्वारा उद्धृत सूत्र प्रायः वे ही हैं जो दोनों सूत्र पाठोंमें समान रूपसे पाये जाते हैं। इसके

---

१. 'श्री० वी० नवत्यधिकैकादशशत ११९० वर्षे श्री उमास्वातिर्युगप्रधान.।'
—पट्टा० स०, पृ० १५२।

२. पट्टा० स०, पृ० १५२।

३. 'आर्यमहागिरेस्तु शिष्यौ बहुलवलिस्सहौ यमलभ्रातरौ, तस्य वलिस्सहस्य शिष्यः स्वातिः तत्त्वार्थादयो ग्रन्थास्तु तत्कृता एव संभाव्यन्ते।'
—पट्टा० स०, पृ० ४६।

अपवाद रूपमें भी कुछ सूत्र हैं। यथा—'शुक्ले[1] चाद्ये पूर्वविदः' यह सूत्र दिगम्बर परम्पराके पाठानुसार है। वहाँ उसका नम्बर (९–३७) है। भाष्य सम्मत पाठमें यह सूत्र दो सूत्रोंमें (शुक्ले चाद्ये ॥९-३९॥ और 'पूर्वविदः' ॥९-४०॥) विभाजित है। किन्तु अपराजित सूरिने इसे एक सूत्रके रूपमें ही उद्धृत किया है।

इसी तरह एक और सूत्र उद्धृत है—'आज्ञापायविपाक[2]संस्थानविचयाय धर्म्यम्'। यह भी दिगम्बर सूत्र पाठके ही अनुसार है। भाष्य सम्मत पाठमें 'धर्म्यम्' के आगे अप्रमत्त संयतस्य (९-३७) पाठ अधिक है। इस तरहसे अपराजित सूरिने दिगम्बर सूत्र पाठको ही अपनाया है। उसका अपवाद केवल एक है और वह है भाष्य सम्मत[3] सूत्र (८-२६)। अपराजित[4] सूरिने इस सूत्रको तो उद्धृत नहीं किया है किन्तु पुण्य प्रकृतियोंकी गणना उसीके अनुसार की है।

किन्तु इसके सिवाय उन्होंने केवल भाष्य सम्मत अन्य किसी सूत्रका उल्लेख नहीं किया। रहा भाष्य, उसका तो अपराजित सूरिकी टीकामें संकेत तक भी नहीं है। मानों उनके सामने भाष्य नामकी कोई वस्तु ही नहीं थी। उन्होंने[5] तत्त्वार्थ सूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकाका ही एक मात्र प्रचुरतासे उपयोग किया है, क्वचित्-क्वचित् अकलंक देवके तत्त्वार्थ वार्तिकको भी अपनाया जान पड़ता है। भाष्यकी-यदि वह उनके सामने उपस्थित था तो-इस उपेक्षासे ही यह स्पष्ट है कि भाष्यकार यापनीय नहीं था। भाष्यमें (९-५) एषणासमिति और आदान निक्षेपण समितिका स्वरूप बतलाते हुए पात्र चीवर वगैरहको धर्मका साधन

१ 'न ह्यकृतश्रुतपरिचयस्य धर्मशुक्लध्याने' भवितुमर्हतः।....'शुक्ले चाद्ये पूर्वविदः' इत्यभिहितत्वाच्च–भ०, आ० टी०, गा० १०४॥

२. 'आज्ञापायविपाकविचयाय धर्म्यम्' इति सूत्रम्.....।–भ०, आ० टी० गा० १६९९।

३. 'सद्वेद्य-सम्यक्त्व-हास्य-रति-पुरुषवेद-शुभायु-नीच गोत्राणि पुण्यम्।–'

४. 'सद्वेद्यंसम्यक्त्व-रति-हास्यपुंवेदाः शुभे नामगोत्रे शुभं चायुः पुण्यं एतेभ्योऽन्यानि पापानि।–भ० आ० टी०, गा० १८३४।

५. भ० आ० गा० ४६ की टीकामें सत्य धर्म त्याग धर्म वगैरहके लक्षण सर्वा० सिद्धिके अनुसार हैं। गा० ५६ की टीकामें 'तत्त्वार्थ' की व्याख्या, गा० ११५ की टीकामें संवेग, गुप्ति आदिका लक्षण, गा० १३९ की टीकामें स्वाध्यायके भेदोंके लक्षण, गाथा ८०७ की टीकामें क्रियाओंके लक्षण, गा० ८११ की टीकामें जीवाधिकरणके भेद, ये सब सर्वार्थसिद्धिसे लिए गये हैं। और भी बहुतसे स्थल सर्वार्थसिद्धिके ऋणी हैं।

बतलाया है। यापनीय इन्हें धर्मका साधन नहीं मानते थे। अपराजित[1] सूरिने केवल कमंडलु और पीछीको संयमका उपकरण माना है। तथा शीतसे पीड़ित साधुको वायुके प्रवेशसे रहित स्थान देनेको लिखा है किन्तु वस्त्र दानका रंच मात्र भी विधान नहीं किया है। अतः भाष्यकार तो वस्त्रपात्रवादी श्वेताम्बर होने चाहिए। किन्तु जिसने भाष्य बनाया है उसीने तत्त्वार्थ सूत्रको भी बनाया है, यह बात विवादग्रस्त है। यदि केवल सूत्रोंको सामने रखकर सूत्रकारकी परम्पराका विचार किया जाये तो वह किसी सम्प्रदाय विशेषके पक्षपाती न होकर एक शुद्ध तात्त्विक जैनमात्र प्रतीत होते हैं। इसीसे उनके द्वारा रचित तत्त्वार्थ-सूत्रको दोनों परम्पराओंने अपनाया जबकि भाष्य एक परम्पराका ही होकर रह गया।

क्या भाष्य और सूत्रोंका कर्ता एक ही है ?

दिगम्बर परम्परामें मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी प्रतियाँ बहुतायतसे उपलब्ध होती हैं तथा मूलसूत्रोंके पठनपाठनका भी प्रचार अधिक है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी प्रतियाँ क्वचित् ही उपलब्ध होती हैं और उसके मूलमात्रका प्रचार भी कम ही रहा है। दिगम्बर परम्पराके आचार्योंने भी केवल मूल तत्त्वार्थ सूत्र पर ही अपनी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ रची थीं। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके टीकाकारोंने सभाष्य तत्त्वार्थ सूत्र पर ही अपनी टीकाएँ रचों हैं। इस तरहसे श्वेताम्बर परम्परामें भाष्य सूत्रोंके साथ एक ग्रन्थके रूपमें ही मानां जाता रहा है। दिगम्बर परम्परा ं मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी जो प्रतियाँ पाई जाती हैं, उनके आदि और अन्तमें अनेक गाथाएँ तथा श्लोक भी पाये जाते हैं, किन्तु वे तत्त्वार्थ सूत्रके अंग नहीं हैं, क्योंकि किसी भी टीकाकारकी टीकामें उनका संकेत तक नहीं पाया जाता। किन्तु श्वेताम्बर परम्पराके सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके आदिमें उत्थानिका परक तथा अन्तमें उपसंहार परक अनेक संस्कृत कारिकाएँ पाई जाती हैं। वे कारिकाएँ भाष्यकी अंगभूत हैं या तत्त्वार्थ सूत्रकी अंगभूत हैं, यह विचारणीय है। पं० श्री जुगलकिशोरजी मुख्तारने अनेकान्त वर्ष ३, कि १ में मूलतत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी एक सटिप्पण प्रतिका परिचय कराया था। उनके परिचयके अनुसार उस प्रतिमें सभाष्य तत्त्वार्थाधिगम सूत्रके शुरूमें जो ३१ सम्बन्ध कारिकाएँ पाई जाती हैं, और अन्तमें ३२ पद्य तथा प्रशस्तिके ६ पद्य पाये जाते हैं, वे सब कारिकाएँ एवं पद्य इस सटिप्पण प्रतिमें ज्योंके त्यों पाये जाते हैं और उस परसे ऐसा मालूम होता है कि टिप्पणकारने उन्हें मूल तत्त्वार्थाधिगम सूत्रका ही अंग समझा है।

---

१. सयंम सध्यते येनोपकरणेन तावन्मात्रं कमंडलु-पिच्छमात्रं'—भ० आ० टी०, गा० १६२।

शुरूमें पाई जानेवाली सम्बन्ध कारिकाओंमेंसे एक इसप्रकार है—

'तत्त्वार्थाधिगमाख्यं बह्वर्थं सङ्ग्रहं लघुग्रन्थम्।
वक्ष्यामि शिष्यहितमिदमर्हद्वचनैकदेशस्य ॥२२॥

इसमें तत्त्वार्थाधिगम नामक लघुग्रन्थको रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है। टीकाकार श्री देवगुप्तने 'लघुग्रन्थम्' का अर्थ 'श्लोकशतद्वयमात्रं' किया है। इससे प्रतीत होता है ये सम्बन्ध कारिकाएँ मूलसूत्रकी ही अंगभूत होनी चाहिये। क्योंकि मूलसूत्रोंका प्रमाण दोसौ श्लोकमात्र संभव है। भाष्यका प्रमाण तो उससे बहुत अधिक है।

किन्तु इन कारिकाओंकी स्थिति ऐसी है कि यदि उन्हें इस सूत्रग्रन्थसे अलग कर दिया जाये तो—उसकी अखण्डतामें उससे कोई क्षति नहीं पहुँचती। श्री पं० सुखलालजीने भाष्य सम्मत तत्त्वार्थ सूत्रके मूलसूत्रोंका जो गुजराती तथा हिन्दीमें अनुवाद किया है उसमें केवल सूत्र ही हैं और सम्भवतया श्वेताम्बर परम्परामें तत्त्वार्थ सूत्रकी इस प्रकारकी पहली टीका है। पं० जी इन कारिकाओंको भाष्यका अंग भी मानते हैं।

उक्त सम्बन्ध कारिकाओंके पश्चात् मूलसूत्र ग्रन्थ प्रारम्भ होता है। प्रथम सूत्रका अन्य कोई उत्थानिका वाक्य नहीं। भाष्यका आरम्भ प्रथम सूत्रकी व्याख्याके रूपमें होता है। भाष्यमें आगे आनेवाले सूत्रोंका [1]पूर्वनिर्देश होनेसे यह तो स्पष्ट ही है कि भाष्यकारके सामने पूरा सूत्रग्रन्थ मौजूद था, अथवा भाष्यकी रचनासे पूर्व सूत्रग्रन्थ रचा जा चुका था।

इतना प्राथमिक कथन करनेके पश्चात् हम अपने प्रकृत विषयपर आते हैं। श्री पं० सुखलालजीने भाष्य स्वयं उमास्वातिकृत है यह बात नीचे लिखे प्रमाणोंसे निर्विवाद सिद्ध बतलाई है—

१. भाष्यकी उपलब्ध टीकाओंमें सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन की है। उसमें स्वोपज्ञता सूचक उल्लेख[2] पाये जाते हैं।

२. भाष्यगत अन्तिम कारिकाओंमेंसे आठवीं कारिकाको हरिभद्राचार्यने शास्त्रवार्ता समुच्चयमें उमास्वाति कर्तृक रूपसे उद्धृत किया है।

---

१. 'उक्तमवगाहनमाकाशस्य'—(३–१)। 'उक्तं भवता-मानुषस्य स्वभाव मार्दवार्जवं चेति। तत्र के मनुष्या.।' (३-१४) की उत्थानिका।

२. 'शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकार-भाष्यकाराकारेणैवमाह'—(सिद्ध० टी०, भा० १, पृ० ७२)। सूत्रकारादविभक्तोऽपि भाष्यकारः'—वही, पृ० २०५।

३. भाष्यकी प्रारम्भिक अंगभूत कारिकाके व्याख्यानमें आ० देवगुप्त भी सूत्र और भाष्यको एककर्तृक सूचित करते हैं।

४. प्रारम्भिक कारिकाओंमें और कुछ स्थानोंपर भाष्यमें[1] भी 'वक्ष्यामि' 'वक्ष्यामः' आदि प्रथम पुरुषका निर्देश है।

५. भाष्यमें किसी स्थल पर सूत्रका अर्थ करनेमें शब्दोंकी खींचातानी नहीं हुई, कहीं भी सूत्रका अर्थ करनेमें सन्देह या विकल्प करनेमें नहीं आया। इसी प्रकार सूत्रकी किसी दूसरी व्याख्याको मनमें रखकर सूत्रका अर्थ नहीं किया गया। और न कहीं सूत्रके पाठभेदका ही अवलम्बन लिया गया।

यह ठीक है कि सिद्धसेन गणि आदि श्वेताम्बराचार्योंने सूत्रकार और भाष्यकारको एक माना है। किन्तु गणिजीने अपनी टीकामें सूत्रकारके लिये सूत्रकार और भाष्यकारके लिये भाष्यकार शब्दोंका ही प्रयोग किया हैं। एक भी जगह दोनोंको एक मानकर शब्दोंका व्यतिक्रम नहीं किया। यह बात खास ध्यान देने योग्य है। तथा पहले तत्त्वार्थाधिगमसूत्रकी जिस सटिप्पण प्रतिका उल्लेख किया है जो कि किसी रत्नसिंह नामक श्वेताम्बराचार्य रचित है, उसके अन्तमें ९ पद्य पाये जाते हैं जो टिप्पणकार कृत हैं। उनपर टिप्पणकारकी स्वोपज्ञ टिप्पणी भी हैं। उससे प्रथम पद्य तथा टिप्पणी नीचे दी जाती है—

प्रागेवैतददक्षिणभषणगणादास्यमानमिव मत्वा।
त्रातं समूलचूलं स भाष्यकारश्चिरं जीयात् ॥१॥

टि०—'दक्षिणे सरलोदाराविति हैमः'। अदक्षिणा असरलाः स्ववचनस्यैव पक्षपातमलिना इति यावत्त एव भषणाः कुर्कुरास्तेषां गणैरादास्यमानं ग्रहिष्यमानं स्वायत्तीकरिष्यमाणमिति यावत् तथाभूतमिवैतत्तत्त्वार्थशास्त्रं प्रागेव पूर्वमेव मत्वा ज्ञात्वा येनेति शेषः। सह मूलचूलाभ्यामिति समूलचूलं त्रातं रक्षितं स कश्चिद् भाष्यकारो भाष्यकर्ता चिरं दीर्घं जीयाज्जयं गम्यादित्याशीर्वचोऽस्माकं लेखकानां निर्मल ग्रन्थरक्षकाय प्राग्वचनचौरिकायामशक्यायेति।

अर्थात्—जिसने इस तत्त्वार्थ शास्त्रको अपने ही वचनके पक्षपात से मलिन अनुदार कुत्तोंके समूहों द्वारा ग्रहीष्यमान जैसा जानकर पहले ही इस शास्त्रकी मूलचूल सहित रक्षाकी वह भाष्यकार (जिसका नाम मालूम नहीं) चिरंजीवि होवे, ऐसा हम लेखकोंका उस निर्मल ग्रन्थके रक्षक तथा प्राचीन वचनोंकी चोरी-करनेमें असमर्थके प्रति आशीर्वाद है।'

---

१. 'गुणान् लक्षणतो वक्ष्यामः'—५-३७ का भाष्य। 'तं पुरस्ताद् वक्ष्यामः' ५-२२ भाष्य।

यहाँ टिप्पणकारने भाष्यकारका नाम न देकर उसके लिये 'स कश्चिद्' शब्दोंका प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट ध्वनित होता है कि टिप्पणकारको शायद भाष्यकारका नाम मालूम नहीं था। और वह उसे मूलसूत्रकारसे भिन्न समझता था।

इसी टिप्पणकारने आगे लिखा है—

परमेतावच्चतुरैः कर्तव्यं श्रृणुत वच्मि स विवेकः।
शुद्धो योऽस्य विधाता स दूषणीयो न केनापि ॥४॥

टि०—'एवं चाकर्ण्य वाचको ह्युमास्वातिर्दिगम्बरो निह्नव इति केचिन्मा-वदन्नदः शिक्षार्थं 'परमेतावच्चतुरैरिति' पद्यं ब्रूमहे—शुद्धः सत्यः प्रथम इति यावद्यः कोऽप्यस्य ग्रन्थस्य निर्माता स तु केनापि प्रकारेण न निन्दनीय एतच्चतुरै-र्विधेयमिति'।

अर्थात्—ऐसा सुनकर 'वाचक उमा स्वाति निश्चयसे दिगम्बर है, निह्नव है ऐसा कोई न कहे, इस बातकी शिक्षाके लिये हम 'परमेतावच्चतुरैः' आदि पद्य कहते हैं। जिसका आशय यह है—कि चतुर जनोंको जो कर्त्तव्य है उसे सुनो, मैं विवेक पूर्वक कहता हूँ। इस ग्रन्थका जो कोई भी शुद्ध सत्य (वास्तविक) आद्य निर्माता है उसकी किसी भी तरह निन्दा नहीं करनी चाहिये।

टिप्पणकारने उक्त श्लोक अपने सम्प्रदायके उन लोगोंको लक्ष्य करके लिखा है जो तत्त्वार्थसूत्रके कर्ता वाचक उमास्वातिको दिगम्बर निह्नव कहते थे—क्योंकि उसके भाष्यमें अनेक बातें ऐसी भी हैं जो श्वेताम्बरीय आगम सम्मत नहीं हैं।

उक्त श्लोकोंसे तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यके कर्तृत्व आदिके विषयमें श्वेताम्बर सम्प्रदायमें जो प्रवाद फैला हुआ था उसपर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उनसे तीन बातें व्यक्त होती हैं—

१. तत्त्वार्थ सूत्रको दूसरे लोग (दिगम्बर) ग्रहण कर लेगें इस बातको पहले-से ही जानकर किसीने उसपर भाष्य रचकर उसे अपना लिया अर्थात् श्वेताम्बर सम्प्रदायका बना डाला।

२. श्वेताम्बर लोग तत्त्वार्थ शास्त्रके कर्ता उमास्वातिको दिगम्बर निह्नव कहकर उसकी निन्दा करते थे।

३. तत्त्वार्थ सूत्रका आद्य निर्माता कौन था इसमें भी विवाद था।

अतः श्वेताम्बर परम्परामें भी सूत्रकार और भाष्यकारके ऐक्यके सम्बन्धमें सर्वथा ऐक्यमत्य या निर्विवाद जैसी स्थिति प्रतीत नहीं होती।

चौथी और पाँचवी युक्तियोंके सम्बन्धमें भी अनेक बातें विचारणीय हैं और उनसे उक्त समस्या सुलझनेके बजाय उलझ जाती है।

१. यद्यपि भाष्यमें 'उपदेक्ष्यामः। जैसे प्रथम पुरुष परक निर्देश भी हैं, किन्तु उसमें अन्य पुरुष परक निर्देशोंकी ही बहुतायत है। यथा—'आद्ये परोक्षम् सूत्रके भाष्यमें लिखा है॥१-११॥' आद्ये सूत्रक्रम प्रामाण्यात् प्रथम द्वितीये शास्ति।' यहाँ 'शास्ति' अन्य पुरुष परक निर्देश है। इसकी टीकामें[1] इस असंगतिका परिहार करनेके लिए सिद्धसेन गणिको यह लिखना पड़ा ग्रन्थकारने अपनेको सूत्रकार और भाष्यकारके रूपमें विभाजित करके 'शास्ति' ऐसा कहा है।

सूत्र (१-२०) के भाष्यमें लिखा है—अत्राह-मतिश्रुतयोस्तुल्यविषयत्वम्' द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु।

सूत्र (१-३५) के भाष्यमें—'आद्य इति सूत्रक्रमप्रामाण्यान्नैगममाह'। इसी सूत्रके भाष्यमें आगत कारिकाओंके लिए भी 'आह च' अन्यपुरुष परक निर्देश है। उसकी टीकामें[2] भी सिद्धसेन गणिने उक्त प्रकारसे समाधान किया है। और भी देखिये—

'अत्राह—उक्तं भवता जीवादीनि तत्त्वानि' (२-१)। इसकी टीकामें सिद्धसेन गणिजीने लिखा है—'किं पुनरत्र प्रयोजनं यदयमपहायाध्यायप्रकरण-सम्बन्धौ सूत्रकृतमेव सम्बन्धमाविश्चकार भाष्यकार।' ये शब्द भी ध्यान देने योग्य हैं।

इस प्रकारके अन्य पुरुष परक निर्देशोंकी ही भाष्यमें बहुतायत है। अब रहे वक्ष्यामः' जैसे प्रथम पुरुष परक निर्देश। सो जिन सूत्रोंके व्याख्याता सूत्रकारसे भिन्न है उसकी व्याख्याओंमें भी इस प्रकारके प्रथम पुरुष परक निर्देश पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए पातञ्जल सूत्रोंके व्यास[3] भाष्य, तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका[4]

१. 'शास्तीति' च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकार भाष्यकारा-कारेणैवमाह–शास्तीति सूत्रकार इति शेषः।'–सि० ग० टी०, भा० १, पृ० ७२।

२. 'आह चेत्यात्मानमेव पर्यायान्तरवर्तिनं निर्दिशति'–वही, पृ० १२७।

३. 'स च वितर्कानुगतो विचारानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इति उप-रिष्टात् निवेदयिष्यामः।' (सूत्र-१)। 'यथाक्रममेषामनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः (२-२९, ३०)। व्या० भा०।

४. 'तस्य स्वरूप मनवद्यमुतरत्र वक्ष्यामः।'····एतेषां स्वरूपं लक्षणतो विधान-तश्च विस्तरेण निर्देक्ष्यामः।'–सर्वार्थ० पृ० २। अवसर प्राप्तं बन्धं व्या-चक्ष्महे–प्रकरण सामर्थ्यात् भावबन्धं ब्रूमः।'–त० वा०, पृ० ५६१।

सर्वार्थ सिद्धि वगैरहको रखा जा सकता है। अतः भाष्य और सूत्रोंकी एक कर्तृ-कताके सम्बन्धमें चतुर्थ युक्ति भी वजनदार नहीं है।

अब हम ५वीं युक्तिपर विचार करेंगे—

प्रथम तो सूत्रोंका अर्थ करनेमें शब्दोंकी खींचातानीका न होना, सन्देह या विकल्पका न होना, आदि बातें किसी व्याख्याके सूत्रकार कृत होनेमें नियामक नहीं हो सकतीं; क्योंकि पातञ्जल सूत्रोंपर विरचित व्यास भाष्यमें भी उक्त बातें पाई जाती हैं, किन्तु वह सूत्रकार कृत नहीं है।

दूसरे, तत्त्वार्थसूत्रका उक्त भाष्य उक्त बातोंसे एक दम अछूता भी नहीं है। सबसे प्रथम उल्लेखनीय है—सूत्र और भाष्यका पारस्परिक विरोध।

सूत्र और भाष्यमें विरोध—

१. 'इन्द्र सामानिक'····(४-४) आदि सूत्रमें देवोंके दस भेद बतलाये हैं और उसके भाष्यके आरम्भमें भी 'एकैकशश्चैतेषु देवनिकायेषु देवा दशविधा भवन्ति' लिखकर दस भेद ही बतलाये हैं। किन्तु आगेके भाष्यमें उन भेदोंका अर्थ करते हुए 'अनीकाधिपति' नामके भी एक भेदको गिनाया है, जबकि सूत्रमें केवल 'अनीक' नामका एक ही भेद है। सिद्धसेन गणिने अपनी टीकामें[1] इसका समन्वय करते हुए लिखा है कि आचार्यने तो सूत्रमें केवल अनीकोंका ही ग्रहण किया है, अनीकाधिपतियोंका नहीं; किन्तु भाष्यमें उनका भी निर्देश है। अनीक और अनीकाधिपतियोंको एक मानकर भाष्यकारने ऐसा व्याख्यान कर दिया है, अन्यथा तो दस संख्याका नियम टूट जाता है।'

२. इसी तरह सूत्र (४-२६) में लौकान्तिक देवोंके नौ भेद गिनाये हैं किन्तु भाष्यमें उनकी संख्या आठ ही लिखी है। इस बातको भी सिद्धसेन[2] गणिने अपनी टीकामें उठाया है।

इस तरहकी बातें सूत्रकार और भाष्यकारकी एकतामें सन्देह पैदा करती हैं। तत्त्वार्थ सूत्र जैसे सूत्र ग्रन्थके रचयिताके द्वारा रचं गये भाष्यमें इस प्रकारकी असावधानी नहीं हो सकती। एक और उदाहरण लीजिये—

३. पाचवें अध्यायके १९ वें सूत्रके भाष्यमें लिखा हैं—'प्राणापानौ च नाम-

१. 'सूत्रे चानीकान्येवोपात्तानि सूरिणा, नानीकाधिपतयः, भाष्ये पुनरुपन्यस्ता-स्तदेकत्वमेवानोकानीकाधिपत्योः परिचिन्त्य विवृतमेवं भाष्यकारेण। अन्यथा वा दससंख्या भिद्येत।'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० २७६।

२. 'नन्वेवमेते नवभेदा भवन्ति भाष्यकृता चाष्टविधा इति मुद्रिताः। सि० टी०, भा० १, पृ० ३०७।

कर्मणि व्याख्यातौ ।' अर्थात् नामकर्मके कथनमें प्राण और अपानका व्याख्यान किया जा चुका। मगर नामकर्मका उक्त कथन आगे आठवें अध्यायमें है। सिद्धसेन गणिने अपनी टीका[1]में इस चर्चाको भी उठाकर उसका समाधान करनेका प्रयत्न किया है।

४. एक उदाहरण ऐसा भी है। जिसमें भाष्यकारने सूत्रके क्रमका उल्लंघन करके व्याख्यान किया है। अध्याय छै के 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रियाः' इत्यादि छठे सूत्रमें 'इन्द्रिय, कषाय और अव्रत' को क्रमसे रखा है। किन्तु भाष्यकारने पहले पाँच अव्रतोंका फिर कषायोंका और फिर पाँच इन्द्रियोंका उल्लेख किया है। इस क्रमोल्लंघनका उल्लेख करके सिद्धसेन गणिने उसका समाधान करते हुए लिखा[2] है—भाष्यकारका यह अभिप्राय है कि हिंसा आदि अव्रत सकल आस्रव जालके मूल हैं उनमें प्रवृत्ति होने पर ही आस्रवमें प्रवृत्ति होती है और उनसे निवृत्ति होने पर सब आस्रवोंसे निवृत्ति होती है; इस अर्थका ज्ञापन करनेके लिये भाष्यकारने सूत्रोक्त क्रमका उल्लंघन करके अव्रतोंका कथन किया है। और सूत्र रचनाकी शोभाके लिये इन्द्रियका आदिमें सन्निवेश किया है।' कैसा अच्छा समाधान है ? सूत्रोंकी रचना सुन्दरताकी दृष्टिसे की जाती है यह एक नई खोज है। इन्द्रियकी जगह 'अव्रत' रखनेसे सूत्र कैसे असुन्दर हो जाता यह तो गणिजी ही बतला सकते हैं। वास्तवमें यदि सूत्रकारने ही भाष्य बनाया होता या भाष्यकारने ही सूत्र बनाया होता तो इस तरह के व्यतिक्रम भाष्य और सूत्रमें कदापि न मिलते या कम से कम उसके द्वारा सूत्र और भाष्यमें व्यतिक्रम होनेका कारण तो बतला दिया जाता।

५. पं० सुखलालजीका कहना है कि भाष्यमें सन्देह या विकल्प नहीं पाया जाता। किन्तु तीसरे अध्यायके प्रथम सूत्रमें आगत 'घनाम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः' पदका अर्थ करते हुए भाष्यकारने लिखा है—'अम्बुवाताकाशप्रतिष्ठाः' इति सिद्धे घन ग्रहणं क्रियते तेनायमर्थः प्रतीयते।'

---

१. 'प्राणापानावष्टमेऽध्याये नामकर्मणि गतिजात्यादिसूत्रे·······इत्यत्र भाष्ये व्याख्यास्येते कथं तर्हि व्याख्यातौ' वही पृ० ३४२।

२. 'तत्रेन्द्रिय कषायानुल्लंङ्घ्याव्रतान्येव व्याचष्टे भाष्यकारः। किं पुनरत्र प्रयोजनमिति। उच्यते—अयमभिप्रायो भाष्यकारस्य—हिंसादीन्यव्रतानि सकलास्रवजालमूलानि तत्प्रवृत्तास्रवेष्वेव प्रवृत्तिस्तन्निवृतौ च सर्वास्रवेभ्यो निवृत्तिरित्यस्यार्थस्य ज्ञापनार्थं सूत्रोक्तक्रममतिक्रम्याव्रतानि व्याचष्टे भाष्यकारः। सूत्रबन्धशोभाहेतोरिन्द्रियादिसन्निवेश—वही, भा० २, पृ० १०।

अर्थात्—'अम्बुवाताकाश प्रतिष्ठाः' ऐसा सिद्ध होनेपर भी जो 'घन' शब्दका ग्रहण किया गया उससे ऐसा प्रतीत होता है। यहाँ 'प्रतीयते' शब्द निश्चयात्मक नहीं है सन्देहात्मक है। गणिजीने अपनी टीकामें 'प्रतीयते' शब्दको उड़ा ही दिया है और भाष्यका अर्थ करते हुए 'ज्ञाप्यते' शब्दका प्रयोग किया है जो निश्चयात्मक है। यदि भाष्यकार ही सूत्रकार होता तो अपने द्वारा प्रयुक्त 'घन' शब्दके प्रयोगके लिये वह 'प्रतीयते' जैसे अनिश्चयात्मक शब्दका प्रयोग न करके 'ज्ञाप्यते' जैसे शब्दका प्रयोग करता।

६. दूसरे अध्यायके अन्तिम सूत्रमें औपपातिक, चरमदेह और उत्तम पुरुषका ग्रहण किया है। तदनुसार भाष्य में भी उनका व्याख्यान करते हुए 'उत्तम पुरुषास्तीर्थंकरचक्रवर्त्यर्धचक्रवर्तिनः' लिखा है। किन्तु आगे उनमें सोपक्रम और निरुपक्रमकी चर्चा करते हुए उत्तम पुरुषोंको एक दम ही छोड़ दिया है। इससे जो असंगति पैदा हुई उसका उल्लेख सिद्धसेन[1] गणिने किया है। उन्होंने लिखा है कि किन्हींका कहना है कि सूत्रकारने सूत्रमें 'उत्तम पुरुष' पदका ग्रहण नहीं किया अतः उत्तम पुरुषका ग्रहण अनार्ष है। और भाष्यमें दोनों ही प्रकार पाये जाते हैं। प्रारम्भमें उत्तम पुरुषका ग्रहण किया है किन्तु आगे निरुपक्रम सोपक्रमके निरूपणमें ग्रहण नहीं किया अतः भाष्य से ही सन्देह होता है कि सूत्रमें उत्तम पुरुष पद है या नहीं।' गणिजी भी इस सन्देहका निराकरण नहीं कर सके।

उक्त बातोंके सिवाय सूत्र और भाष्यकी तुलना करनेसे अनेक ऐसी बातें प्रकाशमें आती हैं जो दोनोंकी एककर्तृकतामें संभव प्रतीत नहीं होती।

तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनका रचयिता विषयको क्रमानुसार व्यवस्थित करके उसे सूत्र निबद्ध करनेमें पटु है। एक भी सूत्रके विषयमें कोई यह नहीं कह सकता कि यह सूत्र यदि यहाँ न होकर अमुक जगह होता तो उत्तम होता। किन्तु भाष्यमें ऐसा सुव्यवस्थितपना नहीं है। कई स्थलोंपर कहींकी बात कहीं कह दी गई है।

यथा—दूसरे अध्यायके ३७वें सूत्रमें औदारिक आदि पाँच शरीरोंके नाम गिनाये हैं। इसके भाष्यमें केवल पाँच शरीरोंके नाम गिनाकर इतना ही लिख

---

१. 'केचिदभिदधते—नास्ति सूत्रकारस्योत्तमपुरुषग्रहणमिति तत्कथं तीर्थकरादि संग्रह इतिचेत्, एवं च मन्यन्ते·······तस्मादनार्षमुत्तमपुरुषग्रहणमिति। उभयथा च भाष्यमुपलक्ष्यते अविगानात्, आदावुत्तमपुरुषास्तीर्थकरादय इति विवृत्तमुत्तरकालं पुनर्नोपात्तमुत्तमपुरुषग्रहणं निरुपक्रमसोपक्रमनिरूपणाया-मतो भाष्यादेव सन्देहः किमस्ति नास्तीति संशयात्तमेवेदमस्माकम्।'—वही, पृ० २२१-२२२।

दिया है कि ये पाँच शरीर संसारी जीवोंके होते हैं। और आगे ४९वें सूत्रके भाष्यमें औदारिक आदि संज्ञाओंके शब्दार्थका कथन किया है।

सिद्धसेनगणिने अपनी टीकामें इस अप्रासंगिकताकी चर्चाको शंकाके रूपमें उठाते हुए लिखा[1] है—'यह भाष्य तो शरीर प्रकरण सम्बन्धी प्रथम सूत्र (३७)में युक्त होता। प्रकरणके अन्तमें उसके कहनेका किञ्चित् भी विशिष्ट प्रयोजन नहीं है।' इसका उत्तर देते हुए लिखा है—प्रकरणके अन्तमें कहनेका सत्य ही कुछ भी फल नहीं है क्योंकि वह असूत्रार्थ है। अतः आचार्यकी इस एक भूलको क्षमा करें।

इस तरहकी एक नहीं अनेक अनुपपतियाँ सूत्र और भाष्यकी एक कर्तृकता के सम्बन्धमें हैं। इसके सिवाय उस समयके जितने भी प्राचीन सूत्र ग्रन्थ वर्तमान हैं उनमेंसे किसी भी सूत्र ग्रन्थपर उसके रचयिताने कोई भाष्य या वृत्ति नहीं रची। पातञ्जल सूत्र, न्याय सूत्र, वैशेषिक सूत्र, वेदान्त सूत्र आदि सूत्रग्रन्थ इसके उदाहरण हैं।

अतः भाष्य और सूत्रकी एक कर्तृकताके आधारपर सूत्रकारकी परम्पराका निर्णय नहीं किया जा सकता। उसके लिये तो तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंके माध्यमसे ही विचार करना उचित होगा। आगे हम तत्त्वार्थसूत्रके सम्बन्धमें विशेष प्रकाश डालेंगे।

तत्त्वार्थ सूत्रकी उत्पत्ति कथा

तत्त्वार्थ सूत्रके आद्य टीकाकार पूज्यपाद स्वामीने सर्वार्थ सिद्धि नामक अपनी तत्त्वार्थ वृत्तिके प्रारम्भमें प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें लिखा है कि 'कोई स्वहितैषी निकट भव्य किसी आश्रममें मुनियोंकी परिषदके मध्यमें विराजमान निर्ग्रन्थाचार्यके पास गया और उनसे पूछा कि भगवान्! आत्माका हित क्या है? आचार्यने उत्तर दिया–'मोक्ष'। तब पुनः उसने पूछा–मोक्षका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका मार्ग कौनसा है? इसीके उत्तरमें 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र प्रवर्तित हुआ।

---

१. 'ननु च शरीरप्रकरणप्रथमसूत्रे एतद् भाष्यं युक्तं स्यात्। इह तु प्रकरणान्ताभिधाने न किञ्चित् प्रयोजनं वैशेषिकमस्तीति। उच्यते—तदेवमयं मन्यते तदेवेदमादि सूत्रमाप्रकरण परिसमाप्तेः प्रपञ्चयते अथवा प्रकरणान्ताभिधाने सत्यमेव न किञ्चित् फलमस्त्यसूत्रार्थत्वादतः क्षम्यतामिदमेकमाचार्यस्येति।'
—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० २११।

एक प्रभाचन्द्र नामके आचार्यका 'तत्त्वार्थ वृत्ति पद' नामका ग्रन्थ मूड़-विद्रीके भण्डारमें है। उसकी एक प्रति बम्बईके ए० प० सरस्वती भवनमें है। इसमें सर्वार्थसिद्धिके अव्यक्त पदोंको व्यक्त किया गया है। इसमें सर्वार्थ-सिद्धिकी उत्थानिकाके पदोंका अर्थ करते हुए निर्ग्रन्थाचार्यके पास जानेवाले उस भव्यका नाम 'प्रसिष्येक 'नामा' लिखा है। किन्तु १३वीं शताब्दीमें बालचन्द्र मुनि द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रकी जो कनड़ी टीका लिखी गई है उसमें उस प्रश्न कर्ता भव्यका नाम 'सिद्धय्य' दिया है। बहुत सम्भव है कि प्रभाचन्द्रकी वृत्तिकी मूल प्रतिमें भी सिद्धय्य नाम ही हो और लेखकके दोषसे बम्बईवाली प्रतिमें गलत नाम लिखा गया हो।

बालचन्द्रकी कनड़ी वृत्तिकी प्रस्तावनामें तत्त्वार्थ सूत्रकी उत्पत्ति जिस प्रकार-से बतलाई है उसका संक्षिप्तसार इस प्रकार हैं—सौराष्ट्र[2] देशके मध्य उर्जयन्त गिरिके निकट गिरिनगर नामके पत्तनमें आसन्न भव्य, स्वहितार्थी, द्विज कुलो-त्पन्न, श्वेताम्बर भक्त सिद्धय्या नामका एक विद्वान श्वेताम्बर मतके अनुकूल सकल शास्त्रका जाननेवाला था। उसने 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' ऐसा एक सूत्र बनाया और उसे एक पटियेपर लिख दिया। एक दिन चर्याके लिए उमास्वाति नामके मुनि वहाँ आये और उन्होंने आहार लेनेके पश्चात् पाटियेको देखकर उसमें उक्त सूत्रके पहले 'सम्यक्' पद जोड़ दिया। जब सिद्धय्य बाहरसे आया और उसने पाटियेपर सम्यक् शब्द जुड़ा देखा तो उसने प्रसन्न होकर अपनी मातासे पूछा कि किस महानुभावने यह शब्द लिखा है। माताने उत्तर दिया कि एक निर्ग्रन्थाचार्यने यह शब्द लिखा हैं। इस पर वह उन्हें खोजता हुआ उनके आश्रममें पहुँचा और भक्ति भावसे विनय पूर्वक उन मुनिराजसे पूछने लगा कि आत्माका हित क्या है ? मुनिराजने कहा मोक्ष है। इसपर उसने मोक्षका स्वरूप और उसकी प्राप्तिका उपाय पूछा। उसीके उत्तर रूपमें तत्त्वार्थ सूत्र रचा गया।

इस तरह एक श्वेताम्बर विद्वानके प्रश्नपर एक दिगम्बराचार्य द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रकी उत्पत्ति हुई ऐसा उक्त कथानकसे प्रकट होता है। नहीं कहा जा सकता कि यह कथा कहाँ तक ठीक है। किन्तु यह कथा ७०० वर्षोंसे भी पुरानी है क्योंकि उक्त कनड़ी टीकाके कर्ता बालचन्द्र मुनि विक्रमकी १३वीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हो गये हैं।

इस कथा का मूल आधार तो सर्वार्थ सिद्धिकी उत्थानिका ही प्रतीत होता है क्योंकि सिद्धय्यके निर्ग्रन्थाचार्यके पास पहुँचनेके बाद उन दोनोंके बीचमें जो

१. अब यह ग्रन्थ भा० ज्ञानपीठ से सर्वार्थसिद्धि के साथ प्रकाशित हो चुका है।
२. अनेकान्त, वर्ष १, कि० ५, पृ० २७१।

उत्तर प्रत्युत्तर होता है वह प्रायः सब वही है जो सर्वार्थ सिद्धिमें प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें पाया जाता है। किन्तु पूज्यपादने 'कश्चिद् भव्यः' लिखा हैं, उसका कोई नाम नहीं दिया। हाँ सर्वार्थ सिद्धिके पदोंके व्याख्याकार प्रभाचन्द्रने, जो न्याय कुमुदचन्द्र आदिके रचयिता प्रसिद्ध प्रभाचन्द्र ही ज्ञात होते हैं, उस भव्यका नाम अपनी वृत्तिमें दिया, किन्तु अन्य सब कथाका उसमें भी कोई उल्लेख नहीं है।

तत्त्वार्थसूत्र

नाम—यह पहले लिख आये हैं कि श्रवणवेलगोला और नगर ताल्लुके शिला लेखोंमें प्रकृत गन्थका नाम तत्त्वार्थ[1] सूत्र मिलता है। तथा वीरसेन स्वामीने अपनी धवला[2] टीकामें भी तत्त्वार्थ सूत्र नामसे ही उसका उल्लेख किया है। किंतु उसके प्रसिद्ध टीकाकार श्री पूज्यपाद स्वामीने अपनी सर्वार्थसिद्धिको तत्त्वार्थ[3] वृत्ति कहा है, अकलंकदेवने अपने वार्तिक ग्रन्थको [4]तत्त्वार्थवार्तिक नाम दिया है, और विद्यानन्दिने अपनी अमर कृतिको [5]तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिक संज्ञा दी है। जिससे प्रमाणित होता है कि सूत्र ग्रन्थका नाम तत्त्रार्थ है। तत्त्वार्थसूत्रकी अनेक प्रतियोंके अन्तमें जो उसके माहात्म्यसूचक श्लोक मिलता है, उसमें भी उसका उल्लेख केवल [6]तत्त्वार्थ नामसे ही पाया जाता हैं। और शास्त्रात्मक होनेसे उसे [7]तत्त्वार्थ-शास्त्र भी कहा है। किन्तु सूत्र शैलीमें निबद्ध होनेके कारण तत्त्वार्थसूत्र नामसे ही उसकी अति प्रसिद्धि है।

किन्तु सभाष्य तत्त्वार्थसूत्रके आदिमें जो उत्थान कारिकाएँ पाई जाती हैं उनमेंसे कारिका २२ में तथा अन्तिम प्रशस्तिके श्लोक ५-६ में उसका नाम 'तत्त्वार्थाधिगम' बतलाया है। किन्तु सिद्धसेन गणिने अपनी वृत्तिको तत्त्वार्थवृत्ति नाम ही दिया है तथा उसकी मुद्रित प्रति में प्रत्येक अध्यायके अन्तमें जो पुष्पिका

---

१. जै० शि० सं०, भा० १, ले० नं० १०५।

२. षट् खं०, पु० १, पृ० २३९, २५९।

३. 'सर्वार्थसिद्धिरिति सद्भिरुपान्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या।
—सर्वा० सि० प्रश०।

४. 'वक्ष्ये तत्त्वार्थवार्तिकम्—त० वा० पृ० १।

५. त० श्लो० वा० का आद्य श्लोक।

६. 'दशाध्याये परिच्छिन्ने तत्त्वार्थे पठिते सति।'
'तत्त्वार्थशास्त्र कर्त्तारमुमास्वामि मुनीश्वरम्।'

७. 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत सलिलनिधे'—आ० प०, प्रश०।

वाक्य पाये जाते हैं उनमें 'तत्त्वार्थाधिकगम' नामकी तरह तत्त्वार्थसूत्र नाम भी पाया जाता है—यथा 'श्री तत्त्वार्थसूत्रे भाष्यसंयुक्ते भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थ-टीकायां षष्ठो अध्यापः समाप्तः। तथा सम्बन्धकारिकाओंके आद्य टीकाकार देव गुप्त सूरिने अपनी टीकाके आद्यश्लोकमें केवल 'तत्त्वार्थ' नामसे ही उसका निर्देश किया है। मलय गिरि सूरिने अपनी जीवाभिगम सूत्रकी टीका (६-९) में भी उसका उल्लेख तत्त्वार्थसूत्रके नामसे किया है। अतः 'तत्त्वार्थाधिगम'की अपेक्षा 'तत्त्वार्थ' नामसे ही इस ग्रन्थका प्रचलन रहा है। उसमें मोक्षका कथन होनेसे उसे मोक्षशास्त्र भी कहते हैं।

महत्त्व—इस सूत्र ग्रन्थमें जिनागमके मूल तत्त्वोंको बहुत ही संक्षेपमें इस सुन्दर ढंगसे निबद्ध किया है कि 'गागरमें सागर' की कहावतको चरितार्थ कर दिया है और कुछ सौ सूत्रोंमें करणानुयोग, द्रव्यानुयोग और चरणानुयोगका सार खींचकर रख दिया है। तथा उसकी रचनामें साम्प्रदायिकताका समावेश न होनेसे सभी जैन सम्प्रदायोंमें वह प्रिय और मान्य रहा है। उसकी इन विशेषताओंके कारण पूज्यपाद स्वामीने उसपर सर्वार्थसिद्धि नामकी, अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक नामकी और विद्यानन्दिने तत्वार्थश्लोक वार्तिक नामकी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक टीकाएँ रचकर तो उसके महत्त्वमें चार चान्द लगा दिये हैं। अकलंकदेवने, जिन्हें जैन न्यायका पिता कहा जा सकता है, अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थोंमें जो प्रमाण और नयोंका विवेचन किया है उसका मूल स्रोत तत्त्वार्थसूत्रका प्रथम अध्याय है। इसीसे श्रीविद्यानन्दिने अपनी आप्तपरीक्षाके अन्तमें 'श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्‌भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य' लिखकर तत्त्वार्थशास्त्रको बहुमूल्य रत्नोंको उत्पन्न करनेवाला अद्‌भुत समुद्र कहा है।

जितनी टीकाएँ इस ग्रन्थपर रची गई हैं उतनी अन्य किसी ग्रन्थपर नहीं रची गई। यह उसकी महत्ता और लोकप्रियताका सूचक है। फिर भी यह कहना पड़ेगा कि दिगम्बर परम्परामें तत्त्वार्थसूत्रको जो महत्त्व मिला वह महत्त्व उसे श्वेताम्बर परम्परामें नहीं मिल सका। न तो श्वेताम्बर परम्परामें उसपर उतनी महत्त्वपूर्ण टीकाएँ ही रची गई और न जनतामें ही वह उतना लोकप्रिय हो सका। इसका एक कारण श्वेताम्बर परम्परामें आगम ग्रन्थोंकी उपस्थितिका होना भी है। उसकी दृष्टिमें आगमग्रन्थोंका जो महत्त्व हो सकता है वह तत्त्वार्थ सूत्रका नहीं हो सकता। उधर दिगम्बर परम्परामें तो तत्त्वार्थसूत्रका पाठ करनेसे एक उपवासका फल लगनेकी प्रसिद्धिने जनसाधारणमें भी उसे लोक प्रिय बना डाला

१. 'वीरं प्रणम्य सर्वज्ञं तत्वार्थस्य विधीयते।'

आज तो तत्त्वार्थ सूत्रको जैनोमें वही स्थान प्राप्त है जो हिन्दू धर्ममें भगवत् गीताको इस्लाममें कुरानको और इसाई धर्ममें बाइबिलको प्राप्त है।

संस्कृतका आद्य ग्रन्थ—तत्त्वार्थ सूत्रका एक सबसे बड़ा उल्लेखनीय महत्त्व यह है कि उसे जैन परम्परामें आद्य संस्कृत ग्रन्थ कहे जानेका सौभाग्य प्राप्त है। उससे पूर्व प्राकृत भाषामें ही जैन ग्रन्थोंकी रचना की जाती थी, उसी भाषामें भगवान महावीरकी देशना हुई थी और उसी भाषामें गौतम गणधर ने अंगों और पूर्वोंकी रचना की थी। किन्तु जब देशमें संस्कृत भाषाका महत्त्व बढ़ा और विविध दर्शनोंके मन्तव्य सूत्र रूपमें निबद्ध किये गये तो जैन परम्पराके आचार्योंका ध्यान भी उस ओर गया और उसीके फलस्वरूप तत्त्वार्थसूत्र जैसे महत्त्वपूर्ण सूत्र-ग्रन्थकी रचना हुई और इस तरहसे सूत्रकारने जैन वाङ्मयके क्षेत्रमें संस्कृत भाषाको प्रवेश कराकर संस्कृत भाषामें रचना करनेका द्वार खोल दिया।

रचना शैली—वैशेषिक दर्शनके सूत्रोंकी तरह तत्त्वार्थ सूत्र भी दस अध्यायोंमें विभक्त है। दोनोंकी सूत्र संख्यामें भी ज्यादा अन्तर नहीं है। दिगम्बर परम्पराके अनुसार तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंकी संख्या ३५७ और श्वे० परम्पराके अनुसार ३४४ है जब कि वैशेषिक सूत्रोंकी संख्या ३३३ हैं। वैशेषिक सूत्रोंमें तथा न्याय सूत्रोंमें भी तत्त्व ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति मानी है और तदनुसार दोनोंमें अपने-अपने माने हुए पदार्थोंका ही कथन है। किन्तु उस कथनमें आत्माके बन्धन, उसके निरोध और छुटकारेके लिये किये जानेवाले संयमका कथन नहीं है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रमें उन सबका विस्तार पूर्वक कथन है। इस ऊपरी समानताके होते होते हुए भी दोनोंमें उल्लेखनीय अन्तर भी है। वैशेषिक सूत्रोंमें अपने मन्तव्योंके समर्थनमें हेतु वादका आश्रय लिया गया है अर्थात् सूत्रोंमें अपने मन्तव्यको कहकर उनकी पुष्टिमें युक्तियाँ भी दी गई हैं। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रमें केवल सिद्धान्त का निरूपण है, पूर्व पक्ष उत्तर पक्ष जैसी चर्चाका उसमें लेश भी नहीं है। इस प्रकारके सूत्र ग्रन्थोंमें परिभाषाओंसे अनभिज्ञ व्यक्तिके लिये तत्वार्थ सूत्रोंका गहन प्रतीत होना भी स्वभाविक है किन्तु अर्थ गाम्भीर्य भी उसका एक प्रमुख कारण हो सकता है।

विषय परिचय—वैशेषिक दर्शनके प्रारम्भमें कहा गया है कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव नामक पदार्थोंके तत्त्व ज्ञानसे मोक्षकी प्राप्ति होती है। अतः उसमें मुख्य रूपसे उक्त पदार्थोंका विचार किया गया है। सांख्य दर्शनमें भी प्रकृति और पुरुषका वर्णन करते हुए प्रधान रूपसे जगतके मूल भूत पदार्थोंका ही विचार है। इसी प्रकार वेदान्त दर्शन भी जगतके मूल भूत तत्त्व ब्रह्मकी ही प्रधान रूपसे मीमांसा करता है। इस तरह इन दर्शनोंमें ज्ञेयतत्त्वका

ही प्रधान रूपसे वर्णन मिलता है। न्याय दर्शनमें प्रमाण, प्रमेय संशय, आदि सोलहपदार्थोंके तत्त्व ज्ञानसे मोक्षकी प्रप्ति बतलाई है अतः उसमें इन्हींका वर्णन है। प्रमाणोंके द्वारा अर्थकी परीक्षा करनेका नाम न्याय है। अतः न्याय दर्शनमें अर्थ परीक्षाके साधनोंका ही मुख्य रूपसे कथन किया गया है। किन्तु योग दर्शनमें जीवनमें अशुद्धता लाने वाली चित्त वृत्तियोंका और उनके निरोधका तथा उसकी प्रक्रियाका वर्णन है। इस तरहसे उक्त दर्शनोंका विषय ज्ञेयप्रधान, ज्ञानसाधन प्रधान और चारित्र प्रधान है।

परन्तु तत्त्वार्थसूत्रमें ज्ञान ज्ञेय और चारित्रकी समान रूपसे चर्चा पाई जाती है। जैसे कुन्दकुन्दाचार्यके प्रवचनसारमें क्रमसे ज्ञान, ज्ञेय और चारित्रकी मीमांसा की गई है, तदनुसार ही तत्त्वार्थ सूत्रमें भी विषय विभाग किया गया है।

इसका कारण यह है कि जहाँ वैशेषिक आदि दर्शनोंमें तत्त्वज्ञानसे निश्रेयस-की प्राप्ति बतलाई है वहाँ जैन दर्शनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको मोक्षका मार्ग कहा है। तथा जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन और उनके यथार्थ ज्ञानको सम्यग्ज्ञान कहा है। अतः मुमुक्षुके लिये इन सात तत्त्वोंका श्रद्धान और ज्ञान होना आवश्यक है। उसके बिना मोक्षका मार्ग नहीं खुलता। इसीसे जैन दर्शनमें इन सात तत्त्वोंका जितना महत्त्व है उतना अन्य किसीका भी नहीं है। कुन्द-कुन्दाचार्यने अपने समयसारमें निश्चयनय और व्यवहार नयसे इन्हीं तत्त्वोंका निरूपण किया है इसीसे तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताने भी उन्हींका वर्णन सूत्रोंमें करके अपने सूत्र ग्रन्थको विषयके अनुरूप तत्त्वार्थ नाम दिया है इन तत्त्वार्थोंके माध्यम-से उन्होंने जैन सम्मत ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र सम्बन्धी प्रायः सभी मौलिक बातें संगृहीत कर दी हैं।

१. पहले अध्यायमें ज्ञानकी, दूसरेसे पाँचवे तक चार अध्यायोंमें ज्ञेयकी अर्थात् दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायमें जीवतत्त्वकी और पाँचवेंमें अजीवतत्वकी, तथा छठेसे लेकर दसवें तक चारित्रकी, अर्थात् छठे और सातवें अध्यायमें आस्रव तत्त्व की, आठवें अध्यायमें बन्धतत्त्वकी, नौवें अध्यायमें संवर और निर्जरा तत्त्वोंकी और दसवें अध्यायमें मोक्ष तत्त्वकी चर्चा हैं। पहले अध्यायके 'प्रमाणनयैरधिगमः' सूत्रसे ज्ञान विषयक चर्चाका प्रारम्भ होता है। प्रमाणकी चर्चा तो सब इतर दर्शनों में है, किन्तु नय तो जैन दर्शनके अनेकान्त वादकी ही देन है। अतः इसकी चर्चा इतर दर्शनों में नहीं पाई जाती। नय प्रमाणका ही भेद हैं। सकल-ग्राही ज्ञानको प्रमाण और वस्तुके एक अंशको ग्रहण करनेवाले ज्ञानको नय कहते हैं।

जैन दर्शन ज्ञानको ही प्रमाण मानता है। ज्ञान पाँच हैं मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान। प्रमाणके दो भेद हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। मति और श्रुतज्ञान परोक्ष हैं क्योंकि ये इन्द्रियादिकी सहायतासे होते हैं। शेष तीनों ज्ञान प्रत्यक्ष हैं क्योंकि केवल आत्मासे ही उत्पन्न होते हैं। कुन्दकुन्दाचार्यने प्रवचनसारमें प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंकी चर्चा की है किन्तु मति आदि ज्ञानोंकी चर्चा नहीं की है, केवल ज्ञानका ही विस्तारसे उपपादन किया है क्योंकि वही शुद्ध होनेसे उपादेय है। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रकारने सब ज्ञानोंका कथन किया है। मति ज्ञानकी उत्पतिके साधन, उनके भेद-प्रभेद, उनकी उत्पत्तिका क्रम, श्रुतज्ञानके भेद, अवधि ज्ञान और मनःपर्यय ज्ञानके भेद तथा उनके पारस्परिक अन्तर, पाँचों ज्ञानोंका विषय, उनमेंसे एक साथ एक जीवमें कितने ज्ञान रहना संभव है, उनमेंसे आदिके तीन ज्ञानोंके मिथ्या भी होनेका कारण, आदिका कथन हैं। अन्तमें नयोंके भेद गिनाये हैं।

२. दूसरे अध्यायमें जीवतत्त्वका कथन है। सबसे प्रथम जीवके स्वतत्त्व रूपसे पाँच भावोंको बतलाते हुए उनके भेदों का कथन है। फिर जीवके संसारी और मुक्त भेद बतलाकर संसारी जीवोंके भेद-प्रभेदोंका कथन है। आगे संसारी जीवोंके होनेवाली इन्द्रियोंके भेद-प्रभेद, उनके विषय, संसारी जीवोंमें इन्द्रियोंका बटंवारा, मृत्यु और जन्मके बीचकी स्थिति, जन्मके भेद, उनकी योनियाँ, जीवों में जन्मोंका विभाग, शरीरके भेद, उनके स्वामी, एक जीवके एक साथ संभव हो सकनेवाले शरीर, लिंगोंका विभाग तथा अन्तमें पूरी आयु भोगकर ही मरने वाले जीवोंका कथन है।

३. तीसरे अध्यायमें अधोलोक और मध्यलोक का वर्णन है। अधोलोकका वर्णन प्रारम्भ करते हुए सात पृथिवियाँ गिनाकर तथा उनका आधार बतलाकर उनमें बने नरकोंकी संख्या, उन नरकोंमें बसनेवाले नारकी जीवोंकी दशा तथा उनकी सुदीर्घ आयु आदि बतलाई है। मध्यलोकके वर्णनमें उस लोकका भौगोलिक वर्णन है, जिसमें हम रहते हैं। इस पृथ्वी पर वर्तमान द्वीपों, समुद्रों, पर्वतों और नदियों का वर्णन करके अन्तमें उसमें बसनेवाले मनुष्यों और तिर्यञ्जों की आयु भी बतलाई है।

४. चौथे अध्यायमें ऊर्ध्वलोकका वर्णन है उसमें देवोंके विविध भेदोंका, ज्योति मण्डलका तथा स्वर्ग लोकका वर्णन है।

५. पाँचवें अध्यायमें जीवके सिवाय पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छै द्रव्यों का वर्णन है। इनका वर्णन करते हुए प्रत्येक द्रव्यके प्रदेशोंकी संख्या, उनके द्वारा अवगाहित क्षेत्र, और प्रत्येक द्रव्यका कार्य आदि बतलाये

हैं। पुद्गलका स्वरूप बतलाते हुए उसके भेद, उसकी उत्पत्तिके कारण, पौद्ग-लिकबन्धकी योग्यता-अयोग्यता आदिका कथन है। अन्तमें सत्, द्रव्य, गुण, नित्य और परिणामका स्वरूप बतलाकर कालको भी द्रव्य बतलाया है।

६. छठे अध्यायमें आस्रवतत्त्वका स्वरूप उसके भेद-प्रभेद और किन-किन कामोंके करने से किस किस कर्मका आस्रव होता है, उसका वर्णन है।

७. सातवें अध्यायमें व्रतका स्वरूप, उसके भेद-प्रभेद, लिये हुए व्रतोंको स्थिर करनेके लिये तदनुकूल भावनाएं, हिंसा आदि पाँच पापोंका स्वरूप, सप्त शील, सल्लेखना, तथा प्रत्येक व्रत और शीलमें संभाव्य अतिचार (दोष) का वर्णन करते हुए अन्तमें दानका स्वरूप और उसके फलमें तारतम्य होनेके कारण बतलाये हैं।

८. आठवें अध्यायमें कर्मबन्धके मूल हेतु बतलाकर उसके स्वरूप तथा भेदोंका विस्तार पूर्वक कथन करते हुए आठों कर्मोंके नाम, प्रत्येक कर्मकी उत्तर प्रकृतियाँ, प्रत्येक कर्मका स्थितिबन्ध, अनुभाग तथा प्रदेशबन्धका स्वरूप वगैरह बतलाया है।

९. नौवें अध्यायमें संवरका स्वरूप, संवरके हेतु, गुप्ति-समिति, दस धर्म, बारह अनुप्रेक्ष, बाईस परीषह, चरित्र और अन्तरंग तथा बहिरंग तपके भेद बतलाये हैं। अन्तमें ध्यानका स्वरूप, काल, ध्याता, ध्यानके भेद तथा पाँच प्रकारके निर्ग्रन्थ साधुओंका वर्णन है।

१०. दसवें अध्यायमें केवल ज्ञानके हेतु, मोक्षका स्वरूप, मुक्तिके पश्चात् जीवके ऊर्ध्व गमनका दृष्टान्त पूर्वक सयुक्तिक समर्थन तथा मुक्त जीवोंका वर्णन है। संक्षेपमें यह तत्त्वार्थ सूत्रका विषय परिचय है।

दो सूत्रपाठ

तत्त्वार्थ सूत्रके दो पाठ प्रचलित हैं। एक पाठ वह है जिसपर पूज्यपादने सर्वार्थ सिद्धि, और अकलंकदेवने अपना तत्त्वार्थवार्तिक रचा है। यह पाठ दिगम्बर परम्परामें प्रचलित है। दूसरा पाठ वह है जिसपर तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्य रचा गया है। यह सूत्र पाठ श्वेताम्बर परम्परामें मान्य है। इन दोनों पाठोंमें जो अन्तर है वह नीचे दिया जाता है।

दोनों पाठोंके अनुसार दसों अध्यायोंकी सूत्र संख्या क्रमसे इस प्रकार है—

प्रथम पाठ—३३ + ५३ + ३९ + ४२ + ४२ + २७ + ३९ + २६ + ४७ + ९ = ३५७

दूसरा पाठ—३५ + ५२ + १८ + ५३ + ४४ + २६ + ३४ + २६ + ४९ + ७ = ३४४

१. प्रथम अध्यायमें दो सूत्रोंकी हीनाधिकता है। एक सूत्र है 'द्विविधोऽवधिः ॥२१॥ अवधि ज्ञानके दो भेद हैं। यह सूत्र प्रथम पाठमें नहीं है दूसरे में है। इसमें कोई सैद्धान्तिक भेद नहीं है। सैद्धान्तिक मत भेदकी दृष्टिसे अन्तिम दो सूत्र उल्लेखनीय हैं—'नैगमसंग्रहव्यवहारर्ज सूत्रशब्दा नयाः ॥३४॥ आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ ॥ ३५ ॥ ये दोनों सूत्र दूसरे पाठमें हैं। पहले पाठमें इनके स्थानमें एक ही सूत्र है—'नैगमसंग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूता नयाः ॥३३॥

दूसरे पाठके अनुसार नयके मूल भेद पाँच है और उनमें से प्रथम नैगम नयके, दो भेद हैं और शब्दनयके साम्प्रत, समभिरूढ़ और एवं भूत ये तीन भेद हैं। प्रथम पाठके अनुसार नयके मूल भेद सात हैं—नैगम संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत। ये सात नयोंकी परम्परा ही प्राचीन परम्परा है। आगमोंको भी यही परम्परा मान्य है। दूसरे पाठ गत नयोंकी परम्परा अन्यत्र नहीं मिलती। दूसरे पाठवाले सूत्रोंकी व्याख्यामें पं० सुखलालजीने भी इस बातको मान्य किया है लिखा है—'एक परम्परा तो सीधे तौर पर पहले से ही सात भेदोंको मानती है····यह परम्परा जैनागमों और दिगम्बर ग्रन्थों की है।········ तीसरी परम्परा प्रस्तुत सूत्र और उसके भाष्यगत है।' (त० स० पृ० ५१)

यह तो हुआ दोनों सूत्रपाठोंमें दो सूत्रोंको लेकर अन्तर। शेष सूत्रोंमें समानता होते हुए भी तीन सूत्रोंमें किञ्चित् भेद पाया जाता है। सूत्र १५ में मतिज्ञानका तीसरा भेद भाष्य और उसके सूत्र में 'अपाय' है और सर्वार्थसिद्धिवाले प्रथम सूत्र पाठमें अवाय है। पं० सुखलालजीने अपायके स्थानमें 'अवाय' ही पाठ रखा है। नन्दि सूत्रमें भी 'अवाय' पाठ ही है। अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] दोनों पाठोंमें केवल शब्द भेद बतलाया है। किन्तु उभय परम्परा सम्मत प्राचीन पाठ अवाय ही है अपाय नहीं।

'बहु बहुविध' आदि सूत्र १६ में प्रथम पाठमें 'अनिसृतानुक्त' पाठ है और दूसरे पाठमें 'अनिसृतासन्दिग्ध' पाठ है। श्वे० स्थानांग सूत्र (सू०५१०) में और नन्दिसूत्रमें यही पाठ पाया जाता है। अवधिज्ञानके दूसरे भेदके प्रतिपादक सूत्रमें प्रथम पाठमें 'क्षयोपशमनिमित्तः' पाठ है और दूसरेमें 'यथोक्तनिमित्तः' पाठ है। यद्यपि दोनोंके आशयमें कोई अन्तर नहीं है। तथापि क्षयोपशमके लिये 'यथोक्त' शब्दका प्रयोग असंगत है क्योंकि उससे पहले किसी सूत्रमें क्षयोपशम शब्द नहीं आया है।

१. 'आह-किमयपाय उत अवाय ? उभयथा न दोषः।—त० वा०, पृ० ६१

२. दूसरे अध्यायमें प्रथम सूत्र पाठमें 'तैजसमपि' तथा 'शेषास्त्रिवेदाः ।' दो सूत्र अधिक हैं। पहलेमें थोड़ा सैद्धान्तिक मत भेद भी है। इसी तरह दूसरे सूत्र पाठमें 'उपयोगः स्पर्शादिषु' ॥१९॥ सूत्र अधिक है। शेष सूत्रोंमें समानता होते हुए भी कतिपय स्थलोंमें अन्तर पाया जाता है।

प्रथम सूत्र पाठमें 'जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥७॥ सूत्र है और दूसरेमें' जीव भव्याभव्यत्वादीनि च ॥७॥ सूत्र है। प्रथम पाठमें जिन पारणामिक भावोंका ग्रहण 'च' शब्दसे किया है दूसरे पाठपें उन्हींका ग्रहण 'आदि' पदसे किया है। अकलंकदेवने[1] 'आदि' पदको सदोष बतलाया है।

संसारी जीवके दो भेद हैं त्रस और स्थावर। तथा स्थावरके पाँच भेद हैं—पृथिवीकायिक, जलकायिक, तैजस्कायिक, वायुकायिक और वनस्पतिकायिक। ये भेद दोनों परम्पराओंको मान्य हैं। किन्तु त्रसका शब्दार्थ होता है—जो चलता है। इस अपेक्षासे दूसरे सूत्र पाठमें तैजस्कायिक और वायुकायिकको भी त्रस कहा है क्योंकि वायु और आगमें चलन क्रिया पाई जाती है। अतः दोनों सूत्रपाठोंके सूत्र १३-१४ में अन्तर पड़ गया है। कुन्दकुन्दने भी अपने पञ्चास्तिकाय (गा० १११) में अग्निकायिक और वायुकायिक जीवोंको त्रस कहा है किन्तु उन्होंने उन्हें स्थावरोंके भेदोंमें भी गिनाया है। दूसरे सूत्रपाठमें और उसके भाष्यमें भी स्थावरके तीन ही भेद बतलाये हैं। और तैजस्कायिक तथा वायुकायिककी गणना केवल त्रसोंमें ही की है। दूसरे अध्यायके अन्य भी दो चार सूत्रोंमें अन्तर पाया जाता है। यथा—

प्रथम सूत्र पाठ	द्वितीय सूत्र पाठ
१. एक समयाऽविग्रहा ॥२९॥	एक समयोऽविग्रहः ॥३०॥
२. एकं द्वौत्रीन्वाऽनाहारकः ॥३०॥	एकं द्वौ वाऽनाहारकः ॥३१॥
३. जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥३३॥	जराय्वण्डपोतजानां गर्भः ॥३४॥
४. देवनारकाणामुपपादः ॥३४॥	नारकदेवानामुपपातः ॥३५॥
५. परं परं सूक्ष्मम् ॥३७॥	तेषां परं परं सूक्ष्मम् ॥३८॥
६. चाहारकं प्रमत्तसंयतस्यैव ॥४९॥	चाहारकं चतुर्दशपूर्वधर ॥४६॥
७. औपपातिक चरमोत्तम देहा ॥४३॥	औपपातिक चरमदेहोत्तम पुरुष ॥५२॥

इनमेंसे नं० २, ६ और ७ में जो अन्तर है वह सैद्धान्तिक मतभेदको लिए हुए हैं। नं० २ के (३१) सम्बन्ध में टीकाकार हरिभद्र और सिद्धसेनने लिखा है कि कोई 'वा' शब्दसे तीनका भी संग्रह करते हैं।

---

१. 'आदिग्रहणमत्र न्याय्यमितिचेत् त्रिविधपारिणामिकभावप्रतिज्ञाहानेः' ।—त० वा०, पृ० ११३ ।

३. तीसरे अध्यायमें प्रथम पाठमें २१सूत्र अधिक हैं। दूसरे पाठमें वे सूत्र नहीं हैं। पहले सूत्रमें दोनों पाठोंमें थोड़ा अन्तर है। दूसरे पाठमें 'अधोऽधः पृथुतरा' पाठ है जबकि पहलेमें 'पृथुतरा' पाठ नहीं है। अकलंक देवने तत्त्वार्थ[1] वार्तिकमें इस पाठकी आलोचना की है और उसे सदोष बतलाया है। सैद्धान्तिक दृष्टिसे अन्य कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं है।

४. चौथे अध्यायमें उल्लेखनीय अन्तर हैं। जिनमेंसे सबसे अधिक उल्लेखनीय है स्वर्गोंकी संख्यामें अन्तरका होना। प्रथम पाठके अनुसार स्वर्ग सोलह गिनाये गये हैं और दूसरे पाठके अनुसार बारह गिनाये गये हैं। किन्तु अकलंक देवने इस मतभेदकी चर्चा नहीं की है। किन्तु स्वर्गके देवोंमें प्रवीचारको बतलानेवाले सूत्रमें 'शेषाः स्पर्शरूपशब्द मनः प्रवीचाराः' के अन्तमें द्वितीय पाठमें 'द्वयोर्द्वयोः' पाठ अधिक है। अकलंकने[2] इसकी आलोचना करके उसे 'आर्ष विरुद्ध' बतलाया है। देवोंकी स्थितिके सम्बन्धमें दोनों परम्पराओंमें अन्तर है। अतः सूत्र पाठमें भी अन्तर पाया जाता है। लौकान्तिक देवोंकी स्थितिका प्रतिपादक सूत्र प्रथम सूत्र पाठमें है, दूसरेमें नहीं है।

५. पाँचवे अध्यायमें अन्तर परक पाँच छै स्थल हैं। दूसरे सूत्र पाठमें 'द्रव्याणि' 'जीवाश्च' यह एक सूत्र हैं। किन्तु प्रथम सूत्र पाठमें ये दो सूत्र हैं। अकलंक देव ने तत्त्वार्थ वार्तिकमें यह शङ्का उठाई है कि 'द्रव्याणि जीवाः' ऐसा एक ही सूत्र क्यों नहीं रखा। अकलंक देव ने उसका समाधान करके दो सूत्र रखनेका ही समर्थन किया है। इसी तरह दूसरे सूत्र पाठमें 'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मयोः' 'जीवस्य' ये दो सूत्र हैं। प्रथम सूत्र पाठमें दोनोंके स्थानमें एक ही सूत्र है—'असंख्येयाः प्रदेशा धर्माधर्मैकजीवानाम्'।

पहले सूत्र पाठमें 'सद्द्रव्य लक्षणम्' '॥२९॥' यह सूत्र अधिक है। दूससे सूत्र पाठमें यह सूत्र तो नहीं है किन्तु भाष्यमें उसका आशय आगया है। उक्त अन्तरोंमें सैद्धान्तिक मतभेदकी कोई बात नहीं है। किन्तु पुद्गल परमाणुओंके बन्धके कथनमें सैद्धान्तिक मतभेद पाया जाता है। प्रथम सूत्र पाठमें 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥३७॥ पाठ है और दूसरे सूत्र पाठमें उसके स्थानमें 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ' '॥३५॥' पाठ है। अकलंक[3] देवने 'समाधिकौ' पाठकी

---

१. 'पृथुतराः' इतिकेषाञ्चित् पाठः।'—त० वा०, पृ० १६१।

२. 'द्वयोर्द्वयोरितिवचनात् सिद्धिरितिचेत् न आर्षविरोधात्'।—त० वा०, पृ० २१५।

१. 'समाधिकावित्यपरेषां पाठः ॥३॥ तदनुपपत्तिरार्षविरोधात् ॥४॥—त० वा०, पृ० ५००।

आलोचना करते हुए उसे आर्षविरुद्ध बतलाया है और अपने पक्षके समर्थनमें षट्खण्डागम' का प्रमाण दिया है। प्रथम सूत्र पाठमें 'कालश्च ॥३९॥ सूत्र है और दूसरे सूत्र पाठमें 'कालश्चेत्येके ॥३८॥ सूत्र है। इस अन्तरका कारण यह है कि दिगम्बर परम्परा एक मतसे कालको द्रव्य मानती है। किन्तु श्वेताम्बर परम्परामें मतभेद है। दूसरे सूत्र पाठके अन्तिम तीन सूत्र ४२-४४ प्रथम सूत्र पाठमें नहीं हैं। अकलंकदेवने[1] उसमें प्रतिपादित मतका खण्डन किया है।

छठें अध्यायमें सैद्धान्तिक मतभेदकी दृष्टिसे दोनों सूत्र पाठोंमें कोई उल्लेखनीय अन्तर नहीं हैं। फिर भी अन्तर तो है ही। दूसरे सूत्र पाठमें शुभः पुण्यस्य ॥३॥ अशुभःपापस्य ये, दो सूत्र हैं और प्रथम सूत्र पाठमें एक सूत्रके रूपमें हैं। और अल्पारम्भ परिग्रहत्वं मानुषस्य ॥१७॥ स्वभावमार्दवं च ॥१८॥ प्रथम सूत्र पाठमें ये दो सूत्र हैं। और दूसरे सूत्र पाठमें इनके स्थानमें एक सूत्र है—अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं स्वभावमार्दवार्जवं च मानुषस्य ॥१८॥

७ सातवें अध्यायमें सूत्र तीनके पश्चात् अहिंसा आदि व्रतोंकी भावनाओंको बतलानेवाले ५ सूत्र प्रथम सूत्र पाठ में हैं, किन्तु दूसरेमें नहीं हैं। सूत्र तीनके भाष्यमें उनका भाव आ जाता है। इसके सिवाय कई सूत्रोंमें शाब्दिक अन्तर पाया जाता है।

८ आठवें अध्यायका दूसरा सूत्र दूसरे सूत्र पाठमें दो सूत्रोंके रूपमें विभक्त है। ज्ञानावरणीय कर्मके पाँच भेद बतलानेवाला सूत्र दूसरे सूत्र पाठमें 'मत्या-दीनाम्' ॥५॥है जो संक्षिप्त है। किन्तु प्रथम सूत्र पाठमें 'मतिश्रुतावधिमनः-पर्ययकेवलानाम् ॥६॥ है। [2]अकलंकदेवने 'मत्यादीनाम्' पाठकी आलोचना करके प्रथम सूत्र पाठ वाले सूत्रको ही संगत बतलाया है। इसी तरह दूसरे सूत्र पाठमें 'दानादीनाम् ॥१४॥' सूत्र है। उसके स्थानमें प्रथम सूत्र पाठमें 'दानलाभभोगोप-भोगवीर्याणाम् ॥१३॥' सूत्र है। इनमें कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है। किन्तु पुण्य प्रकृतियोंका प्रतिपादन करने वाले सूत्रोंमें[3] मौलिक अन्तर हैं। तथा दूसरे सूत्र पाठमें पाप प्रकृतियोंको बतलाने वाला कोई सूत्र नहीं है, जबकि प्रथम सूत्र पाठमें 'ततोऽन्यत् पापम्' ॥२६॥ सूत्र है।

९ नौवें अध्यायमें शाब्दिक भेदोंके सिवाय जो उल्लेखनीय अन्तर हैं, वे इस प्रकार हैं —चारित्रके भेद बतलाने वाले सूत्र नं० १८ के अन्तमें प्रथम सूत्र पाठमें

---

१. त० वा०, पृ० ५०३।

२ 'मत्यादीनामिति पाठो लघुत्वादिति चेत् न'····त० वा०, पृ० ५७०।

३. 'सद्वेद्यशुभायुर्नामगोत्राणि पुण्यम् ॥५५॥ तथा 'सद्वेद्य-सम्यक्त्व हास्यरति पुरुषवेदशुभायुनामगोत्राणि पुण्यम् ॥३६॥'

'यथाख्यातमिति चारित्रम्' पाठ है और दूसरे सूत्र पाठमें 'यथाख्यातानि चारित्रम्' पाठ है। फिर भी कोई सैद्धान्तिक मतभेद इसमें नहीं है। इसी तरह ध्यानका स्वरूप बतलाने वाले सूत्र नं० २८ के अन्तमें प्रथम सूत्र पाठमें 'ध्यानमान्तर्मुहूर्तात्' पाठ है। और दूसरे सूत्र पाठमें 'ध्यानम्' के साथ ही २७वां सूत्र समाप्त हो जाता है और 'आमुहूर्तात्' २८वां सूत्र हैं। इसका अर्थ मूहुर्तपर्यन्त होता है किन्तु टीकाकार सिद्धसेन गणिने उसका अर्थ अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही किया है। आर्तध्यानका कथन करनेवाले सूत्रोंमें शाब्दिक अन्तरके साथ ही साथ भेदोंके क्रममें भी थोड़ा अन्तर है। किन्तु धर्म ध्यानका कथन करने वाले सूत्रमें धर्म ध्यानके स्वामीको लेकर मौलिक अन्तर है। प्रथम सूत्र पाठमें धर्मध्यानके प्रतिपादक सूत्र नं० २६ के अन्तमें स्वामीका विधान करनेवाला 'अप्रमत्तसंयतस्य' अंश नहीं है, जबकि दूसरे सूत्रपाठमें है। तथा दूसरे सूत्रपाठमें इस सूत्रके बाद जो 'उपशान्त-क्षीणकषाययोश्च ॥३८॥ सूत्र है वह भी प्रथम सूत्र पाठमें नहीं है। अकलंकदेवने इन दोनोंका खण्डन किया है।[1] शुक्लध्यान प्रतिपादक सूत्रोंमेंसे भी एक दो में थोड़ा सा अन्तर पाया जाता है।

१० दसवें अध्यायमें प्रथम सूत्र पाठका दूसरा सूत्र दूसरे सूत्र पाठमें दो सूत्रोंमें विभक्त है। इसी तरह प्रथम सूत्रपाठके सूत्र नं० ३ और ४, दूसरे सूत्रपाठमें एक सूत्रके रूपमें संयुक्त हैं। तथा 'भव्यत्वानां' के स्थानमें 'भव्यत्वाभावाच्च' पाठ है। प्रथम सूत्र पाठके सूत्र नं० ७ और ८ दूसरे सूत्र पाठमें नहीं हैं। उनकी पूर्ति भाष्यसे हो जाती है। इस तरह दोनों सूत्र पाठोंमें साधारण अन्तरके साथ ही साथ मौलिक अन्तर[2] भी पाया जाता है।

भाष्य समस्त सूत्र पाठमें मतभेदका बाहुल्य—तत्त्वार्थसूत्रके जिस सूत्र पाठ पर सर्वार्थसिद्धि टीका बनी है और जिसे दिगम्बर परम्परा मान्य करती है, उस सूत्र पाठमें क्वचित् ही साधारण पाठभेद पाया जाता है। जैसे तीसरे अध्यायके ३८वें सूत्रमें सर्वार्थसिद्धिमें 'नृस्थिती परापरे' पाठ है और तत्वार्थवार्तिकमें 'नृस्थिती परावरे' पाठ है। इस तरहका शब्द भेद भी बहुत ही विरल है। अतः यह कहा जा सकता है कि दिगम्बर परम्पराके सूत्र पाठमें कोई अन्तर नहीं है, वह एक रूपमें ही मान्य है। किन्तु तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्यके रहते हुए भी भाष्य सम्मत सूत्रपाठमें बहुत मतभेद है। टीकाकार सिद्धसेन गणिने अपनी

---

१. 'धर्म्यमप्रमत्तस्येति चेत्, न, पूर्वेषां विनिवृत्तिप्रसंगात् ॥१३॥' 'उपशान्त क्षीणकषाययोश्चेतिचेन्न शुक्लाभावप्रसंगत् ॥१४॥—त० वा०, पृ० ६३२।

२. दोनों सूत्रपाठोंके अन्तरका स्पष्ट विवरण पं० सुखलालजीकृत तत्त्वार्थ सूत्रके हिन्दी अनुवादके प्रारम्भमें दिया हुआ है।

टीकामें अनेक पाठ भेदोंका उल्लेख किया है। यहाँ उनका थोड़ा सा दिग्दर्शन करा देना उचित होगा।

प्रथम अध्याय के १६ वें सूत्रमें मुद्रित भाष्य प्रतिमें–'क्षिप्रानिसृतानुक्तध्रुवा' पाठ है और भा यमें भो 'अनुक्तमवगृह्णाति उक्तमवगृह्णाति' तदनुकूल ही पाठ है। किन्तु सिद्धसेनगणिकी टीकावाली मुद्रित प्रतिके सूत्रमें तथा भाष्य में 'अनुक्त' के स्थान पर 'असन्दिग्ध' पाठ पाया जाता है।

किन्तु सिद्धसेनकी टीकामें[1] अनुक्त उक्तकी ही व्याख्या है जिससे प्रतीत होता है कि उन्हें यही पाठ मान्य था। तथा उन्होंने इनके स्थानमें एक तीसरे 'निश्चित' और 'अनिश्चित' पाठान्तरका निर्देश किया है। इस तरहसे तीन पाठ भेद पाये जाते हैं। दिगम्बर परम्परामें केवल एक 'अनुक्त' पाठ ही प्रचलित है।

२. इसी अध्यायके २७वें सूत्रमें 'सर्वद्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु' पाठ है। किन्तु २०वें सूत्रके भाष्यमें जो २७वें सूत्रका अंश उद्धृत है उसमें 'सर्व' पद नहीं है, यथा—'वक्ष्यति द्रव्येष्वसर्वपर्यायेषु'। दिगम्बरीय पाठमें भी इस सूत्रमें जिसकी क्रम संख्या २६ है 'सर्व' शब्द नहीं पाया जाता।

३. दूसरे अध्यायके 'समनस्कामनस्काः ॥११॥ 'संसारिणस्त्रसस्थावराः ॥१२॥ इन सूत्रोंके सम्बन्धमें टीकाकार सिद्धसेनने लिखा[2] हैं कि अन्य आचार्य सूत्रको ही बदल देते हैं, वे पहले 'संसारिणः' फिर त्रसस्थावराः और फिर 'समनस्कामनस्काः' पढ़ते हैं यह ठीक नहीं है।

४. इसी अध्यायके 'उपयोगः स्पर्शादिषु ॥१९॥' सूत्रके सम्बन्धमें सिद्धसेनने लिखा[3] है, कि कोई इसको सूत्र रूपसे नहीं मानते। उनका कहना है कि यह तो भाष्यके वाक्यको सूत्र बना दिया है। दिगम्बर पाठमें यह सूत्र नहीं है।

५. इसी दूसरे अध्यायके २४वें सूत्र और उसके भाष्यको लेकर सिद्धसेनने लिखा[4] है—अन्य आचार्य इस भाष्यको अतिविसंस्थुल (अत्यन्त असन्तुलित) देख

१. 'अव्याप्तिदोषभीत्या चापरैरिमं विकल्पं प्रोज्झ्य अयं विकल्प उपन्यस्तो निश्चितमवगृह्णातीति।'—सि० ग० टी०, भा०, पृ० ८५।

२. 'अन्ये पुनः सूत्रमेव विपर्यासयन्ति विभज्य प्राक् तावत् संसारिणः पश्चात् 'त्रसस्थावराः' ततः समनस्कामनस्का इति।'–सि०टी०, भा. १, पृ. १५६।

३. 'केचिद् भाषन्ते सूत्रमिदं न भवति भाष्यमेव सूत्रीकृत्य केचिदधीयते।'—वही, पृ० १६९।

४. अपरेऽतिविसंस्थुलमिदमालोक्य भाष्यं विषण्णाः सन्तः सूत्रे मनुष्यादिग्रहण-मनार्षमिति सङ्गिरन्ते।···अपरे वातकिनः स्वयमुपरम्य सूत्रमधीयते—'अतीन्द्रियाः' केवलिनः।—वही, पृ० १७५।

कर खेदखिन्न होते हुए सूत्रमें 'मनुष्यादि' पदके ग्रहणको अनार्ष कहते हैं।.... अन्य बकवादी इस सूत्रके पश्चात् 'अतीन्द्रियाः केवलिनः' ऐसा सूत्र रखते हैं।

६. औदारिक....शरीराणि ॥२-३७॥ इस सूत्रकी टीकामें सिद्धसेनने लिखा[1] है कि कुछ आचार्य इस सूत्रके एक अंश 'शरीराणि'को पृथक् सूत्र मानते हैं।

७. 'लब्धि प्रत्ययञ्च॥४८॥' सूत्रके पश्चात् दिगम्बर सूत्र पाठमें 'तैजसमपि' सूत्र आता है। भाष्यमें यह सूत्र रूपसे नहीं छपा है। हरिभद्रकी टीकामें 'शुभ-विशुद्धा इत्यादि सूत्रके बाद यह सूत्र रूपसे आया है। सिद्धसेनकी टीकाकी मुद्रित[2] प्रतिकी टिप्पणीमें इसे क० ख० प्रतिमें सूत्र बतलाया है। श्वे० तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी जो सटिप्पण प्रति पाई जाती है उसमें 'तैजसमपि'को भी सूत्र माना है।

८. सिद्धसेन गणिका[3] कहना है कि कोई सूत्र २-४९ के अन्तमें 'अकृत्स्न-श्रुतस्यर्द्धिमतः' इतना विशेषण और जोड़ते हैं।

९. सिद्धसेन गणिका[4] कहना है कि किन्हींका ऐसा मत है कि सूत्र १-५२में सूत्रकारने 'उत्तम पुरुष' पदका ग्रहण नहीं किया है।

१०. तत्त्वार्थधिगम सूत्रकी सटिप्पण प्रतिमें तीसरे अध्यायके प्रथम सूत्रके पश्चात् 'धर्मावंशाशैलाञ्जनारिष्टामाघव्यामाघवीति च' ऐसा सूत्र पाया जाता है।

११. सिद्धसेनकी वृत्तिमें सूत्र ३-११ में 'वर्षधर पर्वताः' के स्थानमें 'वंशधर पर्वताः' पाठ पाया जाता है। तथा हरिभद्रकी टीकामें और मुद्रित भाष्य प्रतिमें आर्या म्लेच्छाश्च ॥१५॥ के स्थानमें 'आर्या म्लिशश्च' सूत्र पाया जाता है।

१२. तत्त्वार्थाधिगमकी टिप्पण वाली प्रतिमें सूत्र ४-२२ के पश्चात् 'उच्छ्वा-साहारवेदनोपपातानुभावतश्च साध्याः' ऐसा सूत्र है।

१३. सिद्धसेनने[5] पाँचवे अध्यायके 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि ॥३॥' के संबंधमें

---

१. 'अत्र केचित् सूत्रावयवमवच्छिद्य शरीराणीति पृथक् सूत्रं कल्पयन्ति'।—वही, पृ० १९५।

२. पृ० २०८।

३. 'अतएव केचिदपरितुष्यन्तः सूत्रमाचार्यकृतन्यासादधिकमभिधीयते-'अकृत्स्न श्रुतस्यार्द्धिमतः'। सि० ग० टी०, भा० १, पृ० २०९।

४. 'केचिदभिदधते-नास्ति सूत्रकारस्योत्तमपुरुषग्रहणमिति।'-वही, पृ० २२१।

५. 'अपरे द्विधा भिन्दन्ति सूत्रम् 'नित्यावस्थितानि'....ततोऽरूपाणि।'........ अत्रापरे व्याचक्षते यत्किञ्चिदेतत् 'नित्यावस्थितारूपाणि'इत्येव पाठे लभ्यत एवाभिलषितोर्थः'—वही, पृ० ३२१।

लिखा है कि कोई इस सूत्रको नित्यावस्थितानि, अरूपाणि ऐसे दो सूत्र मानते हैं। तथा 'नित्यावस्थितारूपाणि' ऐसा भी पाठ पाया जाता है।

१४. 'अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥५–३१॥' इस सूत्रकी व्याख्यामें मतभेद पाया जाता है।

१५. 'अशुभः पापस्य ॥ ६–४ ॥' हरिभद्रकी टीकामें यह सूत्र नहीं है लेकिन 'शेषं पापम्' ऐसा सूत्र है। सिद्धसेनकी टीकामें 'अशुभः पापस्य' सूत्ररूपसे छपा है। लेकिन टीकामें[1] 'शेषं पापम्' ही सूत्ररूपसे अभिमत मालूम होता है।

१६. 'इन्द्रियकषायाव्रतक्रिया—॥६–६॥ सर्वत्र यही पाठ पाया जाता है। किन्तु सूत्रके भाष्यमें अव्रत का कथन पहले किया है। इस परसे, अव्रत कषायेन्द्रियक्रियाः' ऐसा भी चल पड़ा है। यद्यपि सिद्धसेन ने सूत्र और भाष्यकी असंगतिको दूर करनेका प्रयत्न अपनी टीकामें किया है।

१७. तत्त्वार्थाधिगम सूत्रकी टिप्पणवाली प्रतिमें सूत्र ॥६–२०॥ के पश्चात् 'सम्यक्त्वं च' ऐसा सूत्र है। दिगम्बर परम्परा इसे सूत्र मानती है।

१८. 'दुःखमेव वा ॥७-५॥' सूत्रकी टीकामें सिद्धसेनने[2] लिखा है कि इसी सूत्रके 'व्याधिप्रतीकारत्वात् कण्डूपरिगतत्वाच्चाब्रह्म' तथा 'परिग्रहेष्वप्राप्तप्राप्तनष्टेषु कांक्षाशोकौ प्राप्तेषु च रक्षणमुपभोगेवावितृप्ति' इन भाष्य वाक्योंको कोई दो सूत्र रूप मानते हैं।

१९. सूत्र ॥७–२३॥ की टीकामें सिद्धसेनने[3] लिखा है कि इस सूत्रके स्थानमें कोई 'परविवाहकरणेत्वरिकापरिगृहीतापरिगृहीतागमनानङ्गक्रीडातीव्रकामाभिनिवेशा' ऐसा सूत्र पढ़ते हैं। तथा कुछ लोग इसी सूत्रका पद विच्छेद परविवाहकरणं इत्वारिकागमनं परिगृहीतापरिगृहीतागमनं अनङ्गक्रीडा तीव्रकामाभिनिवेश' ऐसा करते हैं। उक्त सूत्र दिगम्बरीय पाठसे एक दम मिलता है।

२०. टिप्पण वाली सूत्र प्रतिमें 'सचित्तनिक्षेपपिधान ॥७–३१॥ आदि सूत्र नहीं है।

२१. टिप्पण वाली सूत्र प्रतिमें दसवें अध्यायके अन्तमें 'धर्मास्तिकायाभावात्' ये सूत्र है। दिगम्बर परम्परा भी इसे सूत्र मानती है।

इस तरह भाष्यके होते हुए भी श्वे० सूत्र पाठमें जो इतने मत भेद पाये जाते

---

१. 'एवं पुण्यं कर्म विनिश्चित्य पापविनिश्चयायाह—शेषं पापमिति।—सि० टि०, भा० २, पृ० ७।

२. 'ततश्च ये भाष्यमेव कयाऽपि बुद्धया सूत्रीकृत्याधीयते····।'–वही, भा० २, पृ० ५५।

३. 'अन्ये पठन्ति सूत्रम् ····।'–वही, भा० २, पृ० १०९।

हैं वे आश्चर्य जनक हैं। ये मत भेद केवल भाष्यके वाक्योंको गलतीसे सूत्र समझ लेनेके ही कारण नहीं हुए है। ये सब सूत्र पाठकी अस्थिरताके सूचक हैं।

तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाका आधार

तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाका आधार खोजनेके दो उद्देश्य हैं, प्रथम तो उससे उसकी रचनाके समयपर प्रकाश पड़ सकेगा। दूसरे उससे सूत्रकारकी परम्परा पर भी प्रकाश पड़ सकेगा। इस तुलनात्मक अध्ययनके द्वारा अनेक सैद्धान्तिक तथ्य भी प्रकाशमें आसकेंगे। किन्तु यहां हमारा उनसे विशेष प्रयोजन नहीं है।

१ तत्त्वार्थ सूत्रका आरम्भ 'सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्रसे होता है। श्वे० परम्पराके उत्तराध्ययन नामक सूत्रका २८ वां अध्ययन मोक्ष मार्ग नामका है। पं० [1]सुखलाल जी उसी अध्ययनको तत्त्वार्थ रचनेकी कल्पनाका आभारी मानते हैं। उसकी दूसरी[2] गाथामें ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तपको मोक्षका मार्ग कहा है। यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रके नौवें अध्ययनमें तपका भी वर्णन है किन्तु सूत्रकारने उसे चारित्रमें गर्भित करके सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रको मोक्षका मार्ग कहा है।

उधर आचार्य कुन्द-कुन्द ने अपने नियमसारको आरम्भ करते हुए कहा है कि—'जिन शासनमें मार्ग और मार्ग फलको कहा है मोक्षके उपायको मार्ग कहते हैं और उसका फल निर्वाण है॥ तथा ज्ञानदर्शन और चारित्रको नियम कहते हैं और मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्र का परीहार करनेके लिये उसके साथ सार' पद लगाया है। इन तीनोंमेंसे प्रत्येकका कथन यहां किया जाता है।' तत्त्वार्थ सूत्रमें भी मिथ्या दर्शनादिका परिहार करनेके लिये दर्शनादिके साथ सम्यग्' पद लगाया है।

२. त०सू० के १-२ सूत्रमें तत्त्वार्थके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है और जीव अजीव आदि सात तत्त्व बतलाये हैं। उत्तराध्ययनके उक्त २८वें अध्ययनमें[3] जीव

१. त०सू०की प्रस्तावना पृ० ५१का टिप्पण नं० ४।
२. 'मोक्खमग्ग गइं तच्चं सुणेह जिण भासियं। चउकारणसंजुत्तं नाण दंसणलक्खणं॥१॥ नाणं च दसंणं चेव चरित्तं च तवो तहा। एस मग्गा त्ति पन्नत्तो जिणेहिं वरदंसिहिं॥२॥'—उत्तरा०
३. जीवाजीवा य बंधो य पुन्नपावासवो तहा। संवरो निज्जरा मोक्खो संतेए तहिया नव॥१४॥—तहियाणं तु भावाणं, सब्भावे उवएसणं। भावेण सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं वियाहियं॥१५॥—उत्तरा०। 'नव सब्भाव पयत्था पण्णत्ते। तं जहा—स्था० ९,सू० ६६५।

अजीव आदि नौ तथ्य भावोंके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन कहा है। किन्तु जीव अजीव आदिके लिये तत्त्वार्थ शब्दका प्रयोग हमें किसी भी श्वे० आगममें नहीं मिला। साथ ही तत्त्वोंकी सात संख्याका निर्देश भी उसमें नहीं है।

उधर कुन्द-कुन्दके नियमसारमें[1] आप्त, आगम और तत्त्वोंके श्रद्धानको सम्यक्त्व कहा है। तथा आगमके द्वारा कथित पदार्थोंको तत्त्वार्थ कहा है। और भाव प्राभृत (गा० ९५) में स्पष्ट रूपसे नौ पदार्थों और सात तत्त्वोंका निर्देश किया है।

३. त० सू १-८ में सत् संख्या आदि आठ अनुयोग बतलाये हैं। अनुयोग-द्वार[2] सूत्रमें नौ गिनाये हैं, जिनमें 'भाग' अधिक है। किन्तु षट्खण्डागमके जीवट्ठाणकी सत्प्ररूपणाके प्राथमिक सूत्रमें तत्त्वार्थ सूत्रकी तरह आठ ही अनुयोग गिनाये हैं।

४. मति आदि पाँच ज्ञानोंका वर्णन जैसा तत्त्वार्थ सूत्रमें है वैसा ही श्वेताम्बर आगमोंमें भी है और दि० षट्खण्डागमके वर्गणाखण्डके अन्तर्गत कर्म प्रकृति अनुयोग द्वारमें भी है। फिर भी एक बात उल्लेखनीय है। त० सू० (१-१३)में मति स्मृति संज्ञा चिन्ताको मतिज्ञानके नामान्तर कहा है। उक्त षटखं० के कर्मप्रकृति० में भी 'सण्णा सदी मदी चिंता चेदि ॥४१॥' लिखकर संज्ञा, स्मृति, मति और चिन्ताको मतिज्ञानका नामान्तर कहा है। किन्तु नन्दि सूत्रमें[3] चिन्ताका नाम नहीं है। अतः उक्त सूत्र नन्दी सूत्रकी अपेक्षा षट्खण्डागमके ही उक्त सूत्र-का ऋणी प्रतीत होता है।

दि० सूत्र पाठमें 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणां ॥२१॥' पाठ है। षट्खण्डा-गमके उक्त कर्म प्रकृति अनु० में भी 'जं तं भवपच्चइयं तं देवणेरइयाणं ॥५४॥ ऐसा सूत्र है। उक्त सूत्र इस सूत्रका ही संस्कृत रूपान्तर जैसा प्रतीत होता है। श्वेताम्बर नन्दि सूत्र ७ तथा स्था० सू० (स्था० २, उ० १, सू० ७१) में भी 'देवाणं य नेरइयाणं य' लिखकर देवोंको नारकियोंसे पहले रखा है। किन्तु त०

---

१. अत्तागमतच्चाणं हवेइ सम्मत्तं। ५।····तेणदु कहिया हवंति तच्चत्था ॥८॥—नि० सा०।

२. 'सत्संख्या क्षेत्रस्पर्शन-कालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च' ॥८॥—त० सू०। 'से किं तं अणुगमे नवविहे पण्णत्ते। 'तंजहा-संतपयपरूपणया, दव्वपमाणं च, खित्त, फुसणा य, कालो य अंतरं, भाग, भाव, अप्पाबहुअं चेव',—अनु० सं० ८०। 'संतपरूवणा दव्वपमाणाणुगमो खेताणु० फोसणा० काला० अंतरा, भावा० अप्पाबहुगाणुगमो चेदि ॥७॥—षट्खं०, पु० १।

३. 'सन्नासई मई पन्ना सव्वं आभिणिबोहिअं।'—नन्दि०।

सू० के० श्वे० सूत्र पाठमें 'नारकदेवानां' लिखकर नारकियोंको देवोंसे पहले रखा है। यह क्रम उक्त दिगम्बर तथा श्वेताम्बर आगमोंमेसे किसी से भी मेल नहीं खाता।

आचार्य कुन्दकुन्दने[1] ज्ञानके मति आदि पाँच भेद बतलाये हैं तथा प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदोंका उल्लेख प्रवचनसार (१-५८) में किया है। और तदनुसार त० सू० में भी ज्ञानके पाँच भेदोंका तथा उन्हें प्रमाण बतलाकर प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणोंमें उनके अन्तर्भावका कथन किया है।

मति ज्ञानका प्राचीन आगमिक नाम अभिनिबोध था और मति उसका नामान्तर था। षट्खण्डागममें, कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायमें और नन्दि सूत्र वगैरहमें अभिनिबोध नाम ही मिलता है। तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ताने उसके स्थानमें मतिको स्थान देकर अभिनिबोधको उसका नामान्तर वतलाया और तबसे अभिनिबोध नाम लुप्त जैसा हो गया।

अब हम दूसरे अध्यायकी ओर आते हैं।

दूसरे अध्यायके प्रारम्भमें जीवके पाँच भावों और उनके भेद प्रभेदोंका कथन है। स्थानांग[2] सूत्रमें जीवके छै भाव बतलाये हैं—औदयिक, औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, पारिणामिक और सान्निपातिक। किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रमें सान्निपातिक भावको नहीं गिनाया। सिद्धसेन[3] गणिने अपनी टीकामें 'मिश्र' शब्दसे सान्निपातिकका ग्रहण मानकर सन्तोष कर लिया है।

हाँ, अकलंक देवने सान्निपातिकका अभाव बतलाकर भी मिश्र शब्दसे उसका ग्रहण करते हुए दोनों परम्पराओंका समन्वय करनेका प्रयत्न किया है।

'विग्रहवती च संसारिणः प्राक् चतुर्भ्यः।' इस सूत्रमें सूत्रकारने चार समय वाली गतिका निर्देश किया है। इसपरसे सिद्धसेनगणिने[4] उक्त सूत्रकी टीकामें लिखा है कि पाँच समयवाली भी गति होती है किन्तु सूत्रमें उसका ग्रहण नहीं किया है। दिगम्बर परम्परामें पाँच समयवाली गतिका विधान ही नहीं है। अतः उक्त सूत्र दिगम्बर परम्परा सम्मत हैं।

१. 'आभिणिसुदोहि मण केवलाणि णाणाणि पंच भेदाणि'॥४१॥—पञ्चास्ति०
२. स्था० सू०, स्थान ६, सू० ५३७।
३. 'सान्निपातिकोऽपि लाघवेषिणा पृथक् नोपात्तः मिश्रग्रहणादेव प्रतिलब्धः।'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० १३७।
४. 'तथा पञ्चसमयाऽपि गतिः संभवति न चोपात्ता सूत्रे।'
—सि० ग० टी० भा० १, पृ० १८४।

पाँचवें अध्यायमें द्रव्योंके विषयमें जो कथन किया गया है वह कुन्दकुन्दाचार्य के प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और नियमसारमें प्राय: सब वर्णित है। तत्त्वार्थ-सूत्रमें 'उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' सद्‌द्रव्यलक्षणम् और 'गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इन तीन सूत्रोंके द्वारा द्रव्यके लक्षणका विधान किया है। श्वे० पाठमें 'सद्‌द्रव्यलक्षणं' सूत्र नहीं है। ये तीनों सूत्र कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायकी गाथामें बीज रूपसे ज्योंके त्यों विद्यमान हैं। मानों सूत्रकारने उन्हें वहाँसे उठाकर सूत्र रूपमें निबद्ध कर दिया है। गाथा इस प्रकार है—

दव्वं सल्लक्खणियं उप्पादवयधुवत्तसंजुत्तं।
गुणपज्जयासयं वा जं तं भण्णंति सव्वण्हु ॥१०॥

पं० सुखलालजीने भी इस बातको स्वीकार करते हुए लिखा है—कि ये सूत्र कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायकी गाथामें पूर्णरूपसे विद्यमान है। इसके सिवाय कुन्दकुन्दके प्रसिद्ध ग्रन्थोंके साथ तत्त्वार्थ सूत्रका जो शाब्दिक तथा वस्तुगत महत्वका सादृश्य है वह आकस्मिक तो है ही नहीं।' (त० सू० प्रस्ता०, पृ० ११-१२)।

उत्तराध्ययन सूत्रके जिस २८वें अध्ययनको पं० सुखलालजी तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाका आधार बतलाते हैं उसमें तो 'गुणाणमासवो दव्वं' यह द्रव्यका लक्षण बतलाया है अर्थात् जो गुणोंका आश्रय है वह द्रव्य है। अन्य किसी प्राचीन श्वेताम्बर आगम में भी इस प्रकारका लक्षण नहीं पाया जाता, यह बात भी पं० सुखलालजीने स्वीकार की है। उन्होंने लिखा है—ऊपर दिये गये द्रव्य, गुण और कालके लक्षणवाले तत्त्वार्थके तीन सूत्रोंके लिये उत्तराध्ययनके सिवाय किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन आगम अर्थात् अंगका उत्तराध्ययन जितना ही शाब्दिक आधार हो ऐसा अभीतक देखनेमें नहीं आया।' अतः उक्त सूत्रोंपरसे यह व्यक्त होता है कि तत्त्वार्थ सूत्रपर कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका विशेष प्रभाव है।

पाँचवे अध्यायके अन्तमें स्निग्ध और रूक्ष गुणवाले परमाणुओं के बन्धका विधान है। उसको लेकर दिगम्बर परम्परामें 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ।' ।।३६।।' सूत्र है और श्वेताम्बर परम्परामें 'बन्धे समाधिकौ परिणामिकौ ॥' पाठ है। उक्त ३६वें सूत्रकी टीकामें अकलंकदेवने[1] 'समाधिकौ' पाठको आर्ष विरुद्ध कहा है और आर्षके रूपमें षट्‌खण्डागमके वर्गणाखण्डके बन्ध विधानका

१. 'एवं हि उक्तमार्षे वर्गणायां बन्धविधाने—नोआगम-द्रव्यबन्धविकल्पे सादिवैस्रसिक बन्धनिर्देशे प्रोक्तम्—'विषमस्निग्धतायां विषमरूक्षतायां च बन्धः समस्निग्धतायां समरूक्षतायां च भेदः तदनुसारेण च सूत्रमुक्तम्।'
—त० वा०, पृ० ५००

निर्देश किया है और लिखा है कि वह सूत्र उसके अनुसार कहा गया है।' इससे प्रकट होता है कि अकलंकदेव तत्त्वार्थ सूत्रको या उसके सूत्रोंको षट्खण्डागमके आधारपर रचित मानते थे।

तत्त्वार्थ सूत्रका आधार षट्खण्डागमके सूत्र रहे हैं इस बातकी पुष्टिमें एक और उल्लेखनीय प्रमाण है। त० सू० के छठे अध्यायमें तीर्थङ्कर नाम कर्मके बन्धनमें कारण भूत सोलह कारणोंका निर्देश इस प्रकार है—

दर्शनविशुद्धि[१] विनयसम्पन्नता[२] शीलव्रतेष्व[३] नातिचारोऽभीक्ष्ण[४] ज्ञानोपयोगसंवेगौ[५] [६]शक्तितस्त्याग[७]तपसी साधु[८]समाधिर्वैयावृ[९]त्यकरणम[१]र्हदा[१०]-चार्य[११]बहुश्रुत[१२] प्रवचन[१३] भक्तिरावश्यका[१४] परिहाणिर्मार्गप्रभावना[१५] प्रवचनवत्सलत्व[१६] मिति तीर्थकरत्वस्य ॥२४॥

षट्खण्डागमके बन्ध स्वामित्वविचयमें भी प्रायः ये ही सोलहकारण गिनाये हैं।

'दंसणविसुज्झदाए[१] विणयसंपण्णदाए[२] सीलव्वदेसुणिरदि[3]चारदाए आवासएसु[४] अपरिहीणदाए खणलव[५] पडिबुज्झणदाए लद्धिसंवेग संपण्णदाए[६] जधाथामे तधा तवे[७] साहूणं पासुअपरिचागदाए[८] साहूणं स[९]माहिसंधारणाए साहूणं वेज्जावच्चजोगजुदाए[१०] अरहंतभत्तीए[११] बहुसुदभत्तीए[१२] पवयण[१३]-भत्तीए पवयणवच्छलदाए[१४] पवयणप्प[१५]भावणदाए अभिक्खणं अभिक्खणं णा[१६]णोवजोगजुत्तदाए इच्चेदेहि सोलसेहि कारणेहि जीवा तित्थयरणामगोदं कम्मं बंधंति ॥४१॥" —षट् खं०, पु०८, पृ० ७९।

उक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि तत्त्वाथसूत्र और षट्खण्डागममें प्रतिपादित तीर्थङ्कर नाम कर्मके कारणोंकी केवल संख्यामें ही समानता नहीं है किन्तु कारणोंमें भी समानता है। केवल एक ही कारण ऐसा है जिसमें अन्तर प्रतीत होता है। तत्त्वार्थसूत्रमें आचार्य भक्ति नामक एक कारण गिनाया है और षट्खं०में क्षणलव प्रतिबोधनता नामका कारण गिनाया है। दोनोंके क्रममें भी थोड़ा अन्तर है, फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि षट्खं० के उक्तसूत्रको सामने रखकर ही त० सू० के उक्तसूत्रकी रचना की गई है।

तत्त्वार्थसूत्रके श्वे० सूत्र पाठमें केवल साधुसमाधिके स्थानमें संघसमाधि तथा वैयावृत्यकरणके स्थानमें साधुवैयावृत्यकरण पाठ है। किन्तु इन पाठ भेदोंसे दोनोंमें कोई मौलिक अन्तर नहीं आता। परन्तु श्वेताम्बर आगममें तीर्थङ्कर नामकर्मके बन्धके कारणोंकी संख्या बीस बतलाई है। यथा—

अरिहंतसिद्ध पवयण गुरुथेरबहुस्सुए तवस्सीसु।
वच्छलया य एसिं अभिक्खणाणोवओगे अ॥

दंसणविणए आवस्सए अ सीलव्वए निरइचारो ।
खणलव तवच्चियाए वेय्यावच्चे समाही य ।।
अपुव्वनाणगहणे सुयभत्ती पवयणे पहावणया ।
एएहिं कारणेहिं तित्थयरत्तं लहइ जीवो ।।

—ज्ञाताधर्मकथा–अ० ८, सू० ६४ ।

'अर्हद्वत्सलता, सिद्धवत्सलता, प्रवचनवत्सलता, गुरुवत्सलता, स्थविरवत्सलता, बहुश्रुतवत्सलता, तपस्विवत्सलता, अभीक्षा ज्ञानोपयोग, दर्शननिरतिचारता, विनय निरतिचारता, आवश्यक निरतिचारता, शीलनिरतिचारता, व्रतनिरतिचारता, क्षणलव समाधि, तपः समाधि, वैयावृत्य समाधि, अपूर्वज्ञानग्रहण, श्रुतभक्ति और प्रवचन प्रभावना, इन कारणोंसे जीव तीर्थङ्करत्वको प्राप्त करता है ।'

भाष्यकारने[1] अपने भाष्यमें प्रवचन वत्सलताका अर्थ अर्हत् शासनके अनुष्ठान करने वाले श्रुतधरोंका तथा बाल, वृद्ध, तपस्वी, शैक्ष ग्लानादिका संग्रह, उपग्रह अनुग्रह करना बतलाया है और संभवतया इस तरहसे आगमोक्त कुछ कारणोंका संग्रह करनेका प्रयत्न किया है ।

इसीसे उसकी टीकामें सिद्धसेन गणिने भी लिखा[2] है कि–'तीर्थङ्करनाम कर्मके बीस कारणोंमें से सूत्रकारने कुछ सूत्रमें कुछ भाष्यमें और कुछ आदिग्रहणसे सिद्ध पूजा और क्षणलव समाधिका ग्रहण किया है । व्याख्याताको इनका उपयोग करके व्याख्यान करना चाहिये ।' किन्तु सूत्रकारको षट्खण्डागमकी तरह सोलह संख्या ही मान्य प्रतीत होती है जो दिगम्बर परम्परा सम्मत है, क्योंकि आचार्य कुन्दकुन्दने[3] भी यद्यपि कारणोंको नहीं गिनाया तथापि उनकी संख्या सोलह ही मान्य की है । अतः उक्त सूत्रका आधार दिगम्बर परम्परा सम्मत ही होना चाहिए ।

त० सू० (९–७) में बारह अनुप्रेक्षा बतलाई हैं । उपलब्ध आगमोंमें कहीं भी बारह अनुप्रेक्षाएं पूरी नहीं मिलतीं ।[4] स्थानांगसूत्र, सूत्रकृतांग, उत्तरा-

---

१. 'अर्हच्छासनानुष्ठायिनां श्रुतधराणां बालवृद्धतपस्विशैक्षग्लानादीनां च सङ्ग्रहोपग्रहानुग्रहकारित्वं प्रवचनवत्सलत्वमिति ।'—त० सू० भा०, ६-२३ ।

२. 'विंशतेः कारणानां सूत्रकारेण किञ्चित् सूत्रे किञ्चित् भाष्ये किञ्चित् आदि ग्रहणात् सिद्धपूजाक्षणलवध्यानभावनाख्यमुपात्तं उपयुज्य च प्रवक्ता व्याख्येयम् ।'—सि० ग० टी०,–६–२३ ।

३. 'विसयविरत्तो समणो छद्दसवरकारणाइ नाऊणं । तित्थरनामकम्मं बंधइ अचिरेण कालेण ।।' ७७ ।।–भा० प्रा० ।

४. तत्त्वा० जैनागम०–पृ०–१८१ ।

ध्ययन आदिमें फुटकर-फुटकर मिलतीं हैं। इसके विपरीत भगवती आराधनामें (गा० १७१५-१८७१) तथा मूलाचारके आठवें परिछेदमें बारह अनुप्रेक्षाओं-का क्रमवार विस्तृत वर्णन मिलता है। कुन्दकुन्दाचार्यने भी 'बारस अणुवेक्खा' नामसे बारह अनुप्रेक्षाओंका क्रमसे वर्णन किया है। और इन तीनों ग्रन्थोंमें बारह अनुप्रेक्षाओंको गिनाने वाली गाथा एक ही है। उससे तत्त्वार्थसूत्रके केवल क्रममें अन्तर है। पहली अनुप्रेक्षाका नाम उक्त ग्रन्थोंमें अध्रुव है और तत्त्वार्थमें अनित्य है। अध्रुव और अनित्यके अर्थमें कोई अन्तर नहीं है।

अतः बारह अनुप्रेक्षा परक सूत्र भी उक्त तथ्यका ही समर्थक है। त० सू० के नौवें अध्यायके नौवें सूत्रमें बाईस परीषहोंके नाम गिनाये हैं। उनमें एक नाग्न्य परीषह भी है। नाग्न्यका स्पष्ट अर्थ नंगापना है। आगमोंमें उसके स्थान-में 'अचेल' परीषह पाई जाती है। अचेलका मतलब है वस्त्रका अभाव। यद्यपि उसका मतलब भी वही है जो 'नाग्न्य' का है। तथापि अचेलकी अपेक्षा 'नाग्न्य' शब्दसे नग्न रहनेका स्पष्ट बोध होता है। जिससे प्रतीत होता है कि सूत्रकारको साधुओंकी नग्नता इष्ट थी, इसीसे उन्होंने आगमिक 'अचेल' परीषहके स्थानमें नाग्न्यको स्थान देना उचित समझा।

तत्त्वार्थसूत्र में बाईसवीं परीषहका नाम अदर्शन परीषह है। किन्तु आगमिक[1] साहित्यमें दर्शनपरीषह या सम्मत्तपरीषह नाम मिलता है। तथा त० सू० (९-१७) में एक जीव के एक साथ एक से लेकर १९ परीषह तक बतलाई है किन्तु [2]उत्तराध्ययन निर्युक्ति में २० परीषहोंका सद्भाव बतलाया है।

अतः उक्त कतिपय तथ्योंके प्रकाश में यह नहीं कहा जा सकता कि सूत्रकार श्वेताम्बर परम्परा के थे या दिगम्बर परम्परा के नहीं थे। प्रत्युत उक्त तथ्यों से तो उनके दिगम्बर परम्परा के होने का ही समर्थन होता है।

श्रीयुत[3] प्रेमीजी ने मूल सूत्रों में से दो सूत्रोंको दिगम्बर सम्प्रदायकी दृष्टि से खटकनेवाला बतलाया है। उनमें से एक सूत्र है नौवें अध्यायका 'एकादश-जिने'। इसका सीधा अर्थ है—जिन भगवानके ग्यारह परीषह होती हैं।

किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय केवली के परीषह नहीं मानता, इस लिये टीका[4]-कार पूज्यपादने शंका उठाकर उसका समाधान दो प्रकार से किया है। प्रथम तो

---

१. तत्त्व० जैनागम०, पृ० १८३।

२. बीसं उक्कोसपरा वदंति जरन्नओ हवइ एक्को। सीउसिणचरियं निसीहिया य जुगवं न वदंति ॥८२॥—उत्त० नि०।

३. जै० सा० इ०, पृ० ५३८।

४. सर्वार्थ सि० सू० ९-११।

उन्होंने परीषहका सद्भाव केवलीके उपचारसे माना है। फिर 'अथवा' कहकर 'एकादशजिने' सूत्र में 'न सन्ति' वाक्यकी कल्पना करनेका विधान किया है। संभवतया अकलंकदेव को 'न सन्ति' का अध्याहार समुचित प्रतीत नहीं हुआ अतः उन्होंने अपने तत्त्वार्थवार्तिक में 'कैश्चित् कल्प्यन्ते' वाक्यका अध्याहार किया है। जिसका मतलब होता है कि 'कोई लोग जिनके ग्यारह परीषह मानते हैं'। उक्त समाधानों से पाठकको ऐसा लगना स्वाभाविक है कि उस सूत्र का अर्थ करनेमें, दि० टीकाकारोंको थोड़ा खींचातानी करनी पड़ी है। किन्तु कर्म-सिद्धान्तके अभ्यासीको वैसा प्रतीत नहीं हो सकता। इसके स्पष्टी करणके लिये सर्वार्थसिद्धिकी पं० फूलचन्द्रजी लिखित प्रस्तावना (पृ० २८-२९) देखना चाहिये।

उक्त तथोक्त खींचातानीसे कमसे कम पूज्यपादपर लादे जानेवाले इस दोष में कि[1] उन्होंने उमास्वातिकृत तत्त्वार्थसूत्रके पाठ में संशोधन और परि-वर्तन किया, कुछ तो परिमार्जन हो जाना चाहिये। अस्तु,

दूसरा सूत्र है नौवें अध्यायका पुलाक वकुश आदि पाँच प्रकार के निर्ग्रन्थोंका प्रतिपादन करनेवाला सूत्र। यह ठीक है कि मूलाचार और भगवती अराधनामें पुलाकादिका कथन नहीं है और न कुन्दकुन्द ने ही उनका कथन किया है। किन्तु इसपग्से यह नही कहा जा सकता कि निर्ग्रन्थोंके ये भेद दिगम्बर पर-म्पराको मान्य नहीं। हाँ, उनमेंसे आदिके पुलाक मुनि अपने मूलगुणोंमें परिपूर्ण नहीं होते। प्रारम्भमें ऐसा होना संभव है। इसी प्रकार वकुशमुनिको अपने शरीरादिका मोह भी रह सकता है। उसका निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनियोंकी चर्याके साथ विरोध नहीं है। हाँ, श्रुतसागरजीने[2] जो 'संयमश्रुत' आदि सूत्रकी व्याख्या-में यह लिखा है कि असमर्थ मुनि शीतकालादिमें वस्त्रादि भी ग्रहण करते हैं और इसे कुशील मुनिकी अपेक्षा भगवती आराधनाके अभिप्रायके अनुसार बतलाया है वह ठीक नहीं है। भगवती[3] आराधनामें इस तरह का कोई विधान नही है। हाँ टीकाकार अपराजित सूरिने लिखा है कि विशेष अवस्थामें अशक्त साधु वस्त्र आदि ग्रहणकर सकते थे। उसीको श्रुतसागरजी ने भगवती आराधना-के नामसे लिख दिया है। श्रुतसागरजीके समयमें दिगम्बर परम्पराके भट्टारक वस्त्र धारण करने लगे थे। यद्यपि वे साधु नहीं माने जाते थे तथापि उनकी प्रतिष्ठा वैसी ही थी। मुसलमानों के उपद्रवों के कारण भी साधुओं के नग्न

---

१. जै० सा० इ०, पृ० ५४२। तथा पं० सुखलालजी की तत्त्वार्थसूत्र की प्रस्तावना।

२. तत्वा० वृ० पृ० ३१६।

३. भ० म० अचे० ध०, पृ० २६ आदि।

विहारमें कुछ कठिनाईयाँ उपस्थित होने लगीं थी। ऐसा उन्होंने षट्प्राभृतकी[1] अपनी टीकामें स्पष्ट लिखा है। श्रुतसागरजी के उक्त कथन के मूलमें इन सब बातों का भी प्रभाव प्रतीत होता है। अत: उसे आर्षमत नहीं माना जा सकता। और इसी लिये पुलाकादि मुनियों की चर्चाको दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता।

अतः उक्त सूत्रोंके आधारपर तत्त्वार्थसूत्रको दिगम्बर परम्पराके प्रतिकूल नहीं कहा जा सकता।

मूल सूत्र पाठ—किन्तु तत्त्वार्थ सूत्रके दो सूत्र पाठ प्रचलित हैं, यह ऊपर लिख आये हैं। अतः तत्त्वार्थ सूत्रकी परम्राका निर्णय करते समय यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि मूल सूत्र पाठ दोनोंमेंसे कौनसा है ?

श्वेताम्बर परम्परा मान्य सूत्र पाठ पर तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्य है और उसके अन्तमें ग्रन्थकारने अपनी प्रशस्ति भी दे दी है। अतः जो कोई भी प्रशस्तिको देखकर यही कहेगा कि मूल सूत्रपाठ यही है। उधर दिगम्बर परम्पराके प्रमुख टीकाकारों ने सूत्रकारका नाम तक नहीं दिया और न उनके सूत्र पाठ पर कोई तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्य ही है। उसपर आद्य टीका लिखनेवाले पूज्यपाद जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता हैं, उन्हें सूत्र रचना करनेका अभ्यास हैं, उनकी लेखन शैली प्राञ्जल और महा भाष्यकार पतञ्जलिकी शैलीकी अनुगामिनी तथा दार्शनिकतासे ओत प्रोत है। उधर तत्त्वार्थ भाष्यके रचयिताकी शैलीमें वे सब बातें नहीं हैं। इन सब बातोंके आधारपर दिगम्बर सूत्र पाठको पूज्यपादके द्वारा संवर्धित और परिष्कृत तथा उसकी आद्य टीक सर्वार्थसिद्धिको भाष्यसे अर्वाचीन कहा जाना सरल है। किन्तु तथोक्त स्वोपज्ञ भाष्यके सूत्रकार रचित होनेमें जो अनेक विप्रतिपत्तियाँ है उन्हें पहले लिखा जा चुका है और उनके रहते हुए निर्विवाद रूपसे यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि भाष्य स्वोपज्ञ ही है। और इसलिए भाष्यकी स्वोपज्ञताके आधार पर उसके सूत्र पाठको भी मूल सूत्र पाठ नहीं कहा जा सकता।

यह भी हम पहले लिख आये हैं कि भाष्य मान्य सूत्र पाठ भाष्यके होते हुए भी एकरूपताको लिये हुए नहीं है, उसके सम्बन्धमें पाठान्तरों और मतान्तरोंका बाहुल्य है। उधर दि० परम्पराको मान्य सूत्र पाठमें अविच्छिन्न एक रूपता है जिस सूत्र पाठपर पूज्यपादने सर्वार्थ सिद्धि रची, उसी सूत्र पाठको आज तकके टीकाकारोंने

१. 'को अपवादवेषः ? कलौ किल म्लेच्छादयो नग्नं दृष्ट्वोपद्रवं यतीनां कुर्वन्ति तेन मण्डप दुर्गे श्रीवसन्तकीर्तिस्वामिना चर्यादिवेलायां तट्टीससादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिकं कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चन्तीत्युपदेशः कृतः संयमिनामित्यपवादवेषः।

अपनाया है, न उसमें कोई पाठान्तर है और न मतान्तर है। किन्तु सर्वार्थ सिद्धिमें दो पाठान्तर पाये जाते हैं। दूसरे अध्यायके अन्तिम सूत्रमें 'चरमोत्तम देहा' पद आता है उसकी व्याख्या करते हुए पूज्यवाद ने 'चरम देहा इति वा पाठ:' ऐसा लिखा है। भाष्य मान्य सूत्र पाठमें ,चरमदेहोत्तमपुरुषा' पाठ है। और भाष्यमें उसका अर्थ 'चरम देहा उत्तम पुरुषा:' किया है। अतः सर्वार्थसिद्धिमें दिया गया उक्त पाठान्तर भाष्यमान्य सूत्रपाठका तो नहीं है।

दूसरा पाठान्तर प्रथम अध्यायके 'बहुबहुविधि' आदि सूत्रकी टीकामें है। यह पाठान्तर पूर्व पाठान्तरसे बहुत स्पष्ट है। इसका निर्देश 'अपरेषां क्षिप्रनिसृत इति पाठ:' के रूपमें किया गया है। जिसका अर्थ होता है कि दूसरोंके मतसे क्षिप्रानिसृतके स्थान में क्षिप्रनिसृत पाठ है। यहाँ पूज्यपाद स्वामी ने केवल पाठान्तरका ही निर्देश नहीं किया किन्तु 'त एवं वर्णयन्ति' लिखकर वे उसकी जो व्याख्या करते हैं उसे भी दिया है।

भाष्यमान्य सूत्र पाठमें 'क्षिप्रानिश्रित' पाठ है। अतः यह पाठान्तर भी उसका नहीं है। इन दो पाठान्तरोंसे और विशेषतया दूसरे पाठान्तरसे यह स्पष्ट है कि पूज्यपादके सामने तत्त्वार्थ सूत्रकी अन्य प्रतियाँ भी थीं और उनमें ऐसी प्रति भी थी जिसमें सूत्रकी व्याख्या या टिप्पणी वगैरह भी थी। क्योंकि उसके विना 'त एवं वर्णयन्ति' जैसी बात नहीं लिखी जा सकती। अतः सर्वार्थ सिद्धि को दिगम्बरीय सूत्र पाठकी आद्य टीका तथा उसके रचयिता पूज्यपादको दिगम्बरीय सूत्र पाठका प्रवर्तक और भाष्य मान्य सूत्र पाठको मूल सूत्र पाठ कहना निर्भ्रान्त नहीं है। और भ्रान्त धारणाओंके आधार पर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सकता।

फिर भी जो सूत्र दोनों सूत्र पाठोंमें समान हैं उनके आधार पर सूत्रकारकी मान्यताएँ दिगम्बर परम्पराके ही अनुकूल ठहरती हैं, यह हम ऊपर लिख आये हैं।

सूत्ररचनाका समय

अब हम तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाके समयपर विचार करेंगे।

१. दिगम्बर सूत्र पाठपर उपलब्ध आद्य टीका सर्वार्थ सिद्धि है और सर्वार्थ सिद्धिके रचयिता पूज्यपाद देवनन्दिका समय विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीका उत्तरार्ध और छठीका पूर्वार्ध है। अतः तत्त्वार्थ सूत्र विक्रमकी पाँचवीं शताब्दीके उत्तरार्धसे पूर्व रचा जा चुका था, यह सुनिश्चित है।

२. षट्खण्डागमके[1] कतिपय सूत्रोंका तत्त्वार्थ सूत्रपर प्रभाव है यह पहले

---

१. इस विषयमें एक और भी उदाहरण यहाँ उपस्थित किया जाता है जो पीछे नहीं दिया जा सका। त० सू० (९-४५) 'सम्यग्दृष्टि श्रावक' आदि सूत्रके उद्गमका मूल श्वे० आगमोंमें नहीं मिलता। इसीसे 'तत्त्वार्थ सूत्र जैनागम

लिख आये हैं तत्त्वार्थ वार्तिकके प्रणेता अकलंकदेव तकका यह कहना है कि षट्खडागमके सूत्रोंके अनुसार तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंकी रचना हुई है। षट्खण्डागमका रचनाकाल विक्रमकी दूसरी शताब्दीका तृतोय चरण है अतः तत्त्वार्थ सूत्र उसके पश्चात् रचा गया है।

३. श्रवण वेलगोलाके शिलालेखोंके अनुसार सूत्रकार गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वाति कुन्द-कुन्दके अन्वयमें हुए हैं और विद्वज्जन बोधकमें उद्धृत एक श्लोकके अनुसार वे कुन्द-कुन्दके समकालीन थे तथा उनका समय वीर निर्वाण सम्बत् ७७० (वि० सं० ३००) था। कुन्द-कुन्दके अन्य उल्लेखोंके अनुसार इस समयकी संगति ठीक बैठ जाती है। यह हम पहले कुन्दकुन्दका समय निर्णीत करते समय विस्तारसे लिख चुके हैं और यह भी लिख आये हैं कि तत्त्वार्थ सूत्रपर कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंका भी प्रभाव है। अतः कुन्द-कुन्दके पश्चात् उन्हींके समकालमें तत्त्वार्थ सूत्र कारका होना समुचित प्रतीत होता है। अतः विक्रमकी तीसरी शताब्दीके अन्तमें तत्त्वार्थ सूत्र रचा गया है।

श्री० पं० सुखलालजीने तत्त्वार्थ सूत्र विवेचनकी हिन्दी भूमिकामें उमास्वातिके समयके सम्बन्धमें विचार करनेके लिए तीन बातोंका उपयोग किया है—शाखानिर्देश, प्राचीनसे प्राचीन टीकाकारों का समय और अन्य दार्शनिक ग्रन्थोंकी तुलना। तीनोंका विवेचन करते हुए पंडितजीने लिखा है—

१. प्रशस्तिमें जिस 'उच्चैर्नागर शाखा' का निर्देश है वह शाखा कब निकली यह तो निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता, तो भी कल्प सूत्रकी स्थविरावलीमें उच्चानागरी शाखाका उल्लेख है और लिखा है कि यह शाखा आर्य शान्ति श्रेणिकसे निकली है। आर्य शान्ति श्रेणिक आर्य सुहस्तीसे चौथी पीढ़ीमें आते हैं तथा यह शान्ति श्रेणिक आर्य वज्रके गुरु आर्य सिंह गिरिके गुरुभाई होनेसे आर्य वज्रकी पहली पीढीमें आते हैं। आर्य सुहस्तिका स्वर्गवास वीरात् २९१ और

समन्वयमें' उसके नीचे १४ गुणस्थानोंके नाम दिये हैं जिनके साथ उक्त सूत्रका कोई सम्बन्ध सिद्ध नही होता। किन्तु षट्खण्डागम (पु० १२, पृ० ७८) के मूलमें दो गाथाएँ ऐसी है जिनके आधारपर ही उक्त सूत्र रचा गया है। दोनों गाथाएँ इस प्रकार है—सूत्रसे तुलना करें। 'सम्मत्तुप्पत्ती विय सावय-विरदे अणंतकम्मंसे। दसंणमोहक्खवए कसाय उवसामए य उवसंते ॥७॥ खवए य खीणमोहे जिणे य णियमा भवे असंखेज्जा। तव्विरीदो कालो संखेज्जगुणा य सेडीओ ॥' 'सम्यग्दृष्टि श्रावक विरतानन्त वियोजकदर्शनमोहक्षपकोपशमकोपशान्तमोह-क्षपकक्षीणमोहजिनाः क्रमशोऽसंख्येयगुणनिर्जराः ॥४५॥

वज्रका स्वर्गवास समय वीरात् ५८४ उल्लिखित है। अर्थात् सुहस्तिके स्वर्गवास समयसे वज्रके स्वर्गवास समय तक २९३ वर्षके भीतर पांच पीढ़ियां उपलब्ध होती हैं। इस तरह सरसरी तौरपर एक-एक पीढ़ीका काल साठ वर्षका मान लेनेपर सुहस्तिसे चौथी पीढ़ीमें होनेवाले शान्ति श्रेणिकका प्रारम्भकाल वीरात् ४७१ आता है। इस समयके मध्यमें या थोड़ा आगे पीछे शान्ति श्रेणिकसे उच्च-नागरी शाखा निकली होगी। वाचक उमास्वाति शान्ति श्रेणिककी ही उच्चा-नागर शाखामें हुए हैं ऐसा मानकर और इस शाखाके निकलनेका जो समय अनुमान किया गया है उसे स्वीकार करके यदि आगे चला जाये तो भी यह कहना कठिन हैं कि वा० उमास्वाति इस शाखाके निकलनके बाद कब हुए है? क्योंकि अपने विद्यागुरु और दीक्षागुरुके जो नाम उन्होंने प्रशस्तिमें दिये हैं उनमें-से एक भी कल्पसूत्रकी स्थविरावलीमें या उस प्रकारकी किसी दूसरी पट्टावलीमें नहीं पाया जाता। इससे उमास्वातिके समय सम्बन्धमें स्थविरावलीके आधारपर यदि कुछ कहना हो तो अधिकसे अधिक इतना ही कहा जा सकता हैं कि वे वीरात् ४७१ अर्थात् विक्रम सम्बत्के प्रारम्भके लगभग किसी समय हुए हैं, उससे पहले नही, इससे अधिक परिचय अन्धकारमें है।'

इल तरहसे पं० सुखलालजीने उमास्वातिकी आदि अवधि विक्रम सम्वत्का प्रारम्भ निर्धारित की है और अन्तिम अवधि पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि टीकाके आधारपर विक्रमकी पाँचवीं शताब्दी निर्धारित की है। तथा उक्त विचार सरणिके अनुसार उनका प्राचीनसे प्राचीन समय विक्रमकी पहली शताब्दी और अर्वाचीनसे अर्वाचीन समय तीसरी चौथी शताब्दी बतलाया है और लिखा है कि इन तीन चारसौ वर्षोंके अन्तरालमें उमास्वातिका निश्चित समय शोधने का काम बाकी रह जाता है।

उक्त शोधके सिलसिलेमें पं० जीने लिखा है—

(क) द्रव्य गुण तथा कालके लक्षणवाले तत्त्वार्थके तीन सूत्रोंके लिये उत्तरा-ध्ययनके सिवाय किसी प्राचीन श्वेताम्बर जैन आगम अर्थात् अंगका उत्तराध्ययन जितना ही शाब्दिक आधार हो ऐसा अभी तक देखनेमें नहीं आया। परन्तु विक्रमकी पहली दूसरी शताब्दीके माने जानेवाले कुन्दकुन्दके प्राकृत वचनोंके साथ तत्त्वार्थके संस्कृत सूत्रोंका कहीं तो पूर्ण सादृश्य है ओर कहीं बहुत ही कम। ....इसके सिवाय कुन्दकुन्दके प्रसिद्ध ग्रन्थोंके साथ तत्त्वार्थ सूत्रका जो शाब्दिक और वस्तुगत महत्त्वका सादृश्य है वह आकस्मिक तो नहीं।

(ख) यदि महाभाष्यकार और सूत्रकार पतंजलि एक हों तो योग सूत्र विक्रमके पूर्व पहली दूसरी शताब्दीका है ऐसा कहा जा सकता है। योग सूत्रका व्यासभाष्य कबका है वह भी निश्चित नहीं है। फिर भी उसे विक्रमकी तीसरी

शताब्दीसे प्राचीन माननेका कोई कारण नहीं है। योगसूत्र और उसके भाष्यके साथ तत्त्वार्थके सूत्रों और उसके भाष्यका शाब्दिक तथा आर्थिक सादृश्य बहुत है। तो भी दोनोंमेंसे किसी एकके ऊपर दूसरेका असर है यह भी इसी प्रकार कहना शक्य नहीं। ....ऐसा होते हुए भी तत्त्वार्थके भाष्यमें एक ऐसा[1] स्थल है जो जैन अंग ग्रन्थोंमें इस समय तक उपलब्ध नहीं और योगसूत्रके भाष्यमें उपलब्ध है।

(ग) अक्षपादका न्याय दर्शन इस्वी सन्के आरम्भके लगभगका रचा हुआ माना जाता है। उसका वात्स्यायन भाष्य दूसरी तीसरी शताब्दीके भाष्यकालकी प्रारम्भिक कृतियोंमेंसे एक कृति है। इस कृतिके कुछ शब्द और विषय तत्त्वार्थ भाष्यमें पाये जाते हैं।

उक्त तुलनासे पण्डितजीने कोई निष्कर्ष तो नहीं निकाला है केवल इतना ही लिखा है कि ये बातें भी हमें उमास्वातिके उपर्युक्त अनुमानित समयकी तरफ ही ले जाती हैं। फिर भी पं० जी के उक्त कथनसे भी तत्त्वार्थ सूत्रका रचना काल विक्रमकी तीसरी शाताब्दीका अन्त ही समुचित प्रतीत होता है।

1. 'यथाहि संहतस्य शुष्कस्यापि तृणराशेरवयवशः क्रमेण दह्यमानस्य चिरेण दाहो भवति तस्यैव शिथिल प्रकीर्णापचितस्य सर्वतो युगपदादीपितस्य पवनक्रमाभिहतास्याशुदाहो भवति.... यथा वा धौतपटो जलार्द्र एव च वितानितः सूर्यरश्मिवाय्वभिहतःक्षिप्रं शोषमुपयाति न च संहते....।' —तत्त्वार्थ भाष्य —२, ५२। 'यथाऽर्द्रं वस्त्रं वितानितं ह्रसीयसा कालेन शुष्येत्तथा सोपक्रमम्। यथा च तदेव संपिण्डितं चिरेण संशुष्येदेवं निरुपक्रमम्। यथा चाग्निः शुष्के कक्षे मुक्तो वातेन समन्ततो युक्तः क्षेपीयसा कालेन दहेत तथा सोपक्रमम्। यथा वा स एवाग्निस्तृणराशौ क्रमशोऽवयवेषु न्यस्तश्चिरेण दहेत् तथा निरुपक्रमम्।' —योगभाष्य ३, २२।

जैनसाहित्यका इतिहास

तृतीय भाग

पंचम अध्याय

तत्त्वार्थविषयक टीका-साहित्य

पिछले अध्यायमें तत्त्वार्थ-विषयक मूल साहित्यका इतिवृत्त अंकित किया जा चुका है। अब इस अध्यायमें तत्त्वार्थ-विषयक टीका-साहित्य पर प्रकाश डाला जायगा।

यहाँ यह स्मरणीय है कि आचार्य पूज्यपादका सर्वार्थसिद्धि-ग्रन्थ, अकलङ्क देवका तत्त्वार्थ वार्तिक ग्रन्थ और श्रुत सागर सूरिकी तत्त्वार्थवृत्ति ऐसे टीका-ग्रन्थ हैं, जो मूल ग्रन्थोंकी श्रेणीमें स्थान प्राप्त करते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि आचार्योंका यह टीका-साहित्य विस्तारकी दृष्टिसे तो महत्त्वपूर्ण है ही, पर प्रमेय-विवेचनकी दृष्टिसे भी अत्यन्त उपादेय है।

आचार्य पूज्यपाद-देवनन्दि

तत्त्वार्थसूत्रके प्रकरणमें लिख आये हैं कि तत्त्वार्थसूत्रपर उपलब्ध आद्य वृत्ति पूज्यपाद-देवनन्दिकृत सर्वार्थसिद्धि नामक टीका है। इस टीकामें टीकाकारने कहीं भी अपने नामका संकेत तक नहीं दिया। किन्तु श्रवणवेल गोलाके शिला-लेख नं० ४० से ज्ञात होता है कि पूज्यपाद देवनन्दि ही सर्वार्थसिद्धिके कर्ता हैं।

इसी शिलालेखसे[1] यह भी ज्ञात होता है कि उनका पहला नाम देवनन्दि था, बुद्धिकी महत्ताके कारण वे जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये, और देवोंने उनके चरणोंकी पूजाकी इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

श्रवणवेल गोलाके ही एक दूसरे शिलालेख[2] नं० १०८में भी उनका गुणगान

१. 'यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धिः।
श्री पूज्यपादोऽजनि देवताभिर्यत्पूजितं पादयुगं यदीयम् ॥ १० ॥'
—जै० शि० सं०, भा० १, पृ० २५।

२. 'श्री पूज्यपादो धृतधर्मराज्यस्ततो सुराधीश्वर पूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुध्दृतानि ॥ १५ ॥

करते हुए लिखा है—'श्री पूज्यपादने धर्मराज्यका उद्धार किया था, इसीसे आप देवोंके अधिपतिके द्वारा पूजे जाकर 'पूज्यपाद' कहलाये। उनके वैदुष्य आदि गुणोंको आज भी उनके द्वारा रचे हुए शास्त्र बतला रहे हैं। आप जिनेन्द्रकी तरह विश्वबुद्धिके धारक थे, कामदेवको जीतनेवाले थे और ऊँचे दर्जेके कृतकृत्य-भावको धारण किये हुए थे। इसीसे योगियोंने आपको 'जिनेन्द्र बुद्धि' ठीक ही कहा था।'

आगे लिखा है—'वे पूज्यपाद मुनि जयवन्त हों, जो अद्वितीय औषध ऋद्धिके धारक थे, विदेह स्थित जिनेन्द्र भगवानके दर्शनसे जिनका शरीर पवित्र हो गया था और जिनके चरण धोए जलके स्पर्शसे एक समय लोहा भी सोना बन गया था।'

आचार्य कुन्दकुन्दके प्रकरणमें यह लिखा जा चुका है कि विदेहगमनकी बात केवल कुन्दकुन्दाचार्यके सम्बन्धमें ही प्रवर्तित नहीं है, पूज्यपादके सम्बन्धमें भी प्रवर्तित है। जैसा कि शिलालेखके उक्त कथनसे व्यक्त होता है।

अन्य आचार्यों के द्वारा स्मरण

अनेक ग्रन्थकारोंने अपने ग्रन्थोंके आदिमें पूज्यपाद देवनन्दिका बड़े आदरके साथ स्मरण किया है।

श्री जिनसेनाचार्यने[1] अपने आदिपुराणके प्रारम्भमें संक्षितनाम 'देव'से उनका स्मरण करते हुए उन्हें कवियोंका तीर्थङ्कर कहा है। और उनके वचनमय तीर्थको अर्थात् शब्द शास्त्ररूप व्याकरणको विद्वानोंके वचनमलको नष्ट करने वाला वतलाया है।

इसी तरह वादिराज[2] सूरिने भी अपने पार्श्वनाथ चरितके आदिमें 'देव'

धृतविश्वबुद्धिरयमत्र योगिभिः कृतकृत्यभावमनुबिभ्रदुच्चकैः।
जिनवद् बभूव यदनङ्गचापहृत् स जिनेन्द्रबुद्धिरिति साधुवर्णितः॥ १६॥
श्री पूज्यपादमुनिरप्रतिमौषधर्द्धि र्जीयाद् विदेहजिनदर्शनपूतगात्रः।
यत्पादधौतजलसंस्पर्शप्रभावात् कालायसं किल तदा कनकीचकार॥ १७॥
—जै० शि० सं०, भा० १, पृ० २११।

१. 'कवीनां तीर्थकृद्देवः कितरां तत्र वर्ण्यते।
विदुषां वाङ्मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचोमयम्॥ ५२॥
—म० पु०, पर्व १।

२. 'आचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।
शब्दाश्च येन सिद्धयन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः'॥ १२॥
—पार्श्व० च०, १ सर्ग।

नामसे उनका स्मरण करते हुए उन्हें अचिन्त्यमहिमायुक्त और अपना हित चाहने वालोंके द्वारा सदा बन्दनीय कहा है और कहा है कि उनके द्वारा शब्दकी सिद्धि भले प्रकार होती है।

श्री शुभचन्द्राचार्यने भी अपने[1] पाण्डवपुराणके प्रारम्भमें पूज्यपादका स्मरण करते हुए उन्हें व्याकरण रूपी समुद्रका पारगामी बतलाया है।

ज्ञानार्णवके[2] रचयिता शुभचन्द्र सूरिने अपने ज्ञानार्णवके प्रारम्भमें देवनन्दिको नमस्कार करते हुए कहा है कि उनके वचन प्राणियोंके काय, वचन और मनः सम्बन्धी दोषोंको दूर करते हैं। अर्थात् उनके वैद्यक शास्त्रसे शरीरके, व्याकरण शास्त्रमें वचनके और समाधिशास्त्रसे मनके विकार दूर हो जाते हैं।

उक्त आदरपूर्ण संस्तवनोंसे स्पष्ट है कि आचार्य पूज्यपाद एक अत्यन्त आदरास्पद और प्रख्यात जैनाचार्य हो गये हैं। उनका पाण्डित्य सर्वविश्रुत था। व्याकरण, जैन सिद्धान्त, दर्शन, काव्य, वैद्यक आदि सभी विषयोंमें उनकी अव्याहतगति थी और इन सभी विषयोंमें ग्रन्थ रचना करके उन्होंने भारतीय संस्कृत साहित्यके भण्डारको समृद्ध बनाया था।

वैदुष्य—पूज्यपाद स्वामीकी रचनाओंके अवगाहनसे उनके असाधारण वैदुष्यका परिचय मिलता है। संस्कृत भाषा पर तो उनका असाधारण अधिकार था ही। तब तक किसी जैनाचार्यने संस्कृत भाषाका कोई व्याकरण नहीं बनाया था। उस कार्यको सबसे प्रथम पूज्यपादने किया। उनके जैनेन्द्रव्याकरणका प्रथम सूत्र 'सिद्धिरनेकान्तात्' है, जो बतलाता है कि शब्दोंकी सिद्धि भी अनेकान्तवादसे होती है। जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है। अतः पूज्यपादने पदार्थशास्त्रकी तरह शब्दशास्त्रमें भी अनेकान्तवाद दर्शनको अपने व्याकरणके द्वारा अवतारित किया है।

उनकी सर्वार्थ सिद्धि उनके बौद्ध, न्यायवैशेषिक आदि दर्शनोंमें पाण्डित्यको प्रकट करती है। उसकी उत्थानिकाके आरम्भमें ही उन्होंने सांख्य, वैशेषिक और बौद्धाभिमत मोक्षके लक्षणोंकी समीक्षा परिमित शब्दोंमें की है। उसके प्रथम अध्यायके दूसरे सूत्रकी व्याख्यासे उन्होंने 'तत्त्वके श्रद्धानको सम्यग्दर्शन

१. 'पूज्यपादः सदापूज्यपादः पूज्यैः पुनातु माम्।
व्याकरणार्णवो येन तीर्णो विस्तीर्णसद्गुणः' ॥ १६ ॥

—पा० पु० १ पर्व।

२. 'अपाकुर्वन्ति यद्वाचः कायवाक् चित्तसंभवम्।
कलङ्कभंगिमां सोऽयं देवनन्दी नमस्यते ॥

—ज्ञाना०

कहते हैं[1] इस पर आपत्ति करते हुए लिखा[1] है कि कुछ दार्शनिक सत्ता, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व आदि तत्त्व है ऐसा मानते हैं। कुछ 'यह सब जगत पुरुष (ब्रह्म) ही है, ऐसा एकतत्त्व मानते हैं। 'तत्प्रमाणे' सूत्रकी व्याख्यामें उन्होंने सन्निकर्ष-वादका तथा वैशेषिकोंके संसर्गवादका, 'प्रत्यक्षमन्यत् ॥१२॥' सूत्रकी व्याख्यामें इन्द्रियपूर्वकज्ञानके प्रत्यक्षत्वका निषेध करते हुए योगिप्रत्यक्षको अनेकार्थग्राही माननेपर उसके विरोधमें एक कारिका 'विजानाति न विज्ञानं' इत्यादि उपस्थित की है जो बौद्ध विज्ञानवादकी प्रतीत होती है। उसीके आगे 'क्षणिकाः सर्वसंस्काराः' बौद्धोके इस मतका निर्देश करके उसका खण्डन किया है और प्रदीपको भी अनेक-क्षणवर्ती बतलाया है।

इसी तरह पाँचवें अध्यायमें 'द्रव्यत्वयोगात्[2] द्रव्यम्' इस वैशेषिक मान्यताका खण्डन करके वैशेषिकोंके नौद्रव्यवादका निराकरण किया है। इनसे प्रकट है कि पूज्यपाद उक्तदर्शनके विशिष्ट अभ्यासी थे। जैनसिद्धान्तके तो वे मार्मिक पण्डित थे ही। 'त० सू० १-८ की' व्याख्यामें उन्होंने आठों अनुयोगद्वारोंका विवेचन षट्खण्डागमके सूत्रोंके आधारसे बहुत विस्तारसे किया है तथा अन्य सूत्रोंकी व्याख्यामें अनेक सैद्धान्तिक बातोंका विवेचन बड़ी सूक्ष्मदर्शिताके साथ सयुक्तिक किया है।

उनके समाधिशतक और इष्टोपदेश उनके अध्यात्मविषयक चिन्तनको प्रकट करते हैं। और बतलाते हैं कि उन्होंने कुन्दकुन्दाचार्यके ग्रन्थोंका अच्छा मनन किया था।

इस तरह पूज्यपाद व्याकरण, जैनसिद्धान्त-इतरदर्शन तथा अध्यात्यके प्रखर विद्वान थे और उन्होंने अपने समयके विशिष्ट ग्रन्थोंका गम्भीर अध्ययन किया था।

पूज्यपादके जन्मस्थान, पितृकुल तथा गुरुकुलके विषयमें कुछ भी ज्ञात नहीं होता। कनड़ी भाषामें चन्द्रय्य नामक कविका बताया हुआ एक पूज्यपाद चरित है जो दुषमकालके परिधावी संवत्सरकी आश्विन शुक्ला ५ शुक्रवारको समाप्त हुआ था। चरितमें अनेक ऐसी बाते हैं जो इतिहास विरुद्ध हैं। अतः उसे विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। उसमें पाणिनि व्याकरणके रचयिता पाणिनिको पूज्यपादका मामा बतलाया हैं। 'कर्नाटक देशके कोले नामक ग्रामसे

१. 'सत्ता-द्रव्यत्व-गुणत्व-कर्मत्वादि तत्त्वमिति कैश्चित्कल्प्यते।' तत्त्वमेकत्वमिति वा सर्वैक्यग्रहणप्रसङ्गः। पुरुष एवेदं सर्वमित्यादि कैश्चित् कल्प्यते।'

—सर्वा० सि०, १-२।

२. सर्वा० सि० ५-२ तथा ५-३।

माधवभट्ट नामक ब्राह्मण और श्रीदेवी ब्राह्मणी उनके पिता और माता थे। पाणिनि माधवभट्टके साले थे। पाणिनि अपने व्याकरणको पूरा किये बिना ही मर गये तब पूज्यपादने उसे पूरा किया।

पाणिनि[1] पूज्यपादसे लगभग एक हजार वर्ष पूर्व हुए हैं। पाणिनि व्याकरण पर रचित कात्यायनके वार्तिक सर्वार्थसिद्धिमें उद्धृत हैं। अतः उक्त कथा विश्वसनीय नहीं है। कथामें चमत्कार प्रदर्शक अन्य भी अनेक बातें हैं। यथा—

पूज्यपाद स्वामी पैरोंमें लेप लगाकर आकाश मार्गसे विदेह क्षेत्र जाया करते थे। एकबार उनकी दृष्टि नष्ट हो गई तो शान्त्यष्टकके पाठसे वह पुन. प्राप्त हो गई। उनके चरणोंको देव पूजते थे। उन्हें औषधऋद्धि प्राप्त थी। इनमेंसे कुछ बातोंका शिलालेखोंमें भी उल्लेख मिलता है।

रचित ग्रन्थ—श्रवणवेलगोलाके शिलालेख[2] (४०) में पूज्यपादका स्तवन करते हुए लिखा है—'जिनका जैनेन्द्र' (व्याकरण) शब्द शास्त्रोंमें अपने अतुलित भागको, सर्वार्थसिद्धि सिद्धान्तमें परम निपुणताको, जैनाभिषेक ऊँचे दर्जेके कवित्वको, छन्दशास्त्र बुद्धिकी सूक्ष्मताको और समाधि शतक जिनकी स्वस्थता (स्वात्मस्थिति) को विद्वानों पर प्रकट करता है वे श्री पूज्यपाद मुनीन्द्र मुनियोंके गणोंसे पूजनीय हैं।'

इससे जहाँ पूज्यपाद रचित जैनेन्द्र व्याकरण, सर्वार्थसिद्धि, जैनाभिषेक, छन्द शास्त्र और समाधि शतक नामक ग्रन्थोंका पता चलता है वहाँ उनके सर्व शास्त्र विषयक पाण्डित्य का भी पता चलता है। वे वैयाकरण थे, जैन सिद्धान्तके मर्मज्ञ थे, कवि थे, सूक्ष्मबुद्धि थे और इतना सब कुछ होनेके साथ ही साथ अध्यात्मरत भी थे। इस तरह यद्यपि वे सर्वशास्त्र निष्णात थे, किन्तु सर्वत्र उनकी ख्याति शब्दशास्त्र विषयक पाण्डित्य को ही लेकर विशेष थी, यह बात ऊपर के स्मरणोंसे स्पष्ट है। मुग्धबोध के कर्ता बोपदेवने आठ वैयाकरणोंमें जैनेन्द्रका भी नामोल्लेख किया है। यह जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिता पूज्यपाद देवनन्दि ही हैं।

१. इस सम्बन्धमें विशेष जाननेके लिये देखो—'पाणिनि पतञ्जलि और पूज्यपाद' शीर्षक हमारा लेख—जै० सि० भा०, भाग ६, कि० ४, पृ० २१६ आदि।

२. 'जैनेन्द्रं निजशब्दभागमतुलं सर्वार्थसिद्धिः परा, सिद्धान्ते निपुणत्वमुद्धकविता जैनाभिषेकः स्वकः। छन्दः सूक्ष्मधियं समाधिशतकं स्वास्थ्यं यदीयं विदामाख्यातीह स पूज्यपादमुनिपः पूज्यो मुनीनां गणैः।'—जै० शि० सं० भा० १, पृ० २५।

नगर ताल्लुकके[1] शिलालेख (नं० ४६) में पूज्यपादका स्मरण करते हुए उनके द्वारा रचित कुछ अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है। उसमें लिखा है—'जिन्होंने सकल बुधजनोंसे स्तुत जैनेन्द्र नामका न्यास बनाया, पुनः पाणिनि-व्याकरण पर शब्दावतार नामका न्यास लिखा, तथा मनुष्य समाजके हितके लिये वैद्यक शास्तकी रचना की, और फिर तत्त्वार्थकी टीका रची, वे राजाओं से पूजनीय, स्वपरहितकारी वचन वाले और दर्शन ज्ञान चारित्र से पूर्ण पूज्यपाद स्वामी शोभायमान हैं।'

उक्त शिलालेखमें निर्दिष्ट ग्रन्थोंकी स्थिति चिन्त्य है। अतः उनकी रचनाओं पर यहाँ संक्षेपमें प्रकाश डाला जाता है—

जैनेन्द्रव्याकरण[2]—श्र० वे० गो० के शिलालेखमें पूज्यपादको जैनेन्द्र व्याकरणका रचयिता बतलाया है। महाकवि धनंजयने अपनी नाममालामें पूज्यपादके लक्षणग्रन्थ (व्याकरण) का उल्लेख किया है। गणरत्न महोदधिके कर्ता वर्धमान और हैम शब्दानुशासनके लघुन्यास बनाने वाले कनकप्रभ भी जैनेन्द्र व्याकरणके रचयिताका नाम देवनन्दि बतलाते हैं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह व्याकरण देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ है।

जैनेन्द्रकी जो हस्तलिखित प्रतियाँ पाई जाती हैं उसके प्रारम्भमें एक श्लोक मिलता है उसमें ग्रन्थकर्ताने भगवानके विशेषणरूपमें प्रयुक्त 'देवनन्दितपूजेशं' पदके द्वारा अपना नाम भी प्रकट कर दिया है। इससे भी जैनेन्द्रके कर्ता देवनन्दि ही ठहरते हैं।

जैनेन्द्रन्यास— ताल्लके के शिखालेखमें पूज्यपाद रचित जैनेन्द्र न्यासका भी निर्देश है। किन्तु यह अभी तक अनुपलब्ध है। उसी शिलालेखमें यह भी निर्देश है कि पूज्यपादने पाणिनि व्याकरणपर शब्दावतार नामक न्यास बनाया था। पाणिनि व्याकरणकी काशिका वृत्तिपर एक न्यास है उसके कर्ताका नाम भी

---

१. 'न्यासं जैनेन्द्रसंज्ञं सकलबुधनुतं पाणिनीयस्य भूयो
न्यासं शब्दावतारं मनुजततिहितं वैद्यशास्त्रं च कृत्वा।
यस्तत्त्वार्थस्य टीकां व्यरचयदिह भात्यसौ पूज्यपाद-
स्वामी भूपालवन्द्यः स्वपरहितवचः पूर्णदृग्बोधवृत्तः।'

२. जैनेन्द्र व्याकरण और उसके कर्ता पूज्यपादके सम्बन्ध में विशेष जानने के लिये जै० सा० इ० में 'देवनन्दिका जैनेन्द्र व्याकरण' शीर्षक निबन्ध तथा जैनेन्द्र महावृत्ति' (भा० ज्ञा० पी० काशी) की भूमिका तथा उसीमें 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन तथा उसके खिलपाठ' शीर्षक श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकका लेख पढ़ने चाहिये।

जिनेन्द्र बुद्धि है । किन्तु वे बौद्ध साधु थे । नामसाम्यके कारण कहीं पूज्यपादको पाणिनि व्याकरणपर न्यासका रचयिता न समझ लिया गया हो, ऐसा सन्देह होता है क्योंकि इसका समर्थन अन्यत्रसे नहीं होता ।

वैद्यक ग्रन्थ—नगर ताल्लुके के शिला लेखमें पूज्यपाद रचित एक वैद्यक ग्रन्थका भी उल्लेख है । ज्ञानार्णवके 'अपाकुर्वन्ति यद्वाचः' इत्यादि स्मरणात्मक श्लोक से भी ऐसा ध्वनित होता है कि पूज्यपादका कोई वैद्यक ग्रन्थ भी था ।

पूनेके भण्डार रिसर्च इन्स्टीटयूटमें पूज्यपादकृत वैद्यक नामका एक ग्रन्थ है । किन्तु वह आधुनिक कनड़ी भाषामें लिखा हुआ कनड़ी भाषाका ग्रन्थ है । उसमें न तो पूज्यपादका कोई उल्लेख है और न वह पूज्यपादका बनाया हुआ है । वैद्यसार नामका एक ग्रन्थ आरासे प्रकाशित हुआ है । उसमें जो प्रयोग दिये हुए है उनके अन्तमें 'पूज्यपादेन भाषितः' या 'निर्मितः' जैसे शब्दोंका प्रयोग किया गया है । इससे तथा रचना शैली आदिसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह भी इन पूज्यपादका बनाया हुआ नहीं है ।

इसी तरह आरासे प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रहमें निदान मुक्तावली और मदन कामरत्न नामके दो वैद्यक ग्रन्थोंका परिचय दिया है । जिनमें उन्हे पूज्यपादके द्वारा रचित बतलाया गया है । किन्तु वे पूज्यपाद रचित नहीं हैं ।

विजय नगरके राजा हरिहरके समयमें एक मंगराज नामके कनड़ी कवि हुए हैं । उनका अस्तित्वकाल वि० सं० १४१६ के लगभग है । स्थावरविषोंकी प्रक्रिया और चिकित्सा पर उनका खगेन्द्र मणिदर्पण नामका ग्रन्थ है । वे उसमें अपनेको पूज्यपादका शिष्य बतलाते हैं और अपने ग्रन्थको पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थ से संग्रहीत बतलाते हैं । शोलापुरसे उग्रादित्याचार्यका 'कल्याण कारक' नामका ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है । उसमें भी अनेक जगह 'पूज्यपादेन भाषित' कहकर पूज्यपादके वैद्यक ग्रन्थका उल्लेख किया गया है । अतः पूज्यपाद देवनन्दिका वैद्यक विषय पर कोई ग्रन्थ अवश्य रहा है, ऐसा प्रतीत होता है । श्रवणवेल गोलाके एक शिलालेखमें जो उन्हें अनुपम औषधऋद्धिका धारी बतलाया है उससे भी उनके चिकित्सा शास्त्रमें निपुणत्वका ही समर्थन होता है । तत्त्वार्थसूत्रकी सर्वार्थसिद्धि टीकापर आगे विस्तारसे प्रकाश डाला जायेगा । छन्दशास्त्र और जैनाभिषेक नामके ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं और इनका अन्यत्र भी कोई संकेत नहीं मिलता ।

समाधितंत्र और इष्टोपदेश नामक ग्रन्थोंके सम्बन्धमें आध्यात्मिक ग्रन्थोंके इतिहासमें लिखा जा चुका है ।

दशभक्ति (संस्कृत)—प्रभाचन्दने अपने क्रिया कलापमें इनका कर्ता

पूज्यपादको बतलाया है। उनमेंसे सिद्धभक्ति तो अपनी रचना शैली और निरूपण-के आधारपर भी पूज्यपाद रचित ही प्रतीत होती है।

सिद्धिप्रियस्तोत्र—२६ पद्योंमें चौबीस तीर्थङ्करोंकी स्तुति है जो निर्णयसागर प्रेस बम्बईसे सप्तम गुच्छकमें प्रकाशित हो चुका है।

सारसंग्रह—षट्खंण्डागमकी धवला टीकामें (पु० ९, पृ० १६०)। 'सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः' करके नयका लक्षण दिया है। यह लक्षण सर्वार्थ-सिद्धि टीकामें दिये गये नयके लक्षणसे कुछ मिलता हुआ है, अतः पूज्यपादका सारसंग्रह नामक भी कोई दार्शनिक ग्रन्थ रहा है, जो अनुपलब्ध है।

उक्त ग्रन्थोंमेंसे वर्तमानमें जैनेन्द्रव्याकरण[1], [2]सर्वार्थसिद्धि टीका, [3]समाधितंत्र, इष्टोपदेश,[4] दशभक्ति[5] तथा सिद्धिप्रिय स्तोत्र उपलब्ध हैं और छपकर प्रकाशित हो चुके हैं।

सर्वार्थ सिद्धि

तत्त्वार्थ सूत्रपर पूज्यपादने सर्वार्थ सिद्धि नामकी वृत्ति रची थी। इस वृत्तिको उसकी आद्य टीका कहे जानेका सौभाग्य प्राप्त है। यह वृत्ति यथा नाम तथा गुण है। वृत्तिके अन्तमें तीन पद्य हैं जो वृत्तिकारके द्वारा ही रचे गये हैं। उनमेंसे प्रथम[6] पद्यमें इस तत्त्वार्थ वृत्तिको 'जैनेन्द्र शासनवरामृतसारभूता'—

---

१. जैनेन्द्र व्याकरणका सूत्र पाठ १९१२ सन्‌में गांधी नाथारंगजी ग्रन्थमालासे प्रकाशित हुआ था।

२. सर्वार्थसिद्धिका एक संस्करण सन् १९१७ में कोल्हापुरसे, दूसरा शोलापुर से, तीसरा हिन्दी अनुवादके साथ जैनग्रन्थ रत्नाकर बम्बईसे, चौथा हिन्दी अनुवादके साथ भारतीय ज्ञानपीठ काशीसे प्रकाशित हुआ है। इनके सिवाय भी एक दो संस्करण और प्रकाशित हुए हैं।

३. समाधितंत्र निर्णयसागर प्रेससे प्रथम संस्कृतगुच्छकमें प्रकाशित हुआ था, संस्कृत टीका और हिन्दी अनुवादके साथ वीर सेवा मन्दिर सरसावासे प्रकाशित हुआ है।

४. इष्टोपदेश संस्कृत टीकाके साथ तत्त्वानुशासनादि संग्रहके अन्तर्गत माणिक चन्द्रग्रन्थ माला बम्बईसे तथा हिन्दी अनुवादके साथ वीरसेवा मन्दिरसे प्रकाशित हुआ है।

५. दशभक्ति संस्कृत टीका तथा मराठी अनुवादके साथ शोलापुरसे प्रकाशित हुआ है।

६. 'स्वर्गापवर्गसुखमाप्तु मनो भिरार्यै जैनेन्द्रशासनवरामृतसारभूता। सर्वार्थ-सिद्धिरिति सद्भिरुपात्तनामा तत्त्वार्थवृत्तिरनिशं मनसा प्रधार्या॥१॥ तत्त्वार्थ वृत्तिमुदितां विदितार्थतत्त्वाः श्रृण्वन्ति ये परिपठन्ति च धर्मभक्तया। हस्ते कृतं परमसिद्धिसुखामृतं तै मर्त्यामरेश्वरसुखेषु किमस्ति वाच्यम्॥२॥

जैनेन्द्र शासन रूपी परम अमृतका सारभूत कहा है और कहा है कि स्वर्ग और मोक्षके सुखको प्राप्त करनेकी मनो कामनावाले सत्पुरुषोंने उसे सर्वार्थ सिद्धि नाम दिया है। अर्थात् उसे यह नाम स्वयं वृत्तिकार ने नहीं दिया किन्तु इस वृत्तिके गुणोंपर मुग्ध हुए मुमुक्षु सज्जनोंने दिया है।

दूसरे पद्यमें कहा है—अर्थके सारको जानने वाले जो जन धर्मभक्तिसे तत्त्वार्थ वृत्तिको पढ़ते और सुनते हैं, परम सिद्धिके सुखरूपी अमृतको वे हस्त गतकर लेते हैं, तब चक्रवर्ती और इन्द्र पदके सुखके विषयमें तो कहना ही क्या है?

सोलह स्वर्गोंसे ऊपर सबसे अन्तमें पांच अनुत्तर विमानका नाम सर्वार्थ सिद्धि है। जो जीव सर्वार्थसिद्धिमें जन्म लेता है वह वहांकी आयु भोगनेके पश्चात् वहांसे चयकर एक मनुष्य भव धारण करके नियमसे मोक्ष लाभ करता है। यह तत्त्वार्थ वृत्ति भी उसीके समकक्ष है अतः उसे सर्वार्थसिद्धि नाम दिया गया है, यही बात दूसरे पद्यमें कही गई है।

रचना शैली—पूज्यपाद सूत्रकार भी थे। सूत्र अल्पाक्षर, असन्दिग्ध और सार-भूत होता है। अतः सूत्रकारके द्वारा रची हुई वृत्तिमें भी इन गुणोंका होना स्वाभा-विक है। तदनुसार सर्वार्थसिद्धिमें एक भी शब्द फालतु प्रयुक्त नहीं हुआ है, परिमित और असन्दिग्ध शब्दोंके द्वारा सूत्र गत सैद्धान्तिक, दार्शनिक और व्याकरण संगत बातोंको बड़ी ही प्रसन्न और परिमार्जित शैलीमें सूत्र सदृश छोटे-छोटे वाक्योंके द्वारा सरल शब्दोंमें कहा गया है। इसीसे अकलंक देव ने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें सर्वार्थसिद्धिके अनेक सूत्रात्मक वाक्योंको वार्तिकरूपमें स्थान दिया है। और फिर उनकी व्याख्या भी की है। सर्वार्थसिद्धिमें भी पूज्यपाद ने सूत्रात्मक वाक्योंका प्रयोग करके पुनः उनका स्पष्टीकरण किया है।

सूत्रकी व्याख्याका उनका वह क्रम है कि पहले यह सूत्रगत शब्दोंका अर्थ करते हैं पश्चात् उसका विवेचन करते हैं। पातञ्जल महाभाष्यके साथ सर्वार्थ-सिद्धिकी तुलना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पूज्यपादने महाभाष्यकी शैलीको अपनाया है और उसीका उनपर विशेष प्रभाव है।

उनके विवेचन दार्शनिकता और तार्किकताको लिये हुए होते है। सूत्रगत प्रत्येक पदकी सार्थकता तथा आवश्यकताको स्पष्ट करते हुए वे उसका हार्द अपने पाठकके सामने खोलकर रख देते हैं। आवश्यक होनेपर वे आगम प्रमाण भी उपस्थित करते हैं।

उनके द्वारा उद्धृत गाथाएँ प्रायः कुन्द-कुन्दके ग्रन्थोंमें पाई जाती हैं। किन्तु उद्धृत संस्कृत श्लोकोंके उद्गमका कोई पता नहीं चलता। कुछ संस्कृत वाक्य भी इस प्रकारके हैं। उन सबसे पता चलता है कि जैन परम्परामेंसे पूज्यपाद पहले

संस्कृत भाषामें कई अच्छे-अच्छे ग्रन्थ रचे जा चुके थे जो भाषा और विषयकी दृष्टिसे उच्चकोटिके थे।

विशिष्ट चर्चाएँ—तत्त्वार्थ सूत्रका टीकाग्रन्थ होनेसे सर्वार्थ सिद्धिमें भी उन्हीं विषयोंका विवेचन है जिनका निर्देश तत्त्वार्थ सूत्रमें है। किन्तु जिन विशिष्ट चर्चाओंको सर्वार्थसिद्धिकारने उठाया है उनमेंसे कुछका निर्देश नीचे किया जाता है जो कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण हैं।

१. मंगलाचरण करनेके पश्चात् प्रथम सूत्रकी उत्थानिकामें पूज्यपादने लिखा[1] है—स्वहितैषी निकट भव्यने एक आश्रममें मुनियोंकी परिषदके मध्यमें बैठे हुए निर्ग्रन्थाचार्यके पास जाकर विनय सहित पूछा—भगवन्! आत्माका हित क्या है। आचार्यने उत्तर दिया मोक्ष। भव्यने पुनः पूछा—मोक्षका स्वरूप क्या है और उसकी प्राप्तिका उपाय क्या है? इसी प्रश्नके उत्तरस्वरूप प्रथम सूत्र रचा गया और इस तरह तत्त्वार्थ सूत्रका सूत्रपात हुआ।

तत्त्वार्थ भाष्यके प्रारम्भमें जो ३१ सम्बन्ध कारिकाएँ हैं उनमेंसे अन्तिम कारिकामें भी यही बात कही गई कि 'मोक्ष मार्गके बिना इस जगतमें हितका उपदेश नहीं है। इसलिये उसी मोक्षमार्गको कहता हूँ।'

२. प्रथम अध्यायके छठे सूत्र **'प्रमाणनयैरधिगमः'** की व्याख्यामें पूज्यपाद स्वामीने प्रमाणके[2] स्वार्थ और परार्थ भेद करके केवल श्रुतज्ञानको स्वार्थ और परार्थ बतलाया है तथा उसीके भेद नय हैं, ऐसा कहा है। इसीमें 'उक्तं' करके नयका लक्षण तथा 'सकलादेशो प्रमाणाधीनः विकलादेशो नयाधीनः।' वाक्य उद्धृत किये हैं। जहाँ तक हम जानते हैं 'प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद पूज्यपादसे पहलेके किसी जैनग्रन्थमें नहीं पाये जाते। और न सकला देश और विकलादेशवाला वाक्य ही उद्धृत पाया जाता है। सिद्धसेनके न्यायावतारमें अनुमानके स्वार्थ परार्थ भेद बतलाये हैं, प्रमाणके नहीं।

३. गौतमने[3] अपने न्यायसूत्रोंमें अनुमानके दो भेद किये थे—स्वार्थ और परार्थ। किन्तु उद्योतकरसे पहले नैयायिक किसी व्यक्तिको ज्ञान करानेके लिये परार्थानुमानकी उपयोगिता नहीं मानते थे। बौद्धदार्शनिक दिङ्नागने दोनों भेदोंका ठीक-ठीक अर्थ करके सबसे पहले स्वार्थानुमान और परार्थानुमानके

---

१. 'नर्ते च मोक्षमार्गाद्धितोपदेशोस्ति जगति कृत्स्नेऽस्मिन्। तस्मात्परमिममेवेति मोक्षमार्गं प्रवक्ष्यामि ॥३१॥

२. 'प्रमाणं द्विविधं स्वार्थं परार्थं च। तत्र स्वार्थं प्रमाणं श्रुतवर्ज्यम्। श्रुतं पुनः स्वार्थं भवति परार्थञ्च।' —सर्वा० १-६।

३. बुद्धिस्ट लाजिक।

मध्यमें भेदकी रेखा खड़ी की। सिद्धसेन दिवाकरने परार्थानुमानको जैनन्यायमें स्थान तो दिया, किन्तु उसके समन्वयका कोई यत्न नहीं किया। पूज्यपादका ध्यान उस ओर गया और उन्होंने प्रमाणके स्वार्थ और परार्थ भेद करके श्रुत प्रमाणको उभयरूप बतलाया। किन्तु अनुमानके अन्तर्भावकी बात फिर भी शेष रह गई। अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] स्वार्थानुमानका अन्तर्भाव अनक्षरात्मक अथवा ज्ञानात्मक श्रुतमें किया और परार्थानुमानका अन्तर्भाव अक्षरात्मक अथवा वचनात्मक श्रुतमें किया।

४. 'सत्संख्या' आदि सूत्रकी वृत्तिमें सदादि आठ अनुयोगोंके द्वारा चौदह मार्गणाओंमें गुणस्थानोंका विवेचन बहुत सुन्दर रीतिसे किया है। उसका आधार 'षट्खण्डागम' 'जीवट्ठाण'के सूत्र हैं।

५. प्रमाणकी चर्चामें नैयायिक वैशेषिकोंके सन्निकर्ष प्रामाण्यवादका तथा सांख्योंके इन्द्रिय प्रामाण्यका निराकरण करके ज्ञानके ही प्रामाण्यका व्यवस्थापन किया है तथा ज्ञानको स्वपर प्रकाशक बतलाया है।

इसी तरह 'अर्थस्य' सूत्रकी वृत्तिमें इन्द्रियका सन्निकर्ष गुणके साथ होता है, गुणीके साथ नहीं होता, इस मतका निराकरण करके द्रव्यके साथ इन्द्रियका सम्पर्क होता है इस बातको स्थापित किया है। तथा आगे चक्षुके प्राप्यकारित्वका आगम और युक्तिसे खण्डन करके चक्षु अप्राप्यकारी है इस बातको सिद्ध किया है। उपलब्ध जैनसाहित्यमें ये चर्चाएँ पूज्यपादसे पहले नहीं मिलतीं।

६. सूत्र १-३२ की वृत्तिमें कारणविपर्यास, भेदाभेद विपर्यास और स्वरूप विपर्यासकी चर्चा करते हुए योग, सांख्य, बौद्ध, चार्वाक आदिके मतोंका निर्देश किया है और उनके ज्ञानको मिथ्याज्ञान बतलाया है।

७. सूत्र १-३३ की वृत्तिमें नयके सात भेदोंका स्वरूप बहुत सुन्दर रीतिसे बतलाया है।

८. दूसरे अध्यायके तीसरे सूत्रकी वृत्तिमें सम्यग्दर्शनकी उत्पत्ति अनादि मिथ्या दृष्टि जीवके कैसे होती है, यह बतलाते हुए काल लब्धियोंका कथन किया है। वैसे आगममें पाँच लब्धियाँ बतलाई हैं—क्षयोपशम लब्धि, विशुद्धि लब्धि, देशना लब्धि, प्रायोग्यलब्धि और करण लब्धि। किन्तु पूज्यपाद स्वामीने केवल काल लब्धिके नाम से ही लब्धियोंका निर्देश किया है—वे हैं—'काल लब्धि' कर्म-स्थिति काललब्धि और भवापेक्षया काललब्धि।

षट्खण्डागमके जीवट्ठाणकी सम्यक्त्वोत्पत्ति चूलिकाके सूत्रों का ही अनुसरण पूज्यपादने उक्त कथनमें किया है। किन्तु उसमें काललब्धि आदि नामोंका कोई निर्देश नहीं है।

---

१. 'अनुमानादीनां पृथगनुपदेशः श्रुतावरोधात्।' —त० वा०, पृ० ७८।

दूसरा अध्याय जीवसे सम्बद्ध सैद्धान्तिक बातों से सम्बद्ध है और उन्हींका विवेचन पूज्यपादने किया है। विस्तार भयसे उसका यहाँ विवरण नहीं दिया गया। तीसरा और चौथा अध्याय लोकानुयोगसे सम्बद्ध है उसमें तीन लोकोंका वर्णन है। पूज्यपाद स्वामीने प्रत्येक सूत्रकी वृत्तिमें सम्बद्ध विषयका विवेचन संक्षेपमें सुन्दर रीति से किया है जिससे ज्ञात होता है कि वे लोकानुयोगके भी बहुत अच्छे ज्ञाता थे।

९. पाँचवें अध्यायमें द्रव्योंका कथन होनेसे उनमें अनेक दार्शनिक चर्चाएँ पूज्यपाद स्वामीने की हैं। यथा द्रव्याणि ॥२॥ सूत्रकी वृत्तिमें 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यम्' और 'गुणसमुदायो द्रव्यम्' इन लक्षणोंकी आलोचना की है। 'जीवाश्च ॥३॥' सूत्रकी वृत्तिमें वैशेषिकोंके नौद्रव्योंका अन्तर्भाव पुद्गलादिद्रव्योंमें सिद्ध करके परमाणुओंमें पार्थिवादि जातिभेदका निराकरण किया है और सब परमाणुओंको एक जातीय ही बतलाया है।

सूत्र १९ की वृत्तिमें शब्दके अमूर्तिकत्वका निराकरण करके उसे मूर्तिक बतलाया है तथा मनको पृथक् द्रव्य माननेका और उसके अणुरूप होनेका खण्डन किया है। सूत्र ३०-३२ की व्याख्यामें द्रव्यको उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक बतलाकर देवदत्तके दृष्टान्त द्वारा वस्तुको अनेकान्तात्मक सिद्ध किया है।

पूज्यपादने यद्यपि स्याद्वाद और सप्तभंगीका नामोल्लेख नहीं किया, किन्तु अनेकान्तवादके द्वारा वस्तुस्थितिका निरूपण जगह-जगह किया है।

१०. छठे अध्यायके सूत्र १३ में केवली, श्रुत, संघ, धर्म और देवोंके अवर्णवादसे (झूठा दोषारोपण करनेसे) दर्शन मोहनीय कर्मका आस्रव होना बतलाया है। इसकी व्याख्यामें पूज्यपाद स्वामीने श्वेताम्बर मान्यताओंका निर्देश किया है। लिखा[1] है—केवली ग्रासाहार करते हैं ऐसा कहना केवलियोंका अवर्णवाद है। शास्त्रमें माँस भक्षण करनेमें कोई दोष नहीं बतलाया ऐसा कहना श्रुतका अवर्णवाद है। जैन साधु शूद्र होते हैं अपवित्र होते हैं इत्यादि कहना उनका अवर्णवाद है। जैन धर्म निर्गुण है उसको मानने वाले मरकर असुर होते हैं इत्यादि कहना धर्मका अवर्णवाद है। देवगण सुरा और माँसका सेवन करते हैं, इत्यादि कथन करना देवोंका अवर्णवाद है।

---

१. 'कवलाभ्यवहारजीविनः केवलिन इत्यादि वचनं केवलिनामवर्णवादः। मांसभक्षणाद्यनवद्याभिधानं श्रुतावर्णवादः। शूद्रत्वाशुचित्वाद्याविर्भावनं संघावर्णवादः। जिनोपदिष्टो धर्मो निर्गुणस्तदुपसेविनो ये ते चासुरा भविष्यन्तीत्येवमाद्यभिधानं धर्मावर्णवादः। सुरामांसोपसेवाद्याघोषणं देवावर्णवादः।'—सर्वा०सि०, ६-१३।

श्वेताम्बर परम्परा केवलीको ग्रासाहारी मानती है, दिगम्बर परम्परा ऐसा नहीं मानती। वह इसे केवलियों पर मिथ्यादोषारोपण मानती है। उसीका कथन पूज्यपादने किया है। जैनागमको श्रुत कहते हैं। भगवती सूत्र वगैरहमें ऐसे वाक्य भी हैं जिनका अर्थ मांस परक होता है। सम्भवतया उन्हींकी ओर पूज्यपाद स्वामीका संकेत है।

जैन साधुओं, जैनधर्म और जैनधर्मके अनुयायिओंके सम्बन्धमें जिस अवर्णवादका उल्लेख किया गया गया है, वह हिन्दु पुराणोंमें जो जैनधर्मकी उत्पत्ति आदिकी कथाएँ दी गई हैं उसीको लक्ष्य करके लिखा गया जान पड़ता है। देवोंके सुरा और मांस सेवनकी चर्चा भी हिन्दु पुराणोंमें पाई जाती है।

११. सातवें अध्यायके प्रथम सूत्रकी वृत्तिमें पूज्यपादस्वामीने एक शङ्का उठाई है कि रात्रि भोजन[1] त्याग नामक एक छठा अणुव्रत भी है। उसको भी यहाँ गिनना चाहिये। और इसका यह समाधान किया गया है कि अहिंसाव्रतकी भावनाओंमें उसका अन्तर्भाव हो जाता है। इस शंका समाधानसे यह प्रकट होता है कि पहले रात्रि भोजन विरति नामक भी एक छठा अणुव्रत माना जाता था। अकलंक देवने अपने तत्त्वार्थ वार्तिकमें भी उक्त सूत्रके अन्तर्गत सर्वार्थ सिद्धिके अनुरूप ही उक्त शंका समाधान किया है।

किन्तु उल्लेखनीय बात यह है कि सातवें अध्यायके प्रथय सूत्रमें व्रतोंकी चर्चा है और दूसरे सूत्रमें उन व्रतोंके अणुव्रत और महाव्रत भेद किये हैं। पूज्यपादस्वामी रात्रि भोजन विरतिको छठा अणुव्रत होनेके सम्बन्ध में शङ्का उपस्थित करते हैं महाव्रत होनेके सम्बन्धमें नहीं। किन्तु मूलाचार[2] और भ० आराधनामें[3] एक समान गाथाके द्वारा पांच महाव्रतोंकी रक्षाके लिए रात्रि भोजन निवृत्तिका निर्देश है किन्तु उसे छठा महाव्रत नहीं कहा है। परन्तु भ० आ० की विजयोदया[4] टीकामें दस स्थितिकल्पोंका वर्णन करते हुए छठे व्रत नामक स्थिति कल्पके वर्णनमें लिखा है कि उन पाँच व्रतों (महाव्रतों) के पालनेके लिए रात्रि भोजन विरमण नामका छठा व्रत (महाव्रत) कहा गया है। तथा यह भी लिखा है कि आद्य

१. 'ननु च षष्ठमणुव्रतमस्ति रात्रिभोजनविरमणं तदिहोपसंख्यातव्यम्, न, भावनास्वन्तर्भावात्।'—सर्वा० सि०, ७-१।

२-३. 'तेसिं चेव वदाणं रक्खणट्ठं रादिभोयणणियत्ती।—मूला० गा० २९५, भ० आ० गा० ११८५।

४. 'तेषामेव पञ्चानां व्रतानां पालनार्थं रात्रि भोजनविरमणं षष्ठं व्रतम्'।—भ० आ० टी०, पृ० ६१५।

और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें पाँच महाव्रतोंके साथ रात्रि भोजन विरमण छठा महाव्रत होता है[१]।

श्वेताम्बरीय महानिशीथ[२] सूत्रमें भी पाँच महाव्रतोंके साथ रात्रि भोजन विरमण नामका छठा महाव्रत बतलाया है। तथा टीकाकारने[३] लिखा है कि यह रात्रि भोजनव्रत प्रथम तीर्थङ्कर और अन्तिम तीर्थङ्करके तीर्थमें ऋजुजड़ और वक्रजड़ पुरुषोंकी अपेक्षासे मूलगुण बतलानेके लिए महाव्रतोंके पश्चात् रखा गया है। शेष मध्यके बाईस तीर्थङ्करोंके तीर्थमें तो उत्तरगुण माना गया है।

किन्तु विशेषावश्यक[४] भाष्यमें सम्यक्त्व सहित पाँच महाव्रतोंको मुनियोंके मूलगुण और सम्यक्त्व सहित पाँच अणुव्रतोंको गृहस्थोंके मूलगुण कहा है। इस-पर यह शंका की गई कि रात्रिभोजनविरमण भी तो मूलगुण है उसका ग्रहण क्यों नहीं किया? तो उसका उत्तर दिया गया है कि व्रती सँयमीको ही रात्रि भोजन विरमण मूलगुण है, गृहस्थका तो उत्तर गुण है। अथवा महाव्रतका संरक्षक होनेसे रात्रि भोजन विरमण उत्तर गुण है। तथापि समस्त व्रतोंका पालक होनेसे उसे मूलगुण कहते हैं। और मूलगुणोंके ग्रहणसे उसका ग्रहण हो जाता है।'

इस तरह श्वेताम्बर परम्पराके प्राचीन ग्रन्थोंमें रात्रि भोजन विरमणको छठा महाव्रत माना है और दिगम्बर परम्पराके प्राचीन ग्रन्थोंमें भी यद्यपि रात्रि-भोजन विरतिको स्पष्ट रूपसे छठा महाव्रत नहीं कहा, तथापि महाव्रतोंकी रक्षाके लिये उसे एक व्रत माना है। किन्तु पूज्यपाद स्वामीने उसके सम्बन्धमें कोई शंका न उठाकर जो रात्रि भोजन विरति नामक छठे अणुव्रतके अस्तित्वके सम्बन्ध-

१. 'आद्यपाश्चात्यतीर्थयो रात्रिभोजनविरमणषष्ठानि पंच महाव्रतानि।'—भ० आ० टी०, पृ० ६१४।

२. 'मूलगुणा पंच महव्वयाणि राईभोयण छट्ठाइं।'—महानि०, ३ अ०।

३. 'एतच्च रात्रिभोजनव्रतं प्रथमचरमतीर्थङ्करतीर्थयोः ऋजुजडवक्रजडपुरुषापेक्षया मूलगुणत्वख्यापनार्थं महाव्रतोपरि पठितं। मध्यमतीर्थङ्करतीर्थे पुनः ऋजुप्राज्ञ-पुरुषापेक्षयोत्तरगुणवर्ग इति'। अभि० रा०, भा० ५, पृ० २९५।

४. 'सम्मत्त समेयाइं महव्वयाणुव्वयाइं मूलगुणा। मूलं सेसाहारो बारस तग्घा-इणो एए ॥१२३९॥ निसिभत्तविरमणं पि हु न णु मूलगुणो कहं न गहियं तं। वयधारिणो च्चिय तयं मूलगुणो सेसयस्सियरो ॥१२४०॥ आहार विरम-णाओ तवो व तव एव वा जओऽणसणं। अहव महव्वयसंरक्खत्तणाओ समिइउव्व ॥१२४१॥ तह वि य तयं मूलगुणो भण्णइ मूलगुणपालयं जम्हा। मूलगुण गहणम्मि य तं गहियं उत्तरगुणव्व ॥१२४२॥—वि० भा०।

में शङ्का उठाई है, उसका कोई प्राचीन आधार उपलब्ध नहीं होता है। संभव है पूज्यपाद स्वामीके सन्मुख श्रावकाचार सम्बन्धी कोई ग्रन्थ वर्तमान रहा हो, जिसमें रात्रि भोजन विरमणको छठा अणुव्रत माना हो।

सातवें अध्यायके तेरहवें सूत्रकी व्याख्या करते हुए पूज्यपाद स्वामीने हिंसा और अहिंसाके स्वरूपका संक्षेपमें सुन्दर विवेचन किया है और उसके समर्थनमें अनेक गाथाएँ तथा श्लोक भी उद्धृत किये हैं। सूत्रमें प्रमत योगसे प्राणोंके घात को हिंसा कहा है। सूत्रके दोनों पदोंका समर्थन करते हुए पूज्यपाद स्वामीने कहा है कि केवल प्राणोंका घात हो जाना मात्र हिंसा नहीं है। तथा दूसरेके प्राणोंका घात न होने पर भी यदि घातकमें प्रमत्तयोग है तो भी हिंसा है क्योंकि घातकका भाव हिंसारूप है। इसके समर्थनमें उन्होंने एक बड़ा ही भावपूर्ण[1] श्लोक उद्धृत किया है। उसमें बताया है कि प्रमादी जीव सबसे प्रथम तो अपने द्वारा अपना ही घात करता है। दूसरे प्रणियोंका घात हो न हो यह तो पीछे की बात है। जिस ग्रन्थका यह श्लोक होगा, वह ग्रन्थ अवश्य ही महत्त्वपूर्ण होना चाहिए।

हिंसाकी तरह ही अनृत, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रहके स्वरूपको बतलाने वाले सूत्रोंका बहुत ही सुन्दर विवेचन किया गया है और प्रत्येक पापको भाव-परक बतलाकर द्रव्यकी अपेक्षा भावके महत्त्वको प्रकट किया है।

इसी तरह २२वें सूत्रकी व्याख्यामें सल्लेखना (समाधि पूर्वक मरण) का वर्णन करते हुए व्यापारीके दृष्टान्तके द्वारा सल्लेखनामें आत्मघातके दूषणका परिहार बड़ी सुन्दर रीतिसे किया है।

१२ आठवें अध्यायमें कर्मबन्धका और कर्मोंके भेद-प्रभेदों वगैरहका वर्णन है। प्रथम सूत्रमें बन्धके पाँच कारण बतलाये हैं। उनका व्याख्यान करते हुए पूज्य-पादने मिथ्यात्वके पाँच भेदोंका स्वरूप बतलाया है। उनमेंसे विपरीत मिथ्यात्वका स्वरूप बतलाते हुए उन्होंने जहाँ पुरुषाद्वैतकी मान्यताको विपरीत मिथ्यात्व बत-लाया है, वहाँ सग्रन्थको निर्ग्रन्थ कहना, केवलीको कवलाहारी कहना तथा स्त्रीको मोक्ष कहना, इन तीनों श्वेताम्बरीय मान्यताओंका उल्लेख भी विपरीत मिथ्यात्व में किया है।

इसी अध्यायके दूसरे सूत्रका[2] व्याख्यान तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इस

[1] 'स्वयमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्। पूर्व-प्राण्यन्तराणां तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वधः ॥'

[2] 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानुपादत्ते स बन्धः ॥ त० सू० ८-२।

सूत्रके प्रत्येक पदकी सार्थकता बतलाते हुए पूज्यपादने जैनकर्मसिद्धान्त विषयक कई शङ्काओंका परिहार किया है। सूत्रमें कहा गया है—'कषाय सहित होनेसे जीव कर्मोंके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है, वह बन्ध है।' 'कषाय सहित होने से (सकषायत्वात्) पदका साफल्य बतलाते हुए कहा है कि जैसे उदराग्निके आशयके अनुरूप आहार ग्रहण किया जाता है वैसे ही तीव्र मन्द अथवा मध्यम कषायाशयके अनुरूप कर्मोंमें स्थिति और फल देनेकी शक्ति होती है।

अमूर्ति और विना हाथवाला आत्मा कर्मोंको कैसे ग्रहण करता है इस तर्कणा के समाधानके लिये जीव शब्द रखा है। जो जिये और मरे वह जीव है। अर्थात् संसारमें भटकने वाले जीवोंके ही कर्मोका बन्ध होता है।

'कर्मयोग्यान्' न कहकर 'कर्मणो योग्यान् कहनेसे पूज्यपादने सूत्रकारका यह अभिप्राय बतलाया है कि वह उसके द्वारा दो बातें कहना चाहते हैं पहली बात—कर्मके कारण ही जीव सकषाय (कषायवाला) होता है। जो कर्मोंसे रहित हैं उसके कषाय भी नहीं है। इससे जीव और कर्मका सम्बन्ध अनादि है यह बात कही गई है। अतः अमूर्तिक जीव मूर्तिक कर्मके द्वारा कैसे बांधा जाता है यह तर्क निरस्त हो जाता है। यदि कर्मबन्धको सादि माना जाता है तो अत्यन्त शुद्ध सिद्ध जीवकी तरह संसारी जीवके भी बन्धके अभावका प्रसंग आता है। और दूसरी बात—कषायसहित होनेसे कर्मके योग्य पुद्गलोंको ग्रहण करता है।

पुद्गल शब्द यह बतलाता है कि कर्म पौद्गलिक हैं। अतः जो अन्य दार्शनिक अदृष्टको आत्माका गुण मानते हैं उनका निराकरण हो जाता है।

इस तरहसे पूज्यपादने इस सूत्रका व्याख्यान किया है। इसी तरह नौवें और दसवें अध्यायोंकी व्याख्यामें भी अनेक सैद्धान्तिक बातोंका कथन बहुत संक्षेपसे किन्तु सुन्दर सुस्पष्ट रीतिसे किया गया है।

समय—पूज्यपाद देवनन्दिने अपने ग्रन्थोंमें अपना नामतक भी नहीं दिया, तब अपनी गुरू परम्परा और रचनाकाल आदि दिये जानेकी आशा उनसे कैसे की जा सकती है। ऐसी स्थितिमें उनके समयका निर्णय उनके ग्रन्थोंके उल्लेखों तथा अन्य साधनोंसे ही करना पड़ता है।

१. पूज्यपादके समाधि तंत्र और इष्टोपदेशका कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंके साथ तुलनात्मक अध्ययन करनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि पूज्यपादने कुन्दकुन्दाचार्यके वाक्योंका बहुत कुछ अनुसरण किया है। पीछे इन दोनों ग्रन्थोंके सम्बन्धमें लिखते हुए अनेक उदाहरणों द्वारा यह बात प्रमाणित की गई है फिर भी यहाँ स्पष्टीकरणके लिये एक दो उदाहरण दे देना उचित होगा।

जं मया दिस्सदे रूवं तण्ण जाणादि सव्वहा।
जाणगं दिस्सदे णं तं तह्मा जंपेमि केण हं ॥२९॥—मो० प्रा०।
यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा।
जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥१८॥—स० तं०।

× × ×

जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥३१॥—मो० प्रा०।
व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे।
जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥—स० तं०।

समाधितंत्रके दोनों श्लोक मोक्षप्राभृतकी उक्त गाथाओंके संस्कृत रूपान्तर जैसे हैं। इतना ही नहीं, पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धिमें 'संसारिणो मुक्ताश्च'। सूत्रकी व्याख्यामें पाँचो परावर्तनोंका स्वरूप बतलाते हुए प्रत्येक परावर्तनके अन्तमें उसकी समर्थक जो एक-एक करके पांच गाथाएं 'उक्तं च' लिखकर उद्धृत की है, वे पाँचो गाथाएं उसी क्रमसे कुन्दकुन्दरचित 'वारह अणुवेक्खा' में पाई जाती हैं। अतः निश्चित है कि कुन्दकुन्दके ग्रन्थसे ही उन्हें उद्धृत किया गया है।

इसलिये यह निश्चित है कि पूज्यपाद कुन्दकुन्दके पश्चात् हुए हैं। तथा गृद्धपिच्छाचार्य उमास्वातिके द्वारा रचित तत्त्वार्थ सूत्रपर उन्होंने वृत्ति लिखी है अतः उनके पश्चात् भी होना सुनिश्चित है। पीछे कुन्दकुन्दका समय वि० सं० १८० से २३० तक तथा सूत्रकारका समय वि० सं० ३०० तक सिद्ध किया है। अतः पूज्यपाद विक्रमसम्वत् ३०० के पश्चात् हुए हैं।

२. पूज्यपादने अपनी सर्वार्थसिद्धि (७—१३) में 'नियोजयति चासुभिर्नच वधेन संयुज्यते' यह पद्यांश 'उक्तं च' लिखकर उद्धृत किया हैं। सिद्धसेनकी तीसरी द्वात्रिंशिकाके १६वं पद्यका यह प्रथम चरण है। जैनेन्द्र सूत्रमें भी सिद्धसेनका उल्लेख है। सिद्धसेनका समय पं० सुखलालजीने विक्रमकी पांचवी शताब्दी निश्चित किया है अतः पूज्यपाद उसके पश्चात् हुए हैं।

३. पूज्यपादने अपने जैनेन्द्र[1] व्याकरणके सूत्रोंमें भूतबलि, समन्तभद्र, सिद्धसेन, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र नामके पूर्वाचार्योंका उल्लेख किया है। इनमेंसे भूतवलि तो षट्खन्डागमके रचयिता प्रतीत होते हैं जो विक्रमकी दूसरी शताब्दीमें हुए हैं। प्रखर तार्किक और अनेकान्तवादके प्रस्थापक समन्तभद्र तो

१. 'राद् भूतबलेः। ३-४-८३। 'गुणे श्रीदत्तस्य स्त्रियाम्। १-४-३४।' 'वेत्तेः सिद्धसेनस्य। ५-१-७।' 'चतुष्टयं समन्तभद्रस्य। ५-४-१४०।' 'कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य। २-१-९८।' रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य। ४-३-१८०।'-जै० व्या०।

प्रसिद्ध ही हैं। सिद्धसेन भी उन्हींके पश्चात् हुए हैं। श्रीदत्तके जल्पनिर्णय नामक ग्रन्थका उल्लेख विद्यानन्दिने अपने[1] तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकमें किया है। तथा अकलंकदेवने अपने[2] तत्त्वार्थ वार्तिकमें सिद्धसेनसे पहले श्रीदत्तका उल्लेख किया है।

४. आचार्य जिनसेनने अपने महापुराणके[3] प्रारम्भमें क्रमसे सिद्धसेन, समन्तभद्र, श्रीदत्त, यशोभद्र और प्रभाचन्द्र का स्मरण किया है, पश्चात् 'देव' नामसे पूज्यपाद देवनन्दिका भी स्मरण किया है। जिनसेनने अपना महापुराण विक्रमकी नौवीं शताब्दीके अन्तमें रचा था। अतः पूज्यपाद नौवीं शताब्दीसे पूर्व तथा जैनेन्द्रोक्त आचार्योंके पश्चात् किसी समय हुए हैं।

५. धनञ्जय[4] कविने अपने नाममाला कोशके अन्तमें पूज्यपादके लक्षणको अकलंकके प्रमाणको 'अपश्चिम' कहा है अतः पूज्यपाद धनञ्जय कविसे पूर्वमें हुए हैं और अकलंकदेवने उनकी सर्वार्थ सिद्धिके अनेक वाक्योंको अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें वार्तिक रूपसे अपनाया है। अकलंक देवका समय विक्रमकी आठवीं शताब्दी है अतः पूज्यपाद उससे पहले हुए हैं।

अब विचारणीय यही रह जाता है कि पूज्यपाद सिद्धसेनसे कितने समय पश्चात हुए हैं।

६. श्री पं० जुगल किशोरजी मुख्तारने अपने 'समन्तभद्र'[5] नामक निबन्धमें तथा समाधि तंत्रकी[6] प्रस्तावनामें लिखा है कि पूज्यपाद स्वामी गंगराज दुर्विनीतके शिक्षा गुरु थे जिसका राज्यकाल ई० सन् ४८२ से ५२२ तक पाया जाता है। और उन्हें हेब्बुर[7] आदिके अनेक शिलालेखोंमें शब्दावतारके कर्ता रूप से दुर्विनीत राजाका गुरु उल्लेखित किया है।'

१. 'द्विप्रकारं जगौ जल्पं तत्त्वप्रातिभगोचरम्।
त्रिषष्ठेर्वादिनां जेता श्रीदत्तो जल्पनिर्णये ॥४५॥—त० श्लो० पृ० २८०।
२. 'श्रीदत्तमिति, सिद्धसेनमिति'-त० वा०, पृ० ५७। ३. म० पु० १, ४२-४७।
४. 'प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥२०२॥—ना० मा०।
५. र०क०श्रा०, की प्रस्ता०, के अन्तर्गत, पृ० १४२-४२।
६. स० तं० की प्रस्ता०, पृ० ७।
७. 'कुर्ग इन्सक्रिप्शन्स' प्रस्ता० पृ० ३। 'मैसूर एण्ड कुर्ग' जि० १, पृ० ३७३। 'कर्णाटक भाषा भूषाम् प्रस्ता० पृ० १२। 'हिस्टरी आफ कनडीज लिटरेचर' पृ० २५ और कर्णाटक कविचरिते।

किन्तु ऐसा कथन भ्रान्तिजन्य है। हेब्बुरुके ताम्रलेखमें 'शब्दावतारकार-देव भारती निबद्ध बृहत्कथः किरातार्जुनीय पञ्च दश सर्गटीकाकारः 'दुर्विनीत नामा' ऐसा लिखा हुआ है। जिससे प्रकट है कि उक्त दोनों विशेषण दुर्विनीतके हैं। अर्थात् दुर्विनीतने शब्दावतार ग्रन्थ रचा था, गुणाढ्यकी बृहत्कथाको संस्कृत भाषामें परिवर्तित किया था और भारविकृत किरातार्जुनीयके पन्द्रहवें सर्गकी टीका लिखी थी। पूज्यपादने पाणिनीय व्याकरणपर शब्दावतार नामक न्यास लिखा था ऐसा एक शिलालेखमें लिखा है यह पहले बतलाया गया है। इस नाम सादृश्यके कारण राईस साहबने हेब्बुरुके ताम्र पत्रमें आगत 'शब्दावतारकार' पदको पूज्यपादाचार्यका वाचक समझकर ऐसा लिख दिया कि हेब्बुरुके शिला-लेखमें लिखा है कि पूज्यपादाचार्य दुर्विनीतके शिक्षागुरु थे। और उसीको प्रमाण मानकर दूसरोंने भी वैसा लिख दिया।

उक्त भ्रमका निराकरण पं० ए० शान्तिराज शास्त्रीने तत्त्वार्थ सूत्रकी भास्करनन्दि विरचित सुखबोधिनी वृत्तिकी प्रस्तावनामें (पृ०४३-४५) किया है।

७. देवसेनने वि० सं० ९९० में दर्शनसार नामक ग्रन्थकी रचना की थी, उसके अन्तमें उन्होंने लिखा है कि पूर्वाचार्यकृत गाथाओंको एकत्र करके इस ग्रन्थकी रचना की गई है। अतः उसकी प्रामाणिकता बढ़ जाती है। उसमें लिखा[1] है कि—पूज्यपादका शिष्य पाहुडवेदी वज्रनन्दी द्राविड़ संघका कर्ता हुआ। और तब दक्षिण मथुरा (मदुरा) में वि० सं० ५२६ में यह महामिथ्यात्वी संघ उत्पन्न हुआ।

चूँकि वज्रनन्दि देवनन्दिके शिष्य थे इसलिये द्रविड़ संघ की स्थापनाके उक्त कालसे दस बीस वर्ष पहले उनका समय माना जा सकता है। अतः श्रीयुत[2] प्रेमीजीने देवनन्दि पूज्यपादका समय विक्रम की छठी शताब्दी माना है।

७. श्रीयुधिष्ठिर मीमांसकने इधर देवनन्दिके समयका निश्चायक एक नूतन प्रमाण उपस्थित किया है। भा० ज्ञा० पीठ काशी से प्रकाशित जैनेन्द्र महावृत्तिके नये संस्करणके प्रारम्भमें 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके खिल पाठ' शीर्षक अपने लेखमें 'आचार्य देवनन्दीका काल और उसका निश्चायक नूतन प्रमाण' (पृ० ४२-४३) उपस्थित करते हुए उन्होंने लिखा है—

१. 'सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो। णामेण वज्जणंदी पाहुड-वेदी महासत्तो ॥२४॥ पंचसए छब्बीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स। दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो ॥२८॥—द० सा०।
२. जै० सा० इ०, पृ० ४६।

'आचार्य देवनन्दिके कालके विषयमें ऐतिहासिकोंका परस्पर वैमत्य है। यथा—

१. कीथ अपने 'हिस्ट्री आफ क्लासिकल लिटरेचर' में लिखता है जैनेन्द्र व्याकरण ई० सन् ६७८ (७३५ वि०) के समीप लिखा गया।

२. श्री प्रेमीजीने अनेक प्रमाण उपस्थित करके देवनन्दिका काल सामान्यतया विक्रमकी छठी शताब्दी निश्चित किया है।

३. श्री आई० एस० पवतेने अपने 'स्ट्रक्चर आफ दी अष्टाध्यायी (भू० पृ० १३) में लिखा है—महामहोपाध्याय नरसिंहाचार्यने कर्णाटक कवि चरित्रके प्रथम भागके प्रथम संस्करणमें पूज्यपादको ईस्वी सन् ४७० (५२७ वि०) में बताया है और दूसरे संस्करणमें सन् ६०० (६५७ वि०) में परन्तु, मुझे १२-१२-१९३३को लिखे पत्रमें लिखा है कि पूज्यपाद ४५० ई० (५०७ वि०) के आस-पास है।

४. हमने अपने व्याकरण शास्त्रके इतिहासमें श्री प्रेमीजी द्वारा उद्धृत प्रमाणोंके आधारपर आचार्य पूज्यपादका काल विक्रमकी षष्ट शताब्दीका पूर्वार्द्ध माना था। अब हम उसे ठीक नहीं समझते। अब हमें जो नूतन प्रमाण उपलब्ध हुआ है उसके अनुसार आचार्य पूज्यपाद विक्रमकी षष्ठ शताब्दीसे पूर्ववर्ती हैं, यह निश्चित होता है।'

श्री युधिष्ठिर मीमांसकके द्वारा उपलब्ध नया प्रमाण इस प्रकार है—कात्यायनने एक विशिष्ट प्रकारके प्रयोगके लिये नियम बनाया है—'परोक्षे च लोकविज्ञाते प्रयोक्तुर्दर्शनविषये' (महा० ३।२।१२) अर्थात् ऐसी घटना जो लोकविज्ञात हो, प्रयोक्ताने उसे न देखा हो परन्तु प्रयोक्ताके दर्शनका विषय सम्भव हो (अर्थात् वह घटना प्रयोक्ताके जीवनकालमें घटी हो) उस घटनाको कहनेके लिये भूतकालमें लङ् प्रत्यय होता है। पतञ्जलिने महाभाष्यमें इस वार्तिक पर उदाहरण दिये हैं—'अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम्।' वार्तिकके नियमानुसार साकेत (अयोध्या) और माध्यमिका (चित्तौड़ समीपवर्ती नगरी ग्राम) पर यह लोक प्रसिद्ध आक्रमण पतञ्जलिके जीवनकालमें हुआ था। प्रायः सभी ऐतिहासिक इस विषयमें सहमत हैं।

इसी प्रकारका नियम पाणिनिसे उत्तरवर्ती प्रायः सभी व्याकरण ग्रन्थोंमें उपलब्ध होता है और उसका उदाहरण देते हुए ग्रन्थकार प्राचीन उदाहरणोंके साथ-साथ स्वसमकालिक किन्हीं महती घटनाओंका भी प्रायः निर्देश करते हैं। यथा—

अजयद् जर्तो हूणान्।—चान्द्र

अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्।—जैनेन्द्र (२-२-९२)

अदहदमोघवर्षोऽरातीन् ।—शाकटायन (४-३-२००)
अरुणत् सिद्धराजोऽवन्तिम् ।—हैम० (५-२-८)

इनमें अन्तिम दो उदाहरण सर्वथा स्पष्ट हैं। आचार्य पाल्यकीर्ति (शाकटायन) महाराज अमोघ वर्ष और आचार्य हेमचन्द्र महाराज सिद्धराजके कालमें विद्यमान थे। इसमें किसीको विप्रतिपत्ति नहीं। परन्तु चान्द्रके जर्त और जैनेन्द्रके महेन्द्र नामक व्यक्तिको इतिहासमें प्रत्यक्ष न पाकर पाश्चात्य मतानुयायी विद्वानोंने जर्तको गुप्त और महेन्द्रको मेनेन्द्र-मिनण्डर बनाकर अनर्गल कल्पनाएँ की हैं। इस प्रकारकी कल्पनाओंसे इतिहास नष्ट हो जाता है। हमारे विचारमें जैनेन्द्रका 'अरुणन्महेन्द्रो मथुराम्' पाठ सर्वथा ठीक है। उसमें किञ्चिन्मात्र भ्रान्तिकी सम्भावना नहीं है। आचार्य पूज्यपादके कालकी यह ऐतिहासिक घटना इतिहासमें सुरक्षित है।

मथुरा पर आक्रमण करनेवाले यह महेन्द्र कौन थे, इस पर प्रकाश डालते हुए श्री मीमांसकने लिखा है—

'जैनेन्द्रमें स्मृत महेन्द्र गुप्तवंशीय कुमारगुप्त हैं। इसका पूरा नाम महेन्द्र कुमार है। जैनेन्द्रके 'विनाऽपि निमित्तं पूर्वोत्तरपदयोर्वा खं वक्तव्यम् ४-१-१३) वार्तिक अथवा 'पदेषु पदैकदेशान्' नियमके अनुसार उसीको महेन्द्र अथवा कुमार कहते थे। उसके सिक्कोंपर श्री महेन्द्र,[1] महेन्द्रसिंह, महेन्द्रवर्मा, महेन्द्रकुमार आदि कई नाम उपलब्ध होते हैं। तिब्बतीय ग्रन्थ चन्द्रगर्भ सूत्रमें लिखा है—"यवनों पल्हिकों शकुनों (कुशनों) ने मिलकर तीन लाख सेनासे महेन्द्रके राज्य पर आक्रमण किया। गंगाके उत्तर प्रदेश जीत लिये। महेन्द्रसेनके युवा कुमारने दो लाख सेना लेकर उनपर आक्रमण किया और विजय प्राप्त की। लौटनेपर पिताने उसका अभिषेक कर दिया।"[2] चन्द्रगर्भ सूत्रका महेन्द्र निश्चय ही कुमारगुप्त है और उसका युवराज स्कन्दगुप्त। मंजुश्री मूलकल्प श्लोक ६४६ में श्री महेन्द्र और उनके सकारादि पुत्र (स्कन्दगुप्त) को स्मरण किया[3] है।"

अतः श्री युधिष्ठिरजीका कहना है कि—'चन्द्रगर्भ सूत्रमें लिखित घटनाकी जैनेन्द्रके उदाहरणमें उल्लिखित घटनाके साथ तुलना करनेपर स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके उदाहरणमें इसी महत्त्वपूर्ण घटनाका संकेत है। उक्त उदाहरणसे यह भी विदित होता है कि विदेशी आक्रान्ताओंने गंगाके आस-पासका प्रदेश जीतकर मथुराको अपना केन्द्र बनाया था, इस कारण महेन्द्रकी सेनाने मथुराका

---

१. श्री पं० भगवद्दत्तकृत भारतवर्षका इतिहास, पृ० ३५४।

२. वही, पृ० ३५४।

३. महेन्द्रनृपवरो मुख्यः सकाराद्यो मतः परम्।'

ही घेरा डाला था। महाभाष्य, शाकटायन तथा सिद्ध हैम व्याकरणोंमें निर्दिष्ट उदाहरणोंके प्रकाशमें यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य पूज्यपाद गुप्तवंशीय महाराजाधिराज कुमारगुप्त अपर नाम महेन्द्र कुमारके समकालिक हैं। पाश्चात्य मतानुसार कुमारगुप्तका काल वि० सं० ४७०-५१२ (=३१३-३५५ ई०) तक था। अतः पूज्यपादका काल अधिकसे अधिक विक्रमकी पाँचवीं शतीके चतुर्थ चरणसे षष्ठशताब्दीके प्रथम चरण तक ठहरता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जैनेन्द्रके 'अरुणन्महेन्द्रोमथुराम्, उदाहरणमें महेन्द्रको मेनेन्द्र-मिनण्डर समझना भारी भ्रम है।'

श्री मीमांसकजीकी उक्त उपपत्तियाँ वजनदार हैं। और उन्होंने उनके आधार पर जो समय निर्णीत किया है वह भी पूज्यपादके अब तक निर्णीत समयके प्रतिकूल नहीं है।

तत्त्वार्थ भाष्य

अब हम उस तत्त्वार्थ भाष्यके सम्बन्धमें विशेष रूपसे प्रकाश डालेंगे जिसे तत्त्वार्थ सूत्रकार उमास्वाति रचित कहा जाता है। और कहा ही नहीं जाता, बल्कि भाष्यके अन्तमें पाई जाने वाले प्रशस्ति से भी यही व्यक्त होता है।

किन्तु जैसा हम पूर्वमें लिख आये हैं भाष्यकी स्वोपज्ञता सन्दिग्घ है। अतः उसे सर्वार्थसिद्धिके पश्चात् रखा गया है।

सर्वार्थसिद्धि और भाष्य—यद्यपि सर्वार्थसिद्धि और भाष्यके कुछ स्थल, जो वर्णनात्मक हैं वे परस्परमें शब्दशः मिलते हैं। जैसे नरक गतिमें दुःखोका[1] वर्णन, अनुप्रेक्षाओं[2] आदिका वर्णन। तथा नौवे अध्यायके पुलाक वकुश आदि सूत्रमें

---

१. 'सुतप्तयोरसपायन निष्टप्तायस्तम्भालिङ्गनकूटशाल्मल्यारोहणावतरणायोघनाभिघात - वासीक्षुरतक्षण - क्षारतप्ततैलावसेचनायःकुम्भीपाकाम्बरीषभर्जन-वैतरणीमज्जनयंत्रनिष्पीडनादिभिर्नारकाणां दुःखमुत्पादयन्ति।'—स०सि०-३।५।—'तप्तायोरसपायननिष्टप्तायःस्तम्भालिङ्गनकूटशाल्मल्यग्रारोपणावतरणायोघनाभिघात - वासीक्षरतक्षणक्षारतप्ततैलाभिसेचायःकुम्भपाकाम्बरीष-तर्जनयन्त्रपीडनायःशूलशलाकाभेदनक्रकचपाटन—।'–त०भा०, ३।५।

२. 'यथा मृगशावस्यैकान्ते बलवता क्षुधितेनामिषैषिणा व्याघ्रेणाभिभूतस्य न किञ्चिच्छरणमस्ति, तथा जन्मजरामृत्युव्याधिप्रभृतिव्यसनमध्ये परिभ्रमतो जन्तोः शरणं न विद्यते।'—स०सि०, ९।७।—'यथा निराश्रये जनविरहिते वनस्थलीपृष्ठे बलवता क्षुत्परिगतेनामिषैषिणा सिंहेनाभ्याहतस्य मृगशिशोः शरणं न विद्यते एवं जन्मजरामरणव्याधिप्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोग····जन्तोःसंसारे शरणं न विद्यते।'—त०भा० ९।७।

आगत पुलाकादि निग्रन्थोंका लक्षण भी मिलता हुआ है। किन्तु जहाँ तक सूत्रोंके व्याख्यादिका सम्बन्ध है, दोनों ग्रन्थोंमें बहुत अन्तर पाया जाता है। वह अन्तर शैली गत, और विषयगत होनेके साथ ही साथ सूत्रगत पदोंकी सार्थकतासे विशेष सम्बन्ध रखता है। दोनों व्याख्याओंके तुलनात्मक अध्ययनसे प्रकट होता है कि सूत्रोंके पदोंकी सार्थकता आदिका जितना अच्छा बोध सर्वार्थसिद्धिकारको था उतना भाष्यकारको नहीं था। यद्यपि भाष्यकार ने भी अपने भाष्यमें सूत्रगत शब्दोंकी साथकर्ताका कहीं-कहीं निर्देश किया है किन्तु बहुतसे आवश्यक सूत्रोंके पदोंके सम्बन्धमें उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा है।

यथा—औपशामिक क्षायिकौ भावौ मिश्रश्च जीवस्य स्वतत्त्वमौदायिक-पारिणामिकौ च' ॥२१॥

इस सूत्रकी रचना कुछ विचित्र है किन्तु भाष्यकार ने उसके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा।

एक सूत्र है—'ज्ञान दर्शन दान लाभ भोगोपभोगवीर्याणि च ॥२-४॥' इसके भाष्यमें 'ज्ञानं दर्शनं दानं लाभो भोगो उपभोगो वीर्यमित्येतानि च नव क्षायिका भावा भवन्तीति' लिखा है जिसका अर्थ होता है कि ज्ञान, दर्शन, दान, लाभ, भोग, उपभोग वीर्य ये नौ क्षायिकभाव होते हैं। 'च' शब्दसे पीछे कहे गये सम्यक्त्व और चारित्रका ग्रहण करना चाहिये, यह भी इसमें नहीं लिखा है। उसके बिना ज्ञानादि सात ही होते हैं।

एक सूत्र है—'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्‌गलानादत्ते' ॥८-२॥ इसमें 'कर्मणो योग्यान्' के स्थानमें 'कर्मयोग्यान्' पद भी रखा जा सकता था। भाष्यमें 'कर्मयोग्यान्' पदका प्रयोग भी किया गया है किन्तु फिर भी 'कर्मणो योग्यान्' पद क्यों रखा, इसपर भाष्यकारने कोई प्रकाश नहीं डाला। किन्तु सर्वार्थसिद्धिकारने इस 'कर्मणो योग्यान्' पदके ऊपरसे जैनसिद्धान्तके जिस रहस्य-को स्पष्ट किया है वह अपूर्व है।

इस तरहके और भी बहुतसे उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं। यहां विस्तार भयसे उन सबको देना शक्य नहीं हैं। उन सबसे यही व्यक्त होता है कि भाष्यकारको तत्त्वार्थसूत्रके सूत्रोंका उतना स्पष्ट अनुगम नहीं था जितना सर्वार्थसिद्धिकारको था। और इससे तथा सर्वार्थसिद्धिमें सूत्र १।१६की व्याख्यामें आगत एक पाठान्तरके सम्बन्धमें जो उस पाठान्तरको माननेवालोंकी व्याख्या दी है उससे बराबर ऐसा लगता है कि सर्वार्थसिद्धिकारके सामने तत्त्वार्थ सूत्रकी कोई व्याख्या होनी चाहिये, जो भाष्यसे भिन्न थी। किन्तु भाष्यकारके सामने कोई अन्य व्याख्या होनेका कोई आभास भाष्यसे नहीं मिलता।

शैली तथा वैदुष्य—भाष्यके अवलोकनसे प्रकट होता है कि भाष्यकार

आगमिक शैलीके विद्वान थे। और जैन सिद्धान्तोंका उन्होंने अच्छा अनुगम किया था। 'आद्यशब्दौ द्वित्रिभेदौ' ॥१-३५॥ सूत्रकी व्याख्यामें जो उन्होंने नयोंका तथा 'उत्पादव्यय ध्रौव्ययुक्तं सत्' ॥५-२९॥ और 'अर्पितानर्पितसिद्धेः ॥५-३१॥' सूत्रोंकी व्याख्यामें जो आगमिक शैलीमें अनेकान्तवादका विवेचन किया है, वह उनके वैदुष्यका परिचायक है।

पं० सुखलालजीने तत्त्वार्थ सूत्रकी अपनी प्रस्तावनामें सूत्र २-५२ के भाष्यके कुछ अंशको योगसूत्रके व्यासभाष्यसे प्रभावित बतलाया है और यह प्रकट किया है कि भाष्यकार दर्शनान्तरोंके भी ज्ञाता थे। किन्तु दर्शनोंके ज्ञाता होते हुए भी उनकी शैलीमें दार्शनिकतासे आगमिकता ही अधिक है। 'प्रत्यक्षमन्यत्' ॥१-१२॥ सूत्रके भाष्यमें उन्होंने यह लिखा है कि कुछ वादी अनुमान, उपमान, आगम, अर्थापत्ति, सम्भव और अभावको भी प्रमाण मानते हैं किन्तु उनका अन्तर्भाव मतिज्ञान और श्रुत ज्ञानमें हो जाता है क्योंकि वे सब इन्द्रिय और पदार्थके सन्निकर्षसे होते हैं,'। परन्तु उन्होंने 'न चक्षुरनिन्द्रियाभ्याम् ॥१-१९॥' सूत्रके भाष्यमें यह नहीं बतलाया कि चक्षु और मनसे व्यंजनावग्रह क्यों नहीं होता। और न सन्निकर्षके सम्बन्धमें ही कोई चर्चा की है। अर्थ और व्यंजनको भी स्पष्ट नहीं किया है।

सूत्रोंका साधारण अर्थ करनेके साथ-साथ जहाँ उन्हें उचित प्रतीत हुआ वहाँ सम्बद्ध आगमिक या सैद्धान्तिक विषयोंका विवेचन ही उन्होंने अपने भाष्यमें किया है। यों तो उन्होंने यत्रतत्र कुछ सूत्रोंकी उत्थानिकाएँ दी हैं, किन्तु अनेक आवश्यक उत्थानिकाओंको छोड़ ही दिया है। उदाहरणके लिए, दूसरे अध्यायमें 'विग्रहगतौ कर्मयोगः ॥२-२६॥ सूत्रसे एक बिल्कुल नई चर्चाका सूत्रपात होता है किन्तु उस तथा उससे आगेके तीन सूत्रोंकी कोई उत्थानिका ही नहीं दी। ऐसे उदाहरण और भी हैं। जहाँ उत्थानिका दिये बिना भी काम चल सकता था, वहाँ उत्थानिकाओंका देना और जहाँ उनका देना आवश्यक था, वहाँ नहीं देना, बड़ा विचित्र सा लगता है। जो विषय जहाँ देना चाहिये था, वहाँ न देकर अन्यत्र देनेका एक उदाहरण भाष्यकी स्वोपज्ञताका विचार करते समय पीछे दे आये हैं।

भाष्यमें मतान्तरोंका निर्देश—भाष्यकारने अपने भाष्यमें अनेक मतभेदोंका निर्देश किया है, जो प्रायः जैन सिद्धान्त विषयक ही हैं।

१. भाष्यकारने सूत्र १-६के भाष्यमे 'चतुर्विधमित्येके नय वादान्तरेण' लिखकर प्रमाणके चार भेदोंका मतान्तरसे निर्देश किया है। अनुयोगद्वारमें प्रमाणके चार भेद पाये जाते हैं। संभवतया भाष्यकारने 'एके' से उसीका निर्देश किया

है। इसके सम्बन्धमें पं० सुखलालजीने लिखा[1] है—'जान पड़ता है सबसे पहले आर्यरक्षितने, जो जन्मसे ही ब्राह्मण थे और वैदिक शास्त्रोंका अभ्यास करनेके पश्चात् ही जैन साधु हुए थे अपने ग्रन्थ अनुयोगद्वारमें (पृ० २११) प्रत्यक्ष अनुमानादि चार प्रमाणोंका विभाग जो गौतम दर्शन (न्यायसू० १-१-३) में प्रसिद्ध है उसको दाखिल किया।' प्रमाण चतुष्टय विभाग असलमें न्यायदर्शनका ही है इस लिए भाष्यकारने उसे 'नयवादान्तरेण' कहा है।

२. सूत्र २-४३ के भाष्यमें भाष्यकारने लिखा है कि-'किन्हींके मतसे जीवके साथ एक कार्मण शरीरका ही अनादि सम्बन्ध है। तैजस तो लब्ध्यपेक्ष होता है और वह तैजस लब्धि सबके नहीं होती, किसीके ही होती है।' इसपर सिद्धसेन गणिकी टीकाके अवलोकनसे प्रकट होता है कि श्वेताम्बर परम्परामें इस सम्बन्धमें मतभेद है। यद्यपि सूत्रकारने सभी संसारी जीवोंके कार्मण और तैजस दोनों शरीरोंका अनादि सम्बन्ध बतलाया है और भाष्यकारने भी तदनुसार ही भाष्यमें कथन किया है, तथापि जो पक्ष तैजसका सब जीवोंके अनादि सम्बन्ध नहीं मानता, वह सूत्र और उसके भाष्यका व्याख्यान भी अपने अनुकूल ही करता है। दिगम्बर परम्परामें इस तरहका कोई मतभेद नहीं है।

३. सूत्र १-३१ के भाष्यमें भाष्यकारने किन्हीं आचार्योंका यह मत दिया है कि केवल ज्ञानके हो जाने पर मति श्रुत आदि ज्ञानोंका अभाव नहीं होता है किन्तु जैसे सूर्यके प्रकाशसे नक्षत्र मण्डल छिप जाता है वैसे ही अन्य सब ज्ञान विद्यमान होते हुए भी केवल ज्ञानसे अभिभूत हो जाते हैं। किन्तु भाष्यकारने इस मतको मान्य नहीं किया है।

इसी तरह अन्य भी कई शास्त्रीय मत भेदोंका उल्लेख भाष्यमें किया गया है।

भाष्यमें आगम विरुद्ध मान्यताओंका निर्देश—भाष्यमें आगत कतिपय मान्यताओं पर सिद्धसेनगणिने अपनी टीकामें आपत्ति की है। यद्यपि गणिजीने कतिपय मान्यताओंका समन्वय करनेकी भी चेष्टा की है किन्तु कहीं-कहीं तो वह भाष्यकारपर बुरी तरहसे बरस पड़े हैं और उनके कथनको प्रमत्त-गीत (पागलका प्रलाप) तक कह डाला है। सिद्धसेनगणि कृत टीकाकी मुद्रित प्रतिके दूसरे भागकी प्रस्तावनामें उसके सम्पादक श्री हीरालाल रसिक दास एम० ए० ने भी ऐसी मान्यताओंकी एक तालिका दी है और प्रारम्भमें लिखा है कि तत्त्वार्थसूत्रमें और उसके स्वोपज्ञ भाष्यमें कतिपय ऐसे उल्लेख हैं जो श्वेताम्बरीय, आगमादिग्रन्थोंमें अथवा दिगम्बरीय ग्रन्थोंमें दृष्टिगोचर नहीं होते। वे उल्लेख इस प्रकार हैं—तत्त्वार्थसूत्रमें (१-४) साततत्त्व बतलाये हैं

---

१. प्रमा० मीमां० भ० टि०, पृ० २०।

किन्तु श्वेताम्बर सम्प्रदायमें नवतत्त्व ही बतलाये हैं। सिद्धसेनगणिने पूज्यपाद और अकलंककी तरह बन्धमें पुण्य और पापका अन्तर्भाव मानकर उसपर कोई आपत्ति नहीं उठाई है। दिगम्बर परम्परामें कुन्दकुन्दने नौ पदार्थोंकी तरह सात तत्त्व भी बतलाये हैं यह हम पहले ही लिख आये हैं।

२. भाष्य मान्यपाठमें सूत्र (१-३४) के द्वारा पहले नयोंके पाँच भेद बतलाये हैं फिर सूत्र (१-३५)में पञ्चम शब्द नयके तीन भेद बतलाये हैं। भाष्यमें उन तीन भेदोंका नाम साम्प्रत, समभिरूढ़, और एवंभूत बतलाया है। किन्तु साम्प्रत नामका नय किसी भी जैन ग्रन्थमें नहीं मिलता। गणिजी ने इसपर कोई आपत्ति नहीं की है।

३. सूत्र २-१७के भाष्यमें उपकरणेन्द्रियके दो भेद बतलाये हैं। इसपर आपत्ति करते हुए टीकाकार[1] गणिजी ने कहा है कि आगममें उपकरणके अन्तर और बाह्य भेद नहीं बतलाये हैं। यह तो आचार्य (भाष्यकारका) ही कोई सम्प्रदाय है।

४. सूत्र ३-९के भाष्यमें भाष्यकारने मेरु पर्वतका वर्णन करते हुए भद्रशाल वनसे पण्डुकवन तक मेरुकी ऊँचाई तथा हानिका कथन किया है। उसपर आपत्ति करते हुए टीकाकार[2] ने लिखा है कि आचार्य ने जो यह हानि बतलाई है वह गणितके अनुसार घटित नहीं होती। गणित शास्त्रवेत्ता विद्वान इस हानिको आगमके अनुसार अन्य प्रकारसे बतलाते हैं।

५. सूत्र ३-१५ की टीकामें सिद्धसेन गणि ने लिखा[3] है 'कि किन्हीं दुष्टों ने अन्तर्द्वीप सम्बन्धी भाष्य नष्ट कर दिया, इसीसे भाष्यमें ९६ अन्तर्द्वीप पाये जाते हैं। किन्तु यह कथन आर्षविरुद्ध है क्यों कि जीवाभिगम आदिमें छप्पन अन्तर्द्वीप कहे हैं। वाचक मुख्य सूत्रका उल्लंघन करके ऐसा नहीं कह सकते, ऐसा करना असंभव है, अतः किन्हीं सिद्धान्त विरोधियों ने उसे नष्ट कर दिया।'

---

१. 'आगमे तु नास्ति कश्चिदन्तबहिर्भेद उपकरणस्येत्याचार्यस्यैव कुतोऽपि सम्प्रदाय इति।' वही—पृ० १६६।

२. 'एषा च परिहाणिराचार्योक्ता न मनागपि गणितप्रक्रियया सङ्गच्छते········ गणितशास्त्रविदो हि परिहाणिमन्यथा वर्णयन्त्यार्षानुसारिणः।'—वहीं, पृ० २५२।

३. 'एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन षण्णवतिरन्तरद्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात्, नापि वाचकमुख्याः सूत्रोल्लङ्घनेनाभिदधत्यसम्भाव्यमानत्वात् तस्मात् सैद्धान्तिकपाशैर्विनाशितमिदमिति।'—वही, पृ० २६७।

इससे पता चलता है कि भाष्में ९६ अन्तर्द्वीप बतलाये थे, जैसा कि दिगम्बर परम्परामें मान्य हैं। किन्तु अब जो मुद्रित भाष्य हैं, यहाँ तक कि सिद्धसेनकी टीकामें जो भाष्य मुद्रित है उसमें भी ५६ ही अन्तर्द्वीप बतलाये गये हैं। अतः प्रतीत होता है कि गणि जी की टीकाके पश्चात् भाष्यसे ९६ वाला पाठ हटाकर उसके स्थानमें ५६ वाला पाठ रख दिया है। मूल भाष्यमें ९६ ही अन्तर्द्वीप बतलाये थे।

६. सूत्र ४-१४ के भाष्यमें भाष्यकारने लिखा है कि सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह और नक्षत्र तिर्यग्लोकमें हैं और शेष ज्योतिष्कदेव ऊर्ध्वलोकमें रहते हैं।

इसपर सिद्धसेन[1] गणिने लिखा है। आचार्य ही (भाष्यकार) इसे जानते हैं, आगममें तो ऐसा कथन नहीं है। सभी ज्योतिष्कदेव तिर्यग्लोकमें ही रहते हैं।

७. 'सूत्र ८-३२ के भाष्य में दूसरे संहननका नाम अर्धवज्रर्षभनाराच' बतलाया है। इसपर गणिजीने लिखा[2] है कि यह भाष्यकारका मत है। कर्म प्रकृति ग्रन्थ में तो वज्रनाराच नाम ही है। इसमें क्या तत्त्व है यह तो पूर्ण श्रुतधर ही जानते हैं।

८. सूत्र ९-६ के भाष्यमें भाष्यकारने बारह भिक्षुप्रतिमाओंमें से आठवीं आदि प्रतिमाओंको सप्तरात्रिकी आदि बतलाया है। गणिजीने उससे कुपित होकर लिखा[3] है—यह भाष्य परमागमके वचनोंके अनुसार नहीं है। यह पागलका प्रलाप है वाचक तो पूर्ववित् थे वह इस प्रकार आर्षविरुद्ध कैसे लिख सकते हैं।'

इस प्रकार भाष्यके अनेक प्रसंग श्वेताम्बरीय आगमोंके भी विरुद्ध हैं। और इस लिये सिद्धसेन गणिने उन्हें वाचक उमास्वातिका नहीं माना है। किन्तु हमें तो सारा भाष्य ही सूत्रकारकृत प्रतीत नहीं होता, जैसा कि हम पहले लिख आये हैं।

---

१. 'शेषास्तु प्रकीर्णतारका ऊर्ध्वलोके भवन्ति इति। आचार्य एवेदमवगच्छति, न त्वार्षमेवमवस्थितं, सर्वज्योतिष्काणां तिर्यग्लोकव्यवस्थानादिति।'—वही, पृ० २८८।

२. 'अर्धवज्रर्षभनाराचनाम तु वज्रर्षभनाराचानामर्धं किल सर्वेषां वज्रस्यार्धं···· इति भाष्यकारमतम्। कर्मप्रकृतिग्रन्थेषु वज्रनाराचनामैवं पट्टहीनं पठितं, किमत्र तत्त्वमिति सम्पूर्णानुयोगधारिणः क्वचिद् संविद्रते। 'वही, भा० पृ० १५४।

३. 'नेदं पारमर्षप्रवचनानुसारि भाष्यं, किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवंविधमार्षविसंवादि निबन्धीयात्।'—सि० ग० टी०, भा० २, पृ० २०६।

भाष्यका रचनाकाल

अब हम भाष्यके रचनाकाल पर विचार करेंगे।

१. भाष्यपर दो टीकाएँ उपलब्ध हैं और दोनों प्रकाशित भी हो चुकी हैं। उनमेंसे एक टीका बड़ी है और उसके रचयिता सिद्धसेन गणि हैं। और दूसरी छोटी टीकाके रचयिता हरिभद्र हैं। श्वेताम्बर परम्परामें हरिभद्र नामके कई आचार्य हो गये हैं जिनमें सैकड़ों ग्रन्थोंके रचयिता याकिनीसुनु हरिभद्र प्रमुख हैं। इस दूसरी वृत्तिका रचयिता इन्हींको माना जाता है। पं० सुखलालजीने भी तत्त्वार्थसूत्रकी अपनी प्रस्तावना (पृ० ४३) में यही बात लिखी है। उसी आधार पर हमने दूसरी वृत्तिको देखा तो हमें यह देखकर आश्चर्य हुआ कि दोनों वृत्तियों-के अनेक स्थल शब्दशः मिलते हैं। हरिभद्रकी वृत्ति देखनेसे पहले हम सिद्धसेन की वृत्ति देख चुके थे और अकलंकदेवके तत्त्वार्थवार्तिकके साथ मिलान करके इस निर्णय पर भी पहुँच गये थे कि सिद्धसेनने अकलंकदेवकी तत्त्वार्थवार्तिकको न केवल देखा है किन्तु उसका अनुसरण भी किया है। ऐसे स्थलोंको हरिभद्रकी वृत्ति में भी ज्यों का त्यों देखकर पहले तो हमने यही समझा कि हरिभद्रकी वृत्तिका अनुसरण सिद्धसेनने किया है और हरिभद्रने तत्त्वार्थवार्तिकका अनु-सरण किया है। किन्तु अनुसन्धान करने पर हमें ज्ञात हुआ कि छोटी वृत्ति हरिभद्र नामके किसी अन्य आचार्यकी कृति है और उन्होंने सिद्धसेन गणिकी वृत्तिको सामने रखकर अपनी वृत्ति रची है। अतः भाष्यपर उपलब्ध टीकाओंमें सबसे प्राचीन टीका सिद्धसेन गणिकी है।

सिद्धसेनने अपनी टीकाके अन्तमें अपनी प्रशस्ति भी दी है। उसके अनुसार दिन्नगणिके शिष्य सिंहसूर, सिंहसूरके शिष्य भास्वामी और भास्वामीके शिष्य सिद्धसेन गणि थे। सिंहसूरने नयचक्र पर वृत्ति रची है। पं० सुखलालजीने (त० सू० की प्रस्ता० पृ० ४२) लिखा है कि सिंहसूर विक्रमकी सातवीं शताब्दीके मध्यमें अवश्य विद्यमान थे। तथा सिद्धसेन गणिने अपनी टीकामें बौद्ध नैयायिक धर्मकीर्तिका नामोल्लेख किया है। अतः यह निश्चित है कि सिद्धसेन विक्रमकी सातवीं शताब्दीसे पहले नहीं हुए।

तथा नववीं शताब्दीके विद्वान शीलाङ्कने आचारांग टीकामें गन्धहस्ती नामसे उनका उल्लेख किया है ऐसा पं० सुखलालजीने (त० सू० प्रस्ता० ४२) लिखा है। अतः नववीं शताब्दीके पश्चात् नहीं हुए यह भी निश्चित है। उक्त दोनों आधारोंपर यदि उनका समय मोटेतौर पर आठवीं शताब्दी मान लिया जाये तो यह निश्चित है कि उस समय तत्त्वार्थ भाष्य वर्तमान था।

२. यह भी निश्चित है कि अकलंकदेव सिद्धसेन गणिके पूर्वज थे, क्योंकि

जैसा हम आगे लिखेंगे सिद्धसेन गणिने अपनी तत्त्वार्थ टीकामें उनके तत्त्वार्थ वार्तिकका पूरा उपयोग किया है। अकलंकदेव भी धर्मकीर्तिके पश्चात् हुए है। अतः इतना निश्चित है कि सिद्धसेन गणिकी तरह वे भी सातवीं शताब्दीसे पहले नहीं हुए। और इसलिये अकलंकदेव और सिद्धसेनगणिके मध्यमें दीर्घकालका अन्तराल होना भी सम्भव नहीं है। अधिक सम्भव तो यही प्रतीत होता है कि अकलंक सातवीं शताब्दीके अन्तिम चरणमें हुए हैं तो सिद्धसेन आठवीं शताब्दीके मध्यमें। अतः जिस तत्त्वार्थभाष्य पर सिद्धसेनने टीका लिखी वह अकलंकदेवके समयमें अवश्य वर्तमान होना चाहिये। क्योंकि सिद्धसेनकी टीकामें दिये गये [1]मतभेदोंसे यह प्रकट होता है कि उनके सामने तत्त्वार्थभाष्यकी अन्य टीका टिप्पण भीं वर्तमान थे। अतः तत्त्वार्थभाष्य सातवीं शताब्दीमें अवश्य रचा जा चुका था।

अपने उक्त कथनके समर्थनमें एक प्रमाण हमें और भी उपलब्ध हुआ है—मल्लवादीके नयचक्र पर सिंहसूर क्षमाश्रमणकी [2]न्यायागमानुसारिणीवृत्ति उपलब्ध है। उसमें तत्त्वार्थभाष्यका[3] एक वाक्य उद्धृत है। सिंहसूर सिद्धसेन गणिके दादागुरु थे और उनका समय विक्रमकी सातवीं शताब्दीका मध्यकाल माना जाता है।

अकलंक देव और उनका तत्त्वार्थ वार्तिक

जैन परम्परामें भट्टाकलंक देव बड़े प्रखर तार्किक और दार्शनिक हुए हैं। इन्हें जैनन्यायका यदि पिता कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं है। बौद्ध दर्शनमें धर्म कीर्तिको जो स्थान प्राप्त है वही स्थान जैनदर्शनमें अकलंकका है। अतः दर्शन और न्यायके प्रकरणमें इनके सम्बन्धमें विस्तारसे प्रकाश डाला जायेगा।

इनके द्वारा रचित प्रायः सभी ग्रन्थ जैनदर्शन और जैनन्यायसे सम्बन्ध रखते हैं और उन्हें इन विषयोंका आकर ग्रन्थ कहा जा सकता है। अतः उन सब ग्रन्थों-का परिचयादि भी उसी प्रकरणमें देना उचित होगा। उन्हीं ग्रन्थोंमें तत्त्वार्थ वार्तिक नामक ग्रन्थ भी है, जो तत्त्वार्थ सूत्रका ही व्याख्या ग्रन्थ है। यद्यपि उसकी शैली दार्शनिकतासे परिपूर्ण है तथापि उसमें आगमिक चर्चाएँ होनेसे तत्त्वार्थसे सम्बन्ध होनेके कारण उसे इस प्रकरणमें रखा गया है।

१. 'कैश्चिदेवं भाष्यमेतद् व्याख्यायि'—पृ० २९।
२. 'लौकिकसम उपचारः प्रायो विस्तृतार्थो व्यवहार' इति वचनात्।
३. त० भा० १-३५। —द्वा० न० च०, पृ० ९५।

नाम—इस ग्रन्थके आद्य मंगल श्लोकके चतुर्थ चरणमें 'वक्ष्ये तत्त्वार्थ-वार्तिकम्' लिखकर अकलंकदेवने इस ग्रन्थको तत्त्वार्थवार्तिक नाम दिया है। यह नाम सार्थक है। चूंकि यह तत्त्वार्थ सूत्रका व्याख्या ग्रन्थ है अतः उसको तत्त्वार्थ नाम दिया जाना उचित ही है। तथा उसकी रचना वार्तिकोंके रूपमें होनेसे उसे तत्त्वार्थवार्तिक संज्ञा दी गई है।

ये वार्तिक श्लोकात्मक भी होते हैं और गद्यात्मक भी होते हैं। कुमारिल-का मीमांसा श्लोकवार्तिक और धर्मकीर्तिका प्रमाणवार्तिक श्लोकोंमें रचा गया है। किन्तु न्यायदर्शनके सूत्रोंपर उद्योतकरने जो न्यायवार्तिक रचा है वह गद्यात्मक है। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे उद्योतकरने न्यायसूत्रोंपर न्यायवार्तिक रचा वैसे ही अकलंकदेवने तत्त्वार्थके सूत्रोंपर तत्त्वार्थवार्तिककी रचना की।

तत्त्वार्थवार्तिकको तत्त्वार्थराजवार्तिक भी कहते हैं। और उसका संक्षिप्त नाम राजवार्तिक ही अधिक प्रचलित पाया जाता है। विक्रमकी १५वीं शताब्दीके ग्रन्थकार धर्मभूषणने राजवार्तिक[1] नामसे उसका उल्लेख किया है। तथा तत्त्वार्थराजवार्तिक भाष्य नामसे भी उसका उल्लेख किया है। इसका कारण यह है कि वार्तिक तो सूत्र रूप हैं और उन वार्तिकोंका व्याख्यान भी अकलंकदेवने स्वयं किया है। अतः धर्मभूषणजीने वार्तिकको उद्धृत करते हुए तो राजवार्तिक नामका उल्लेख किया है और उसकी व्याख्याको उद्धृत करते समय तत्त्वार्थ-राजवार्तिक भाष्य नामका उल्लेख किया है।

विक्रमकी नौवीं शताब्दीके ग्रन्थकार वीरसेन स्वामीने तो अपनी 'धवला[2] और जयधवला[3] टीकामें केवल तत्त्वार्थ भाष्य नामसे ही तत्त्वार्थवार्तिकका उल्लेख किया है।

रचनाशैली तथा महत्त्व—अकलंकदेवने अपना तत्त्वार्थवार्तिक उद्योतकरके न्यायवार्तिककी शैलीसे लिखा है। इसमें वार्तिक जुदे हैं और उनकी व्याख्या जुदी है। इसीसे इसकी पुष्पिकाओंमें इसे 'तत्त्वार्थवार्तिक व्याख्यानालंकार संज्ञा दी गई है। उद्योतकरने भी अपनी वार्तिकोंका व्याख्यान स्वयं किया है। मूलसूत्र ग्रन्थ दस अध्यायोंमें विभक्त है अतः तत्त्वार्थवार्तिकमें भी दस ही अध्याय हैं।

१. 'यद् राजवार्तिकम्····।'—न्या० दी०, पृ० ३१।
२. 'उक्तं तत्त्वार्थ भाष्ये'—षट्खं०, पु० १, पृ० १०३।
३. 'प्रमाण प्रकाशितार्थ विशेष प्ररूपको नयः' अयं वाक्यनयः तत्त्वार्थ भाष्यगतः।
—क० पा०, भा० १, पृ० २१०।

किन्तु अकलंकदेवने न्यायवार्तिककी तरह ही प्रत्येक अध्यायको आह्निकोंमें विभक्त कर दिया है।

अकलङ्कदेवके ग्रन्थ दो प्रकारके हैं—टीका ग्रन्थ और स्वतंत्र प्रकरण। टीकाग्रन्थोंमें तत्त्वार्थवार्तिक और अष्ट शती हैं। तथा स्वतंत्र ग्रन्थोंमें लघीयस्त्रय सविवृत्ति, न्यायविनिश्चय सविवृत्ति, सिद्धिविनिश्चय सविवृत्ति और प्रमाण संग्रह मुख्य हैं। ये सभी स्वतंत्र ग्रन्थ संक्षिप्त होनेपर भी बहुत गम्भीर, और अर्थबहुल हैं। अकलंकदेवकी प्रौढ़ तार्किक शैलीके साक्षात् दर्शन तो उन्हींमें होते हैं।

तत्त्वार्थसूत्रका विषय सैद्धान्तिक और आगमिक है फलतः तत्त्वार्थ-वार्तिकमें भी उसी विषयका प्राधान्य होना स्वाभाविक है। किन्तु अकलंक-देव सिद्धान्त और आगमके मर्मज्ञ होते हुए भी मुख्य रूपसे दार्शनिक थे। अतः तत्त्वार्थवार्तिककी शैलीमें दार्शनिकताकी छाया रहना स्वाभाविक है। तत्त्वार्थ-सूत्रके प्रथम तथा पञ्चम अध्यायमें क्रमसे ज्ञानकी और द्रव्योंकी चर्चा है और ये ही दोनों चर्चाएँ दर्शनशास्त्रके प्रधान अंगभूत हैं। अतः अकलंकदेवने इन दोनों अध्यायोंमें अनेक दार्शनिक विषयोंकी समीक्षा की है। दर्शनशास्त्रके अभ्यासियोंके लिए ये दोनों अध्याय बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जो दार्शनिक चर्चाएँ हैं वे इससे पूर्वके जैनसाहित्यमें उपलब्ध नहीं होतीं।

जैनदर्शन अनेकान्तवादी दर्शन है और आचार्य समन्तभद्र अनेकान्त वादके सबसे बड़े व्यवस्थापक हुए हैं। उन्होंने आप्तमीमांसाके द्वारा उसीकी व्यवस्था की है। उसी आप्तमीमांसापर अकलंकदेवने अपना अष्टशती भाष्य रचा था। अकलंकदेव समन्तभद्रके सुयोग्य उत्तराधिकारी थे। उन्होंने तत्त्वार्थवार्तिकके द्वारा अनेकान्तवादकी स्थापना ही मुख्य रूपसे की है। जितने भी दार्शनिक मन्तव्य उसमें चर्चित हैं सबका समाधान अनेकान्तके द्वारा किया गया है। इसीलिए दार्शनिक विषयोंसे सम्बद्ध सूत्रोंके व्याख्यानमें 'अनेकान्तात्' वार्तिक अवश्य पाया जाता है। इसके अवलोकनसे ऐसा स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है कि उनकी इस रचनाका एक प्रधान उद्देश आगमिक शैलीके ग्रन्थ द्वारा भी अनेकान्तकी व्यवस्था को अवतरित करना था। जिन अध्यायोंमें दार्शनिकताकी गन्ध भी नहीं हैं उनमें भी यथास्थान अनेकान्तवादकी चर्चाको अवतरित किया गया है।

किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि आगमिक विषयोंकी उन्होंने उपेक्षा की है। तीसरे और चतुर्थ अध्यायोंमें लोकानुयोगसे सम्बद्ध विषयोंका जो वर्णन यथा-स्थान कियागया है, वह तिलोयपण्णत्ति जैसे लोकानुयोगविषयक प्राचीन महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थसे भी अपनी विशेषता रखता है जिसका दिग्दर्शन तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थके अन्तर्गत कराया जा चुका है। इसी तरह अन्य भी कई सैद्धान्तिक विषयोंकी महत्त्वपूर्ण चर्चा यथास्थान की गई है।

सारांश यह है कि तत्त्वार्थवार्तिक एक तरहसे एक आकर ग्रन्थ जैसा है। इसीसे पं० सुखलालजीने अपनी तत्त्वार्थसूत्रकी प्रस्तावना (पृ० ७८-७९) में उसके सम्बन्धमें लिखा है—'राजवार्तिक और श्लोकवार्तिकके इतिहासज्ञ अभ्यासी को मालूम पड़ेगा कि दक्षिण हिन्दुस्तानमें जो दार्शनिक विधा और स्पर्धाका समय आया और अनेकमुख पाण्डित्य विकसित हुआ, उसीका प्रतिबिम्ब इन दोनों ग्रन्थोंमें है। प्रस्तुत दोनों वार्तिक जैन दर्शनका प्रामाणिक अभ्यास करनेके पर्याप्त साधन है, परन्तु इनमेंसे राजवार्तिक गद्य, सरल और विस्तृत होनेसे तत्त्वार्थके सम्पूर्ण टीका ग्रन्थोंकी गरज अकेला ही पूरी करता है। ये दो वार्तिक यदि नहीं होते तो दसवीं शताब्दी तकके दिगम्बर साहित्यमें जो विशिष्टता आई है और उसकी जो प्रतिष्ठा बंधी है वह निश्चयसे अधूरी ही रहती। वे दो वार्तिक साम्प्रदायिक होनेपर भी अनेक दृष्टियोंसे भारतीय दार्शनिक साहित्यमें विशिष्ट स्थान प्राप्त करें ऐसी योग्यता रखते हैं। इनका अवलोकन बौद्ध और वैदिक परम्पराके अनेक विषयोंपर तथा अनेक ग्रन्थोंपर ऐतिहासिक प्रकाश डालता है'।

आधार—तत्त्वार्थ वार्तिकका मूल आधार पूज्यपादकी सर्वार्थ सिद्धि है। सर्वार्थ सिद्धिकी वाक्य रचना सूत्र जैसी सन्तुलित और परिमित है। अतः अकलंक देवने उसके प्रायः सभी विशेष वाक्योंको अपने वार्तिक बना डाला है। और उनका व्याख्यान किया है। आवश्यकतानुसार नये वार्तिकों की तो रचना की ही है किन्तु सर्वार्थसिद्धिका उपयोग पूरी तरहसे किया गया है। और यदि कहा जाये कि तत्त्वार्थ वार्तिकमें लगभग समग्र सर्वार्थसिद्धि आ गयी है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। किन्तु सर्वार्थसिद्धिका विशिष्ट अभ्यासी भी यदि तत्त्वार्थ वार्तिकको पढ़े तो उसे भी यह बोध नहीं हो सकता कि मैं किसी पठित विषय को ही पढ़ रहा हूँ। जैसे बीज वृक्षमें समा जाता हैं वैसे ही सर्वार्थसिद्धि तत्त्वार्थ-वार्तिकमें समा गई। उसको आधार बनाकर अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिक रूपी भव्य प्रासादका निर्माण किया है, जिसमें आधारकी प्राचीनता होते हुए भी सब कुछ नवीन ही नवीन दृष्टिगोचर होता है; क्योंकि सर्वार्थसिद्धिकारने जिन विषयोंकी चर्चा नहीं की थी, और जो विषय सर्वार्थसिद्धिकारके पश्चात् दार्शनिक क्षेत्रमें अवतरित हुए उन सभीकी संयोजना तत्त्वार्थवार्तिकमें की गई है।

चर्चित विषय—तत्त्वार्थवार्तिकमें जिन विशेष विषयोंकी चर्चा अकलंकदेवने की है उनका दिग्दर्शन कराये बिना ग्रन्थका दार्शनिक रूप अधूरा रह जाता है। अतः संक्षेपमें उनका दिग्दर्शन कराया जाता है।

१. प्रथम अध्यायके प्रथम सूत्रके व्याख्यानमें अकलंकदेवने कर्ता और करण के भेदाभेदकी चर्चा उठाई है। ज्ञान शब्दकी 'जानाति इति ज्ञानम्' और

ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानम्' जो जानता है वह ज्ञान है और जिसके द्वारा जाना जाता है वह ज्ञान है, इन दो व्युत्पत्तियोंको लेकर वह शंका को गई है। कर्ता करणसे भिन्न होता है जैसे देवदत्त कुठारसे भिन्न है। अतः आत्मा ज्ञानसे भिन्न है। इस चर्चाको उठाकर अन्तमें ज्ञानसे आत्माको भिन्न और अभिन्न सिद्ध किया गया है।

सर्वार्थसिद्धिमें भी पूज्यपाद स्वामीने इस शंकाको उठाया है और उसका समाधान अनेकान्तवादी दृष्टिकोणसे किया है। अकलंकदेवने उसीको खूब विस्तार दिया है।

२. इसी प्रथम सूत्रके अन्तर्गत दूसरे आह्निकमें यह चर्चा उठाई है कि सब दर्शनोंमें ज्ञानसे ही मोक्ष माना गया है अतः मोक्ष मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र रूप नहीं हो सकता। और इसके समर्थन में सांख्य, वैशेषिक, न्याय और बौद्धदर्शनके मत दिये गये हैं। सांख्यमतके समर्थनमें 'धर्मेण गमनमूर्ध्वं, इत्यादि सांख्यकारिका ४४, व्याख्याके साथ दी गई है। वैशेषिक मतके समर्थन-में 'इच्छाद्वेषपूर्विका धर्माधर्मप्रवृत्तिः।६।२।१४। इस वै० शे० सूत्रको लिया गया है। न्यायदर्शनके समर्थनमें दुःख जन्म प्रवृति इत्यादि न्याय सूत्र १।१।२ को व्याख्या पूर्वक उद्धृत किया गया है। और बौद्ध दर्शनके समर्थनमें प्रसिद्ध द्वादशांग प्रतीत्य समुत्पादका विवरण दिया है।

३. सूत्र १-५ के व्याख्यानमें पातञ्जल महाभाष्यके 'कृत्रिमाकृत्रिमयोः कृत्रिमें संप्रत्ययो भवति।१।१।२२। तथा 'गौणमुख्ययोर्मुख्ये संप्रत्ययः' ८।३।२२। इन दोनों कथनोंका निरास करके उनमें अनेकान्त दृष्टिको मान्य किया है। पात० महा० का उपयोग तत्त्वार्थवार्तिकमें[1] अनेक स्थानों पर किया गया है और उससे अनेक उदाहरण दिये गये हैं।

४. सूत्र १-६ में सप्तभंगीका विवेचन करके अनेकान्तमें अनेकान्तको सुघटित किया है तथा अनेकान्त छलमात्र है और अनेकान्तवाद संशयका हेतु है, इन आरोपोंका निराकरण किया है। तथा 'एकवस्तु अनेक धर्मात्मक है' इस बातको लौकिक व शास्त्रीय उदाहरणोंसे सिद्ध करते हुए सर्व वादियोंकी इस विषयमें सहमति सप्रमाण बतलाई है।

५. सूत्र १-९ के अन्तर्गत 'एकान्तवादियोंमें ज्ञानका करण कर्तृ आदि साधन नहीं बन सकता' इस बातको विस्तारसे सिद्ध किया है। एकान्तवादियों-को दो भागोंमें विभाजित किया है—एक, जो आत्माको नहीं मानते और दूसरे,

१. त० वा०, पृ० २४, ३१, ३२, ३३, १२८, १८७, २१२, २३७, ४६२, आदि।

जो आत्माको मानते हैं। प्रथम विभागमें बौद्ध दर्शनको और दूसरे विभागमें वैशेषिक और सांख्य दर्शनको लिया गया है और उनकी समीक्षा की है।

६. सूत्र १-११ के अन्तर्गत 'इन्द्रियोंके व्यापारसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है और उनके बिना होने वाला ज्ञान परोक्ष है।' ऐसा माननेवालोंका निरास किया है। इसी सूत्र के अन्तर्गत सर्वार्थसिद्धिमें भी यह प्रश्न उठाकर उसका निराकरण किया गया है। किन्तु तत्त्वार्थवार्तिकमें अकलंकदेवने पूर्वपक्षके समर्थनमें दिग्नागके प्रमाण समुच्चय, न्यायसूत्र, वैशेषिकसूत्र, मीमांसादर्शन आदि से प्रमाण उद्धृत किये हैं और फिर उनकी समीक्षाका प्रधान लक्ष्य दिग्नागका प्रमाण समुच्चय है। उसीके 'कल्पनापोढ़ं प्रत्यक्षम्' की आलोचना यहाँ प्रधान रूप से की गई है। इस प्रकरणमें बसुबन्धुके अभि धर्मकोश से भी कारिका (१।३२ तथा १।१७) उद्धृत की गई है।

७. सूत्र १-१९ में चक्षुके प्राप्यकारित्वका तथा श्रोत्रके अप्राप्यकारित्वका निराकरण किया गया है। न्याय-वैशेषिक दर्शन चक्षुको प्राप्यकारी मानते हैं और बौद्ध दर्शन श्रोत्रको अप्राप्यकारी मानता है।

८. सूत्र १-२० के अन्तर्गत न्यायसूत्र १।१।५ में निर्दिष्ट अनुमानके पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट भेदोंका तथा उपमान, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव नामक परकल्पित प्रमाणोंका अन्तर्भाव श्रुतज्ञानमें बतलाया है।

९. सूत्र २-८ में आत्माको न मानने वालोंके 'आत्मा नहीं है क्योंकि उसका कोई कारण नहीं है। जैसे खर विषाण (गधे के सींग) तथा आत्मा नहीं है क्योंकि उसका प्रत्यक्ष नहीं होता' इन दोनों हेतुओंका निराकरण करके आत्माका अस्तित्व सिद्ध किया है। इतना ही नहीं, युक्तिजालसे खरविषाणका भी अस्तित्व सिद्ध किया है जो उस समय की तार्किक प्रणाली पर अच्छा प्रकाश डालता है।

१०. सूत्र ४-४२ के अन्तर्गत एक को अन्य विविध युक्तियोंसे अनेकात्मक सिद्ध करके सप्तभंगीका विवेचन बहुत विस्तार से किया गया है।।सूत्र १-६ के अन्तर्गत तो वस्तुकी स्वात्मा और परात्माका विश्लेषण विशेष रूप से किया गया है। किन्तु यहाँ सप्तभंगीके सकलादेश और विकलादेश भेद करके प्रमाण सप्तभंगी और नयसप्तभंगीका पृथक्-पृथक् कथन किया है। तथा प्रमाण सप्तभंगीका कथन करते हुए सप्तभंगीके प्रत्येक उदाहरणात्मक वाक्यके प्रत्येक पदकी समीक्षा करते हुए उसकी आवश्यकता सिद्ध की है। यथा 'स्यादस्त्येव जीवः' इस उदाहरणात्मक वाक्यमें आगत 'स्यात्' अस्ति, एव, और जीव पदों में से प्रत्येकके अभावमें क्या-क्या विप्रतिपत्तियाँ उत्पन्न होती है इसका विश्लेषण करके प्रत्येक पदका साफल्य बतलाया है। सप्तभंगीका यह विवेचन उससे पूर्वके उपलब्ध साहित्यमें अन्यत्र नहीं पाया जाता।

११. सूत्र ५-२ के अन्तर्गत वैशेषिक दर्शनके 'द्रव्यत्वयोगात् द्रव्यम्' की आलोचना खूब विस्तार से की है। और अन्तमें 'गुणसन्द्रावो द्रव्यम्' की भी समीक्षा की है।

१२. सूत्र ५-७ में आत्माको व्यापक अत एव निष्क्रिय माननेवाले वैशेषिकके 'आत्माके संयोग और प्रयत्न गुण से हाथ में क्रिया होती हैं इस मतका खण्डन किया गया है।

१३. सूत्र ५-१९ के अन्तर्गत शब्दको मूर्तिक सिद्ध करके वैशेषिक दर्शन, बौद्ध दर्शन और सांख्य दर्शनमें माने गये मनके स्वरूपका निराकरण किया है। वैशेषिक मनको एक स्वतंत्र द्रव्य तथा अणुरूप मानता है। बौद्ध दर्शनमें अनन्तर अतीत विज्ञानको मन कहा है और सांख्य दर्शनमें मन प्रधानका विकार है। किन्तु जैन दर्शनमें मनको स्वतंत्र द्रव्य नहीं माना है और न नित्य अणुरूप ही माना है। सर्वार्थसिद्धिमें केवल वैशेषिकोंके द्वारा माने गये मनके स्वरूपकी समीक्षा है।

१४. सूत्र ५-२२ के अन्तर्गत परिणामाभाववादियोंके मतका निराकरण करके योग सूत्र के व्यास भाष्य (३।१३) में जो परिणामका लक्षण कहा है, उसकी विस्तारसे समीक्षा की है। तथा क्रिया मात्र ही काल है, क्रिया से भिन्न कोई काल नामक पदार्थ नहीं है, ऐसा माननेवाले वादियोंका विस्तार से खण्डन करके काल द्रव्यकी सत्ता सिद्ध की है।

१५. सूत्र ५-२४ के अन्तर्गत स्फोटवादका निराकरण किया है। स्फोटवादी मानते हैं कि ध्वनियाँ तो क्षणिक हैं, क्रमसे उत्पन्न होती हैं, अपने स्वरूपका प्रतिपादन करनेमें ही उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। अतः उनसे घटपट आदि पदार्थोंका बोध नहीं हो सकता। अतः एक स्फोटनामका तत्त्व है जो ध्वनिके द्वारा व्यक्त होकर पदार्थोंका ज्ञान कराता है। उसीका खण्डन अकलंकदेवने किया है।

१६. सूत्र ८-१ में अकलंकदेवने कौक्कल, काण्ठेविद्धि, कौशिक, हरि, श्मश्रु-मान्, कपिल, रोमश, हारिताश्व, मुण्ड, आश्वलायन आदिको क्रियावादी बतलाया है, मरीचिकुमार, उलूक, कपिल, गार्ग्य, व्याघ्रभूति, वाद्वलि, माठर, मौद्गलायन वगैरहको अक्रियावादी दर्शन बतलाया है। साकल्य, वाष्कल, कुथुमि, सात्यमुग्रि, चारायण, कठ, माध्यन्दिन, मौद, पैप्पलाद, बादरायण, स्विष्ठिकृद्, एतिकायन, वसु और जैमिनि वगैरहके मतको अज्ञानवाद कहा है। तथा वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्ण, वाल्मीकि, रोमहर्षिणि, सत्यदत्त, व्यास, एलापुत्र, औपमन्यव, इन्द्रदत्त, अयःस्थूल आदिके मार्गोंको वैनयिकवादी कहा है। इसपरसे यह शंका की गई है कि बादरायण, वसु और जैमिनि वगैरह तो वेदविहित क्रियाके अनु-

ष्ठायी हैं उन्हें अज्ञानी क्यों कहा गया है। इसके उत्तरमें 'वेदविहित हिंसा-हिंसा नहीं है। इस उक्तिका खण्डन मनुस्मृति (५।३९), मैत्राण्युपनिषद् (६।३६) तथा ऋक्संहिता (१०।९०) से पूर्वपक्षमें प्रमाण उपस्थित करके किया गया है।

इस तरह अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थवार्तिकमें उक्त दार्शनिक समीक्षाएँ की हैं। कुछ आगमिक चर्चाएँ भी महत्त्वपूर्ण हैं जो इस प्रकार हैं।

१. सूत्र १-७ के अन्तर्गत जीव अजीव आदि सातों तत्त्वोंका विवेचन निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति और विधानपूर्वक किया है।

२. सूत्र १-२० के अन्तर्गत द्वादशांगका विषयपरिचय दिया है। यह विषय परिचय नन्दीसूत्र और समवायांगमें दिये गये विषय परिचयसे प्रायः भिन्न है। अतः इसका आधार कोई अन्य ग्रन्थ होना चाहिए जो वर्तमानमें उपलब्ध नहीं है।

३. सूत्र १-२१, २२ में अवधिज्ञानके द्रव्य, क्षेत्रादिका वर्णन बहुत विस्तारसे किया है।

४. सूत्र १-२३ में मनः पर्ययज्ञानका आशय स्पष्ट करते हुए महाबन्धके वाक्य 'आगमे ह्युक्तं' करके दिये गये हैं।

५. सूत्र १-३३ में नयोंका, उनमें भी ऋजुसूत्रनयका विवेचन अपूर्व है।

६. सूत्र २-७ में सान्निपातिक भावोंका वर्णन है। उसमें प्रथम यह शंका की है कि आगममें सान्निपातिक नामक भाव भी कहा है उसे भी यहाँ कहना चाहिए। उसके उत्तरमें प्रथम तो यह कहा गया है कि सान्निपातिक नामका कोई छठा भाव नहीं है। फिर कहा गया है कि यदि वह है भी तो मिश्र शब्दसे उसका ग्रहण हो जाता है। श्वेताम्बर आगममें सान्निपातिक नामका भाव भी बतलाया है। किन्तु दिगम्बर परम्पराके अन्य किसी ग्रन्थमें इसका उल्लेख नहीं मिलता।

किन्तु अकलंकदेवने इस सम्बन्धमें एक गाथा भी उद्धृत की है जिसमें सान्निपातिक भावोंके भेद वतलाये हैं। अतः अकलंकके पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थमें उनका कथन अवश्य होना चाहिए।

७. सूत्र २-९४ में शरीरोंका कथन बहुत विस्तारसे किया है। उसमें षट्खण्डागमके प्रथम खण्ड जीवस्थानका उल्लेख करते हुए यह शंका उठाई है कि जीवस्थानमें वैक्रियिककाय योग और वैक्रियिक मिश्रकाय योग देव-नारकियोंके बतलाया है किन्तु यहाँ आपने तिर्यञ्चों और मनुष्योंके भी बतलाया है। यह बात तो आगमविरुद्ध है। 'इसका उत्तर देते हुए अकलंकदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति दण्डकका प्रमाण अपने कथनके समर्थनमें दिया है। और फिर इन दोनों कथनोंका समन्वय भी किया है। सूत्र ४-२६ में भी एक शंका समाधान इसी प्रकारका है। वहाँ भी 'आर्षमें अन्तर विधानमें ऐसा कहा है' लिखकर उसका निर्देश शङ्का-

कारने किया है और अकलंकदेवने उसके उत्तरमें कहा है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति दण्डकमें ऐसा कहा है—विजयादिके देव मनुष्यभव प्राप्त करके कितनी बार विजयादिमें जाते आते हैं ऐसा गौतमके पूछनेपर भगवानने कहा आगमनकी अपेक्षा कमसे कम एक भव और उत्कृष्टसे गमनागमनकी अपेक्षा दो भव धारण करते हैं।'

पाँचवें अंग ग्रन्थका नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति है। श्वेताम्बर परम्परामें वह वर्तमान है और भगवती सूत्रके नामसे प्रसिद्ध है। उसमें भगवान महावीर और उनके प्रधान शिष्य गौतम गणधरके मध्यमें हुए प्रश्नोत्तरोंका संग्रह है। और उक्त दोनों उल्लेख रूपान्तरसे उसमें पाये भी जाते हैं। हम नहीं कह सकते कि अकलंकदेवने व्याख्याप्रज्ञप्ति नामसे उसीका उल्लेख किया है अथवा इस नामका कोई अन्य अंगग्रन्थ उनके सामने उपस्थित था।

८. तत्त्वार्थ सूत्रका तीसरा चौथा अध्याय लोक रचनासे सम्बद्ध है। सर्वार्थसिद्धिमें सूत्रोक्त बातोंका वर्णन परिमित शब्दोंमें किया गया है। किन्तु तत्त्वार्थ वार्तिकमें विस्तारसे वर्णन है और वह लोकानुयोग विषयक उपलब्ध साहित्यमें पाये जाने वाले वर्णनसे विशिष्ट भी हैं। उसके तुलनात्मक अध्ययनसे ज्ञात होता है कि अकलंक देवके सामने लोकानुयोग विषयक जो साहित्य था, वह आज उपलब्ध नहीं है। उसके अनेक कथन तिलोयपण्णतिसे मेल नहीं खाते, किन्तु तिलोयपण्णतिमें जो लोक विनिश्चिय आदि ग्रन्थोंके मतान्तर दिये हैं, उनसे मेल खाते हैं।

तथा, अकलंक देवने जो दो एक गाथाओंका संस्कृत रूपान्तर इस प्रसंगमें दिया है उसका मूल भी उपलब्ध साहित्यमें नहीं मिलता। अस्तु,

तीसरे अध्यायके सूत्र दो, छै, १०, ११, २२, ३२, ३५, ३६ और ३८ की तथा चौथे अध्यायके सूत्र १२, १३, १९, २२ की व्याख्याएं दृष्टव्य हैं। तीसरे अध्यायके १०वें सूत्रकी व्याख्याके अन्तर्गत मनुष्यलोकका वर्णन विस्तारसे दिया है। तथा चौथे अध्यायके १२वें सूत्रकी व्याख्याके अन्तर्गत स्वर्गलोकका वर्णन विस्तारसे दिया है।

९. अध्याय ६, ७, ८ में यत्र तत्र सूत्रोंकी व्याख्याओंमें अनेक आगमिक उपयोगी चर्चाएं चर्चित हैं।

१०. अध्याय नौ के सूत्र ६ के अन्तर्गत, आठ शुद्धियोंका, सूत्र १ में चौदह गुणस्थानोंके स्वरूपका, सूत्र ७ में धर्मानुप्रेक्षाका वर्णन करते हुए मार्गणास्थानोंमें जीवस्थानों और गुणस्थानोंका, सूत्र ९ में बाईस परीषहोंका, सूत्र ३६ में विपाकविचय धर्मध्यानका, अच्छा वर्णन है।

इस तरह तत्त्वार्थवार्तिक दार्शनिक तथा आगमिक दोनों ही दृष्टियोंसे अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

तत्त्वार्थ भाष्य और तत्त्वार्थवार्तिक

यह तो स्पष्ट ही है कि अकलंक देवने सर्वार्थ सिद्धिको आधार बनाकर तत्त्वार्थवार्तिककी रचना की है। किन्तु तत्त्वार्थ भाष्य उनके सामने था या नहीं, और उन्होंने उसका भी उपयोग किया है या नहीं, इस विषयमें विवाद[1] है। अतः यहाँ उसीपर प्रकाश डाला जाता है।

यह तो स्पष्ट है कि अकलंक देवके सामने तत्त्वार्थ सूत्रका एक दूसरा सूत्र-पाठ भी था और वह प्रायः वही होना चाहिये, जिसपर भाष्य रचा गया है। यह बात नीचेके विवरणसे स्पष्ट है।

१. दि० सूत्रपाठमें 'भवप्रत्ययोऽवधिर्देवनारकाणाम्' ॥१-२१॥ पाठ है और भा० सूत्रपाठमें 'भवप्रत्ययो नारकदेवानाम्' ॥१-२२॥ पाठ है। उक्त सूत्र-की व्याख्यामें अकलंक देवने यह प्रश्न उठाया है कि 'नारक' शब्दका पूर्वनिपात होना चाहिये। यह प्रश्न दूसरे सूत्र पाठको लक्ष्यमें रखकर ही उठाया गया है ऐसा लगता है।

२. दि० सूत्रपाठमें 'जीवभव्याभव्यत्वानि च ॥२-७॥' पाठ है और दूसरेमें 'जीवभव्यभव्यात्वादीनि च' पाठ है। उक्त सूत्रकी व्याख्यामें अकलंकदेवने यह शंका उठाई है कि इसमें 'आदि' ग्रहण करना चाहिये।

३. दि० सूत्रपाठमें 'जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः ॥२-३३॥' ऐसा पाठ है। दूसरेमें पोतके स्थानमें 'पोतजानां' पाठ है। उक्त सूत्रकी व्याख्यामें लिखा है 'केचित् पोतजा इति पठन्ति' अर्थात् कोई-कोई 'पोतज' ऐसा पढ़ते हैं।

४. दि० सूत्रपाठमें 'रत्नशर्करा····सप्ताधोऽधः ॥३-१॥' पाठ है। दूसरेमें 'सप्ताऽधोऽधःपृथुतराः' पाठ है। अकलंकदेवने 'केचिदत्र पृथुतरा इति पठन्ति' कोई यहाँ 'पृथतराः' ऐसा पढ़ते हैं, ऐसा लिखकर उसका निराकरण किया है।

५. दि० सूत्रपाठ है 'शेषाः····प्रवीचाराः ॥४-८॥' दूसरे सूत्रपाठमें 'प्रवीचारा द्वयोर्द्वयोः' पाठ है। तत्वार्थवार्तिकमें 'द्वयोर्द्वयोः' कहना चाहिये ऐसा सुभाव देकर उसे आर्षविरुद्ध बतलाया है।

६. दि० सूत्रपाठमें 'द्रव्याणि ॥५-२॥' जीवाश्च ॥५-३॥' ये दो सूत्र हैं और दूसरे सूत्रपाठमें दोनोंको मिलकर एक सूत्र है। सूत्र ५-३ की व्याख्यामें त: वा० में दोनों सूत्रोंको मिलाकर एक कर देना चाहिए, ऐसी शंका की गई है।

---

१. इस विवादके लिये देखिये—अनेकान्त, वर्ष ३, पृ० ३०४, ३०७, ६२३ और ७२९ आदि।

७. दि० सूत्रपाठमें 'बन्धेऽधिकौ पारिणामिकौ ॥५-३६॥ पाठ है। और भाष्यमें 'बन्धे समाधिकौ परिणामिकौ ॥५-३६॥ पाठ है। त० वा० में सूत्र ५-३५ की व्याख्यामें 'बन्धे समाधिकौ पारिणामिकौ इत्यपरे सूत्रं पठन्ति' लिखकर स्पष्ट रूपसे भाष्यमान्य सूत्र पाठका निर्देश किया है और उसे आर्षविरुद्ध बतलाया है।

८. दि० सूत्रपाठमें 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य ॥६-१७॥ और 'स्वभाव-मार्दवं च ॥६-१८॥' ये दो सूत्र है ६-१८ में दोनों सूत्रोंको मिलाकर 'अल्पारम्भ-परिग्रहत्वं -स्वभावमार्दवं मानुषस्य' इसप्रकार एक सूत्र करने की बात उठाई है। दूसरे सूत्रपाठमें दोनोंको मिलाकर एक ही सूत्र है। किन्तु—स्वभावमार्दवार्जवं मानुषस्य' ऐसा पाठ है। अतः यह निश्चित रूपमें नहीं कहा जा सकता कि यह पाठान्तर दूसरे सूत्रपाठसे ही सम्बद्ध है अथवा किसी तीसरे सूत्रपाठसे सम्बद्ध है।

९. प्रथम सूत्रपाठमें 'आज्ञापाय''' धर्म्यम् ॥९-३६॥ ऐसा सूत्र है। दूसरे सूत्र-पाठमें 'धर्ममप्रमत्तसंयतस्य' ऐसा पाठ है। तथा इससे आगे 'उपशान्तक्षीणकषाय-योश्च' ॥९-२८॥ अतिरिक्त सूत्र है जो दि० सूत्रपाठमें नहीं है। त० वा० में सूत्र ९-३६ की व्याख्यामें 'धर्म्यमप्रमत्तसंयतस्य' और 'उपशान्तक्षीण-कयाषययोश्च' इन दोनोंका उल्लेख करके उनका निरसन किया है।

उक्त उद्धरणोंसे यह निर्विवाद है कि अकलंकदेवके सामने दूसरा सूत्रपाठ भी था। संभव है कोई तीसरा सूत्रपाठ भी हो। किन्तु जिस पर भाष्यकी रचना हुई है वह सूत्रपाठ तो उनके सामने अवश्य था। अब प्रश्न रह जाता है तत्त्वार्थ भाष्यका। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ तथ्य उपस्थित किये जाते हैं।

१. त० वा० में सूत्र १-१ के अन्तर्गत दो वार्तिक इस प्रकार हैं—'एषां पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरम् ॥६९॥ उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः ॥७०॥' सूत्र १-१ के भाष्यमें भी ये दोनों वाक्य इसी प्रकार हैं। प्रथम वाक्यमें थोड़ा अन्तर है—एषां च पूर्वलाभे भजनीयमुत्तरम्।'

२. त० वा० में सूत्र १-३० में एक वार्तिक है—'नाभावोऽभिभूतत्वादहनि नक्षत्रवत् ॥८॥ इसमें शंका की गई है कि केवलीके क्षायोपशमिक ज्ञानोंका अभाव नहीं होता। बल्कि जैसे दिनमें सूर्यके तेजसे नक्षत्र अभिभूत हो जाते हैं वैसे ही केवलज्ञानके तेजसे क्षायोपशमिक ज्ञान भी अभिभूत हो जाते हैं। 'तत्त्वार्थ भाष्य सू० १।३१ में भी किन्हीं आचार्योंका उक्त मत दिया है। लिखा है—'केचिदाचार्या व्याचक्षते नाभावः किन्तु तदभिभूतत्वादकिञ्चित्कराणि भवन्तीन्द्रियवत्।' आगे सूर्यके तेजसे अन्य प्रकाशोंके अभिभूत होनेका दृष्टान्त दिया है।

३. तत्त्वार्थ भाष्य २-७ में सूत्रमें आगत 'आदि' शब्दकी सार्थकता बतलाते हुए लिखा है—'अस्तित्वमन्यत्वं कर्तृत्वं भोक्तृत्वं गुणवत्वसर्वगत्वमनादिकर्मसन्तान बद्धत्वं प्रदेशत्वमरूपत्वं नित्यत्वमित्येवमादयोऽप्यनादिपारिणामिकाः''''इत्यादि ग्रहणेन सूचिताः। अर्थात् अस्तित्व आदि भी पारिणामिक भाव है उनका सूचन आदि पदसे किया है।

दि० सूत्रपाठमें २-७ में आदिके स्थानमें 'च' शब्द है। अतः तत्त्वार्थ वार्तिकमें 'च' शब्द किसलिये है इसके उत्तरमें लिखा है—'अस्तित्वान्यत्व-कर्तृत्व - भोक्तृत्व-पर्यायवत्त्वासर्वगतत्वानादिसन्ततिबन्धनबद्धत्व-प्रदेशवत्वारूपत्व-नित्यत्वादि समुच्चयार्थश्चशब्दः ।।१२।। भाष्यके वाक्यमें प्रत्येक पद अलग-अलग है, वार्तिकमें समस्यन्त है तथा गुणवत्वके स्थानमें पर्यायवत्व जैसे मामूली परिवर्तन भी है। सर्वार्थसिद्धिमें केवल 'अस्तित्वनित्यत्वप्रदेशत्वादयः' का ही ग्रहण है। अतः उक्त वार्तिक भाष्यके उक्तवाक्यके ऋणी प्रतीत होती है। इस तरहके अन्य भी उदाहरण पाये जाते हैं।

४. त० भा० २-४९ में शरीरोंमें 'कारणतो विषयतः स्वामितः प्रयोजनतः प्रमाणतः प्रदेशसंख्यातोऽवगाहनतः स्थितितोऽल्पबहुत्वतः' भेद बतलाया है। तत्त्वार्थ वार्तिकमें भी उस सूत्रकी व्याख्यामें 'संज्ञा-स्वालक्षण्य-स्वकारण-स्वामित्व-सामर्थ्य-प्रमाण-क्षेत्र-स्पर्शन-कालान्तर-संख्या-प्रदेश-भावाल्पबहुत्वादि' के द्वारा शरीरोंमें भेद बतलाया है। यहाँ भाष्यमें बतलाये गये भेदके कारणोंमें वृद्धि कर दी गई है।

५ सूत्र ३-१ के भाष्य और वार्तिकमें 'सप्त' पद भूमियोंकी संख्या निर्धारित करनेके लिये दिया है ऐसा बतलाया है। तथा भाष्यमें लिखा है—'अपि च तत्रान्तरीया असंख्येयेषु लोकधातुष्वसख्येयाः पृथिवीप्रस्तारा इत्यध्यव-सिताः।' वार्तिकमें भी लिखा है—'सन्ति च केचित्तन्त्रान्तरीया 'अनन्तेषु लोक-धातुष्वनन्ताः पृथिवीप्रस्ताराः' इत्यध्यवसिताः।'

६. सूत्र ३-५ की व्याख्यामें नारकियोंको असुर कुमारोंके द्वारा दिये जाने-वाले दुःखोंके प्रकारोंका चित्रण [1]वार्तिक और भाष्यमें प्रायः अक्षरशः समान है।

---

१. 'सुतप्तायोरसपायन-निष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन-कूटशाल्मल्यारोहणावतरणायोघ-नाभिघातवासिक्षुरतक्षण-क्षरण-तप्ततैलावसेनायःकुम्भीपाकाम्बरीषभर्जनयंत्र - पीलनैः शूलशलाकाव्यधन-क्रकचपाटनाऽङ्गारधाग्निवाहन-सूचीशाड्वला-वकर्षणैः व्याघ्रर्क्षद्वीपिश्वशृगालवृककोक''''।—त० वा० पृ० १६५-१६६। 'तप्तायोरसपायननिष्टप्तायस्तम्भालिङ्गन- कूटशाल्मल्यग्रारोपणावतरणायोघ-

सर्वार्थसिद्धिमें केवल प्रारम्भका ही अंश पाया जाता है जब कि तत्त्वार्थ भाष्य और तत्त्वार्थवार्तिकमें पूर्णवर्णन प्रायः अक्षरशः समान है।

७. सूत्र ३-१८ में तत्त्वार्थ भाष्यमें तिर्यञ्चोंके भेद-प्रभेदोंकी आयु बतलाई है। इसी सूत्रमें जिसकी क्रम संख्या वहाँ ३-३९ है, तत्त्वार्थ वार्तिकमें भी तिर्यञ्चोंके भेद-प्रभेदोंकी आयु किञ्चित् परिवर्तनके साथ बतलाई है।

८. सूत्र ५-२५ में तत्त्वार्थ भाष्यमें 'उक्तं च' करके नीचे लिखी कारिका उद्धृत की है।

कारणमेव तदन्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः।
एकरसगन्धवर्णो द्विस्पर्शः कार्यलिङ्गश्च ॥

अकलंक देवने तत्त्वार्थ वार्तिकमें उसी सूत्रकी व्याख्यामें इसी कारिकाके प्रत्येक पदको लेकर उसकी आलोचना की है। और एकान्त वादका निरसन करके अनेकान्तकी व्यवस्था की है।

९. तत्त्वार्थ भाष्यमें एक सूत्र है 'अनादिरादिमांश्च ॥५-४२॥' और इससे आगे है 'रूपिष्वादिमान् ॥५-४३॥' योगोपयोगौ जीवेषु ॥५-४४॥' तथा इन सूत्रोंके भाष्यमें बतलाया है कि अरूपी धर्म-अधर्म आकाश और जीवमें अनादि परिणाम होता है तथा जीव यद्यपि अरूपी है फिर भी उनमें योग और उपयोग रूप परिणाम आदिमान होते हैं।

तत्त्वार्थ वार्तिकमें सूत्र ५-४२ की व्याख्यामे एक वार्तिक है—'स द्विविधोऽनादिरादिमांश्च ॥३॥' इसकी व्याख्यामें अकलंक देव ने लिखा है कि 'यहाँ अन्य ऐसा कहते हैं कि धर्म-अधर्म, काल और आकाशमें अनादि परिणाम होता है और जीव तथा पुद्गलोंमें आदिमान परिणाम होता है।'

यद्यपि भाष्यके उक्त कथनसे इसमें थोड़ासा अन्तर है। भाष्यमें कालका नाम नहीं है तथा जीवोंमें सादि और अनादि दोनों परिणाम बतलाये हैं। फिर भी 'यहाँ अन्य ऐसा कहते हैं' से यह स्पस्ट है कि उक्त कथन उक्त सूत्रसे ही सम्बन्ध रखता हैं और यह कथन तत्त्वार्थ भाष्यमें पाया जाता है।

उक्त सब सादृश्य आकस्मिक तो नहीं प्रतीत होते और फिर जब अकलंक

नाभिधानवासीक्षुरतक्षणक्षारतप्ततैलावसेचनायःकुम्भीपाकाम्बरीषभर्जनयन्त्र-पीडनायःशूलशलाकाभेदनक्रकचपाटनाङ्गारदहनवाहनासूचीशाड्वलापकर्षणैः तथा सिंह व्याघ्रद्वीपिश्वश्रृगालवृककोकमार्जार····।'

—त० भा०, ३-५।

देवसे पूर्व भाष्यकी रचना होना विशेष संभव है तब तो यही अधिक संभव प्रतीत होता है कि अकलंक देवके सामने भाष्य था।

यह कहा जा सकता है जैसा कि सर्वार्थसिद्धिके एक उल्लेखके आधारपर पीछे लिखा भी है कि तत्त्वार्थसूत्रकी कोई अन्य टीका भी होना संभव है और ऐसी स्थितिमें अकलंकदेवने तथा भाष्यकारने उक्त समान बातें उससे ली होगी यह संभव है। किन्तु सर्वार्थसिद्धि के एक उल्लेख तथा पाठान्तरके आधार पर यदि यह मान भी लिया जाये कि तत्त्वार्थसूत्रकी कोई अन्य टीका सर्वार्थसिद्धिसे पूर्व रची गई थी और वह पूज्यपाद के सामने मौजूद थी, तब भी उक्त सब बातोंको या उनमेंसे कुछ समान बातोंको, जो वार्तिक और भाष्यमें समान रूपसे पाई जाती हैं, उस टीकाका ऋणी तो नहीं कहा जा सकता; क्योंकि उनमेंसे कोई भी बात सर्वार्थसिद्धिमें नहीं मिलती। यदि उक्त टीकामें वे बातें होती तो सर्वार्थसिद्धिमें उनकी कुछ तो झलक पाई जाती।

हाँ, तत्त्वार्थवार्तिकमें ही दो स्थानोंपर वृत्ति और भाष्यका निर्देश अवश्य मिलता है। सूत्र ५।४की व्याख्यामें अकलंकदेवने नौवीं वार्तिक 'वृत्तौ पञ्चत्व वचनात्'का व्याख्यान करते हुए लिखा[1] है—

शंका—वृत्तिमें कहा है कि धर्मादि द्रव्य अवस्थित हैं वे कभी भी पञ्चत्वको नहीं छोड़ते। अतः छै द्रव्य है' ऐसा कथन व्याघाती है।

समाधान—ऐसा कथन व्याघाती नहीं है, आप वृत्तिकारके अभिप्रायको नहीं ममझे। वृत्तिकारका अभिप्राय यह है कि 'कालश्च' सूत्रके द्वारा काल द्रव्यका लक्षण अलगसे कहेंगे। अतः उसे छोड़कर यहाँ पाँच ही द्रव्योंका अधिकार है। इस लिये छै द्रव्योंके कथनमें कोई विरोध नहीं है।

उक्त सूत्रके भाष्यमें, जिसकी क्रम संख्या वहाँ ५-३ है, लिखा है— 'अवस्थितानि च न हि कदाचित् पञ्चत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति।' वार्तिकमें उद्धृत वाक्य इससे बहुत कुछ मिलता हुआ है। एक तो उसमें स्पष्टीकरणके लिये 'अवस्थितानि' के धर्मादीनि पद विशेष है, दूसरे 'पञ्चत्वं' के आगेका भूतार्थत्वं च' पद संभवतया यहाँ अनावश्यक समझकर छोड़ दिया गया है। अन्यत्र इस

१. 'स्यान्मतम्-वृत्तावुक्तम्—'अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पञ्चत्वं व्यभिचरन्ति। ततः षड् द्रव्याणीत्युपदेशस्य व्याघात इति, तन्न, किं कारणम्? अभिप्रायापरिज्ञानात्। अयमभिप्रायो वृत्तिकारस्य 'कालश्च' इति पृथक् द्रव्यलक्षणं कालस्य वक्ष्यते। तदनवेक्ष्य अधिकृतानि पञ्चैव द्रव्याणीति षड्द्रव्योपदेशाविरोधः।' —त० वा०, पृ० ४४४।

तरहका कोई वाक्य नहीं मिलता। एक ही आपत्ति इसमें हो सकती है। अकलंकदेवने समाधानमें 'कालश्च' सूत्रका उल्लेख किया है, किन्तु भाष्य मान्य सूत्र-पाठमें 'कालश्चेत्येके' सूत्र है। जिससे प्रकट होता है कि भाष्यमान्य सूत्रपाठके कर्ताको काल द्रव्य ही मान्य नहीं है। उसने केवल एक आचार्यके मतका उल्लेख मात्र किया है। भाष्यके टीकाकार[1] सिद्धसेनगणिने भी इस बातको स्वीकार किया है। अतः अकलंकदेवकृत समाधान भाष्यमान्य सूत्रपाठ से संगत नहीं बैठता।

सूत्र ५-१ की व्याख्यामें तत्त्वार्थवार्तिकमें उक्त शंका से मिलती हुई किन्तु उससे विपरीत एक और शंका है जो इस प्रकार[2] है—

शंका—काल भी एक अजीव पदार्थ है। इसीसे भाष्यमें बहुत बार 'छैद्रव्य हैं' ऐसा कहा है। अतः उसको भी गिनना चाहिये।

समाधान—कालका लक्षण आगे कहेंगे।'

यहाँ यह प्रश्न है कि यह भाष्य कौनसा है जिसमें बहुत बार छै द्रव्य बतलाये हैं। तत्त्वार्थ भाष्य में तो बहुत बार क्या, एक बार भी 'षड्द्रव्याणि' लिखा नहीं मिलता। जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, वीरसेन स्वामीने तत्त्वार्थ वार्तिक को भी 'तत्त्वार्थ भाष्य' कहा है। अतः 'भाष्य' शब्दसे अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिकोंकी व्याख्याका 'भाष्य' शब्द से उल्लेख किया हो ऐसी आशङ्काकी जा सकती हैं। किन्तु प्रथम तो अकलंकदेवने अपने वार्तिकोंके व्याख्यानको भाष्य शब्द से कहीं भी नहीं कहा, दूसरे द्रव्योंका कथन तत्त्वार्थसूत्रके पाँचवें अध्यायमें है। और उसके पहले सूत्र की व्याख्यामें ही यह लिखना कि 'भाष्यमें बहुतबार छै 'द्रव्य कहे हैं' असंगत है। फिर कालद्रव्यकी गणना करनेकी बात तत्त्वार्थ सूत्र के पाँचवें अध्यायके प्रथमसूत्रको लक्ष्य करके कही गई है क्योंकि उसमें काल द्रव्यको नहीं गिनाया है। अतः काल द्रव्यके पक्ष में प्रमाणरूपसे उसपर रचे जाते हुए वार्तिक ग्रन्थको ही भाष्यके नामसे उपस्थित किया जाना किसी भी तरह संभव नहीं है। अतः वह भाष्य कौन सा है जिसमें बहुबार 'षड्द्रव्याणि' पद आया है, यह अन्वेषणीय है।

१. 'कालश्चैकीयमतेन द्रव्यमिति वक्ष्यते। वाचकमुख्यस्य पञ्चैवेति'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० ३२१।
२. 'स्यादेतत् कालोऽपि कश्चिदजीवपदार्थोऽस्ति। अतश्चास्ति यद्भाष्ये बहुकृत्वः 'षड्द्रव्याणि' इत्युक्तम्। अतोऽस्योपसंख्यानं कर्तव्यमिति। तन्न; किं कारणम्? वक्ष्यमाण लक्षणत्वात्। वक्ष्यते हि तस्य लक्षणमुपरिष्टात्।'

अकलंकदेव का समय

अकलंकदेवके समयके सम्बन्धमें [1]एतद्देशीय तथा विदेशी[2] अनेक विद्वानोंने विचार किया है। न्याय कुमुदचन्द्रके प्रथम भागकी प्रस्तावनामें हमने अकलंकदेव का समय ई० ६२७ से ६८० तक निश्चित किया था। ओर स्व० पं० महेन्द्र कुमारजी न्यायाचार्यने सिद्धिविनिश्चयकी अपनी प्रस्तावनामें ई० ७२० से ७८० तकका समय निश्चित किया है। इस तरहसे इन दोनों समयोंके मध्यमें एक शताब्दीका अन्तर है। जिन अन्य विद्वानोंने अकलंकके समय पर विचार किया है वे सब प्रायः इन्हीं दोनोंमें से किसी एक मतके समर्थक हैं। अतः इन्हीं दोनों मतोंको आधार बनाकर विचार करना उचित होगा।

अकलंकदेवका उपलब्ध प्राचीनतम उल्लेख धनञ्जय कविके नाममाला कोशमें है—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम् ।
धनञ्जयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम् ॥

'अकलङ्कका प्रमाण, पूज्यपादका व्याकरण और धनंजयकविका काव्य, ये तीनों अपश्चिम रत्न हैं।'

---

१. स्व०डा०के०बी०पाठक—(भर्तृहरि और कुमारिल'—ज०व०रा०ए०सो० भाग १८)। डॉ० सतीशचन्द विद्याभूषण—(हि०इं०ला०,पृ० १८६)। डॉ० ए०एस० आलटेकर (दी राष्ट्रकूटाज् एण्ड देअर टाइम्स, पृ० ४०९)। पं० नाथूरामजी प्रेमी (जै०हि०, भा० ११,अ० १-८)। डॉ० बी०ए० सालेतोर (मिडि० जैनि पृ०, ३५)। आर नरसिंहाचार्य (इन्स०एट श्रवणगोलाके द्वि० सं०की भूमिका)। एस० श्री कण्ठ शास्त्री (ए०भा०ओरि०इं० भाग१२में 'दी एज आफ़ शंकर')। पं० जुगलकिशोर मुख्तार (जै०सा०इ०वि०प्र० पृ० ५४१)। डा० ए०एन० उपाध्ये–(डॉ० पाठकाज़् व्यु ऑन अनन्तवीर्याज् डेट–ए० भा० रि० इ०, भाग १३, पृ० १६१)। पं० कैलाशचन्द शास्त्री (न्या० कु०च०, प्रथम भागकी प्रस्ता०, पृ० १०४)। डॉ० ज्योति प्रसाद–(जैन संदेश शोधांक)। पं० महेन्द्रकुमारजी न्याचार्य–सि० वि०की प्रस्ता० ४४ आदि। और। डॉ० आर० जी० भण्डारकर (शान्तरक्षितासूरिफरेंसस् टु कुमारिलाज़ अटर्स ओन समन्तभद्र एण्ड अकलंक)—ए० भां, ओ० रि० इं० भाग ११, पृ० १५५।

२. पिटर्सन—द्वितीय रिपोर्ट सर्च आफ़ दी मैन्य, पृ० ७९। लुइस राइस— ज० रा० ए० सो०, भाग १५, पृ० २९९। डॉ० विंटरनिट्स—'हि० इं० लि० भाग २, पृ० ५८८। डॉ० ए० बी० कोथ (हि० सं० लि०, पृ० ४९७।

अकलंकदेवकी जैन न्यायको सबसे बड़ी देन है उनके द्वारा की गई प्रमाण व्यवस्था। दिगम्बर[1] और श्वेताम्बर सम्प्रदायके आचार्योंने अपनी-अपनी प्रमाण मीमांसाविषयक कृतियोंमें कुछ भी फेरफार किये बिना एक ही जैसी रीतिसे अकलङ्कदेवकी की हुई योजना और ज्ञानके वर्गीकरणको स्वीकार किया है। अतः यह निश्चित है कि धनंजय कविने प्रसिद्ध जैन दार्शनिक अकलंकका ही उक्त श्लोकमें स्मरण किया है।

धनंजय कविके पश्चात् उनका उल्लेख वीरसेन स्वामीने अपनी धवला जय धवलामें और उनके शिष्य जिनसेनने अपने महापुराणके प्रारम्भमें किया है। वीरसेन[2] स्वामीने अकलंकदेवका नामोल्लेख किये बिना 'तत्त्वार्थ भाष्य' के नामसे उनके तत्त्वार्थ वार्तिकका तथा सिद्धि विनिश्चयका उल्लेख करके उनसे उद्धरण दिये हैं। किन्तु जिनसेनने 'भट्टाकलंक श्रीपाल पात्रकेसरिणां गुणाः' लिखकर उनका नामोल्लेख किया है। तथा वीरसेनने[3] धवलामें 'इति' शब्दके अर्थ बतलानेके लिए एक श्लोक उद्धृत किया है जो धनंजय कविकी अनेकार्थ नाम मालाका ३९ वां श्लोक है। अतः धनञ्जय वीरसेनसे पहले हुए हैं और धनञ्जय से पहले अकलंक हुए हैं यह निश्चित है। पं० महेन्द्र कुमारजी इससे सहमत हैं। किन्तु वह अकलंक; धनञ्जय और वीरसेनको समकालीन बतलाते हैं। यही बात विवाद ग्रस्त है।

आचार्य सिद्धसेन गणि

श्वेताम्बर परम्परामें सिद्धसेनगणि नामके एक समर्थ आचार्य हो गये हैं। उन्होंने तत्त्वार्थभाष्य पर एक बृहत्काय वृत्ति ग्रन्थ रचा है। उनकी इस वृत्तिसे कुछ उद्धरण कई टीका ग्रन्थोंमें 'गन्धहस्ती' के नामसे उध्दृत पाये जाते हैं।

विक्रमकी पांचवीं शताब्दीमें सिद्धसेन दिवाकर नामसे एक प्रख्यात जैनाचार्य हो गये हैं। श्वेताम्बर परम्परामें इन्हें गन्धहस्ती तथा तत्त्वार्थका वृत्तिकार माना जाता था। इसका कारण यह था कि सतरहवीं शताब्दीके प्रसिद्ध विद्वान उपाध्याय यशोविजयजीने अपने 'महावीरस्तव'में गन्धहस्तीके नामसे सिद्धसेन दिवाकरके 'सन्मति' की एक गाथा उध्दृत की है। किन्तु पं० सुख-

१. देखो, पं० सुखलालजीका 'जैनोंकी प्रमाण मीमांसा पद्धतिका विकासक्रम' शीर्षक-लेख—अनेकान्त, वर्ष १, कि० ५, पृ० २६३।
२. क० पा०, भा० १, पृ० २१७। षट् खं०, पु० १, पृ० १०३ तथा, पु० १३, पृ० २५६।
३. षट्खं०, पु० १३, पृ० २३७।

लाल[1] जी ने इस उल्लेखको भ्रान्तिजन्य बतलाया है और अपने इस कथनके समर्थनमें उन्होंने जो प्रबल और अकाट्य प्रमाण उपस्थित किया है वह यह है कि उपाध्याय यशोविजय जी से पहलेके अनेक[2] ग्रन्थोंमें जो गन्धहस्तीके नामसे अवतरण मिलते हैं वे सभी अवतरण जरा भी परिवर्तन बिना और कहीं बहुत थोड़े परिवर्तन के साथ तथा कहीं भावसाम्यके साथ सिद्धसेनगणिकी तत्त्वार्थभाष्य पर रचित वृत्तिमें मिलते हैं। इससे यह निर्विवाद रूपसे सिद्ध होता है कि उपलब्ध तत्त्वार्थ वृत्तिके रचयिता गणी सिद्धसेन ही गन्धहस्ती हैं।

सन्मतिके टीकाकार दशवीं शताब्दीके अभयदेवने अपनी टीकामें[3] दो स्थानों पर गन्धहस्तिकृत तत्त्वार्थव्याख्या देखलेनेकी सूचना की है। उक्त प्रमाणके प्रकाशमें यह गन्धहस्तिकृत तत्त्वार्थव्याख्या सिद्धसेन गणिकृत तत्त्वार्थव्याख्या ही होनी चाहिये।

उक्त कथनके समर्थनमें एक लिखित प्रमाण भी उपलब्ध है। तत्त्वार्थपर एक टीका हरिभद्रकी भो है जो अधूरी है। अधूरी वृत्तिके पूरक यशोभद्रसूरिके शिष्यने इस टीकाके[4] अन्तमें सिद्धसेनकी उक्त टीकाका उल्लेख करते हुए सिद्धसेनको गन्धहस्ति विशेषणसे अभिहित किया है। अतः यह निर्विवाद है कि उपलब्ध तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिके रचयिता सिद्धसेन ही गन्धहस्ती हैं।

---

१. त० सू० की प्रस्ता०, पृ० ३६।

२. 'आह च गन्धहस्ती-निद्रादयः समधिगताया एव दर्शनलब्धेरुपघाते वर्तन्ते दर्शनावरणचतुष्टयन्तूद्गमोच्छेदित्वात् समूलघातं हन्ति दर्शनलब्धिमिति।'
—प्रव० सारो० वृत्ति, पृ० ३५८। सितरी टी० मलयगिरि, गा० ५।
'निद्रादयो यतः समधिगताया एव दर्शनलब्धेः उपयोगघाते प्रवर्तन्ते चक्षुदर्शनावरणादि चतुष्टयं तूद्गमोच्छेदित्वात् मूलघातं निहन्ति दर्शनलब्धिम्।'
—त० भा० टी०, भाग २, पृ० १३५।
'यदाह गन्धहस्ती-भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीसप्तकक्षयाविर्भूता सम्यग्दृष्टिः सादिरपर्यवसाना इति।'
—नवपदवृत्ति पृ० ८८।
'या तु भवस्थकेवलिनो द्विविधस्य सयोगायोगभेदस्य सिद्धस्य वा दर्शनमोहनीयसप्तकक्षयादपायसद्द्रव्यक्षयाच्चोदपादि सा सादिरपर्यवसाना इति।'
—त० भा० टी०, भा० १, पृ० ५९।

३. सन्मति टी०, पृ० ५९५ तथा पृ० ६५१।

४. 'एतदुक्तं भवति-हरिभद्राचार्येणार्द्धषण्णामध्यायानामाद्यानां टीका कृता, भगवता तु गन्धहस्तिना सिद्धसेनेन नव्या कृता तत्त्वार्थ टीका....।'
—त० सू० हरि० टी०, पृ० ५२१।

नवमी दसमी शताब्दीके ग्रन्थकार शीलाङ्कने[1] अपनी आचारांग सूत्रकी टीकामें एक गन्धहस्तीकृत विवरणका उल्लेख किया है। उक्त प्रमाणोंके प्रकाशमें यह विवरण भी तत्त्वार्थभाष्यवृत्तिके रचयिता सिद्धसेनका ही होना चाहिये। इस तरह इन सिद्धसेनकी दो रचनाओंका पता चलता है जिनमेंसे एक तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति उपलब्ध है और मुद्रित हो चुकी है, दूसरी रचना, जो आचाराङ्ग सूत्रकी टीका ज्ञात होती है, अभी तक अनुपलब्ध है।

तत्त्वार्थ भाष्यवृत्ति—सिद्धसेन गणिकी यह वृत्ति तत्त्वार्थसूत्रके भाष्यको शब्दशः स्पर्श करती है और उसका विवेचन करती है। इसके अध्यायोंके अन्तकी पुष्पिकाओंमें प्राय. 'भाष्यानुसारिणी' लिखा मिलता है।

इस वृत्तिके अवलोकनसे प्रकट होता है कि सिद्धसेन गणि विशेषावश्यक भाष्यके रचयिता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी ही तरह आगमिक परम्पराके प्रबल पक्षपाती थे। यद्यपि उन्होंने अपनी यह वृत्ति तत्त्वार्थभाष्यका विवेचन करनेके उद्देश्यसे ही लिखी जान पड़ती है और उसमें दार्शनिक और तार्किक चर्चाएं भी है, तथापि भाष्यका विवेचन करते समय भाष्यका आश्रय लेकर वह सर्वत्र आगमिक वस्तुका ही प्रतिपादन करते हैं और जहाँ भाष्य आगमसे विरुद्ध जाता दिखाई देता है वहाँ भी उसकी कड़ी आलोचना करते हुए वह आगमिक परम्पराका ही समर्थन करते हैं और उसीका प्रबलरूपसे स्थापन करते हैं।

किन्तु भाष्यके आगमविरुद्ध[2] उल्लेखोंकी कड़ी आलोचना करते हुए भी भाष्यकारके प्रति अपनी श्रद्धामें वह रंचमात्र भी कालिमा नहीं लाते और उन सब आगम विरुद्ध उल्लेखोंको किसी धूर्तके द्वारा की हुई मिलावट कहकर आगे बढ़ जाते हैं। आगम और आगमिकोंके प्रति यह उनकी गहरी श्रद्धाको व्यक्त करता है।

अनेक स्थलोंपर सिद्धसेनने भाष्यके तथोक्त आगम विरुद्ध उल्लेखोंको अपनी अज्ञानता बतलाकर टाल दिया है, अनेक स्थलोंपर आगमकी रक्षा करनेके

---

१. 'शास्त्रपरिज्ञा विवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्ति कृतम्'-आचा० टी०, पृ० १।

२ 'एतच्चान्तरद्वीपकभाष्यं प्रायो विनाशितं सर्वत्र कैरपि दुर्विदग्धैर्येन षण्णवतिरन्तरं द्वीपका भाष्येषु दृश्यन्ते। अनार्षं चैतदध्यवसीयते जीवाभिगमादिषु षट्पञ्चाशदन्तरद्वीपकाध्ययनात्। नापि वाचकमुख्याः सूत्रोलंघनेनाभिदधत्यसम्भाव्यमानत्वात्।'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० २६७। नेदं पारमर्ष प्रवचनानुसारिभाष्यं, किं तर्हि ? प्रमत्तगीतमेतत्। वाचको हि पूर्ववित् कथमेवंविधमार्षविसंवादि निबध्नीयात्। सूत्रानवबोधात् उपजातभ्रान्तिका केनाऽपि रचितमेतद् वचनकम्।'—भा० २, पृ० २०६।

उद्देश्यसे भाष्यके अर्थका विपर्यास भी किया है। इसके दो उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

१. तत्त्वार्थ भाष्य (९३१) में लिखा है—'मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपत्। सम्भिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत् सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।'

अर्थात् 'मतिज्ञान आदि चारों ज्ञानोंमें तो पर्यायसे (क्रमसे) उपयोग होता है, एक साथ नहीं। किन्तु सर्वद्रव्य पर्यायोंको ग्रहण करने वाले केवली भगवानके निरपेक्ष (इन्द्रियादिकी अपेक्षासे रहित) केवल ज्ञान और केवलदर्शनमें अनु समय उपयोग होता है।

यहाँ सिद्धसेनजी ने अनु[१]समय अर्थमें खींचा तानी करके 'बारंबार उपयोग' होता है ऐसा अर्थ किया है क्योंकि श्वे० आगमोंमें केवल ज्ञान और केवल दर्शन का उपयोग भी क्रमसे माना है। किन्तु यदि भाष्यकारको केवल ज्ञान और केवल दर्शनका उपयोग भी मतिज्ञानादिकी तरह 'पर्यायेण' इष्ट होता तो वह 'समन्ततो ज्ञानदर्शनस्य तु' इत्यादि न लिखते है। अतः 'अनुसमय' का अर्थ प्रति समय ही होना चाहिये।

सम्भवतया गणिजी भी इस बातको समझते थे। क्योंकि उन्होंने आगे लिखा है—'यद्यपि केचित् पण्डितम्मन्याः, सूत्राण्यन्यथाकार अर्थव्याचक्षते तर्कवलानुबिद्धबुद्धयो बारंबारेणोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणभाग यतः आम्नाये भूयांसि सूत्राणि वारंवारेणोपयोगं प्रतिपादयन्ति।'

अर्थात्—यद्यपि कुछ पंडिताभिमानी तर्कके बलसे सूत्रोंका अर्थ अन्य प्रकार से करते हैं और कहते हैं बारवांर उपयोग नहीं होता। किन्तु उसे हम प्रमाण नहीं मानते; क्योंकि आगममें बहुतसे सूत्र वारंबार उपयोगको कहते हैं।'

तर्कवलानुविद्धबुद्धयः' से उनका संकेत सिद्धसेन दिवाकरकी ओर हो सकता है क्योंकि उन्होंने अपने सन्मति तर्कमें केवलीके बारंवार उपयोगका तर्क के अधारसे खण्डन किया है। भाष्यकार भी युगपदुपयोगवादी प्रतीत होते हैं।

२. सूत्र (३-१३) के भाष्यमें लिखा है—

१. 'अनुगतः—अव्यवहितः समयः—अत्यन्ताविभागाः कालो यत्र कालसन्ताने स काल सन्तानोऽनुसमयस्तमनुसमयकालसन्तानमुपयोगः भवति'—सि० ग० टी०, भा० १, पृ० ११०-१११।

'न कदाचिदस्मात् परतो जन्मतः संहरणतो वा चारणविद्याधरर्द्धि प्राप्ता अपि मनुष्या भूतपूर्वा भवन्ति भविष्यन्ति च ।' अन्यत्र समुद्‌घातोपपाताभ्यामत एव च मानुषोत्तर इत्युच्यते ।'

अर्थात्—इस मानुषोत्तर पर्वतसे आगे जन्म अथवा हरणकी अपेक्षा चारण ऋद्धि और विद्याधर ऋद्धिके धारी भी मनुष्य न कभी पहले हुए, न वर्तमानमें होते हैं और न भविष्यमें होंगे ।' समुद्‌घात और उपपात अवस्थाको छोड़कर । इसीसे इसे मानुषोत्तर कहते हैं ।' इसका अर्थ गणिजीने इस प्रकार किया है—'इस मानुषोत्तर पर्वतसे आगे किसी भी कालमें मनुष्य न उत्पन्न होते हैं, न उत्पन्न होंगे, और न उत्पन्न हुए हैं । इसीसे इसे मानुषोत्तर कहते हैं । तथा संहरणकी अपेक्षा भी (मानुषोत्तरसे आगे) मनुष्य नहीं हैं । ····अवश्य ही मनुष्यको मानुषोत्तर पर्वतके इस ओर ही मरना चाहिये । तथा चारण और विद्याधर ऋद्धि प्राप्त भी मनुष्य मानुषोत्तरको लाँघकर जानेपर उधर नहीं मरते ऐसा नियम करते हैं । मानुषोत्तरसे बाहर उनके जानेका निषेध नहीं करते हैं । तपोविशेषके अनुष्ठानसे जंघाचारी और विद्याचारी मुनि चैत्यवन्दनाके लिये नन्दीश्वर आदि द्वीपोंको जाते हैं । आवश्यक आदिमें यह विधि प्रसिद्ध है । तथा विद्याधर महाविद्या सम्पन्न और विक्रिया आदि ऋद्धिधारी सब मानुषोत्तर से बाहर जाते हैं, किन्तु मरते नहीं है । ····मारणान्तिक समुद्‌घातसे युक्त कोई अढ़ाई द्वीपका वासी जो मानुषोत्तर पर्वतसे बाहरके द्वीपसमुद्रोंमें उत्पन्न होगा, वह उत्पत्ति प्रदेश तक जाकर वहाँ मरता है तथा बाहरके द्वीप समुद्रोंका वासी कोई प्राणी, जिसने मनुष्यायुका बन्ध किया है और जो मरकर अढ़ाई द्वीपके भीतर वक्र गतिसे उत्पन्न होगा उसके मनुष्यायुका उदय वक्र कालमें होता है । ····इस तरह समुद्‌घात और उपपातको छोड़कर अन्य प्रकारसे मानुषोत्तर पर्वतके बाहर मनुष्योका जन्म और मरण नहीं होता ।'

इस तरह गणिजीने आगमकी रक्षा करनेके लिये भाष्यमें अनुक्त बातको भाष्यके मत्थे मढ़ दिया है । भाष्यमें मरणकी तो कोई बात ही नहीं है । उसका तो स्पष्ट कथन है मानुषोत्तरसे बाहर कोई भी मनुष्य नहीं जा सकता चाहे वह ऋद्धि-धारी ही क्यों न हो । समुद्‌घात और उपपादकी अपेक्षा ही मानुषोत्तरसे बाहर मनुष्य पाया जा सकता है ।' इसीसे गणिजीने आगे [1]लिखा है—'जो इस भाष्यको चारण और विद्याधर ऋद्धि प्राप्तोंके मानुषोत्तरसे बाहर जानेका निषेधक बतलाते हैं उनका कथन आगमविरोधी है ।' इस तरह गणिजीने आगमकी रक्षाके उद्देश्यसे भाष्यका अर्थ विपरीत भी किया है ।

---

१ 'ये त्वेतद् भाष्यं गमनप्रतिषेधद्वारेण चारणविद्याधरर्द्धिप्राप्तानामचक्षते तेषामागमविरोधः'—भा० १, पृ० २६३ ।

उक्त दो उदाहरणोंसे स्पष्ट है कि श्री सिद्धसेनने जहाँ भाष्यके कथनको श्वे० आगमोंके प्रतिकूल देखा, वहाँ उसका व्याख्यान भाष्यकारके आशयके अनुरूप न करके आगमके अनुकूल किया है। और जहाँ ऐसा करना संभव न हो सका वहाँ उस कथनको किसीके द्वारा प्रक्षिप्त करार दिया है और कहीं-कहीं अपनी अनभिज्ञता बतलाकर टाल दिया है। जैसे—

भाष्यमें दूसरे संहननका नाम अर्धवज्रर्षभनाराच है, और कर्मप्रकृति आदि ग्रन्थोंमें उसका नाम 'वज्रनाराच' है, दोनोंके स्वरूपमें भी इसीसे अन्तर पड़ गया है। इसके सम्बन्धमें [1]गणिजीने लिखा है—'इसमें क्या तत्त्व है यह सम्पूर्ण अनुयोगधर ही जानते हैं।'

शैली—उक्त बातोंसे इस वृत्तिको रचना शैलीका भी आभास मिल जाता है। सिद्धसेनने भाष्यका प्रायः प्रतिपद व्याख्यान किया है और व्याख्यान करते हुए यथास्थान आगमिक प्रमाण भी दिये हैं और विशेष चर्चाएँ भी की हैं। उन चर्चाओंमें आगमिक तो हैं हीं, दार्शनिक भी हैं और उनका अपनी शैलीमें यथायोग्य निर्वाह भी किया है। तत्त्वार्थ भाष्य और सूत्रोंके व्याख्यानमें अपने समयकी उपलब्ध सामग्रीका उन्होंने पूरा उपयोग किया है। उनकी टीकासे ज्ञात होता है कि जिस सूत्रपाठका उन्होंने उपयोग किया, उनके सम्बन्धमें कितने अधिक पाठान्तर ही नहीं व्याख्यान्तर भी उनके सामने थे। और वे व्याख्यान्तर प्रायः भाष्यसे भी सम्बद्ध थे। किन्तु भाष्य और उसके सूत्रपाठपर संभवतया गणिजी की वृत्ति जैसी स्थूलकाय और प्रमेयबहुल टीका दूसरी नहीं थी, जबकि दिगम्बर सूत्रपाठपर अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक जैसा उच्चकोटिका दार्शनिक टीका ग्रन्थ वर्तमान था। संभवतया उसी अभावकी पूर्तिके लिये गणिजीने भाष्यपर इतनी स्थूलकाय अट्ठारह हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी है। अस्तु,

सिद्धसेन गणिके सन्मुख उपस्थित टीका ग्रन्थ—

सिद्धसेनने अपनी भाष्यानुसारिणी टीकामें तत्त्वार्थसूत्र और उसके भाष्यकी किसी टीकाका तो कोई स्पष्ट निर्देश नहीं किया, किन्तु उसमें आगत उल्लेखोंसे ही उनका आभास मिलता है, जिसका विवरण नीचे दिया जाता है—

१. सूत्र १–१ के भाष्यमें एक वाक्य इस प्रकार है—'एषां च पूर्वस्य लाभे भजनीयमुत्तरं, उत्तरलाभे तु नियतः पूर्वलाभः।' इसका व्याख्यान करके गणिजीने

---

१. अर्धवज्रर्षभनाराच नाम तु वज्रर्षभनाराचनामर्धं किल सर्वेषां वज्रस्यार्धं ऋषभस्यार्धं नाराचस्यार्धमिति भाष्यकारमतम्। कर्मप्रकृतिग्रन्थेषु वज्रनाराचनामैवं पट्टहीनं पठितम्। किमत्र तत्त्वमिति सम्पूर्णानुयोगधारिणः क्वचित् संविद्रते।'—भा० २, पृ० १५४।

लिखा है—'कैश्चिदेवं भाष्यमेतद् व्याख्यायि (पृ० २९)। अर्थात् किन्हींने इस भाष्यका ऐसा व्याख्यान किया है। उस व्याख्यानको बतलाकर 'अपरे तु.......प्रभाषन्ते' अन्य ऐसा कहते हैं। ऐसा लिखकर उनका व्याख्यान बतलाया है। इन दोनों व्याख्यानोंमें अन्तर हैं। अतः उनसे प्रकट होता है कि दोनों दो भिन्न व्याख्याएँ हैं।

२. सूत्र ४–२७ की टीकामें 'अपरे वर्णयन्ति' लिखकर 'द्विचरमाः' का अन्य अर्थ दिया है और फिर 'एतत्त्वयुक्तं व्याख्यानम्' लिखकर उस व्याख्यानको अयुक्त बतलाया है। यह नहीं कह सकते कि यह व्याख्यान उन्हीं दोनोंमेंसे किसी एक का है जिनका ऊपर निर्देश है, या उनसे भिन्न तीसरा ही है।

३. 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि ।।५-३।।' सूत्रकी टीकामें इस सूत्रके विषयमें मतभेद दिये हैं। 'अपरे द्विधा भिन्दन्ति सूत्रम्'से बतलाया है कि कुछ इस सूत्रको दो भागोंमें भाजित करते हैं 'नित्यावस्थितानि' और अरूपाणि। किन्तु इससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ऐसा करनेवाले कोई व्याख्याकार ही हैं। आगे 'अपरे वर्णयन्ति' लिखकर दूसरोंका कथन बतलाया है कि सूत्र एक ही है किन्तु अरूपाणिको अलग पद रखनेका कारण यह है कि नित्य और अवस्थितकी तरह पूर्वोक्त सभी द्रव्य अरूपी नहीं हैं।' आगे 'अत्रापरे व्याचक्षते' से तीसरा मत दिया है—उनका कहना है कि 'नित्यावस्थितारूपाणि' पाठ रखनेसे भी काम चल सकता है। अतः तीनों पदोंको समस्त करके ही सूत्र पढ़ना चाहिये। ये दोनों मत दो व्याख्याकारोंके ही प्रतीत होते हैं।

४. इसी उक्त सूत्र (५-३) की टीकामें 'अपरेऽन्यथा वर्णयन्ति भाष्यम्—अन्य आचार्य भाष्यका अन्य रूपसे व्याख्यान करते हैं' लिखकर उनका आशय बतलाया है और उसको अयुक्त भी ठहराया है।

५. 'उत्पाद-व्ययध्रौव्ययुक्तं सत् ।।५-२९।।' इस सूत्रका भाष्य इस प्रकार है—'उत्पादव्ययाभ्यां ध्रौव्येण च युक्तं सतो लक्षणम्।' इस भाष्यके पाठ तथा व्याख्यानमें अन्तरका उल्लेख करते हुए श्री सिद्धसेनगणिने अपनी टीकामें (भा० १, पृ० ३८२) लिखा है—'अन्ये तु उत्पादव्ययध्रौव्यै युक्तमिति गृह्णते।' और फिर अपनी ओरसे उसपर आक्षेप करके आगे लिखा है—'अपरे समाधानमाक्षेपस्याभिदधते—दूसरे इस आक्षेपका समाधान करते हैं।

इसके अतिरिक्त भी 'अपरे तु' ध्रौव्यं च' इत्यसमस्ततामन्यथा वर्णयन्ति' के द्वारा भाष्यके उक्त वाक्यमें उत्पादव्ययसे ध्रौव्यको अलग रखनेके सम्बन्धमें

एक तीसरे मतका उल्लेख टीकामें[1] किया है, जो पाँच कारिकाओंमें है। पाँच कारिकाओंका टीकाकार सिद्धसेनने संक्षेपसे अर्थ देकर लिखा है कि—'इनका व्याख्यान तो निर्विरोध रूपसे आगमके ज्ञात विद्वान ही करेंगे। हम तो उसके विषयमें अनिपुण है आदि।'

इससे ज्ञात होता है कि भाष्यका कोई व्याख्यान कारिकाओंमें भी था। अथवा उस व्याख्यानमें कारिकाएँ भी थीं। कारिकाओंको देखनेसे यह भी व्यक्त होता है कि वह व्याख्यान उच्चकोटिका होना चाहिये।

इस तरहसे सिद्धसेनकी इस टीकामें सूत्र तथा भाष्यके अन्य विवरणोंका भी उल्लेख है। और वे विवरण तीन तो अवश्य प्रतीत होते हैं।

सिद्धसेनजी ने कई स्थानोंपर मतान्तरके रूपमें ऐसे सूत्रोंका भी उल्लेख किया है जो दिगम्बरीय सूत्रपाठसे सम्बद्ध हैं और उन्हें मान्य नहीं किया है। यथा—

१. सूत्र २-३४ की टीकामें लिखा है—'अपरे तु एतच्छब्दव्युत्पत्तिभीत्या 'जराय्वण्डजपोतानां गर्भ इत्यभिधीयते सूत्रमाहितनैपुण्यास्तत् सर्वथा त एवावयन्ति सूरिविरचितन्यासमन्यथाकर्तु, वयं तु प्रकमानुसरणमेव कुर्मः।' —(भा० १, पृ० १९३) अर्थात् दूसरे लोग अपनी निपुणता बतलानेके लिये पोतज शब्दकी व्युत्पत्तिसे भयभीत होकर 'जराय्वण्डजपोतानां गर्भः' ऐसा सूत्र कहते हैं। वे आचार्यके द्वारा रचे हुए न्यासको अन्यथा करनेके लिये ऐसा करते

---

१. 'अपरे तु ध्रौव्यं च' इत्य समस्ततामन्यथा वर्णयन्ति—

'त्रैलक्षण्ये सतः सादिः कथं सन्न त्रिलक्षणम्।
ध्रौव्यं तल्लक्षणत्वेन द्रव्यार्थेन त्रिषूदितम् ॥१॥
अत एव पृथग् वृत्तौ ध्रौव्यं चेति प्रदर्शितम्।
सत् त्रिरूपं त्रयं त्वेतत् सम्भवेन विकल्पते ॥२॥
आद्ययो नियमादन्त्यमन्ये तु भजनाद्ययोः।
स्वतः परनिमित्तौ तु स्यातामप्युपचारतः ॥३॥
अस्ति नोत्पद्यते चैकमेकमुत्पद्यतेऽस्ति च।
नास्ति चोत्पद्यते चैकं नास्ति नोत्पद्यते परम् ॥४॥
आकाश परमाणू च प्रदीपान्त्यशिखादि च।
आकाशकुसुमं चेति चतुष्टयमुदाहृतम् ॥५॥'

संक्षेपतः कारिकापञ्चकस्यायमर्थः········तदेतत् पौर्वापर्येणालोच्य कृत, प्राज्ञैरागमज्ञैरेव व्याख्यास्यते निर्विरोधं, वयं तत्रानिपुणाः किञ्चिदेव स्थूलकुशलतयाऽभिदध्महे।' —सि० ग० टी० पृ० ३८२।

हैं। हम तो प्रकृतका ही अनुसरण करते हैं। [1]अकलंकदेवने 'पोतज' शब्द पर आपत्ति करते हुए पोत शब्दका ही समर्थन किया है। किन्तु दिगम्बर सूत्र पाठमें 'जरायुजाण्डजपोतानां गर्भः' सूत्र है। यहाँ वह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि सर्वार्थसिद्धिमें 'पोतज' शब्दकी कोई चर्चा नहीं है।

२. भाष्य मान्य सूत्र पाठमें 'द्रव्याणि जीवाश्च ॥५-२॥' एक ही सूत्र है और सर्वार्थसिद्धिमान्य मूल पाठमें 'द्रव्याणि और जीवाश्च' इस तरह दो सूत्र हैं। 'अपरे सूत्रद्वयमेतदधीयते 'द्रव्याणि, जीवाश्च' लिखकर सिद्धिसेनजीने उसका उल्लेख किया है। इसी तरह कुछ अन्य दिगम्बर मान्य सूत्रोंका भी निर्देश है। और उसका होना विशेष महत्त्व नहीं रखता। सिद्धसेनजीने सर्वार्थसिद्धि का कम किन्तु तत्त्वार्थ वार्तिकका उपयोग विशेष रूपसे अपनी टीकामें किया है, आगे उसीका विशेष रूपसे दिग्दर्शन कराया जाता है।

३. अकलंकदेवने (त०[2] वा० पृ० ११९ में) लक्षणके दो भेद किये हैं आत्मभूत और अनात्मभूत। सिद्धसेनजीने यही दोनों भेद तत्स्थ और अतत्स्थ नामसे किये हैं। तथा 'तत्स्थ' लक्षणका दृष्टान्त अग्निका औष्ण्यगुण, अकलंकदेवकी तरह ही बतलाया है।

४. 'मतिः स्मृतिः' इत्यादि सूत्र (१-१३) की टीकामें[3] सिद्धसेनजीने 'अपरे' पदके द्वारा बतलाया है अन्य तो शतक्रतु और शक्र शब्दोंकी तरह मति स्मृति आदिको पर्याय शब्द मानते हैं। सर्वार्थसिद्धिमें इस सूत्रकी व्याख्यामें इन्द्र शक पुरन्दर शब्दोंकी तरह मति स्मृति आदिको पर्याय शब्द माना है।

५. सूत्र १-१९ की व्याख्यामें सर्वार्थ०में चक्षुको 'अप्राप्यकारी सिद्ध करने-

---

१. 'केचित् पोतजा इति पठन्ति। तदयुक्तम्। कुतः ! अर्थभेदाभावात्।' —त० वा०, पृ० १४४।

२. तल्लक्षणं द्विविधं आत्मभूमनात्मभूतञ्चेति। तत्रात्मभूतमग्नेरौष्ण्यम्।— त० वा०, पृ० ११९। 'लक्षणं द्विविधं तत्स्थमतत्स्थं चेति तत्स्थममग्नेण्यवत्' —सि० ग० टी०, भा० १, पृ० ७७।

३. अपरे तु सर्वे पर्यायशब्दा एवैते शतक्रतु-शक्रादिशब्दवत् इति मन्यन्ते।' —वही, पृ० ७८। 'सत्यपि प्रकृतिभेदे रूढिवललाभात् पर्यायशब्दत्वम्। यथा इन्द्रः शकः पुरन्दर इति' —सर्वा० सि०।

४. 'यदि प्राप्यकारि स्यात् त्वगिन्द्रियवत् स्पृष्टमंजनं गृह्णीयात्। न तु गृह्णाति।' —सर्वा० सि०। 'यदि स्यात् ततस्तद्गतमञ्जनादि परिच्छिन्द्यात्, न च परिच्छिनत्ति।'—वही भा० १, पृ० ८७।

में जो युक्ति दी गई है, सिद्धसेनने उक्त सूत्रकी अपनी टीकामें भी वही युक्ति प्रायः उन्हीं शब्दों में दी है।

६. सूत्र २-४ की व्याख्यामें[1] अकलंकदेवकी तरह सिद्धसेनने भी क्षायिक भावोंमें सिद्धत्व भावको ग्रहण करने की बात उठाई है। किन्तु उसके समाधानमें दोनोंमें अन्तर है।

७. सूत्र २-६की व्याख्यामें[2] भी अकलंकदेवकी तरह सिद्धसेनने भी औदयिक भावोंमें निद्रादि पाँच, दोनों वेदनीय, हास्यादि षट्क, आयु, नाम, गोत्र आदि को भी ग्रहण न करनेपर आपत्ति की है और उन सबका अन्तर्भाव भी प्रायः अकलंककी ही तरह किया है। कहीं तो शब्द साम्य भी है।

८. सूत्र 'संसारिणो मुक्ताश्च' २-१० की व्याख्यामें[3] अकलंकदेवने सूत्रमें मुक्तोंसे पहले संसारियोंका ग्रहण किये जानेमें तीन हेतु दिये हैं—संसारिजीवोंके बहुत भेद हैं, संसारी पूर्वक ही मुक्त होते हैं तथा संसारी जीव स्वसंवेद्य हैं। इस सूत्रकी व्याख्यामें सिद्धसेनने अकलंकदेवके इन तीनों हेतुओंको लेलिया है। तथा अकलंकदेवने 'च' शब्दका ग्रहण उपयोगों की गौणता और मुख्यता बतलानेके लिए माना है। सिद्धसेनने भी ऐसा ही मान्य किया है।

१. 'सिद्धत्वमपि क्षायिकमागमोपदिष्टमस्ति तस्योपसंख्यानमिह कर्तव्यम्।' —त० वा०, पृ० १०६। 'ननु च सिद्धत्वमपि क्षायिको भावः स चेह न निर्दिष्टः सूरिणा, को अभिप्रायः' —सि० टी०, भा० १, पृ० १४३।
२. 'अत्र चोद्यते········निद्रानिद्रादय औदयिकाः, वेदनीयोदयात् सुखदुःखमौदयिकं, नोकषायाश्च हास्यरत्यादयः ········ लिंगग्रहणे हास्य-रत्याद्यन्तर्भाव···· ·· गतिग्रहणमघात्युपलक्षणम्····तेन जात्यादयो भावा···· ।'—त० वा०, पृ० १०९-११०। 'ननु च····। निद्रादिपञ्चकं वेदनीयमुभयं मोहनीये हास्यादिषट्कं, आयु····नामकर्म····गोत्रमुभयमपि····गतिग्रहणाच्छेषनामभेदाः····। लिंगग्रहणात् हास्यादिषट्क ग्रहणम्···· ।' —सि० टी०, भा० १, पृ० १४५-१४६।
३. '····च शब्दोऽनर्थक इति चेत् न, उपयोगस्य गुणभावप्रदर्शनार्थत्वात्।···· संसारिग्रहणमादौ बहुविकल्पत्वात्, तत्पूर्वकत्वात् स्वसंवेद्यत्वाच्च'—त० वा०, पृ० १२५। 'संसारिणामादावुपन्यासः प्रत्यक्ष-बहुभेदवाच्यार्थः। तदनु मुक्तवचनं संसारिपूर्वकत्वप्रसिद्धयर्थं।····प्रधानगुणभावख्यापनार्थो वा च शब्दो दृष्टव्यः।'—सि० टी०, भा० १, पृ० १५६।

९. 'नित्यावस्थितान्यरूपाणि' ॥५-३॥ सूत्रको टीकामें सिद्धसेनने 'अपर'[1] करके लिखा है कि अन्य 'नित्य' पदको अवस्थितका विशेषण मानते हैं और 'नित्यप्रजल्पित' की तरह उसका समास करते हैं। अकलंकदेवने 'नित्य' को अवस्थितका विशेषण माना है और 'नित्यप्रजल्पित देवदत्त' का उदाहरण दिया है। अतः यह उल्लेख तो सिद्धसेनके द्वारा तत्त्वार्थवार्तिकका उपयोग किये जानेके पक्षमें अकाट्य प्रमाण है। ऐसे प्रमाण अनेक हैं।

१०. पांचवे अध्यायमें दार्शनिक विषय होनेके कारण सिद्धसेनने तत्त्वार्थ-वार्तिकका काफ़ी उपयोग किया है। सूत्र ५-१६ की व्याख्यामें त०वा० में उद्धृत 'वर्षातपाभ्यां किं व्योम्न' आदि कारिका भी उद्धृत की है। सूत्र ५-१८ की व्याख्यामें अकलंकदेवने आकाशको अनावृत्तिरूप, तथा शब्दलिंग और प्रधान विकार माननेवाले मतोंका निराकरण किया है, सिद्धसेनने भी उसी क्रमसे तीनों मतोंका निराकरण किया है। सूत्र ५-२२ की टीकामें तो इस सूत्रकी अकलंक-देवकृत उत्थानिका[2] ज्योंकी त्यों शब्दशः लेली है। वर्तनाका लक्षण[3] भी त०वा० से लिया है। और भी बहुत कुछ इस सूत्रकी वार्तिकोंसे लिया है। सूत्र ५-२४ की टीकामें अकलंकदेवने स्फोटका खण्डन किया है, सिद्धसेनने भी किया है। अकलंकदेवने छायाके सम्बन्धसे प्रतिबिम्बका विचार किया है, सिद्धसेनने भी किया है। सूत्र ५-३१ की टीकामें सिद्धसेनने सप्तभंगीका जो विवेचन किया है वह तत्त्वार्थवार्तिकके सूत्र ४-४२ में किये गये सप्तभंगी विवेचनका कहीं-कहीं तो शब्दशः ऋणी है।

अतः यह निश्चित है कि सिद्धसेनाचार्यने तत्त्वार्थटीकाकी रचनामें सर्वार्थ-सिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकका पूरा उपयोग किया है।

अतः पं० सुखलालजीने[4] जो सिद्धसेनके द्वारा अकलंकके तत्त्वार्थवार्तिकक-देखनेकी संभावनाकी है वह केवल संभावना ही नहीं है, वस्तुभूत सत्य है।

---

१. 'अपरे नित्यग्रहणमवस्थितविशेषणं कल्पयन्ति नित्यमवस्थितानि नित्या वस्थितानि····नित्यप्रजल्पितवत्।'—सि० टी०, भा० १, पृ० ३२१। 'नित्य-ग्रहणमिदमवस्थितविशेषणं ···'नित्यप्रजल्पितो देवदत्तः' इत्युच्यते।'—त०वा०, पृ० ४४३।

२. 'अवश्यं सतोपकारिणा भवितव्यम्। संश्चकालोऽभिमतः स किमुपकार इति। तस्य खलु वक्ष्यमाण स्वतत्त्वमूर्तेः'—सि० टी०, पृ० ३४८। त० वा०, पृ० ४७६।

३. 'सा च वर्तना प्रतिद्रव्यपर्यायमन्तर्नीतैकसमयस्वसत्तानुभूतिलक्षणा'—सि० टी०, पृ० ३४९।—त० वा०, पृ० ४७७।

४. त० सू० की प्रस्ता०, पृ० ४२।

सिद्धसेनीय वृत्तिकी दार्शनिकयोग्यता—

सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकके साथ सिद्धसेनकी वृत्तिकी तुलना करते हुए पं० सुखलालजीने लिखा[1] है—'जो भाषाका प्रसाद, रचनाकी विशदता और अर्थका पृथक्करण सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिकमें है, वह सिद्धसेनीय वृत्तिमें नहीं है। इसके दो कारण हैं—एक तो ग्रन्थकारका प्रकृतिभेद और दूसरा कारण पराश्रित रचना है। सर्वार्थसिद्धिकार और राजवार्तिककार सूत्रोंपर अपना-अपना वक्तव्य स्वतंत्ररूपसे ही कहते हैं। सिद्धसेनको भाष्यका शब्दशः अनुसरण करते हुए पराश्रित रूपसे चलना पड़ता है। इतना भेद होनेपर भी समग्र रीतिसे सिद्धसेनीय वृत्तिका अवलोकन करते समय मनपर दो बातें तो अंकित होती ही हैं। उनमें पहली यह कि सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिककी अपेक्षा सिद्धसेनीयवृत्तिकी दार्शनिक योग्यता कम नहीं है। पद्धति भेद होनेपर भी समष्टि रूपसे इस वृत्तिमें भी उक्त दो ग्रन्थों जितनी ही न्याय, वैशेषिक, सांख्ययोग, और बौद्ध दर्शनोंकी चर्चाकी विरासत है। और दूसरी बात यह है कि सिद्धसेन अपनी वृत्तिमें दार्शनिक और तार्किक चर्चा करते हुए भी अन्तमें जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकी तरह आगमिक परम्पराका प्रबलरूपसे स्थापना करते है।'

असलमें अकलंकदेव दार्शनिक थे और सिद्धसेन आगमिक थे। दर्शन और आगमकी शैलीमें जैसा अन्तर है वैसा ही अन्तर उन दोनोंकी कृतियोंमें है। अकलंकदेव आगमिक चर्चामें भी दार्शनिक चर्चाका वातावरण उत्पन्न कर देते हैं। किन्तु सिद्धसेन दार्शनिक चर्चा करते हुए भी अपनी अभ्यस्त आगमिक शैलीका परित्याग नहीं करपाते। इसमें सन्देह नहीं कि सिद्धसेनको भाष्यका व्याख्याकार होनेसे पराश्रित रूपसे चलना पड़ा है, फिर भी सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ वार्तिक जैसी तत्त्वार्थ टीकाओंके सन्मुख रहनेसे और वसुबन्धु, दिग्नाग, भर्तृहरि धर्मकीर्ति, उदयन जैसे तार्किकोकी रचनाओंके कारण भारतवर्षके तत्कालीन साहित्यिक वातावरणमें दर्शनकी छाप छायी होनेसे सिद्धसेनने भी अपनी वृत्तिमें यथा स्थान दार्शनिक चर्चाएँ की हैं। और उनके देखनेसे प्रतीत होता है कि उन्होंने आगमके विशिष्ट अभ्यासी होते हुए भी उक्त दार्शनिकोंके ग्रन्थोंका भी अध्ययन किया था। पांचवे अध्यायकी अपनी टीकामें उन्होंने [2]धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चयका, [3]दिग्नागका तथा 'वार्तिककार'[4] नामसे न्यायवार्तिकके रचयिता

१. वही, पृ० ८१।
२. 'भिक्षुवर धर्मकीर्तिनाऽपि विरोध उक्तः प्रमाणविनिश्चयादौ'—पृ० ३९७।
३. 'दिग्नागेनाप्युक्तम्'—पृ० ३९७।
४. 'एवमुक्ते वार्तिककारेणोक्तं समवायो न क्वचिद्वर्तते इति ब्रूमः'—पृ० ४३५।

उदयनका नामोल्लेख किया है। अत. सिद्धसेनीय वृत्तिकी दार्शनिक योग्यता तत्त्वार्थवार्तिकके समकक्ष न होते हुए भी आदरणीय है।

समयविचार—सिद्धसेनाचार्यने अपनी एकमात्र उपलब्ध कृति तत्त्वार्थ वृत्तिमें उसका रचनाकाल तो नही दिया है किन्तु अन्तमें अपनी गुरुपरम्परा अवश्य दी है। उसके अनुसार दिन्न[1] गणि क्षमाश्रमण नामके एक प्रतिभाशाली प्रख्यातकीर्ति आचार्य थे, जो शील और संयमके धारी थे, श्रुतनिधि थे, मोक्षार्थियोंके अग्रणी और परमतपस्वी थे ॥ उनके सिंहसूर नामके शिष्य हुए वह परवादियोंके जीतनेमें पटु थे, सिंहवृत्तिके धारक थे, समस्त आगमोंके ज्ञाता थे। आज भी उनकी कीर्ति अविश्रान्तरूपसे दिगन्त तक भ्रमण करती है ॥ उनके भास्वामी नामक शिष्य थे, जो विद्वानोंमें अग्रेसर थे, समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता थे, महाश्रमण थे, क्षमाशील थे और गच्छाधिपति थे। उनके चरणरजके एककण, अल्पबुद्धि, स्वल्प आगमोंके ज्ञाता सिद्धसेन गणिने इस तत्त्वार्थशास्त्र टीकाको रचा।

सिद्धसेनके द्वारा निर्दिष्ट अपनी गुर्वावलीमें एक 'सिंहसूर' नाम ऐसा है जिसके सम्बन्धमें आज भी यह कहा जा सकता है कि 'आज भी उनकी कीर्ति अविश्रान्त रूपसे दिगन्त तक भ्रमण करती है।'

---

१. 'आसीद् दिन्नगणिः क्षमाश्रमणतां प्रापत् क्रमेणैव यो
विद्वत्सु प्रतिभागुणेन जयिना प्रख्यातकीर्तिर्भृशम्।
वोढो शीलभरस्य सच्छ्रुतनिधिर्मोक्षार्थिनामग्रणी
र्जज्वालामलमुच्चकैर्निजतपस्तेजोभिख्याहृतम् ॥१॥

× × ×

तस्याभूत् परवादिनिर्जयपटुः सैंहीं दधच्छूरतां
नाम्ना व्यज्यत सिंहसूर इति च ज्ञाताखिलार्थागमः।
शिष्यः शिष्टजनप्रियः प्रियहितव्याहारचेष्टाश्रयात्
भव्यानां शरणं भवौघपतनक्लेशार्दितानां भुवि ॥३॥

× × ×

शिष्यस्तस्य बभुव राजि (ज ?)कशिरोरत्नप्रभाजालक-
व्यासङ्गाच्छुरितस्फुरन्नखमणिप्रोद्भासिपादद्वयः।
भास्वामीति विजित्य नाम जगृहे यस्तेजसां सम्पदा
भास्वन्तं भवनिर्जयोद्यतमतिर्विद्वज्जनाग्रेसरः ॥५॥

× × ×

तत्पादरजोवयवः स्वल्पागमशेमुषीकबहुजाड्यः।
तत्त्वार्थशास्त्रटीकामिमां व्यधात् सिद्धसेनगणिः ॥७॥

सिंहसूर— विद्वानोंसे यह बात अज्ञात नहीं है कि जैनपरम्परामें मल्लवादी नामके एक प्रख्यात आचार्य हो गये हैं और उन्होंने 'नयचक्र' नामक ग्रन्थ रचा था। यह ग्रन्थ तो आज अनुपलब्ध है किन्तु उसकी सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमण रचित न्यायागमानुसारिणी टीका उपलब्ध है और उसका कुछ भाग गायकवाड़ प्राच्य ग्रन्थमाला वड़ौदा तथा श्रीलब्धिसूरीश्वरजैनग्रन्थमाला छाणीसे प्रकाशित हुआ है। यद्यपि पूरी टीका प्रकाशमें न आ सकनेसे उक्त नयचक्र टीकाके रचयिता सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमणके सम्बन्धमें कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है, तथापि विद्वानोंकी आम धारणा यही है कि सिद्धसेनगणिके द्वारा अपनी तत्त्वार्थ टीकाकी प्रशस्तिमें स्मृत सिंहसूर ही नयचक्र टीकाके रचयिता हैं।

यद्यपि सिद्धसेनने 'सिंहसूर' नाम दिया है और नयचक्र टीकाकी उपलब्ध प्रतियोंमें 'सिंहसूरि' नाम मिलता है यथा—इति नियमभङ्गो नवमोऽरः श्रीमल्लवादिप्रणीतनयचक्रस्य टीकायां न्यायागमानुसारिण्यां सिंहसूरिगणि क्षमाश्रमणदृब्धायां समाप्तः।'

किन्तु एक तो 'सिंहसूर'का लेखकोंकी कृपासे 'सिंहसूरि' हो जाना संभव है। दूसरे, सिद्धसेनने जिस रूपमें उनका स्मरण किया है, वह रूप नयचक्र टीकाके कर्ताके सर्वथा अनुरूप है, काल क्रमकी दृष्टिसे भी ठीक बैठता है। अतः यह स्वीकार करना ही उचित होगा कि नयचक्र टीकाके कर्ता सिंहसूरगणि सिद्धसेन गणिके प्रगुरु-गुरुके गुरू थे।

सिंहसूरने अपनी नयचक्रटीकाके प्रारम्भमें 'उक्तञ्च' लिखकर नीचे लिखी तीन गाथाएँ उद्धृत की हैं—

'जं चउदस पुव्वधरा छट्ठाणगया परुप्परं होंति।
तेण उ अणंतभागो पण्णवणिज्जाण जं सुत्तं ॥१॥
पण्णवणिज्जा भावा अणंतभागो उ अणभिलप्पाणं।
पण्णवणिज्जाणं पुण अणंतभागो सुअणिबद्धो ॥२॥
अक्खरलंभेण समा ऊणहिया होंति मइविसेसेहिं।
ते वि य मइविसेसे सुअणाणब्भंतरे जाण ॥३॥'

ये तीनों गाथाएँ जिनभद्रगणि क्षमाश्रमणकृत विशेषावश्यक भाष्य की हैं। किन्तु मलधारी हेमचन्द्रकी टीकाके साथ मुदित प्रतिमें गाथा दो प्रथम है और गाथा प्रथम उसके पश्चात् है और वहाँ उनकी क्रमसंख्या इस प्रकार १४२,१४१ और १४३ है।

अतः यह निश्चित है कि सिंहसूरने विशेषावश्यक भाष्यसे उक्त गाथाएँ अपनी नयचक्रटीकामें उद्धृत की हैं। जैसलमेर भण्डारसे प्राप्त विशेषावश्यक

भाष्यकी प्रतिके अन्तमें पाई जानेवाली प्रशस्तिकी गाथाओंके[1] आधारसे मुनि श्रीजिनविजयजीने उसका काल वि० सं० ६६६ निर्धारित किया है। किन्तु चूँकि उक्त प्रशस्ति गाथाओंमें ग्रन्थ समाप्त करनेका सूचक कोई शब्द नहीं है अतः पं० दलसुखमालवणिया[2] उसे प्रतिलेखनका काल मानते हैं। और वे जिनभद्र गणिक्षमाश्रमणकी उत्तरावधि वि० सं० ६५० बतलाते हैं। अतः सिंहसूरने अपनी नयचक्र टीका वि० सं० ६५० के पश्चात् रची थी, यह निश्चित होता है। किन्तु सिंहसूरकी टीकामें प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिका कोई उल्लेख नहीं मिलता। धर्मकीर्ति विक्रमकी सातवीं शताब्दीके अन्तमें हुए हैं। मोटे तौर पर उनका समय ई० ६२५-६५० (वि० सं० ६८२-७०७) माना जाता है। अतः सिंहसूरको[3] भी विक्रमकी सातवीं शताब्दीके उत्तरार्धका विद्वान मानना उचित होगा। सिद्धसेन गणि उनके प्रशिष्य थे। अत. सिद्धसेनका समय विक्रमकी आठवीं शताब्दीका पूर्वार्ध होना चाहिये।

२. सिद्धसेन गणिने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें प्रसिद्ध बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु[4] और दिग्नागके साथ धर्मकीर्तिके[5] प्रमाण विनिश्चयका भी उल्लेख किया है। और अकलंकदेवने भी अपने ग्रन्थोंमें धर्मकीर्तिका खण्डन किया है तथा अकलंक देवके तत्वार्थवार्तिक का उपयोग सिद्धसेन गणिने अपनी तत्त्वार्थवृत्तिमें खूब किया है। अतः सिद्धसेन गणि न केवल धर्मकीर्ति के पश्चात् हुए हैं किन्तु अकलंक देवके भी पश्चात् हुए हैं। किन्तु उनके ग्रन्थमें हरिभद्रसूरि (वि० सं० ७५७-८२७) का कोई प्रभाव परिलक्षित नहीं होता। अतः हरिभद्रसे पूर्व उनका होना संभव है। और इस लिये उन्हें विक्रमकी आठवीं शताब्दीके पूर्वार्धका विद्वान मानना समुचित है।

अमृत चन्द्र सूरि

अमृत चन्द्र सूरिके सम्बन्धमें द्रव्यानुयोग विषयक प्रकरणमें प्रकाश डाला जा

---

१. 'पंचसता इगितीसा सगणिवकालस्स वट्टमाणस्स। ता चेत्त पुण्णिमाए बुधदिण सातिम्मि णक्खत्ते।। रज्जे णु पालणपरे सी [लाइ] ्चम्मि णरवदिन्दम्मि। वलभीणगरीए इमं महवि····मि जिणभवणे।।'

२. 'गणधरवादकी प्रस्ता०, ३२।

३. द्वादशार नयचक्र (गा० सि० बड़ौदा) की अंग्रेजी प्रस्ता०, पृ० ७ तथा त० सू० की पं० सुखलालजी लिखित प्रस्ता०, पृ० ४२।

४. 'तस्मादेनः पदमेतत् वसुबन्धोरामिषगृद्धस्य गृद्धस्येवाऽप्रेक्ष्यकारिणः'—सि० ग० टी०, भा० २, पृ० ६८।

५. 'भिक्षुवर धर्मकीर्तिनाऽपि विरोध उक्तः प्रमाणविनिश्चयादौ।'····दिग्नागेनाऽप्युक्तम्····'—वही, भा०, पृ० ३९७।

चुका है। यह कुन्दकुन्दके समयपाहुड़, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय नामक ग्रन्थोंके आद्य व्याख्याकार हैं। इनकी व्याख्या शैलीके सम्बन्धमें भी पीछे प्रकाश डाला जा चुका है।

समय पाहुडकी तरह प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायकी टीकाएं भी बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें विषयका प्रतिपादन प्राञ्जल संस्कृत भाषाके द्वारा बहुत ही सुन्दर रीतिसे किया गया है। प्रवचनसारकी[1] टीकाका नाम 'तत्त्वदीपिका' है और पञ्चास्तिकायकी टीकाका नाम 'तत्त्वप्रदीपिका' है। दोनों नाम सार्थक हैं। प्रवचनसार और पञ्चास्तिकायमें प्रतिपादित तत्त्वोंको प्रकाशित करनेके लिये अमृतचन्द्रकी दोनों टीकाएं दीपिका के तुल्य हैं। यह हम पहले लिख आये हैं कि अमृतचन्द्रकी टीकाओंमें मूल ग्रन्थका शब्दशः व्याख्यान नहीं है। किन्तु मूल गाथाओंका पूरा मन्तव्य उनकी टीकाओंसे सुस्पष्ट हो जाता है। जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ वे वस्तुतत्त्वका विश्लेषण भी करते हैं। यथा, प्रवचनसारके ज्ञेयाधिकारके प्रारम्भकी गाथाओंका व्याख्यान करते हुए उन्होंने गुण और पर्यायोंका तथा उत्पाद व्यय और ध्रौव्यका निरूपण दृष्टान्त द्वारा बहुत विस्तारसे किया है।

द्रव्यका विश्लेषण करते हुए आचार्य अमृतचन्द्रने जो तिर्यक्प्रचय[2] और ऊर्ध्वप्रचयका निरूपण किया है वह उनकी एक ऐसी देन है जो उनसे पूर्वके साहित्यमें नहीं पाई जाती। और उसके द्वारा जो उन्होंने काल द्रव्यको अणुरूप माननेमें उपपत्ति दी है वह उनके जैनतत्त्वविषयक् अपूर्व पांडित्यकी परिचायक है।

ऊपर लिखा है कि अमृतचन्द्रने गाथाओंका व्याख्यान शब्दशः नहीं किया। किन्तु क्वचित् शब्दशः व्याख्यान भी किया है। उदाहरणके लिये प्रव० सा० के ज्ञेयाधिकारकी गाथा ८० का व्याख्यान करते हुए गाथामें आगत 'अलिंगगहण' शब्दके बीस अर्थ किये हैं। और सभी अर्थ चमत्कार पूर्ण है और आत्मतत्त्वके रहस्यको प्रकट करते हैं।

तत्त्वार्थसार[3]

किन्तु अमृतचन्द्र केवल सफल टीकाकार ही नहीं हैं, उन्होंने स्वतंत्र ग्रन्थ

---

१. ये दोनों टीकाएँ रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित हो चुकी हैं। पञ्चास्तिकायकी तत्त्वप्रदीपिका टीका हिन्दी अनुवादके साथ 'सेठी ग्रन्थमाला जौहरी बाजार बम्बईसे' प्रथमबार ही प्रकाशित हुई है।

२. प्रव० सा०, पृ० १९९।

३. तत्त्वार्थसार मूल निर्णयसागर प्रेससे प्रकाशित प्रथम गुच्छकमें प्रकाशित हुआ था। पुनः इसका दूसरा संस्करण बनारससे प्रकाशित हुआ। तथा हिन्दी अनुवादके साथ यह ग्रन्थ श्रीगणेशवर्णी ग्रन्थमाला वाराणसी से प्रकाशित हुआ है।

रचना भी की है। उनकी तीन टीकाओंके सिवाय दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनमेंसे एक ग्रन्थका नाम पुरुषार्थ सिद्धयुपाय है जो श्रावकाचार विषयका अपूर्व ग्रन्थ है और दूसरा है तत्त्वार्थसार। इसमें आचार्यने तत्त्वार्थसूत्रका सार भर दिया है। अतः इसका यह नाम सार्थक है।

जैनवाङ्मयमें कुन्दकुन्दके उक्त तीनों ग्रन्थोंका जैसा महत्व हैं वैसा ही महत्व तत्त्वार्थसूत्रका भी है। अतः अमृतचन्द्राचार्यने कुन्दकुन्दके ग्रन्थों पर तो टीकाएं रचकर एक कमीकी पूर्ति की, क्योंकि उन ग्रन्थोंपर तब तक कोई टीका नहीं रची गई थी। किन्तु तत्त्वार्थसूत्र पर तो पूज्यपादकी सवार्थसिद्धि और अकलंकदेवका तत्त्वार्थवार्तिक जैसे महान व्याख्या ग्रन्थ रचे जा चुके थे। अतः अमृतचन्द्रने उस ग्रन्थके महत्त्वको हृदयंगम करके एक स्वतंत्र ग्रन्थके रूपमें उसका सार सरल संस्कृत भाषाके अनुष्टुप श्लोकोंमें बहुत ही सुन्दर रीतिसे निबद्ध कर दिया और इस तरह कुन्दकुन्दके ग्रन्थोंकी तरह तत्त्वार्थसूत्रका रहस्य-भी सुगम बना दिया।

मंगलाचरणके पश्चात् ग्रन्थका नाम तथा उद्देश्य बतलाते हुए लिखा है—

'अथ तत्त्वार्थसारोऽयं मोक्षमार्गैकदीपकः।
मुमुक्षूणां हितार्थाय प्रस्पष्टमभिधीयते ॥२॥'

अर्थात् 'यह तत्त्वार्थसार नामक ग्रन्थ मोक्षमार्गको प्रकाशित करनेके लिये एक दीपकके तुल्य है। मुमुक्षुओंके हितके लिये मैं इसे अति स्पष्ट रूपसे कहता हूँ।'

तत्त्वार्थसूत्रके दस अध्यायोंमें सात तत्त्वोंका वर्णन है। तत्त्वार्थसारमें भी सात तत्त्वोंका क्रमसे वर्णन है। पहला 'सप्ततत्त्वपीठिकाबन्ध' नामक अधिकार है, फिर क्रमसे जीवादि सात तत्त्वोंके वर्णनको लिये हुए सात अधिकार हैं और अन्त में उपसंहार है।

प्रत्येककी श्लोक संख्या क्रमसे ५४ + २३८ + ७७ + १०५ + ५४ + ५२ + ६० + ५५ + २३ = ७१८ है।

यों तो तत्त्वार्थसारका मुख्य विषय वही है जो तत्त्वार्थसूत्र का है, तथापि अमृतचन्द्रसूरिने उसमें प्रसंगवश अनेक ऐसी बातोंका भी संकलन किया है, जो न तो तत्त्वार्थसूत्रमें पाई जाती हैं और न उसकी टीकाओंमें पाई जाती हैं। इसके साथ अमृतचन्द्र अध्यात्मके माने हुए विद्वान थे। अतः उनकी कृति भी अध्यात्मकी छापसे अछूती कैसे हो सकती है।

तत्त्व सात ही क्यों बतलाये हैं, इसका समाधान अकलंकदेवने तो [१]सर्वार्थसिद्धिके अनुसार ही किया है। किन्तु अमृतचन्द्रने[२] अध्यात्म शैलीके अनुसार सात तत्त्वोंमेंसे जीवको उपादेय, अजीवको हेय, आस्रव और बन्धको हेयके उपादानका कारण, संवर और निर्जराको हेयके हानका कारण तथा मोक्षको हेयका आत्यन्तिक हान रूप बतलाते हुए उन सातोंके कथनकी आवश्यकता बतलाई है।

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्तिने अपने प्रमाणवार्तिकमें सर्वज्ञको उपाय सहित हेय और उपादेयका ज्ञाता माना है, सबका ज्ञाता नहीं माना। अकलंकदेवने सिद्धिविनिश्चयमें धर्मकीर्तिके ही शब्दोंको लेकर उसका खण्डन किया है। यह हेय और हेय हेतु तथा उपादेय और उपादेय हेतुके रूपमें सात तत्त्वोंका विभाजन अमृतचन्द्रसूरिने उसीके आधारपर किया हो, ऐसा लगता है। अमृतचन्द्रने तत्त्वार्थसारमें तत्त्वार्थसूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धिके साथ तत्त्वार्थवार्तिकका तो पूरा उपयोग किया ही है। विद्यानन्दके तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकका भी उपयोग किया है। सम्यग्ज्ञानको[३] स्वार्थ व्यवसायात्मक और श्रुतको[४] 'अविस्पष्टार्थ तर्कण' रूप विद्यानन्दिने बतलाया है तदनुसार ही अमृतचन्द्रसूरिने भी बतलाया है। [५]नयोंके भी कई लक्षणोंमें त० श्लो० वा० का शब्दशः अनुसरण किया गया है।

जीवाधिकारमें संसारी जीवोंका वर्णन गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण संज्ञा और मार्गणाओंके द्वारा किया गया है। चौदह मार्गणाओंके वर्णनमें प्राकृत

---

१. 'अतः प्रधान-हेतुहेतुमत्फलनिदर्शनार्थत्वात्पृथुगद्देशः कृतः'—स०सि० १-४। 'परस्परोपश्लेषे संसारप्रवृत्तितदुपरमप्रधानकारणप्रतिपादनार्थत्वात्'—त० वा० १-४।

२. 'उपादेयतया जीवोऽजीवो हेयतयोदितः। हेयस्यास्मिन्नुपादनहेतुत्वेनास्रवः स्मृतः ॥७॥ हेयस्यादानरूपेण बन्धः स परिकीर्तितः। संवरो निर्जरा हेयहानहेतुतयोदितौ। हेयप्रहाणरूपेण मोक्षो जीवस्य दर्शितः ॥८॥'—तत्वा० सा०।

३. 'तत्स्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानं'—त० श्लो० वा०, १-१०-१६। 'सम्यग्ज्ञानं पुनः स्वार्थव्यवसायात्मकं विदुः ॥१८॥'—तत्वा० सा०।

४. 'श्रुतमस्पष्टतर्कणम्'—त० श्लो० वा० १-२०-१३। 'मतिपूर्वं श्रुतं प्रोक्तमविस्पष्टार्थतर्कणम् ॥२४॥' तत्वा० सा०।

५. 'तत्र संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः'—त० श्लो० वा० १-३३-१७। 'अर्थ संकल्पमात्रस्य ग्राहको नैगमो नयः ॥४४॥'—तत्वा० सा०। 'संग्रहेण गृहीतानामर्थानां विधिपूर्वकः—त० श्लो० वा०, १-३३-५८।—तत्वा० सा० ४६।

पञ्चसंग्रहके अन्तर्गत जीवसमास नामक प्रकरणका साहाय्य लिया गया है। इस प्रकरणमें चारों गतियोंके जीवोंका मृत्युके पश्चात् कहाँ-कहाँ जन्म हो सकता है, इसका कथन बहुत विस्तारसे श्लो० १४६ से १७५ तक किया गया है। यह सब कथन अन्यत्र एक साथ नहीं पाया जाता। इस अधिकारमें त० सू० के दूसरे तीसरे और चौथे अध्यायका विषय है। दूसरे अजीवाधिकारमें तत्त्वार्थसूत्र और उसकी सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थवार्तिक नामक टीकाओंके आधारपर पांच द्रव्यों का वर्णन है। इस प्रकरणमें कुन्दकुन्दके पञ्चास्तिकायकी कई गाथाओंको भी संस्कृतमें निबद्ध किया गया है। इस अधिकारमें त० सू० के पांचवे अध्यायका विषय है।

तीसरे आस्रवाधिकारमें त० सू० के छठे और सातवें अध्यायका वर्णन है। त० सू० के छठे अध्यायमें ज्ञानावरण आदि आठों कर्मोंका आस्रव जिन कार्योंके करनेसे होता है उन कार्योंको बतलाया है। और अकलंक देवने अपने तत्त्वार्थ-वार्तिकमें उन सूत्रोंकी व्याख्यामें प्रत्येक कर्मके आस्रवके कुछ अन्य कारणोंका भी निर्देश किया है। अमृतचन्द्रने तत्त्वाथसारमें उन सब कारणोंका भी संग्रह किया है।

तथा पुण्यास्रवके कारण व्रतोंका वर्णन करनेके पश्चात् पुण्य और पापके भेद-को स्पष्ट करते हुए उन्होंने यह भी लिख दिया है कि निश्चयनयसे पुण्य और पापमें कोई अन्तर नहीं है क्योंकि दोनों ही संसारके कारण हैं। चौथे बन्धा-धिकारमें त० सू० के आठवें अधिकारका, पांचवे संवराधिकार और छटे निर्जरा-धिकारमें त० सू० के नौवें अधिकारका और सातवें मोक्षाधिकारमें त० सू० के दसवें अध्यायके विषयका कथन है। तत्त्वार्थवार्तिकके अन्तमें 'उक्तञ्च' करके जो श्लोक पाये जाते हैं उनमेंसे एक अन्तिम श्लोकको छोड़कर शेष बत्तीस श्लोक मामूली व्यतिक्रमके साथ तत्त्वार्थसारमें सम्मिलित कर लिये गये हैं।

अमृतचन्द्राचार्य अध्यात्मवादी थे, अतः उन्होंने तत्त्वार्थसारके अन्तमें उप-संहाररूपसे निश्चयनय और व्यवहारनयसे मोक्षमार्ग कथन करते हुए कहा है— मोक्षमार्ग निश्चय और व्यवहारके भेदसे दो प्रकारका है। उसमें से निश्चयमार्ग साध्य है और व्यवहार मोक्षमार्ग साधन है। शुद्ध स्वात्माका श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा तो निश्चय मोक्षमार्ग है और परात्माका श्रद्धान, ज्ञान और उपेक्षा व्यवहार मोक्षमार्ग है। जो पर द्रव्यका श्रद्धान करता है, उसीको मानता है और उसीकी उपेक्षा करता है वह व्यवहारनयसे मुनि है। और स्वात्मद्रव्यको जानता है, उसीका श्रद्धान और उपेक्षा करता है वह निश्चयसे मुनि है।

आगे एक आत्मतत्त्वमें ही षट् कारकोंको घटाकर अन्तमें पुनः कहा कि व्यवहारनयसे सम्यक्त्व ज्ञान और चरित्ररूप मोक्षमार्ग है और निश्चयनयसे एक

अद्वितीय ज्ञाता ही मोक्षमार्ग है। अन्तमें समय प्राभृतकी टीकाकी तरह एक श्लोक इस आशयका दिया कि—'वर्णोंसे पद बने, पदोंसे वाक्य बने और वाक्योंसे शास्त्र बना। अतः वाक्य ही इस शास्त्रके कर्ता हैं, हम नहीं।

इस ग्रन्थमें ग्रन्थकारने यद्यपि अपना नाम नहीं दिया है तथापि उक्त शैलीसे यह स्पष्ट है कि इसके कर्ता अमृतचन्द्र हैं।

अमृतचन्द्रके समयके सम्बन्धमें पीछे विस्तारसे प्रकाश डाला जा चुका है वह स्वामी विद्यानन्दके पश्चात् और आलापपद्धतिकार देवसेनसे पहले होने चाहिये। उन्होंने विद्यानन्दके तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकका उपयोग अपने तत्त्वार्थसारमें किया है यह हम पीछे लिख आये हैं। विद्यानन्दने अपने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक-की प्रशस्तिमें पश्चिमी गंगवंशी नरेश श्रीपुरुषके उत्तराधिकारी शिवमार द्वितीय का उल्लेख किया है। शिवमार द्वितीयका समय ई० ८१० (वि० सं० ८६७) है और देवसेनने अपना दर्शनसार वि० सं० ९९० में रचा था। अतः वि० सं० ८६७ के पश्चात् और वि० सं० ९९० से पूर्व अमृतचन्द्र हुए हैं।

द्रव्य[1] संग्रह

मुनि नेमिचन्द्र रचित द्रव्यसंग्रह नामका एक छोटासा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ जैन समाजमें बहुत प्रचलित है। इस ग्रन्थमें केवल ५८ प्राकृत गाथाएँ हैं। ग्रन्थकी अन्तिम गाथामें[2] ग्रन्थकारने अपना तथा ग्रन्थका नाममात्र दिया है।

कर्ता—

उसमें ग्रन्थका नाम द्रव्यसंग्रह दिया है। इस ग्रन्थके ऊपर ब्रह्मदेवरचित संस्कृत वृत्ति है। उसके प्रारम्भमें वृत्तिकारने ग्रन्थका परिचय देते हुए लिखा है—'अथ मालवदेशे धारानाम-नगराधिपतिराज-भोजदेवाभिधान-कलिकालचक्रवर्ति सम्बन्धिनः श्रीपालमण्डलेश्वरस्य सम्बन्धन्याश्रमनामनगरे श्री मुनिसुव्रततीर्थंकर चैत्यालये शुद्धात्मद्रव्यसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादविपरीतनारकादि दुःखभयभीतस्य परमात्मभावनोत्पन्नसुखसुधारसपिपासितस्य भेदाभेदरत्नत्रय-

१. संस्कृतटीका तथा हिन्दी टीकाके साथ द्रव्यसंग्रह रायचन्द्र शास्त्रमाला बम्बईसे प्रकाशित हुआ था। उसके बाद दिल्लीसे वि० सं० २०१० में और खरखरी (झरिया) से प्रकाशित हुआ है। मूल द्रव्यसंग्रह भाषा टीका सहित अनेक स्थानोंसे प्रकाशित हुआ है। तथा अंग्रेजी अनुवाद और विस्तृत प्रस्तावनाके साथ आरासे प्रकाशित हुआ था।

२. 'द्रव्यसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुद पुण्णा। सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंदमुणिणा भणियं जं।'

भावनाप्रियस्य भव्यवरपुण्डरीकस्य भाण्डागाराद्यनेकनियोगाधिकारिसोमाभिधानराजश्रेष्ठिनो निमित्तं श्रीनेमिचन्द्रसिद्धान्तिदेवैः पूर्वं षड्विंशति गाथाभिर्लघु द्रव्यसंग्रहं कृत्वा पश्चाद् विशेषतत्त्वपरिज्ञानार्थं विरचितस्य बृहद्द्रव्यसंग्रहस्याधिकारशुद्धिपूर्वकत्वेन वृत्तिः प्रारम्यते।' अर्थात्—'मालव देशमें धारानगरीका स्वामी कलिकाल सर्वज्ञ राजा भोजदेव था। उससे सम्बद्ध मण्डलेश्वर श्रीपालके आश्रम नामक नगरमें श्री मुनिसुव्रतनाथ तीर्थङ्करके चैत्यालयमें भाण्डागार आदि अनेक नियोगोंके अधिकारी सोमनामक राजश्रेष्ठीके लिये श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेवने पहले २६ गाथाओंके द्वारा लघुद्रव्यसंग्रह नामका ग्रन्थ रचा, पीछे विशेषतत्त्वोंके ज्ञानके लिये बृहद्द्रव्यसंग्रह नामक गन्थ रचा। उसकी वृत्तिको मैं प्रारम्भ करता हूँ।'

अतः वृत्तिकारके अनुसार इस ग्रन्थका नाम वृहद्द्रव्यसंग्रह है। द्रव्य संग्रहके जो संस्करण संस्कृत टीकाके साथ प्रकाशित हुए हैं उनपर उसका नाम वृहद् द्रव्यसंग्रह ही मुद्रित किया गया है। किन्तु मूल ग्रन्थके संस्करणों पर उसका नाम द्रव्यसंग्रह ही दिया गया है।

यह ग्रन्थ तीन अधिकारोंमें विभक्त है। पहले अधिकारमें द्रव्योंका वर्णन है और २७ गाथाएं हैं। अतः टीकाकारके उक्त कथन परसे पहले ऐसा समझा गया कि ग्रन्थकारने पहले इतना ही ग्रन्थ बनाया होगा। पीछे उसने उसे बढ़ा दिया होगा। किन्तु श्री पं० जुगलकिशोर जी मुख्तारको श्री महावीर जी के शास्त्र भन्डारसे उक्त लघु द्रव्यसंग्रह प्राप्त हो गया और उन्होंने उसे अनेकान्त वर्ष १२ की किरण पांचमें प्रकाशित कर दिया। उससे ज्ञात हुआ कि उक्त द्रव्यसंग्रहसे जिसे टीकाकारने वृहद्द्रव्यसंग्रह नाम दिया है, लघुद्रव्यसंग्रह जुदा ही है। उसकी अन्तिम गाथामें, जिसकी संख्या २५ है, ग्रन्थकारने अपना नाम गणि नेमिचन्द्र दिया है और उसे सोमके बहानेसे रचा भी बतलाया है। किन्तु उसका नाम द्रव्यसंग्रह नहीं दिया। वह अन्तिम गाथा इस प्रकार है—

सोमच्छलेण रइया पयत्थलक्खणकराउ गाहाओ।
भव्वुवयारणिमित्तं गणिणा सिरिणेमिचंदेण ॥२५॥

अर्थात्—गणि श्री नेमिचन्द्रने सोमके व्याजसे भव्य जीवोंके उपकारके लिये पदार्थोका लक्षण करनेवाली गाथाओंको रचा।

इन गाथाओंको द्रव्यसंग्रहकी गाथाओंके साथ तुलना करनेसे ऐसा लगता है कि यदि दोनोंके कर्ता एक ही हैं तो उन्होंने पहले तो सोमके लिये उक्त लक्षण परक कुछ गाथाएँ रचीं। पीछे सुव्यवस्थित रूपसे एक ग्रन्थ रचा और उसको द्रव्यसंग्रह नाम दिया। टीकाकार ब्रह्मसूरिने इस द्रव्यसंग्रह नामके ऊपरसे पदार्थ

लक्षण परक गाथाओंके संग्रहको लघुद्रव्य संग्रह और द्रव्यसंग्रहको बृहद्द्रव्यसंग्रह नाम दे दिया।

किन्तु द्रव्यसंग्रह पर एक संक्षिप्त टीका प्रभाचन्द्रकृत भी उपलब्ध है, उसमें ब्रह्मदेवके द्वारा कथित उक्त बातोंका कोई संकेत तक नहीं है। हां, उसके आद्य मंगल श्लोकके अन्तिम चरणमें 'षट्द्रव्य निर्णयमहं प्रकटं प्रवक्ष्ये' लिखा है। तथा प्रथम गाथाकी उत्थानिकामें लिखा है—'अथेष्टदेवताविशेषं नमस्कृत्य महामुनि सैद्धान्तिक श्री नेमिचन्द्रप्रतिपादितानां षट्द्रव्याणां स्वल्पप्रबोधार्थं संक्षेपतया विवरणं करिष्ये।' इस तरह उन्होंने द्रव्यसंग्रहमें षट्द्रव्योंका विवरण होनेसे षट्-द्रव्योंके निर्णयको कहनेकी प्रतिज्ञा की है, किन्तु ग्रन्थके नामादिके सम्बन्धमें कुछ भी नहीं कहा। यह टीका ब्रह्मदेवकी टीकासे प्राचीन है, इतना ही नहीं, किन्तु द्रव्यसंग्रहकी रचनाके पश्चात् विना अधिक अन्तरालके इसकी रचना हुई प्रतीत होती है। अतः ब्रह्म देवके उक्त कथनमें कहाँ तक तथ्य हैं, प्रमाणान्तरके अभावमें यह कहना शक्य नहीं है।

लघु द्रव्यसग्रह

प्रथम लघु द्रव्यसंग्रहका ही परिचय कराया जाता है। इसकी प्रथम गाथामें ग्रन्थकारने जिनदेवके जयकारके साथ ही साथ ग्रन्थमें वर्णित विषयका भी निर्देश करते हुए कहा है कि जिसने छै द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, सात तत्त्व और नौ पदार्थोंका तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कथन किया, वे जिन जयवन्त हों। तदनुसार इसमें छहों द्रव्यों, पाँच अस्तिकायों, सात तत्त्वों और नौ पदार्थोका स्वरूप बतलानेके साथ ही साथ उत्पाद व्यय ध्रौव्य और ध्यानका भी निर्देश कर दिया है। पाँच अस्तिकाय तो द्रव्योंमें ही गर्भित हो जाते हैं क्योंकि जीव पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल ये छै द्रव्य हैं, और कालके सिवाय पाँचों द्रव्य बहुप्रदेशी होनेसे अस्तिकाय कहे जाते हैं। इसी तरह जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप ये नौ पदार्थ हैं। इनमेंसे पुण्य और पापको अलग कर देनेपर शेषको सात तत्त्व कहते हैं। इनमेंसे द्रव्योंका स्वरूप तो विस्तारसे बतलाया हैं किन्तु पदार्थोंका जिनमें तत्त्व भी समाविष्ट हैं—स्वरूप बहुत संक्षेपसे बतलाया है।

पहली गाथामें तो वक्तव्य विषयके निर्देशके साथ मंगलाचरण है। दूसरी गाथामें द्रव्यों और अस्तिकायोंका तथा तीसरी गाथामें तत्त्वों और पदार्थोंका नाम निर्देश है। ग्यारह गाथाओंमें द्रव्योंका तथा पाँच गाथाओंमें तत्त्वों और पदार्थोंका स्वरूप बतलाया है। दो गाथाओंके द्वारा उत्पाद व्यय ध्रौव्यका कथन है। दो गाथाओंके द्वारा ध्यान करनेका उपदेश है। २४वीं गाथामें नमस्कार और पच्चीसवींमें नामादि कथन हैं। संक्षिप्त कथनकी दृष्टिसे रचना महत्त्वपूर्ण है।

इन गाथाओंमेंसे जीवका स्वरूप बतलाने वाली गाथा तो कुन्दकुन्दके प्रवचनसार अथवा समयसारसे संगृहीत है। पुद्गल द्रव्यके छै भेदोंको बतलाने वाली गाथा नं० ७ गोमट्टसार जीवकाण्ड (गा० ६०१) से ली गई प्रतीत होती है। द्रव्योंके स्वरूपको बतलाने वाली गाथा नं० ८, ९, १०, और ११ का पूर्वार्ध, तथा गा० १२, और १४ द्रव्य संग्रहमें भी पाई जाती हैं। शेष गाथाएँ भिन्न हैं। ब्रह्मदेवके अनुसार इसमें एक गाथा कम है। संभव है लघु-द्रव्य संग्रह की प्राप्त प्रतिमें एक गाथा छूट गई हो।

वृहद्द्रव्यसंग्रह

वृहद्द्रव्य संग्रहकी कुन्दकुन्दाचार्यके पंचास्तिकायके साथ तुलना करनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि पंचास्तिकायकी शैली और वस्तुको द्रव्यसंग्रहकारने अपनाया है और उसे लघु पंचास्तिकाय कहा जा सकता है। पंचास्तिकाय भी तीन अधिकारोंमें विभक्त है और द्रव्य संग्रहमें भो तीन अधिकार हैं। पंचास्तिकायके प्रथम अधिकारमें द्रव्योंका, दूसरेमें नौ पदार्थोंका और तीसरे में व्यवहार और निश्चय मोक्ष मार्गका कथन है। द्रव्यसंग्रहके भी तीनों अधिकारों में क्रमसे यहो कथन है। किन्तु पंचास्तिकायमें जो सत्ता, द्रव्य, गुण, पर्याय सप्तभंगी आदिकी दार्शनिक चर्चाएँ हैं, उनका द्रव्यसंग्रहमें अभाव हैं। असल में जैन तत्त्वों के प्राथमिक अभ्यासीके लिये उक्त दार्शनिक चर्चाएँ दुरूह भी हैं। संभवतया इसीसे सोमश्रेष्ठीके लिये द्रव्य संग्रहको बनानेकी आवश्यकता हुई।

द्रव्य संग्रहका रचयिता कुन्दकुन्दाचार्यके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वोंसे सुपरिचित प्रतीत होता हैं। उन्होंने निश्चय और व्यवहारनयसे ही प्रत्येक तत्त्वका निरूपण किया है। व्यवहारनयके किसी अवान्तर भेदका निर्देश तो द्रव्यसंग्रहमें नहीं है, किन्तु निश्चयके शुद्ध और अशुद्ध भेदका निर्देश अवश्य है।

ग्रन्थका प्रारम्भ जीव और अजीव द्रव्यका कथन करने वाले भगवान ऋषभदेवके नमस्कारसे होता है। इससे ग्रन्थकारने ग्रन्थमें वक्तव्य विषयका भी निर्देश कर दिया है। दूसरी गाथासे जीव द्रव्यका कथन प्रारम्भ होता है। इसमें जीवको उपयोगमय, अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेह परिमाण, भोक्ता, संसारी, मुक्त और स्वभावसे ऊपरको गमन करनेवाला बतलाया है। इस तरह इस गाथा के द्वारा नौ अवान्तर अधिकारोंकी सूचना करके आगे इसी क्रमसे प्रत्येकका कथन निश्चय और व्यवहारनयसे किया है। पंचास्तिकाय गा० २७ में भी जीवको चेतयिता, उपयोगमय, प्रभु, कर्ता, भोक्ता, शरीर प्रमाण, अमूर्तिक और कर्म संयुक्त बतलाकर तथा गाथा २८ में उनके मुक्त होने पर ऊपर जानेका कथन किया है। और आगे इन्हींका विस्तारसे कथन किया है। द्रव्यसंग्रहकारने भी

अपनी रीतिसे वैसा ही किया है। १५वीं गाथासे अजीव द्रव्योंका कथन आरम्भ होता है। गाथा १६में तत्त्वार्थ सूत्र ५-२४ की तरह शब्दादिको पुद्‌गल की पर्याय बतलाया हैं। गाथा २८ से आस्रव आदिका वर्णन प्रारम्भ होता है। भाव और द्रव्यकी अपेक्षा प्रत्येक के दो भेद करके प्रत्येकका स्वरूप बहुत संक्षेपमें किन्तु सरल और स्पष्ट रीतिसे बतलाया है। गाथा ३५ में व्रत, समिति, गुप्ति; धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह जय और चारित्रको भावसंवरके भेद बतलाया है। तत्त्वार्थ सूत्रमें व्रतोंको तो पुण्यास्रवका कारण बतलाया है और शेषको संवरका कारण बतलाया है। किन्तु चूँकि व्रतोंमें निवृत्ति अंश भी होता है इसलिये उन्हें संवरके कारणों में गिना हैं। तीसरे अधिकारमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रका स्वरूप बतलाकर ध्यानाभ्यास करनेपर जोर दिया है क्योंकि ध्यानके बिना मोक्षकी प्राप्ति संभव नहीं है।

ध्यानके भेद और स्वरूपादिका कथन तो नहीं किया, किन्तु पञ्चपरमेष्ठीके वाचक मंत्रोंको जपने तथा उनका ध्यान करनेकी प्रेरणा की है और इसलिये अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पञ्चपरमेष्ठियोंका स्वरूप एक-एक गाथाके द्वारा बतला दिया है। अन्तमें कहा है कि तप, श्रुत और व्रतोंका धारी आत्मा ही ध्यान करनेमें समर्थ होता है, अतः ध्यानकी प्राप्तिके लिये सदा तप, श्रुत और व्रतोंमें लीन होना चाहिये।

इस तरह ग्रन्थकार ने बहुत ही संक्षेपमें जैन दर्शनके मूल तत्त्वोंका कथन इस ग्रन्थमें किया है।

लघु द्रव्य संग्रहके अन्तकी गाथामें ग्रन्थकारने अपना नाम नेमिचन्द गणि दिया है और वृहद्द्रव्य संग्रहकी अन्तिम गाथामें अपनी लघुता प्रकट करते हुए दोष रहित और श्रुतसे परिपूर्ण मुनिनाथोंसे प्रार्थना की है कि वे अल्पश्रुतधर नेमिचन्द्र मुनिके द्वारा रचे हुए द्रव्य संग्रहको शुद्ध कर लें।

जैन परम्परामें नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती नामके एक बहुत बड़े आचार्य हो गये हैं। जिन्होने गोम्मटसार जैसे महान ग्रन्थोंकी रचना की है। इस द्रव्य संग्रहको भी उनकी ही रचना समझा जाता था। द्रव्य संग्रहके अंग्रेजी अनुवादकी भूमिकामें श्रीशरच्चन्द्र घोषालने इसे उन्हींकी कृति बतलाया है। किन्तु उसकी समालोचना करते हुए श्री पं० जुगल किशोरजी मुख्तारने जैन हितैषी, भाग १३, अंक १२में इसका विरोध किया है। उन्होंने पुरातन जैन वाक्य सूचीकी अपनी प्रस्तावना में (पृ० ९२-९४) उसके निम्नकारण बतलाये हैं।

१. द्रव्य संग्रहके कर्ताका 'सिद्धान्त चक्रवर्ती'के रूपमें कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेवने भी उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती नहीं लिखा,

किन्तु सिद्धान्तिदेव लिखा है। सिद्धान्ती होना और बात है और सिद्धान्त-चक्रवर्ती होना दूसरी बात है। सिद्धान्त चक्रवर्ती पद सिद्धान्ती या सिद्धान्ति देव पदसे बड़ा है।

२. दूसरे गोम्मटसारके कर्ता नेमिचन्द्राचार्यने अपने ग्रन्थोंमें अपने गुरु अथवा गुरुओंका नामोल्लेख अवश्य किया है। परन्तु द्रव्यसंग्रहमें वैसा नहीं पाया जाता।

३. तीसरे, टीकाकार ब्रह्मदेवने अपनी टीकाके प्रस्तावना वाक्यमें जो इस ग्रन्थके रचे जानेका विवरण दिया है, वह सब ऐसे ढंगसे और ऐसी तफ़सीलके साथ दिया है कि उसे पढ़ते हुए यह ख्याल आये बिना नहीं रहता कि या तो ब्रह्म-देव उस समय मौजूद थे जब कि द्रव्यसंग्रह तैयार किया गया, अथवा उन्हें दूसरे किसी खास विश्वस्त मार्गसे इन सब बातोंका ज्ञान प्राप्त हुआ था और इस लिये इसे सहसा असत्य या अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। और जबतक इस कथनको असत्य सिद्ध न कर दिया जाये तब तक यह नहीं कहा जा सकता कि ग्रन्थ उन्हीं नेमिचन्द्रके द्वारा रचा गया है जो कि चामुण्डरायके समकालीन थे; क्यों कि उनका समय ईसाकी १०वीं शताब्दी है जब कि भोजकालीन नेमिचन्द्रका समय ईसाकी ११वीं शताब्दी बैठता है।

४. चौथे, द्रव्य संग्रहके कर्ताने भावास्रवके भेदोंमें प्रमादको भी गिनाया है और अविरतके पाँच तथा कषायके चार भेद ग्रहण किये हैं। परन्तु गोम्मटसारके कर्ताने प्रमादको भावास्रवके भेदोंमें नहीं माना और अविरतके (दूसरे ही प्रकारसे) बारह तथा कषायके २५ भेद स्वीकार किये हैं।

मुख्तार साहबके द्वारा उपस्थित किये गये चारों ही कारण सबल हैं। अतः जब तक कोई प्रबल प्रमाण प्रकाशमें नहीं आता तब तक द्रव्यसंग्रहको गोम्मट-सारादिके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीकी कृति नहीं माना जा सकता।

टीकाकार ब्रह्मदेवके प्रास्ताविक कथनके अनुसार द्रव्य संग्रहके कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्ति देव धारानगरीके अधिपति राजा भोज देवके समकालीन थे। धाराधि-पति राजा भोज अपनी विद्वत्ता और विद्वत्प्रियताके कारण अति प्रसिद्ध हैं। इनका राज्य काल वि०सं० १०७६से वि० १११२ तक माना जाता है। अतः यदि ब्रह्म-देवका उक्त कथन ठीक है तो उक्त समयमें द्रव्य संग्रहकी रचना सिद्ध होती है। अब हम देखेंगे कि अन्य आधारोंसे उक्त कथन कहाँ तक प्रमाणित होता है।

१. पं० आशाधरने अपने[1] अनगार धर्मामृतकी टीकामें 'उक्तं च' करके कई गाथाएँ उद्धृत की हैं जो द्रव्य संग्रहकी है। एक गाथा तो 'तथा चोक्तं द्रव्य संग्रहेऽपि' लिखकर उद्धृत की है। पं० आशाधरने उसकी प्रशस्तिमें टीका की समा-

---

१. अन० धर्मा० टी०, पृ० ४, ११२, ११६, ११८

प्तिका काल वि० सं० १३०० दिया है। अतः यह निश्चित है कि वि० सं० १३०० से पूर्व द्रव्य संग्रहकी रचना हो चुकी थी।

२. जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी[1] टीकाके प्रारम्भमें द्रव्य संग्रहका उल्लेख किया है तथा उसकी रचनामें मोभा (सोम) श्रेष्ठीको निमित्त बतलाया है। जयसेनाचार्य विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं। अतः द्रव्य संग्रहकी रचना उनसे पूर्व हो चुकी थी।

३. जयसेनाचार्यने पञ्चास्तिकायकी टीका (पृ० २५३) में तत्त्वानुशासन नामक ग्रन्थका उल्लेख किया है। श्री रामसेनने इस तत्त्वानुशासनकी रचना यद्यपि संस्कृतके अनुष्टुप् श्लोकोंमें की है तथापि उसमें पाँच पद्य आर्याछन्दमें भी हैं। जिनमेंसे चार इस प्रकार हैं—

'धर्मादि श्रद्धानं सम्यक्त्वं ज्ञानमधिगमस्तेषाम्।
चरणं च तपसि चेष्टा व्यवहाराद् मुक्तिहेतुरयम् ॥३०॥
निश्चयनयेन भणितस्त्रिभिरेभिर्यः समाहितो भिक्षुः।
नोपादत्ते किञ्चिन्न च मुञ्चति मोक्षहेतुरसौ ॥३१॥
यो मध्यस्थः पश्यति जानात्यात्मानमात्मनात्मन्यात्मा।
दृगवगमचरणरूपस्य निश्चयान्मुक्तिहेतुरिति जिनोक्तिः ॥३२॥
स च मुक्तिहेतुरिद्धो ध्याने यस्मादवाप्यते द्विविधोऽपि।
तस्मादभ्यसन्तु ध्यानं सुधियः सदाप्यपास्यालस्यं ॥३३॥'

इनमेंसे आदिके तीन पद्य तो पञ्चास्तिकायकी नीचे उद्धृत तीन गाथाओंके संस्कृत रूपान्तर हैं—

धम्मादीसद्दहणं सम्मत्तं णाणमंगपुव्वगदं।
चिट्ठा तवम्हि चरिया ववहारो मोक्खमग्गो त्ति ॥१६०॥
णिच्चयणयेण भणिदो तिहि तेहिं समाहिदो हु जो अप्पा।
ण कुणदि किंचि वि अण्णं ण मुयदि सो मोक्खमग्गोत्ति ॥१६१॥
जो चरदि णादि पिच्छदि अप्पाणं अप्पणा अणण्णमयं।
सो चारित्तं णाणं दंसणमिदि णिच्चिदो होदि ॥१६२॥

तत्त्वानुशासनके रचयिताने यत्र तत्र कुछ शाब्दिक परिवर्तन कर लिया है किन्तु यह स्पष्ट है कि उनके उक्त तीन पद्य उक्त तीन गाथाओंको ही सामने रखकर रचे गये है और इसीलिये उन्हें आर्या छन्दोंमें रखागया है। इसी तरह चौथा पद्य द्रव्यसंग्रहकी नीचे लिखी गाथाको सामने रखकर रचा गया है।

---

१. 'अन्यत्र' द्रव्य संग्रहादौ मोभा श्रेष्ठयादि ज्ञातव्यम्—पञ्चास्ति०टी०, पृ० ६

दुविहं पि मोक्खहेउं झाणे पाउणदि जं मुणी णियमा ।
तम्हा पयत्तचित्ता जूयं झाणं समब्भसह ॥४७॥

अतः द्रव्य संग्रह जयसेनके द्वारा निर्दिष्ट तत्त्वानुशासनसे भी पहले रची गई है। तत्त्वानुशासनका समय अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। फिर भी इतना निश्चित प्रतीत होता है कि वह अमृतचन्द्रके और संभवतया देवसेनके पश्चात् रचा गया है। द्रव्यसंग्रहके अनुसरणसे द्रव्य संग्रह और टीकाकार जयसेनके मध्यमें उसका रचा जाना संभव है। अतः टीकाकार ब्रह्मदेवके द्वारा निर्दिष्ट राजा भोजके समयमें द्रव्य संग्रहकी रचना होना संभव प्रतीत होता है।

४. द्रव्यसंग्रहकी एक वृत्ति प्रभाचन्द्रकृत उपलब्ध है। यह प्रभाचन्द्र वही प्रतीत होते हैं जिन्होंने न्याय कुमुदचन्द्र तथा प्रमेयकमल मार्तण्ड आदि टीका-ग्रन्थोंकी रचना की थी। प्रशस्तियोंके अनुसार उन्होंने प्रमेयकमल मार्तण्डकी रचना भोजराजाके राज्यकालमें और न्यायकुमुदचन्द्र, गद्यकथाकोश, पुष्पदन्तके महापुराण पर टिप्पण तथा समाधितंत्र टीकाकी रचना जयसिंह देवके राज्यमें की थी।

अतः भोज राजाके राज्यकालमें द्रव्य संग्रह रची जा चुकी थी यह निश्चित है। ब्रह्मदेवके अनुसार भोज राजाके राज्यकालमें ही द्रव्यसंग्रहकी रचना हुई है।

अब देखना यह है कि राजा भोजके समयमें कोई नेमिचन्द्र सैद्धान्ती नामके विद्वान् हुए हैं या नहीं ?

मुख्तार साहबने लिखा है कि—'एक आचार्य नेमिचन्द्र ईसाकी ग्यारहवीं शताब्दीमें हुए हैं जो वसुनन्दि सैद्धान्तिकके गुरू थे और जिन्हें वसुनन्दि श्रावकाचारमें जिनागमरूपी समुद्रकी बेला तरंगोंसे धूयमान ओर सम्पूर्ण जगतमें विख्यात लिखा है। आश्चर्य तथा असंभव नहीं जो ये ही नेमिचन्द्र द्रव्यसंग्रहके कर्ता हों, परन्तु यह बात अभी निश्चित रूपसे नहीं कही जा सकती, आदि। (पुरा० जै० वा० सू०, प्रस्ता० पृ० ९४)।

इस सम्बन्धमें उल्लेखनीय बात यह है कि इन नेमिचन्द्रके गुरूका नाम नयनन्दि[1] है। इन नयनन्दिने अपभ्रंशभाषामें सुदर्शन चरित नामका ग्रन्थ रचा है उसकी अन्तिम प्रशस्तिमें लिखा है कि इस ग्रन्थकी रचना विक्रम सम्बत् ११०० में धारा नरेश भोजदेवके समयमें हुई है। नयनन्दि माणिक्यनन्दिके शिष्य थे। इन्हीं माणिक्यनन्दिके शिष्य प्रभाचन्द्र थे और उन्होंने अपने गुरूके द्वारा रचित परीक्षामुखसूत्रों पर प्रमेयकमल मार्तण्ड नामक ग्रन्थ रचा था। ये ही प्रभाचन्द्र

---

१. देखो, अनेकान्त, वर्ष ८, कि० ८-९ में 'आचार्य माणिक्यनन्दिके समय पर अभिनव प्रकाश' शीर्षक लेख।

द्रव्यसंग्रहकी वृत्तिके रचयिता हैं। यदि द्रव्यसंग्रह प्रभाचन्द्रके गुरुभाई नयनन्दिके शिष्य नेमिचन्द्रकी रचना है तो कहना होगा कि नेमिचन्द्रने अपने गुरू नयनन्दिके द्वारा रचित सुदर्शनचरित के समकाल में ही द्रव्यसंग्रहकी रचना कर डाली थी, तभी तो प्रभाचन्द्र उसकी वृत्ति रच सकते हैं। यद्यपि ऐसा होना असंभव नहीं है तथापि अपने शिष्य तुल्य नेमिचन्द्रके द्वारा रचित द्रव्यसंग्रह पर प्रभाचन्द्रके द्वारा वृत्तिका रचा जाना और द्रव्यसंग्रहके रचयिताके लिये महामुनि सैद्धान्तिक जैसे विशेषणोका प्रयोग किया जाना चित्तको लगता नहीं है। और उक्त विप्रतिपत्तियोंके होते हुए भी यही सन्देह होता है कि द्रव्यसंग्रहके रचयिता नेमिचंद्र प्रसिद्ध सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमिचन्द्र ही तो नहीं है। ऐसा न होने पर भी उनके समकालमें द्रव्यसंग्रहका रचा जाना संभव है।

प्रभाचन्द्र कृत तत्त्वार्थवृति टिप्पण[1]

विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें [2]प्रभाचन्द्र नामके एक महान् ग्रन्थकार हो गये हैं। इन्होंने माणिक्यनन्दिके परीक्षामुख सूत्रों पर प्रमेयकमलमातण्ड नामक और अकलंकदेवके लघीयस्त्रय पर न्यायकुमुदचन्द्र नामके महान दाशनिक ग्रन्थोंकी रचना की है। इसीसे 'प्रथित तक[3] ग्रन्थकार' के रूपमें उनकी प्रसिद्धि है। उनके गुरुका नाम पद्मनन्दि सैद्धान्तिक था। प्रायः अपनी प्रत्येक रचनाके अन्तमें उन्होंने अपने गुरुका नाम स्मरण किया है।

यह धारा नगरीके निवासी थे प्रमेयकमल[4] मार्तण्ड और न्याय कुमुदचन्द[5] आदि

---

१. अनेकान्तके प्रथम वर्षकी चौथी किरणमें 'पुरानी बातोंकी खोज' के अन्तर्गत पं० जुगुल किशोरजी मुख्तारने इसका सर्वप्रथम परिचय दिया था। हमें इसकी एक प्रति पं० परमानन्दजी दिल्लीके द्वारा अवलोकनार्थ प्राप्त हुई थी जो उन्होंने सहारनपुरके लाला जम्बूप्रसादजीके मन्दिरके भाण्डारकी प्रतिसे की है। अब यह भ० ज्ञानपीठसे सर्वार्थसिद्धिके साथ प्रकाशित हो गया है।

२. इनके सम्बन्धमें विशेष रूपसे जाननेके लिये न्यायकुमुदचन्द्रके दोनों भागों की प्रस्तावना देखना चाहिये।

३. 'शब्दाम्भोरुहभास्करः प्रथिततर्कग्रन्थकारः प्रभाचन्द्राख्यो मुनिराज पण्डितवरः'—श्रव० शिला० नं० ४० (६४)।

४. 'श्रीभोजदेवराज्ये श्रीमद् धारानिवासिना····श्रीमत्प्रभाचन्द्र पण्डितेन···· परीक्षामुखपदमिदं विवृतमिति।'

५. 'श्री जयसिंह देवराज्ये श्रीमद्धारा निवासिना····श्रीमत्प्रभाचन्द्रपण्डितेन ····न्यायकुमुदचन्द्रो····कृतः।'

के अन्तमें पाये जाने वाले प्रशस्ति वाक्योंमें इस बातका स्पष्ट निर्देश है। तथा जयसिंह देव और भोजदेवके राज्यका भी निर्देश हैं। परमार राजा भोजदेवका राज्यकाल वि० सं० १०७६ से वि० १११२ तक माना जाता है क्योंकि भोजदेवके उत्तराधिकारी जयसिंहका वि० सं० १११२ का दानपत्र मिला है। इन प्रभाचन्द्रने अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थोंकी रचना की है। उनमेंसे एक 'तत्त्वार्थ वृत्ति पद' नामका छोटा सा किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी है। इसमें पूज्यपादकी सर्वार्थ-सिद्धि नामक तत्त्वार्थ वृत्ति के अप्रकाशित पदोंको व्यक्त किया गया है। यह बात इसके आद्य मंगल श्लोकसे भी प्रकट होती है। यथा—

'सिद्धं जिनेन्द्रमलमप्रतिमप्रबोधं
त्रैलोक्यवंद्यमभिवंद्य गतप्रबन्धम्।
दुर्वारदुर्जयतमः प्रति भेदनार्कं
तत्त्वार्थवृत्तिपदमप्रकटं प्रवक्ष्ये॥'

ग्रन्थके अन्तमें प्रशस्ति भी है, जो इस प्रकार है—

ज्ञानस्वच्छजलस्सुरत्ननिचयश्चारित्रवीचिचयः
सिद्धान्तादिसमस्तशास्त्रजलधिः श्रीपद्मनन्दिप्रभुः।
तच्छिष्यान्निखिलप्रबोधजनकं (नं) तत्त्वार्थवृत्तेः पदं
सुव्यक्तं परमागमार्थविषयं ज्ञातं (जातं) प्रभाचन्द्रतः॥
श्री पद्मनन्दि सैद्धान्तशिष्योऽनेकगुणालयः।
प्रभाचन्द्रश्चिरं जीयात् पादपूज्यपदे रतः॥
मुनीन्दुर्नन्दितादिदन्निजमानन्दमन्दिरम्।
सुधाधारोद्गिरन्मूर्तिः काममामोदयज्जनम्॥

इस प्रशस्तिका प्रथम श्लोक न्यायकुमुद चन्द्र प्रशस्तिके चतुर्थ श्लोकसे मिलता हुआ है और दूसरा श्लोक प्रमेयकमल मार्तण्डकी प्रशस्तिके चतुर्थ श्लोक जैसा ही है, केवल अन्तिम चरणमें अन्तर है। चूँकि प्रमेयकमल माणिक्यनन्दिके सूत्र ग्रन्थकी व्याख्या है। अतः उसमें चतुर्थ श्लोकका अन्तिम चरण 'रत्ननन्दि पदेरतः' है और तत्त्वार्थवृत्ति पूज्यपादकी रचना है। अतः उसके दूसरे श्लोकका अन्तिम चरण 'पादपूज्यपदे रतः' है।

इस प्रशस्तिसे यह सिद्ध है कि 'तत्त्वार्थ वृत्तिपद' उन्हीं प्रभाचन्द्रका है। जिन्होंने उक्त दो महान ग्रन्थोंकी रचना की थी। ऐसे महान् दार्शनिक ग्रन्थोंके रचयिताके द्वारा तत्त्वार्थ सूत्रपर स्वकीय वृत्ति न लिखकर सर्वार्थसिद्धि नामक तत्त्वार्थ वृत्तिके अप्रकटित पदोंको स्पष्ट करनेकी बातसे कुछ लोगोंको आश्चर्य हो सकता है। किन्तु प्रभाचन्द्र जैसे मनीषी ग्रन्थकारके द्वारा पिष्टपेषणका कार्य

संभव नहीं था। तत्त्वार्थ सूत्र पर पूज्यपादकी सर्वार्थसिद्धि, अकलंक देवके तत्त्वार्थ वार्तिक और विद्यानन्दिके तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक जैसी महान टीका ग्रन्थोंके होते हुए उस पर एक नई टीका लिखनेमें उक्त टीकाकारोंके द्वारा कही हुई बातोंको ही प्रकारान्तरसे कहना पड़ता, जैसा कि पीछेके अन्य टीकाकारोंको कहना पड़ा है। अतः प्रभाचन्द्रने सर्वार्थसिद्धिके अप्रकटित पदोंको स्पष्ट करके उचित किया है। वास्तवमें सर्वार्थसिद्धिके अनेक पद बहुत गूढ़ हैं और उनके स्पष्टीकरणके लिये इस प्रकारके एक टिप्पण ग्रन्थकी आवश्यकता थी। अपभ्रंश भाषाके महाकवि पुष्पदन्तकृत महापुराण पर भी उन्होंने इस प्रकारका एक टिप्पण ग्रन्थ रचा है जो उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा तथा गुणग्राहकताका परिचायक है।

फिर तत्त्वार्थ वृत्तिके अप्रकाशित पदोंको स्पष्ट करने वाला यह छोटा सा ग्रन्थ मात्र टिप्पण ग्रन्थ ही नहीं है, किन्तु उसके द्वारा अनेक सैद्धान्तिक गुत्थियों पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश भी डाला गया है और उससे यह प्रकट होता है कि पद्मनन्दिके शिष्य दार्शनिक प्रभाचन्द्र जैन सिद्धान्तके भी पूर्ण मर्मज्ञ थे। इसीसे उनका यह ग्रन्थ भी अनेक आगमिक ग्रन्थोंके उद्धरणोंसे भरा हुआ है। जिनकी संख्या ५० से ऊपर है और जिनमें कसाय पाहुड़ जैसे सिद्धान्त ग्रन्थ तककी गाथा वर्तमान है। कई उद्धृत गाथाएँ ऐसी भी हैं जो उपलब्ध ग्रन्थोंमें नहीं पाई जाती।

सर्वार्थसिद्धिमें सबसे विस्तृत व्याख्या सत्संख्या' आदि सूत्रकी है, उसमें षट्खण्डागमके अन्तर्गत अनुयोगद्वारोंके आधार पर सैद्धान्तिक विवेचन है। प्रभाचन्द्रके इस तत्त्वार्थवृत्ति पदके भी फुलिस्केप आकारके ३३ पृष्ठोंमेंसे एक चतुर्थांश पृष्ठ उक्त सूत्रकी टीकासे सम्बद्ध है। और उनमें अनेक महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक चर्चाएँ भी है। प्रत्येक अध्यायके टिप्पण जुदे-जुदे हैं और तत्त्वार्थ-सूत्रके सम्बद्ध सूत्रका निर्देश करके टिप्पण दिया गया है जिससे उसे खोजनेमें कठिनाई नहीं होती। प्रत्येक अध्यायके टिप्पणकी समाप्तिपर तत्त्वार्थसूत्रकी तरह ही अध्यायकी समाप्तिका सूचक सन्धिवाक्य दिया हुआ है यथा 'इति प्रथमोध्यायः समाप्तः।'

इस टिप्पणमें आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके गोम्मटसार ग्रन्थसे अनेक गाथाएं उद्धृत हैं। तथा अमितगतिके संस्कृत पंञ्चसंग्रहका भी एक श्लोक उद्धृत है। अमितगतिने अपना पंचसंग्रह वि० सं० १०७३ में समाप्त किया है। अतः उसके पश्चात् ही प्रभाचन्द्रने यह टिप्पण रचा है। आचार्य नेमिचन्द्र और अमितगति दोनों विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके विद्वान् थे और प्रभाचन्द्र अमितगतिके लघु समयकालीन थे।

प्रभाचन्द्रकृत टीकात्रय

कुन्दकुन्दके प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय और समयसार पर भी प्रभाचन्द्रकृत टीकाएं उपलब्ध हैं, किन्तु अभी तक उनका प्रकाशन नही हुआ है। प्रवचनसार पर उपलब्ध टीकाका नाम 'प्रवचनसार सरोज[1] भास्कर' है। ग्रन्थकी अवान्तर सन्धियोंमें तथा अन्तमें यह नाम पाया जाता है। यथा—इति श्री प्रभाचन्द्र विरचिते प्रवचनसारसरोजभास्करे शुद्धोपयोगाधिकारः समाप्तः।' इसी तरह पञ्चास्तिकायकी टीकाका नाम पञ्चास्तिकाय प्रदीप है। यथा—'इति श्री प्रभाचन्द्र विरचिते पञ्चास्तिकायप्रदीपे मोक्षमार्गनवपूदार्थचूलिकाधिकारः समाप्तः।'

इन तीनों ही टीकाओंमें गाथाओंका केवल शब्दार्थरूप व्याख्यान है और समयसारकी टीकाके एक अन्तिम पद्यमें 'व्याख्यातः स परिस्फुटामलदया शब्दार्थतो निर्मलः' लिखकर यह बात व्यक्त भी कर दी है। इस व्याख्यानसे गाथाके प्रत्येक शब्दका अर्थ स्पष्ट हो जाता है। अमृतचन्द्रकी टीकामें शब्दार्थरूप व्याख्यान नहीं है अतः उसके पढ़नेसे यद्यपि कुन्दकुन्दका हार्द स्पष्ट हो जाता है तथापि गाथागत प्रत्येक शब्दका अर्थ स्पष्ट नहीं होता। सम्भवतया उसी कमीकी पूर्तिके लिये प्रभाचन्द्रने तीनों टीकाओंकी रचना की है। इसीसे उनकी टीकाओंमें लम्बे चौड़े वर्णनात्मक वाक्य नहीं हैं केवल खण्डान्वय रूपसे गाथाका व्याख्यान मात्र है। किन्तु जहाँ कहीं दार्शनिक चर्चा आई है वहाँ बराबर दार्शनिक प्रभाचन्द्रकी दार्शनिक शैलीका ही दर्शन होता है। इसका निर्देश आगे किया जायेगा।

अमृतचन्द्र तथा जयसेनकी टीकाओंके साथ तुलना करनेसे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि जहाँ अमृतचन्द्रकी टीकाका प्रभाव प्रवचन सरोज भास्कर वगैरह पर है, वहाँ प्रभाचन्द्रकी टीकाओंका प्रभाव जयसेनकी टीकाओं पर है। किन्तु प्रभाचन्द्रके द्वारा स्वीकृत गाथाओंका परिमाण न तो अमृतचन्द्रसे ही मेल खाता है और न जयसेनसे ही। अमृतचन्द्रके द्वारा स्वीकृत गाथाओंसे प्रभाचन्द्रके द्वारा

१. इन टीकाओंकी एक प्रति हमें जयपुरस्थ श्री महावीर अतिशय क्षेत्रके अनुसन्धान विभागसे पं० कस्तूरचन्दजी काशलीवाल द्वारा प्राप्त हुई थी जिसमेंसे प्र० स० भा० की प्रति १५७७ सं० की लिखी हुई है।
समयसार की टीकाकी प्रति हमने मैनपुरीके एक मन्दिरमें देखी थी।

स्वीकृत गाथाओंकी संख्या जयसेनकी तरह अधिक होने पर भी एकान्ततः जयसेनसे मेल नहीं खाती।

प्रभाचन्द्रकृत द्रव्यसंग्रहवृत्ति[1]

प्रभाचन्द्रने द्रव्यसंग्रह पर भी एक वृत्ति बनाई है और यह वृत्ति बिल्कुल उसी शैलीमें रची गई है जिस शैलीमें उक्त तीनों वृत्तियां रची गई है। अर्थात् प्रत्येक गाथाका खण्डान्वयके साथ संस्कृतमें शब्दार्थ मात्र दिया है और यत्र-तत्र आवश्यकताके अनुसार कुछ विशेष कथन भी किया गया है। इसमें भी अन्य ग्रन्थोंसे उद्धरण स्वल्प हैं। एक उद्धरण 'णिज्जिय सासो' आदि गाथा ५६ तथा ४७ की टीकामें है जो द्रव्य स्वभाव प्रकाशक नयचक्र तथा पाहुड़दोहामें पाया जाता है। गाथा १० की टीकामें समुद्घातका लक्षण गो० जीवकाण्डसे दिया गया है। इसके सिवाय दो श्लोक भी उद्धृत है जिनका स्थल ज्ञात नहीं हो सका। इस टीकामें विशेष बात यह है कि टीकाके मंगल श्लोककी भी टीकाकी गई है। ऐसा क्यों किया गया यह समझमें नहीं आया।

अव विचारणीय यह है कि ये चारों टीकाएँ किस प्रभाचन्द्रके द्वारा रचित हैं, क्या न्यायकुमुदचन्द्र और प्रमेय कमल मार्तण्डके रचयिता प्रख्यात प्रभाचन्द्रने ही इन्हें रचा है अथवा किसी अन्य प्रभाचन्द्रकी ये कृतियाँ हैं। इस प्रश्नके उपस्थित होनेका कारण यह है कि इन तीनों टीकाओंमें प्रभाचन्द्रने अपने सम्बन्धमें कुछ भी नहीं लिखा। न्याय कुमुद चन्द्र वगैरहके कर्ता प्रभाचन्द्रने अपनी कृतियोंमें प्रायः अपनेको पद्मनन्दि सैद्धान्तिकका शिष्य बतलाया है। 'तत्त्वार्थ वृत्ति पद' जैसे टिप्पण ग्रन्थ तकके अन्तमें उन्होंने अपने गुरु पद्मनन्दिका निर्देश किया है। किन्तु इन तीनों टीकाओंमें ऐसा कोई निर्देश नहीं है।

श्रुत मुनिने अपनी प्राकृत भाव त्रिभंगीकी प्रशस्तिमें कहा है कि बालचन्द्र मेरे अणुव्रत गुरु हैं, अभयचन्द्र सिद्धान्ती मेरे महाव्रत गुरु हैं, तथा अभय और प्रभाचन्द्र मेरे शास्त्रगुरु हैं। इसी प्रशस्तिके अन्तमें उन्होने प्रभाचन्द्र मुनिको सारत्रय[2] निपुण (प्रवचनसार, समयसार और पञ्चास्तिकायमें निपुण) शुद्धात्मरत, विरहित परभाव आदि कहा है। डॉ० उपाध्ये[3] इन्हीं प्रभाचन्द्रको उक्त तीनों टीकाओंका कर्ता बतलाते हैं। और चूंकि श्रुत मुनिने अपने परमागमसारमें उसका

---

१. इस वृत्तिकी एक प्रति आमेरके शास्त्रभण्डारसे हमें देखने को मिल सकी।

२. 'वरसारत्तयणिउणो सुद्धप्परओ विरहिय परभावो।
भवियाणं पडिवोहणपरो पहाचंदणाम मुणी ॥'

३. प्रव० सा० की अंग्रेजी प्रस्ता०, पृ० १०८।

रचना काल शक सं० १२६३ (वि० सं० १३९८) दिया है अतः डॉ० उपाध्ये इन टीकाओंका रचना काल ईसाकी १४वीं शतीका प्रथम चरण बतलाते हैं।

किन्तु स्व० पं० महेन्द्र कुमारजी[1] न्यायाचार्यने प्रवचन सरोज भास्करको न्याय कुमुद चन्द्रके कर्ता प्रभाचन्द्रकी ही कृति माना है, और श्री युत नाथूरामजी[2] प्रेमी तथा पं० परमानन्दजीका[3] भी यही मत है। और हम भी इसी मतसे सहमत हैं। कारण नीचे दिये जाते है।

१. प्रवचनसारसरोजभास्कर नाम न्याकुमुदचन्द्र, प्रमेयकमलमार्तण्ड, शब्दाम्भोजभास्कर जैसे नामोंका ही वंशज प्रतीत होता है। ये तीनों ग्रन्थ निश्चित रूपसे पद्मनन्दिसैद्धान्तिकके शिष्य प्रभाचन्द्र रचित हैं।

२. प्रवचनसार स० भास्करमें ही नहीं, किन्तु चारों टीकाओंमें ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृत पद्योंकी संख्या अत्यन्त सीमित है, फिर भी प्र० भास्करमें जो दो चार उद्धरण हैं वे दार्शनिक हैं। यथा–'नाशोत्पादौ समं यद्वन्नामोन्नामौ तुलान्तयोः' 'अनेन पुरुषप्रामाण्याद्वचनप्रामाण्यमित्युक्तम्'। श्रुतमस्पष्टतर्कणम् इत्यभिधानात्।

ये अवतरण उनके अन्य ग्रन्थोंमें भी पाये जाते हैं। व्याख्याशैलीमें भी दार्शनिकताकी पु- है। यथा---

'ननु चात्मा परिणाम्येवातः कि तत्र परिणामप्रसाधनप्रयासेनेति सांख्याः। परिणाम एव वा न ततोऽर्थान्तरात्मेति बौद्धास्तान्प्रत्याह—(गाथा १०)

'यदि हि द्रव्यं स्वयं सदात्मकं न स्यात् तदा स्वयमसदात्मकं सत्तातः पृथक् वा ? तत्राद्यः पक्षो न भवति, यदि सत् सद्रूपं द्रव्यं न भवति तदा असत् असद्रूपं ध्रुवं निश्चयेन तत् भवति। कथं केन प्रकारेण द्रव्यं खरविषाणवत्। 'हवदि पुणो अण्णं वा'। अथ सत्तातः पुनरन्यद्वा पृथक् भूतं वा द्रव्यं भवति तदा ततः पृथग्भूतस्यापि सत्त्वे सत्ताकल्पना व्यर्था। सत्तासम्बन्धतस्तत्सत्वे चान्योन्याश्रयः—सिद्धे हि तत्सत्त्वे सत्तासम्बन्धसिद्धिः तस्य व सत्त्वं च (?) सिद्धौ सत्यां तत्सत्वसिद्धिरिति। तत्सत्वसिद्धिमन्तरेणपि सत्तासम्बन्धे खपुष्पादेरपि तत्प्रसंगः। तस्मात् द्रव्यं स्वयं सत्ता—स्वयमेव सद्रूपमभ्युपगन्तव्यं न पुनः सत्तातः पृथग्भूतं—।' (गा० २।१२)

यह शैली बराबर पद्मनन्दि शिष्य दार्शनिक प्रभाचन्द्रकी है। पञ्चास्तिकाय प्रदीपमें भी इस प्रकारकी शैलीके दर्शन होते हैं। यथा—

१. न्या० कु० च०, भाग २ की प्रस्ता०, पृ० ६३
२. जै० सा० इ०, पृ० २९०।
३. जै० ग्र० प्र० सं० की प्रस्ता०, पृ० ६४ आदि।

'जीवो ति हवदि चेदा……… । उवओगविसेसिदो—ज्ञान दर्शन लक्षणोपयोगेन विशिष्टः। अनेन प्रकृतिगुणा ज्ञानादय इत्यपारां (—पास्तं) मोक्षे ज्ञानाद्यभाव इति च। प्रभुः शुद्धाशुद्ध-परिणाम-प्रसाधन-स्वतंत्रः। अनेन ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा' इति निरस्तं। कर्ता—कर्मणां तन्निमित्तात्मपरिणामानां च विधायकः। इत्यनेन प्रकृतेरेव कर्मकर्तृत्वं नात्मन इत्येकान्तो निरस्तः।……… देहमेत्तो— नामकर्मवशादुपात्ताणुमहच्छरीरप्रमाणो न नोनाऽभ्यधिकः। अनेन आत्मनः सर्वगतत्वं च कणिकादिप्रमितत्वं निरस्तं।

द्रव्यसंग्रहकी 'जीवो उवओगमओ' आदि दूसरी गाथाकी टीका भी उक्त टीकासे अक्षरशः मिलती है। जिससे यह स्पष्ट रूपसे प्रमाणित होता है कि दोनों टीकाओंके रचयिता एक ही प्रभाचन्द्र हैं। यथा—

'जीवस्य स्वरूपमाह—जीवो उवओगमओ। जीव अस्ति चेतनालक्षणः स्वरूपवेदकः। तथा उवओगमओ-उपयोगमयः ज्ञानदर्शनमयोपयोगेन युक्तः। अनेन प्रकृतिगुणाः ज्ञानादयः इत्यपास्तं मोक्षे ज्ञानाद्यभाव इति च।…….तथा कत्ता-कर्ता, केषां? कर्मणां तन्निमितात्मपरिणामानां च कर्ता, अनेन प्रकृतेरेव-कर्मकर्तृत्वं नात्मन इत्येकान्तो निरस्तः। तथा सदेहपरिमाणो नामकर्मोदयवशा-दुपात्ताणुमहच्छरीरपरिमाणो न न्यूनो नाप्यधिकः। अनेनात्मनः सर्वगतत्वं वटकणिकामात्रत्वं च प्रत्याख्यातं।'

अतः ये चारों टीकाएँ एक ही प्रभाचन्द्रकी कृति हैं और वह प्रभाचन्द्र प्रसिद्ध दार्शनिक ही प्रतीत होते हैं। उनके तत्त्वार्थ वृत्तिपदमें गोमट्टसारकी अनेक गाथाएँ उद्धृत हैं, द्रव्यसंग्रह वृत्तिमें भी समुद्घातके लक्षणवाली एक गाथा उद्धृत पाई जाती है जो जीवकाण्ड की है और एक गाथा द्रव्यस्वभावप्रकाशक नयचक्र की है। ये दोनों ग्रन्थकार दार्शनिक प्रभाचन्द्रके पूर्वज हैं। ऐसा एक भी उद्धरण इन टीकाओंमें नहीं है जो प्रभाचन्द्रके समयके पश्चात्का हो। अतः उन्हें दार्शनिक प्रभाचन्द्रकी कृति माननेमें कोई विरोध नहीं है।

आचार्य नरेन्द्रसेन और उनका सिद्धान्तसार[1] संग्रह

अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारकी शैली पर आचार्य नरेन्द्रसेनने सिद्धान्तसार संग्रह नामका ग्रन्थ रचा है। किन्तु शैलीमें समानता होते हुए भी दोनोंके नामोंके अनुरूप ही दोनोंमें अन्तर है। तत्त्वार्थसारमें तत्त्वार्थ सूत्र और उसके टीका

१. सिद्धान्तसार संग्रह नामक ग्रन्थ जीवराज जैन ग्रन्थमाला शोलापुरसे वि० सं० २०१३ में प्रथमबार प्रकाशित हुआ है। इसमें मूलके साथ हिन्दी अनुवाद भी है।

ग्रन्थोंका सारमात्र है तथा उसका विषयानुक्रम भी तत्त्वार्थ सूत्रके अनुसार ही है। किन्तु सिद्धान्तसार संग्रहमें तत्त्वार्थ सूत्र और उसके टीका ग्रन्थोंका ही सार नहीं है बल्कि कुछ अन्य विषयोंकी भी प्रासांगिक चर्चाएँ हैं। तथा विषयानुक्रम भी भिन्न है। अतः तत्त्वार्थसारकी तरह उसका सिद्धान्तसार संग्रह नाम सार्थक है।

किन्तु 'सिद्धान्तसार संग्रह' नाम केवल ग्रन्थकी पुष्पिकाकोंमें ही पाया जाता है मूलग्रन्थमें नहीं। ग्रन्थका प्रारम्भ करते हुए तो ग्रन्थकारने 'तत्त्वार्थसंग्रहं वक्ष्ये' लिखकर तत्त्वार्थ संग्रहको रचनेकी प्रतिज्ञा की है। और यथार्थमें वही ग्रन्थका मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थमें कुछ अन्य विषयोंका भी समावेश कर देने पर उसका नाम सिद्धान्तसार संग्रह रख दिया गया, जो 'तत्त्वार्थ संग्रह' नामसे व्यापक अर्थको लिये हुए है।

तत्त्वार्थसारकी तरह ही पूरा ग्रन्थ संस्कृत भाषाके अनुष्टुप् श्लोकोंमें निबद्ध है। केवल प्रत्येक अध्यायके अन्तमें अन्य छन्दोंमें रचित संस्कृत पद्य दिये गये हैं। श्लोकोंकी रचना सरल और सुस्पष्ट है। विषयका प्रतिपादन भी सरल और सुस्पष्ट रीतिसे किया गया है।

विषय परिचय—

समस्त ग्रन्थ बारह अध्यायोंमें विभाजित है। पहले अध्यायमें सम्यग्दर्शनका निरूपण है। सम्यग्दर्शनका लक्षण समन्तभद्रके रत्नकरण्ड श्रावकाचारकी अनुकृति पर रचा गया प्रतीत होता है। यथा—

'सद्दृष्टिज्ञानसद्वृत्तरत्नत्रितयनायकैः।
कथितः परमो धर्मः कर्मकक्षक्षयानलः ॥३३॥
श्रद्धानं शुद्धवृत्तानां देवतागमलिङ्गिनाम्।
मौढ्यादिदोषनिर्मुक्तं दृष्टिं दृष्टिविदो विदुः ॥३४॥ सि० सा० सं०।

× × ×

'सद्दृष्टि ज्ञानवृत्तानि धर्मं धर्मेश्वरा विदुः।

× × ×

त्रिमूढापोढमष्टागं सम्यग्दर्शनमस्मयम् ॥४॥' र० श्रा०।

ग्रन्थकारने अपने ग्रन्थके आदिमें स्वामी [1]समन्तभद्रके वचनोंको भी मनुष्य

१. 'श्रीमत्समन्तभद्रस्य देवस्यापि वचोऽनघम्। प्राणिनां दुर्लभं यद्वन्मानुषत्वं तथा पुनः ॥११॥' अ० १।
'श्रीमत्समन्तभद्रादिगणेशैः' 'श्रीमत्सामन्तभद्रं वचनमिति बुधः'।
—अ० ९१ सि० सा० सं०।

जन्मकी तरह दुर्लभ बतलाया है। तथा अन्यत्र भी उनका आदरपूर्वक स्मरण किया है। इससे प्रतीत होता है कि ग्रन्थकारकी उनके प्रति गहरी आस्था थी।

मिथ्यादृष्टियोंका वर्णन करते हुए ग्रन्थकारने गोपूजा, पीपल वृक्षकी पूजा आदि मिथ्या क्रियाओंका निर्देश किया है। (अ० १, श्लो० ४२-४३)। भाव संग्रह (गा० २६३) में जो सम्यग्दर्शनके संवेग निर्वेद आदि आठ गुण बतलाये हैं। उन आठोंके लक्षण भी इस ग्रन्थमें दिये गये हैं। मुनियोंमें दोष देखनेवालों-की भी निन्दा की गई है (श्लो० ८४-८६)। सम्यग्दर्शनके प्रकरणमें ये बातें विशेष हैं।

दूसरे अध्यायमें सम्यग्ज्ञानका वर्णन है। इसके प्रारम्भमें ही ज्ञानको प्रमाण मानकर सन्निकर्ष आदिको प्रमाण माननेवाले नैयायिक आदिके मतोंकी आलोचना की गई है। मतिज्ञानके भेद-प्रभेदोंका वर्णन करते हुए बुद्धिऋद्धिके भेदोंका भी स्वरूप बतलाया गया है (३४-४३ श्लो०)। श्रुतज्ञानके वर्णनमें द्वादशांगके भेद-प्रभेदोंका, तथा अंगवाह्यके भेदोंका स्वरूप बतलाया है। उसमें धवला जयधवलामें बतलाये हुए स्वरूपसे कहीं कुछ अन्तर भी है। जैसे, दशवैकालिकका स्वरूप बतलाते हुए लिखा[1] है। द्रुम पुष्पित आदि दस अधि-कारोंके द्वारा जिसमें साधुओंके आचरणका वर्णन हो वह दशवैकालिक है। वर्तमान श्वेताम्बरपरम्परा मान्य दशवैकालिकमें द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्याय हैं।

श्रुतज्ञानके पर्याय पर्यायसमास आदि बीस भेदोंका भी कथन किया गया है। शेष ज्ञानोंका वर्णन तो तत्त्वार्थ सूत्रकी टीका सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थ वार्तिकके अनुसार ही किया गया है।

तीसरे अध्यायमें चारित्रका वर्णन है। अहिंसा आदि व्रतोंके वर्णनमें ग्रन्थकार-ने अमितगतिके श्रावकाचारका अनुकरण किया जान पड़ता है। तुलनाके लिये एक श्लोक नीचे दिया जाता है।

यो यस्य हरते वित्तं स तज्जीवितहृन्नरः।
बहिरङ्गं हि लोकानां जीवितं वित्तमुच्यते ॥५४॥—सि० सा० सं०।

× × ×

यो यस्य हरति वित्तं स तस्य जीवस्य जीवितं हरति।
आश्वासकरं बाह्यं जीवानां जीवितं वित्तम् ॥६१॥—अमि० श्रा० ६ परि०।

१. द्रुमपुष्पितपूर्वैर्यद्दशभिस्त्वधिकारकैः। सूचकं साधुवृत्तानां दशवैकालिकं मतं ॥१४१॥' —सि० सा० सं०, अ० २।

स्तेय और परिग्रह का लक्षण बतलाने वाले सूत्रों (७-१५, १७) की व्याख्या में सर्वार्थसिद्धिमें जो शंका समाधान किया गया है, उसे भी ग्रन्थकारने ज्यों का त्यों अपना लिया है।

तीसरे अध्यायमें अहिंसा आदि व्रतों का सामान्य कथन करके चौथे अध्यायमें उसके अणुव्रत और महाव्रत भेदोंका निर्देश मात्र करके ग्रन्थकारने मिथ्यात्व नामक शल्य का कथन करने के व्याजसे अनेक दार्शनिक मन्तव्योंकी चर्चा विस्तार से की है। आत्माकी नित्यता तथा क्षणिकता, बौद्धोंका शून्यवाद, चार्वाकका जड़वाद, सांख्यमत, मीमांसकोंका सर्वज्ञाभाववाद, वेदकी अपौरुषेयता, और जगत् कर्तृत्ववादका निराकरण करनेके साथ ग्रन्थकारने श्वेताम्बरोंके केवली कवलाहारवाद और स्त्री मुक्तिवाद की भी आलोचना की है। इस तरह यह अध्याय केवल दार्शनिक चर्चाओं से भरा है।

पाँचवे अध्यायसे जीवादि तत्त्वोंका वर्णन प्रारम्भ होता है। जीवका स्वरूप बतलाते हुए उसे कर्ता, अमूर्त, भोक्ता, स्वदेह प्रमाण, उपयोगमय, संसारी और ऊर्ध्वगामी बतलाया है। (श्लो० १९)। और लिखा है कि भाट्ट और नास्तिक जीवको मूर्त मानते हैं इस लिये अमूर्त कहा है (२०)। योग शुद्ध चैतन्यमय मानते हैं इस लिये उपयोगमय कहा है (२२)। सांख्य जीवको अकर्ता मानता है इस लिये कर्ता पद दिया है (२१) योग भाट्ट और सांख्य जीवको व्यापी मानते हैं इसलिये स्वदेह प्रमाण कहा है, इत्यादि। आगे त० सू० के दूसरे अध्यायके टीका ग्रन्थोंके अनुसार सब कथन किया गया है। त० सू० के प्रथम अध्यायमें चार निक्षेपोंका कथन है। यहाँ श्लो० १०३—१०७ में उसको स्थान दिया गया है।

छठें अध्यायमें नरक लोक का, सातवें में मध्यलोकका, और आठवेंमें देव-लोकका वर्णन है। नौवें अध्यायमें अजीव, आस्रव, और बन्ध तत्त्वका वर्णन है। दसवें अध्यायमें निर्जरा तत्त्वका वर्णन करते हुए तपके वर्णनके प्रसंगसे प्रायश्चित्त का वर्णन बहुत विस्तारसे किया है जो अन्यत्र हमारे देखनेमें नहीं आया। वही इस अध्यायका मुख्य प्रतिपाद्य विषय है। ग्यारहवें अध्यायमें विनयतपसे लेकर ध्यान तप का वर्णन है। और बारहवें अध्यायमें मरणके भेदोंका तथा समाधि मरणका वर्णन भगवती आराधनाके अनुसार किया है और 'आराधनामहाशा-स्त्रवाचनादत्तमानसैः' लिखकर उसका निर्देश भी कर दिया है।

इस तरह तत्त्वार्थसारसे इसमें अधिक विषयोंका प्रतिपादन है। और तत्त्वार्थ-सारमें चर्चित विषयोंका प्रतिपादन भी कहीं-कहीं विशेष विस्तार से किया है। सारांश यह है कि अपने पूर्वज अनेक गन्थकारोंकी रचनाओंका उपयोग इस ग्रन्थमें

यथास्थान अच्छी तरह से किया गया है और इस प्रकार इसे सार्थक नाम सिद्धान्तसार संग्रह दिया है।

इस ग्रन्थके अन्तमें ग्रन्थकारने अपनी प्रशस्ति दी[1] है। उससे ज्ञात होता है कि लाट वागड़ संघमें धर्मसेन नामक दिगम्बर मुनिराज हुए। उनके पश्चात् क्रमसे शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन, जयसेन ब्रह्मसेन और वीरसेन हुए। वीरसेनके शिष्य गुणसेन हुए। और गुणसेनके शिष्य नरेन्द्रसेन आचार्य हुए। उन्होंने इस ग्रन्थ को रचा।

श्री जयसेन सूरिने धर्मरत्नाकर नामक ग्रन्थ रचा है जो अभी प्रकाशित हुआ है। इसकी अन्तिम[2] प्रशस्तिसे ज्ञात होता है कि वह भी लाटबागड़ संघके थे। तथा उन्होंने अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—धर्मसेन, शान्तिषेण, गोपसेन, भावसेन और जयसेन। यह गुरु परम्परा नरेन्द्रसेनके द्वारा प्रदत्त गुरु परम्परा से बिल्कुल मिलती है।

अतः नरेन्द्रसेन धर्मरत्नाकरके कर्ता श्रीजयसेनके ही वंशज थे। जयसेनने धर्मरत्नाकरकी[3] प्रशस्तिके अन्तमें उसका रचनाकाल वि० सं० १०५५ दिया है। जयसेन और नरेन्द्रसेनके मध्यमें ब्रह्मसेन, वीरसेन और गुणसेन नामके तीन आचार्य और हुए हैं। नरेन्द्रसेनने अपने ग्रन्थके मध्यमें भी दो स्थानों पर वीरसेनका[4] स्मरण किया है और अपनेको वीरसेनसे 'लब्ध प्रसाद' कहा है। अतः

---

१. 'श्री धर्मसेनोऽजनि तत्र संघे॥····तस्माच्छ्री शान्तिषेणः समजनि····।····श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत् स तस्मात् ॥९०॥····श्रीभावसेनस्ततः ॥९१॥ ख्यात स्ततः श्रीजयसेन नामा····॥····पट्टे श्रीजयसेननाम सुगुरोः श्रीब्रह्मसेनोऽजनि ॥९२॥····तस्मादजायत गुणी···कवि वीरसेनः ॥९३॥ श्रीवीरसेनस्य गुणादिसेनो जातः सुशिष्यो गुणिनां विशेष्यः। शिष्यस्तदीयोजनि चारुचित्तः सद्दृष्टिचित्तोऽत्र नरेन्द्रसेनः ॥···तेनेदमागमवचो विशदं निबद्धम् ॥९५॥—सि० सा० सं०, अ० १२।

२. '····श्रीमान् सोऽभून्मुनिजननुतो धर्मसेनो गणीन्द्रः····॥३॥···तेभ्यः श्रीशान्तिषेणः समजनि सुगुरुः पापधूलीसमीरः ॥४॥···श्रीगोपसेनगुरुराविरभूत् स तस्मात् ॥५॥···श्रीभावसेनस्ततः॥६॥ ततो जातः शिष्यः· जयसेनाख्य इह सः।'—जै० ग्र० प्र० सं०, भा० १, पृ० ४।

३. 'वाणेन्द्रियव्योमसोममिते संवत्सरे शुभे।
ग्रन्थोऽयं सिद्धतां यातः सकलीकरहाटके॥'—भ० स०, पृ० २५०।

४. 'योऽभूच्छ्रीवीरसेनो विबुधजनकृताराधनोऽगाधवृत्तिः।
तस्माल्लब्धप्रसादे मयि भवतु च मे बुद्धिवृद्धौ विशुद्धिः॥'
—सि० सा० सं०, पृ० २३९।

नरेन्द्रसेन वीरसेनके समयमें वर्तमान थे। और जयसेन तथा वीरसेनके मध्यमें केवल एक ब्रह्मसेन आते हैं। अत: जयसेनके धर्मरत्नाकरकी समाप्तिसे अधिकसे अधिक ५० वर्ष पश्चात् वीरसेनका समय मानना अनुचित नहीं है। अतः नरेन्द्र-सेनको विक्रमकी बारहवीं शताब्दीके द्वितीय चरणका विद्वान मानना उचित है।

उनके ग्रन्थका तुलनात्मक दृष्टिसे अनुशीलन करनेसे भी यही समय समचित प्रतीत होता है।

१. अमृतचन्द्रके तत्त्वार्थसारसे नरेन्द्रसेनको सिद्धान्तसार रचनेकी प्रेरणा मिली यह बात दोनों ग्रन्थोंके नाम तथा अन्तः परीक्षणसे स्पष्ट है। नरेन्द्रसेनके पूर्वज जयसेनने तो अपने धर्मरत्नाकरमें अमृतचन्द्रके पुरुषार्थ सिद्धयुपायके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। नरेन्द्रसेनने ऐसा तो नहीं किया। किन्तु अपने सिद्धान्तसारमें प्रकारान्तरसे तत्त्वार्थसारको अपना लिया है।

२. अमितगतिके श्रावकाचारका प्रभाव सिद्धान्तसार पर है यह हम पीछे एक उदाहरण देकर बतला आये हैं। ऐसे उदाहरण अनेक हैं।

सि० सा० के चौथे अध्यायमें जो निदानके प्रशस्त और अप्रशस्त भेदोंका कथन किया है वह अमितगतिका ही अक्षरशः ऋणी है। अमि० श्रा०, अ० ७ के श्लोक २०-२२ का तथा सि० सा० अ० ४ के श्लो० २४६-५० मिलान करनेसे यह बात स्पष्ट हो जाती है। अमितगति माथुरसंघके आचार्य थे। काष्ठासंघमें नन्दितट, माथुर, वागड़ और लाटवागड़ यह चार प्रसिद्ध गच्छ थे। ऐसा सुरेन्द्र-कीर्तिरचित पट्टावलीमें[1] लिखा है। अतः अमितगति और नरेन्द्रसेन दोनों काष्ठासंघी थे। अमितगतिने अपना सुभाषितरत्न संदोह वि० सं० १०५० में रचा था। अर्थात् वह धर्मरत्नाकरके रचयिता जयसेनके समकालीन थे।

३. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्तीके द्वारा रचित गोम्मटसार तथा त्रिलोकसार-का भी उपयोग नरेन्द्रसेनने अपनी रचनामें किया प्रतीत होता है। उनके जीवतत्त्व विषयक वर्णनमें अनेक श्लोक उक्त ग्रन्थोंके गाथासूत्रोंके अनुवाद मात्र प्रतीत होते हैं। यथा—

सोहम्मो वरदेवी सलोगवाला य दक्खिणमरिंदा।
लोयंतिय सव्वट्ठा तदो चुदा णिव्वुदिं जंति ॥५४८॥

---

१. 'काष्ठासंघो भुविख्यातो जानन्ति नृसुरासुराः।
तत्र गच्छाश्च चत्वारो राजन्ते विश्रुताः क्षितौ ॥'
'श्री नन्दितटसंज्ञश्च माथुरो बागड़ाभिधः।
लाड़बागड़ इत्येते विख्याताः क्षितिमण्डले ॥'—जै० सा० इ०, पृ० २७७।

णरतिरियगदीहिंतो भवणतियादो य णिग्गया जीवा ।
ण लहंते ते पदविं तेवट्ठिसलागपुरिसाणं ॥५४९॥—त्रि० सा०

× × ×

शक्राग्रमहिषी शक्रलोकपालामराश्च ते ।
दक्षिणेन्द्राश्च लौकान्ताश्च्युता निर्वृतिगामिनः ॥१३७॥
आज्योतिष्काश्च ये देवास्तेऽनन्तरभवे न हि ।
शलाकापुरुषा ये तु केचिन्निर्वृतिगामिनः ॥१३८॥—सि० सा० सं० ।

इसीके आगे नरेन्द्रसेनने 'यदित्थमनुवादेन' लिखकर स्पष्ट भी कर दिया है कि उनका कुछ कथन अन्य ग्रन्थोंका अनुवाद रूप है।

नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती भी जयसेन और अमितगतिके लगभग गुरू समकालीन थे।

४. सिद्धान्तसार संग्रहके चतुर्थ अध्यायमें केवली भुक्ति और स्त्रीमुक्तिका खण्डन किया गया है। जहाँ तक हम जानते हैं दि० जैन परापरामें प्रभाचन्द्राचार्यने अपने प्रमेयकमल मार्तण्डमें इन दोनोंका खण्डन किया है और उसीका अनुसरण नरेन्द्रसेनने भी किया है। प्रभाचन्द्रका समय विक्रमकी ११वीं शतीके उत्तरार्धसे बारहवीं शतीके पूर्वार्ध तक (वि० सं० १०३७ से ११२२ तक) निर्धारित किया है। अतः नरेन्द्रसेन प्रभाचन्द्रके पश्चात् तत्काल ही हुए हैं। उनकी प्रतिष्ठातिलक नामक एक अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

तीन अन्य सूत्रग्रन्थ

तत्त्वार्थ सूत्रकी रचनाने जैन साहित्यको जितना प्रभावित किया इतना किसी अन्य ग्रन्थने उसे प्रभावित नहीं किया। उसके ऊपर जो विविध व्याख्या ग्रन्थ रचे गये उन्होंने तो जैन साहित्यको समृद्ध किया ही, किन्तु उत्तरकालमें उससे प्रभावित होकर कुछ ग्रन्थकारोंने छोटे-छोटे सूत्र ग्रन्थ भी रचे। ऐसे तीन सूत्र ग्रन्थ हमारे सामने मुद्रित रूपमें वर्तमान हैं। ये तीनों ही तत्त्वार्थ सूत्रके अनुकरण पर रचे गये हैं। इनमेंसे एकका तो नाम भी तत्त्वार्थ सूत्र ही है। इसे लघु तत्त्वार्थ सूत्र कहना उचित होगा क्योंकि यह उसीका संक्षिप्त रूप है। इसके रचयिताका नाम पुष्पिकाओंमें बृहत् प्रभाचन्द्र दिया गया है।

१. [1]तत्त्वार्थसूत्र—इस बृहत्प्रभाचन्द्र विरचित तत्त्वार्थ सूत्रमें भी दस

१. बृहत्प्रभाचन्द्र विरचित इस तत्त्वार्थ सूत्रको खोजकर प्रकाशमें लानेका श्रेय जुगलकिशोरजी मुख्तारको है। उन्होंने वीर सेवा मन्दिर दिल्लीसे हिन्दी अनुवादके साथ उसे सम्पादित और प्रकाशित किया है।

अध्याय हैं। किन्तु उनमें सूत्रोंकी संख्या क्रमसे १५ + १२ + १८ + ६ + ११ + १४ + ११ + ८ + ७ + ५ = १०७ है। प्रायः अधिकांश सूत्र बड़े तत्त्वार्थ सूत्रके सूत्रोंके ही संक्षिप्त रूप हैं। यथा—प्रमाणे द्वे ॥६॥' 'नयाः सप्त ॥७॥' 'तैरधिगमस्तत्त्वानाम् ॥८॥' सदादिभिश्च ॥९॥ इत्यादि। बड़े तत्त्वार्थ सूत्रके प्रत्येक अध्यायका जो विषय है, प्रायः वही विषय इसका भी है। किन्तु तीसरे अध्यायके अन्तमें मनुष्योंका वर्णन करते हुए 'त्रिषष्ठि शलाकाः पुरुषाः' ॥१४॥ एकादश रुद्राः ॥१५॥ नव नारदाः ॥१६॥ चतुर्विंशतिकामदेवाः ॥१७॥' इन सूत्रोंके द्वारा त्रेसठ शलाका पुरुष, ग्यारह रुद्र, नौ नारद और चौबीस कामदेवों को भी बतला दिया है। जैन मान्यतानुसार ये विशिष्ट पुरुष प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी कालमें हुआ करते हैं। २४ तीर्थंकर, नौ बलदेव, नौ नारायण नौ प्रतिनारायण और बारह चक्रवर्ती ये त्रेसठ शलाका पुरुष कहे जाते हैं।

इसी तरह सातवे अध्यायमें 'श्रमणानामष्टाविंशतिर्मूलगुणाः ॥५॥ और श्रावकाणामष्टौ ॥६॥' इन दो सूत्रोंके द्वारा मुनियोंके २८ मूलगुणोंका और श्रावकोंके ८ मूलगुणोंका भी निर्देश कर दिया है। ये सब कथन बड़े तत्त्वार्थ सूत्र में नहीं है।

रचयिता—इसके रचयिता वृहत्प्रभाचन्द्र कौन हैं और वे कब हुए हैं, यह जाननेका कोई साधन अभी तक उपलब्ध नहीं हो सका है। किन्तु इतना तो निश्चित रूपसे प्रतीत होता है कि बड़े तत्त्वार्थ सूत्रके पश्चात् ही उसीके अनुकरण पर यह तत्त्वार्थ सूत्र रचा गया है।

बड़े तत्त्वार्थ सूत्रमें 'गुण पर्ययवद् द्रव्यम्' इतना ही सूत्र है किन्तु इस तत्त्वार्थ सूत्रमें 'सहक्रमभावि गुणपर्ययवद् द्रव्यम्' इतना सूत्र है। जहाँ अन्य सूत्रोंका संक्षेपीकरण किया गया है वहाँ इस सूत्रमें वृद्धि कर दी गई है। इसमें गुणोंको सहभावी और पर्यायोंको क्रमभावी भी बतला दिया गया है। जहाँ तक हम जान सके हैं गुण और पर्यायोंको स्पष्ट रूपसे सहभावी और क्रमभावी सर्वप्रथम अकलंकदेवने अपन न्यायविनिश्चयमें बतलाया है यथा—

'गुणपर्ययवद् द्रव्यं ते सहक्रमवृत्तयः'

और उक्त लक्षण इसीका अनुसरण करता जान पड़ता है। अतः उक्त लघु तत्त्वार्थ सूत्रके कर्ता वृहत्प्रभाचन्द्र अकलंकदेवके पश्चात् होने चाहिये। किन्तु उनके पश्चात् भी अनेक प्रभाचन्द्र हुए है अतः उनमेंसे किसके द्वारा यह रचा गया है, विशेष प्रमाणोंके अभावमें यह कहना शक्य नहीं है। किन्तु प्रभाचन्द्रके साथ जो बृहत् विशेषण लगाया गया है, वह अवश्य ही किसी अन्य प्रभाचन्द्रसे निवृत्ति करके सूत्रकार प्रभाचन्द्रका महत्त्व व्यापन करनेके लिये लगाया गया प्रतीत होता है।

प्रभाचन्द्र विरचित अर्हत्प्रवचन—प्रभाचन्द्र नामके किसी आचार्यके द्वारा रचित एक अन्य सूत्र ग्रन्थ भी है जिसमें उसका नाम अर्हत्प्रवचन[1] दिया है। शायद इन्हींसे विच्छेद करनेके लिये उक्त प्रभाचन्द्रके नाममें बृहत् विशेषण लगाया गया हो।

इस अर्हत्प्रवचनमें केवल पाँच अध्याय हैं और उनमें क्रमसे ११ + २० + २० + १५ + १८ = ८४ सूत्र है। इसमें वर्णित विषय भी यद्यपि तत्त्वार्थ सूत्रके अनुरूप ही है किन्तु उसका कोई क्रम नहीं है। दूसरे उसमें प्रतिपाद्य वस्तुओंकी केवल संख्या बतलाई है। जैसे पहले अध्यायमें लिखा है—'तत्रेमे षड्जीव निकायाः ॥१॥ पंच महाव्रतानि ॥३॥ पंचाणुव्रतानि ॥३॥ त्रीणि गुणव्रतानि ॥४॥ चत्वारि शिक्षाव्रतानि ॥५॥ तिस्त्रो गुप्तयः ॥६॥ पंचसमितयः ॥७॥ आदि। अर्थात् (तत्र) अर्हत् प्रवचनमें ये षड़जीवोंके छै निकाय हैं, पाँच महाव्रत हैं, पाँच अणुव्रत हैं, तीन गुणव्रत हैं, चार शिक्षाव्रत हैं, तीन गुप्तियाँ हैं, पाँच समितियाँ हैं। इस तरह केवल संख्या मात्र बतलाई है। और विषय वर्णन का कोई क्रम नहीं है।

दूसरे अध्यायमें लिखा हैं—सात तत्त्व हैं चार निक्षेप हैं।······· दो तप हैं आदि। तीसरे अध्यायके उत्तरार्धमें चौबीस तीर्थङ्कर, नौ बलदेव, नौ वासुदेव आदि बतलाये हैं। चौथे अध्यायका प्रारम्भ 'देवाश्चतुर्णिकायाः' सूत्रसे होता है। बड़े तत्त्वार्थसूत्रका यही एक सूत्र इसमें ज्योंका त्यों अपने स्थानपर पाया जाता है। संभव है अर्हत्प्रवचनके रचयिता प्रभाचन्द्रने उक्त प्रभाचन्द्रका त वार्थ-सूत्र देखा हो। अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थ वार्तिकमें (२-३८) 'उक्तं च अर्हत्-प्रवचने' लिखकर उसके एक सूत्रको उद्धृत किया है जिससे प्रतीत होता है कि अर्हत्प्रवचन नामका भी कोई सूत्र ग्रन्थ था। शायद उसीके अनुकरणपर प्रभाचन्द्रने अपने इस सूत्र ग्रन्थको 'अर्हत्प्रवचन' नाम दिया है। और उसका प्रारम्भ करते हुए लिखा है—'अर्हत्प्रवचनसूत्रं व्याख्यास्यामः तद्यथा—'अर्थात् 'अर्हत्प्रवचन सूत्रका व्याख्यान करेंगे। प्रथम सूत्रके प्रारम्भमें आगत 'तत्र' पद उसीका निर्देश करता है। जिससे प्रकट होता है कि अर्हत्प्रवचनमें जो जो मुख्य तत्त्व हैं उन्हें इसमें बतलाया गया हैं।

माघनन्दि योगीन्द्ररचित शास्त्रसार[2] समुच्चय—एक तीसरा सूत्र ग्रन्थ माघनन्दि योगीन्द्र विरचित है। उसमें उसका नाम शास्त्रसार समुच्चय दिया है।

---

१. यह अर्हत्प्रवचन मा० ग्र० माला बम्बईसे प्रकाशित सिद्धान्तसारादि संग्रहमें संगृहीत है।

२. यह ग्रन्थ भी मा०ग्र० मालासे प्रकाशित सिद्धान्तसारादिसंग्रहमें संग्रहीत है।

इसमें चार अध्याय हैं और क्रमसे २० + ४५ + ६६ + ६५ = १९६ सूत्र हैं। इसकी दशा भी अर्हत्प्रवचन जैसी ही है। अर्हत्प्रवचनके तीसरे अध्यायके प्रारम्भमें त्रिविध: काल: ॥१॥ षड्‌विध: काल समय: ॥२॥ ये दो सूत्र हैं। शा० सा० समु० का प्रारम्भिक सूत्र है—'अथ त्रिविध: कालो द्विविधो षड्‌विधो वा।'

उसके अनेक सूत्र 'अर्हत्प्रवचन'से मिलते हैं। दूसरे अध्यायमें तीनों लोकोंका संख्यात्मक वर्णन है। तीसरे और चौथे अध्यायमें बिना किसी क्रमके विविध विषयोंका संख्यात्मक कथन है यथा—'मौन समय सात हैं। श्रावक धर्म चार प्रकारका है। जैनाश्रम भी चार प्रकारका है, ब्रह्मचारी पाँच प्रकारके हैं। आर्य कर्म छै हैं। पूजाके दस प्रकार है। क्षत्रियके दो प्रकार हैं। भिक्षु चार प्रकारके हैं। मुनि तीन प्रकारके हैं।'

इस तरह केवल भेदोंकी संख्या मात्र बतलाई है। उनके नाम नहीं बतलाये हैं। इसके अन्तमें एक श्लोक[1] है जिसमें ग्रन्थकारने शास्त्रसार समुच्चयको विचित्रार्थ कहा है। सचमुचमें इसमें विचित्र अर्थोंका कथन है। तथा ग्रन्थकारने अपना नाम श्री माघनन्दि योगीन्द्र बतलाया है और अपनेको सिद्धान्तरूपी समुद्रके लिये चन्द्रमा कहा है।

स्व० श्री युत प्रेमीजीने लिखा[2] है कि कर्नाटक कवि चरित्रके अनुसार एक माघनन्दिका समय वि० सं० १३१७ है और उन्होंने शास्त्रसार समुच्चयपर एक कनड़ी टीका भी लिखी है। और माघनन्दि श्रावकाचारके कर्ता भी यही हैं। इससे ज्ञात होता है कि शास्त्रसार समुच्चयके कर्ता माघनन्दि इनसे पहले हुए हैं। अत: उनका समय विक्रमकी चौदहवीं शताब्दीसे पहले होना चाहिये।

टीकाकार जयसेन

कुन्दकुन्दके समयसार, पञ्चास्तिकाय और प्रवचनसारके टीकाकार आचार्य जयसेनके सम्बन्धमें समयसारकी टीकाके प्रसंगसे पहले लिख आये हैं। इन्होंने पंचास्तिकायकी टीका पहले रची, फिर प्रवचनसारकी टीका रची। शायद इसीसे पंचास्तिकायकी टीकाके आरम्भमें प्रथम गाथाका व्याख्यान करके उन्होंने मंगल, की विस्तारसे चर्चाकी है और ग्रन्थान्तरोंसे तत्सम्बन्धी अनेक गाथाएँ और श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किये हैं। जिनके अनुसन्धानसे प्रतीत होता है कि जयसेनने धवला टीका तथा आप्तपरीक्षाका उसमें विशेष रूपसे उपयोग किया है।

---

१. 'श्री माघनन्दियोगीन्द्र: सिद्धान्ताम्बोधिचन्द्रमा:। अचीरचद्विचित्रार्थशास्त्रसारसमुच्चयम् ॥१॥'

२. जै० सा० इ०, पृ० ४१५-१६।

अमृतचन्द्रकी टीकाके सम्मुख होते हुए भी जयसेनकी व्याख्यान पद्धति उससे भिन्न है। अमृतचन्द्रकी दोनों टीकाओंके नाम तत्त्वदीपिका और तत्त्वप्रदीपिका हैं और जयसेनाचार्यकी दोनों टीकाओंका नाम तात्पर्यवृत्ति है। ये नाम भेद भी दोनोंकी व्याख्या पद्धतिके भेदको बतलाते हैं। जयसेन मंगल गाथाओंका व्याख्यान करके ग्रन्थके मुख्य अधिकारों और अवान्तर अधिकारोंकी गाथा संख्या पूर्वक विषय विभाग बतला देते हैं और साथमें अमृतचन्द्रको मान्य गाथा संख्याका भी निर्देश कर देते हैं।

यथा, पञ्चास्तिकायकी आद्य दो गाथाओंका व्याख्यान करके उन्होंने अपने 'उपोद्घात' में बतलाया है कि प्रथम महाधिकारमें पंचास्तिकाय और छह द्रव्योंका वर्णन है तथा उसमें १११ गाथाएँ हैं और अमृतचन्द्रकी टीकाके अभिप्रायानुसार १०३ गाथाएँ हैं। उसके आगे दूसरे महाधिकारमें सात तत्त्वों और नौ पदार्थोंका व्याख्यान है उसमें ५० गाथाएँ है और अमृतचन्द्रकी टीकाके अनुसार ४८ गाथाएँ हैं। तथा तीसरे अधिकारमें मोक्षमार्गका कथन है। उसमें २० गाथाएँ हैं। इसी तरह आगे प्रत्येक महाधिकारके अवान्तर अधिकारोंका कथन किया है। उसके पश्चात् प्रत्येक गाथाका शब्दशः व्याख्यान किया है शब्दशः व्याख्यानके पश्चात् जहाँ आवश्यक होता है वहाँ वह 'तथाहि' आदि लिखकर विशेष कथन करते हैं और 'अत्राह शिष्यः' लिखकर शंकाका उत्थान तथा 'परिहारमाह' लिखकर उसका समाधान भी करते हैं। यही पद्धति प्रवचनसारकी टीकामें भी अपनाई गई है।

दोनों टीकाओंमें अनेक प्रासंगिक चर्चाएँ भी यथास्थान की गई हैं। यथा, पञ्चास्तिकायमें गाथा १४ की व्याख्यामें सप्तभंगीकी, गाथा २७ की व्याख्यामें जीवकी, गाथा २९ की व्याख्यामें सर्वज्ञताकी चर्चा की है। इसी तरह प्रवचनसार-में भी पृ० २८ पर केवलि भुक्तिकी कुछ चर्चाएँ की गई है। दूसरे, जयसेनजी अपनी टीकाओंमें ग्रन्थान्तरोंसे बहुतसे उद्धरण देते हैं। सबसे अधिक उद्धरण पंचास्तिकायकी टीकामें है। इसमें कुछ ग्रन्थोंका नामोल्लेख[1] भी किया है और ग्रन्थकारोंमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव[2] और पूज्यपादका[3] नामोल्लेख किया है। जयसेनके सम्मुख प्रभाचन्द्रकृत वृत्तियाँ भी थीं ऐसा बराबर प्रतीत होता है।

---

१. द्रव्यसंग्रह (पृ० ६-७), चरित्रसार और सर्वार्थसिद्धि टिप्पण (पृ० २१९), तत्त्वानुशासन (पृ० २१२, २५३), उपासकाध्ययन, आचार, आराधना, त्रिशष्टिशलाका पुरुष पुराण, त्रिलोकसार और लोकविभाग (पृ० २५४) गोम्मटशास्त्र (पृ० १८२), मोक्षप्राभृत (पृ० २११)।—पञ्चा० टी०।

२. पञ्चास्ति० पृ० २११।

३. वही, पृ० २२०।

ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रह टीका

पीछे अध्यात्म प्रकरणमें परमात्म प्रकाशकी वृत्तिके प्रसंगसे ब्रह्मदेवजीकी शैली तथा समयादिकी चर्चा कर आये हैं। उन्हीं ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रह टीका भी है। ब्रह्मदेवजी जयसेनकी शैलीसे प्रभावित हैं यह भी पहले लिख आये हैं। फिर भी उनकी अपनी एक विशेषता है और उनकी उस विशेषताके दर्शन द्रव्यसंग्रह-की टीकामें स्पष्ट रूपसे होते हैं। वह केवल गाथाका शाब्दिक व्याख्यान ही नहीं करते, बल्कि उसके पश्चात् 'तथाहि' या 'इतो विस्तरः' आदि लिखकर इसका विशेष व्याख्यान भी करते हैं और उसमें प्रकृत चर्चासे सम्बद्ध विषयका पांडित्यपूर्ण विवेचन करते हैं। नीचे ऐसे विवेचनोंका कुछ आभास कराया जाता है—गाथा ५ में जैन आगमिक परम्पराके अनुसार मति श्रुतज्ञानको परोक्ष कहा है। किन्तु टीकामें उन्हें परोक्ष अथवा सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है। 'अत्राह शिष्यः' करके उसपर यह शंकाकी गई है कि तत्त्वार्थसूत्रमें तो मतिश्रुत-को परोक्ष कहा है आपने प्रत्यक्ष कैसे कहा। 'परिहारमाह' लिखकर उसका समाधान करते हुए कहा है कि तत्त्वार्थसूत्रमें उत्सर्ग कथन है और यह अपवाद कथन है। जिस मतिज्ञानको तत्त्वार्थमें परोक्ष कहा है तर्क शास्त्रमें उसे ही सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष कहा है।

यह कथन अकलंकदेवकी उक्तिको लक्ष्यमें रखकर किया है। अकलंकदेवने ही अपने लघीयस्त्रय आदि ग्रन्थोंमें इन्द्रियजन्य ज्ञानको व्यवहारसे प्रत्यक्ष कहा है।

इसी तरह गाथा ४४ की व्याख्यामें लिखा है—'एवं तर्काभिप्रायेण सत्ता-वलोकनदर्शनं व्याख्यातम् अत ऊर्ध्वं सिद्धान्ताभिप्रायेण कथ्यते।' अर्थात् 'सत्ता-सामान्यके अवलोकनको दर्शन कहते हैं' दर्शनकी यह व्याख्या तो तर्कशास्त्रके अभिप्रायसे की है। आगे सिद्धान्तके अभिप्रायसे दर्शनका स्वरूप कहते हैं।'

वीरसेन स्वामीकी धवला और जयधवला टीकाओंके प्रकाशमें आनेसे पूर्व दर्शनका सिद्धान्ताभिमत स्वरूप द्रव्य संग्रहकी ब्रह्मदेव रचित टीकामें ही देखा जाता था। उनके प्रकाशमें आने पर यह ज्ञात हुआ कि ब्रह्मदेवने उक्त स्वरूप धवला—जयधवला टीकाओंके आधार पर लिखा है। किन्तु ब्रह्मदेवने सिद्धान्त ग्रन्थोंका ठोस अनुगम किया था ऐसा प्रतीत नहीं होता। क्योंकि उन्होंने गाथा १३ की टीकामें 'गुणजीवा पज्जति' आदि गाथा को—धवल, जयधवल और महा-धवल नामक तीन सिद्धान्त ग्रन्थोंका बीजपद कहा है। किन्तु उनका यह कथन ठीक नहीं है। अस्तु,

गाथा ३५ की टीकामें बारह अनुप्रेक्षाओंका स्वरूप बतलाते हुए लोकानुपेक्षाके अन्तर्गत अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोकका पूरा वर्णन दिया है जो प्राय: त्रिलोकसारका ऋणी है। उसमें त्रिलोकसारके नामोल्लेखके साथ ही साथ कई गाथाएँ भी उससे उद्धृतकी गई हैं। गाथा ४१ की टीकामें सम्यग्दर्शन और उसके २५ मलोंका विस्तृत कथन किया है। इसी तरह समस्त टीका सैद्धान्तिक विषयोंकी चर्चाओंसे भरी हुई है।

गाथा ४२ की टीकाके अन्तमें उन्होंने लिखा[1] है कि—यदि इस सविकल्प और निर्विकल्प तथा स्व पर प्रकाश ज्ञानका व्याख्यान आगम, अध्यात्म और तर्कशास्त्रके अनुसार विशेषरूपसे किया जाये तो बड़ा विस्तार होता है और यह ग्रन्थ अध्यात्मशास्त्रका है अतः यहाँ विशेष व्याख्यान नहीं किया। इससे भी प्रकट होता है कि वह आगम और अध्यात्मके विशिष्ट अभ्यासी होनेके साथ ही साथ तर्कशास्त्रमें भी निपुण थे। गाथा ५० की टीकामें उन्होंने भट्ट चार्वाक (?) के द्वारा सर्वज्ञका निराकरण कराकर उसका खण्डन किया है। किन्तु वास्तवमें तो वह अध्यात्मरसिक थे। और अध्यात्म वर्णनकी उनकी शैली अमृतचन्द्रकी अनुगामिनी है। उसीके दर्शन द्रव्यसंग्रहकी टीकामें यथास्थान होते हैं।

इस टीकामें उद्धरण पद्योंकी बहुतायत है। अनेक पद्योंके स्थलोंका पता ज्ञात नहीं हो सका, फिर भी जो स्थल ज्ञात हो सके उनमें कुन्दकुन्दके ग्रन्थ, परमात्म प्रकाश, योगसार, मूलाचार, भगवती आराधना, इष्टोपदेश, यशस्तिलक, आप्तस्वरूप, त्रिलोकसार और तत्त्वानुशासनका नाम उल्लेखनीय है।

गाथा ३४ की टीकामें पञ्चपरमेष्ठी और पञ्चनमस्कार नामक ग्रन्थोंका उल्लेख है। पञ्चनमस्कार नामक ग्रन्थको सिद्धचक्र आदि देवार्चनविधिरूप मंत्रवादसे सम्बद्ध बतलाया है। यथा—

'विस्तरेण पञ्चपरमेष्ठी ग्रन्थ कथित क्रमेण, अतिविस्तारेण तु सिद्धचक्रादिदेवार्चनविधिरूपमंत्रवादसम्बन्धिपञ्चनमस्कारग्रन्थे च'।

गाथा ४९ की टीकामें पञ्चनस्कार ग्रन्थका परिमाण बारह हजार श्लोक जितना बतलाया है अतः यह कोई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होना चाहिये।

रचनाकाल

टीकाकार ब्रह्मदेवजीके सम्बन्धमें कहीं से कुछ ज्ञात नहीं होता। उनके

१. 'इदं तु···व्याख्यानं यद्यागमाध्यात्मतर्कशास्त्रानुसारेण विशेषेण व्याख्यायते तदा महान् विस्तारो भवति। स चाध्यात्म शास्त्रत्वान्न कृत इति।'

समयके सम्बन्धमें पहले लिख भी आये हैं। जैसलमेरके भण्डारमें ब्रह्मदेवकी द्रव्य संग्रह वृत्तिकी एक प्रति मौजूद है जो सम्वत् १४८५ में माण्डवमें लिखी गई थी। अतः ब्रह्मदेवजीके समय की अन्तिम अवधि सम्वत् १४८५ से पूर्व ठहरती है और उन्होंने द्रव्य संग्रह वृत्तिमें धारा नरेश राजा भोजके समयमें द्रव्य संग्रहके रचे जाने का उल्लेख किया है, अतः वह विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीके पश्चात् हुए हैं। उनकी टीकाओंपर जयसेनका बहुत प्रभाव है। जयसेनने अपनी टीकाएँ वि० सं० १२०० के पश्चात् रची हैं क्योंकि अपनी पञ्चास्तिकाय टीका (पृ०८) में उन्होंने वीरनन्दिके आचारसारके चौथे अध्यायके ९५-९६ नम्बरके पद्य उद्धृत किये हैं और वीरनन्दिने अपने आचारसारकी कनड़ी टीका वि० सं० १२१० में पूर्ण की थी। अतः चूंकि जयसेन विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके पूर्वार्धमें हुए हैं। इस लिये ब्रह्मदेव उसके पश्चात् ही हुए। द्रव्य संग्रह गाथा १३ की टीकामें चौथे गुण स्थानका जो वर्णन है। वह पं० आशाधरजीके एक श्लोकसे प्रायः शब्दशः मिलता है। यथा—

'निजपरमात्मद्रव्यमुपादेयम् इन्द्रियसुखादि परद्रव्यं हि हेयमित्यर्हत्सर्वज्ञ-प्रणीतनिश्चयव्यवहारनयसाध्यसाधकभावेन मन्यते परं किन्तु भूमिरेखादि सदृश-क्रोधादिद्वितीयकषायोदयेन मारणनिमितं तलवरगृहीततस्करवदात्मनिन्दासहितः सन्निन्द्रियसुखमनुभवतीत्यविरतसम्यग्दृष्टेलक्षणम्।' —द्रव्य सं० वृत्ति।

इसकी तुलना पं० आशाधरजीके नीचे लिखे श्लोकसे कीजिये—

भूरेखादिसदृक्कषायवशगो यो विश्वदृश्वाज्ञाया
हेयं वैषयिकं सुखं निजमुपादेयं त्विति श्रद्दधत्।
चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणेवाऽऽत्मनिन्दादिमान्
शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नोत्तप्यते सोऽप्यघैः ॥३३॥

—सागारधर्मामृत अध्या० १।

इतना साम्य एकके द्वारा दूसरेको देखे विना अकस्मात् संभव नहीं है। किन्तु किसने किसको देखा है, यह निश्चित प्रमाणोंके बिना कह सकना संभव नहीं है। पं० आशाधरजीने अपने सागारधर्मामृतकी टीका वि० सं० १२९६में पूर्ण की थी। अतः वह विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके उत्तरार्धमें हुए हैं यह सुनिश्चित है। अब यदि उक्त श्लोक उन्होंने द्रव्यसंग्रह वृत्तिको देखकर रचा है तब तो ब्रह्मदेव जयसेन और आशाधरके मध्यमें विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीमें हुए हैं। और यदि ब्रह्मदेवने सागार धर्मामृतको देखा है तो यह विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीके पश्चात् हुए हैं। इसमेंसे प्रथमकी ही विशेष संभावना है।

अन्तमें एक बात और भी लिख देना आवश्यक है। ब्रह्मदेवजीने अपनी

टीकामें द्रव्य संग्रहकी किसी अन्य वृत्तिका कोई उल्लेख नही किया है। और न उनकी टीका पर द्रव्य संग्रह वृत्तिका कोई विशेष प्रभाव ही परिलक्षित होता है। तथापि गाथा १० की टीकामें जो समुद्घात तथा उसके सात भेदोंका स्वरूप बतलाया गया है वह दोनों टीकाओंमें शब्दशः मिलता है। किन्तु प्रभाचन्द्रकृत वृत्तिमें उसकी अन्य शैली जितनी सुव्यवस्थित है उतनी ब्रह्मदेवकी टीकामें नहीं है। यथा—'कोऽत्र दृष्टान्तः यथा प्रदीपो महद्भाजनप्रच्छादितस्तद्भाजनानन्तरं प्रकाशयति लघुभाजनप्रच्छादितस्तद् भाजनानन्तरं प्रकाशयति इति। किन्तु असहमुहदो समुद्घात सप्तकं वर्जयित्वा तत्राणुगुरुत्वाभावः। समुद्घातभेदानाह—वेयणकसाय ।' [—प्रभा० वृ०] 'कोऽत्र दृष्टान्तः···(अक्षरशः समान है)··· प्रकाशयति। पुनरपिकस्मात् असमुहदो असमुद्घातात् वेदनाकषायविक्रिया समुद्घातवर्जनात्। तथा चोक्तं सप्तसमुद्घातलक्षणं—वेयणकसाय···।'

रेखांकित पदोंका मिलान करनेसे उक्त बात स्पष्ट हो जाती है। अतः ब्रह्मदेवजीने प्रभाचन्द्रकृत वृत्तिको देखा हो यह संभव हो सकता है।

भास्कर नन्दिकी तत्त्वार्थ[1] सूत्रवृत्ति

तत्त्वार्थ सूत्रकी यह वृत्ति एक तरहसे पूज्यपादकी सर्वार्थ सिद्धिका ही रूपान्तर है। टीकाकारने उसीका अक्षरशः अनुसरण किया है और यत्र-तत्र अकलंक देवके तत्त्वार्थ वार्तिक तथा कुछ अन्य ग्रन्थकारोंके ग्रन्थोंसे भी उसमें आदान किया गया है। किन्तु जो कुछ लिया गया है उसको सुन्दर ढंगसे सुनियोजित करके ऐसा रूप दिया गया है जिसे देखकर टीकाकारकी विद्वत्ता तथा सुरूचिपूर्ण शैलीका प्रभाव पाठकपर पड़ता है।

जैसे, प्रथम सूत्रकी व्याख्या करते हुए टीकाकारने अन्य वादियोंके द्वारा माने गये मोक्षके उपायोंका चित्रण तथा समीक्षा करते हुए सोमदेव रचित यशस्तिलक चम्पूके छठे आश्वाससे कई पृष्ठ ज्योंके त्यों और यथायोग्य परिवर्तनके साथ अपना लिये हैं। सूत्र ३-१० की व्याख्यामें तत्त्वार्थ वार्तिकसे विदेह क्षेत्रका वर्णन संक्षेपमें बड़े सुन्दर ढंगसे दिया गया है। सूत्र ३-३८ की व्याख्यामें भी तत्त्वार्थ वार्तिकसे लौकिक और लोकोत्तर प्रमाणोंका संकलन किया गया है। इसी तरह सर्वार्थ सिद्धि टीकाके अनुसरणके साथ-साथ तत्त्वार्थ वार्तिकके भी आवश्यक अंशोंको इसमें संगृहीत कर किया गया है। फिर भी इसका प्रमाण सर्वार्थसिद्धिसे बड़ा नहीं है। और संस्कृत भाषा तो सर्वार्थसिद्धि तथा तत्त्वार्थ वार्तिकके ही अनुरूप है।

१. इसका प्रकाशन मैसूर यूनिवर्सिटीसे हुआ है।

इस वृत्तिमें जिसको टीकाकारने सुखबोध वृत्ति नाम दिया है, एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि सर्वार्थ सिद्धिके प्रारम्भमें पाये जाने वाले मंगल श्लोक 'मोक्ष मार्गस्य नेतारं' आदिको तत्त्वार्थ सूत्रका मंगल श्लोक बतलाकर उसका भी व्याख्यान किया है। यथा—'········तत्त्वार्थसूत्रपदविवरणं क्रियते तत्रादौ नमस्कार श्लोकः····· ····अस्य समुदायार्थः कथ्यते।'

इससे पूर्वकी किसी टीकामें न तो इस मंगल श्लोकको तत्त्वार्थ सूत्रका मंगल श्लोक कहा है और न किसीने उसकी व्याख्या ही की है। किन्तु इसके पश्चात् जो वृत्तियां रची गई हैं उनमें उक्त मंगल श्लोकको तत्त्वार्थ सूत्रका ही मानकर उसकी व्याख्या की गई है जैसा कि आगे ज्ञात हो सकेगा।

इस टीकामें ग्रन्थान्तरोंसे उद्धृत पद्योंकी संख्या भी पचाससे कम नहीं है। उनमेंसे अनेकोंका मूलस्थल ज्ञात नहीं हो सका। जिन स्थलोंको जाना जा सका है उनमें सोमदेवके यशस्तिलक चम्पू (वि० सं० १०१६) नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (विक्रमकी ग्यारहवीं शताब्दीका पूर्वार्ध) के त्रिलोकसार और गोम्मटसार, अमित गतिके पञ्च संग्रह (वि० सं० १०७३) और वसुनन्दि (विक्रमकी बारहवीं शती) के श्रावकाचारका नाम उल्लेखनीय हैं।

इस टीकाके रचयिताका नाम पण्डित भास्कर नन्दि है। टीकाकी अन्तिम प्रशस्तिमें टीकाकारने अपने गुरुका नाम जिनचन्द्र दिया है और उन्हें सिद्धान्तका पारगामी तथा चारित्रसे भूषित बतलाया है। तथा पुष्पिकाओंमें महासैद्धान्त जिनचन्द्र भट्टारक नाम दिया है। प्रशस्तिमें जिनचन्द्र भट्टारकके गुरुका नाम सर्वसाधु दिया है और लिखा है कि सर्वसाधुने संन्यास पूर्वक मरण किया है। इसके सिवाय टीकाकारने अपने सम्बन्धमें और कुछ भी नहीं लिखा।

जिनचन्द्र[2] नामके अनेक विद्वान हो गये हैं। एक जिनचन्द्र चन्द्रनन्दिके शिष्य थे। कन्नड़ कवि पोन्नने (९५० ई०) अपने शान्ति पुराणमें उनका उल्लेख किया है। किन्तु यह जिनचन्द्र चन्द्रनन्दी मुनिके शिष्य थे। एक जिनचन्द्र सिद्धान्त सारके रचयिता हैं। उनके सम्बन्धमें भी कुछ विशेष ज्ञात नहीं होता। एक जिनचन्द्र धर्मसंग्रहश्रावकाचारके कर्ता मेधावीके गुरु और पाण्डव पुराणके कर्ता शुभचन्द्राचार्यके शिष्य थे। तिलोय पण्णत्तिकी दान प्रशस्तिमें मेधावीने अपनी गुरु

१. तस्यासीत् सुविशुद्धदृष्टिविभवः सिद्धान्तपारङ्गतः, शिष्यः श्री जिनचन्द्र नाम कालितचारित्रभूषान्वितः। शिष्यो भास्करनन्दिनामविबुधस्तस्याभवत् तत्त्ववित्, तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्त्वार्थवृत्तिः स्फुटम्॥'

२. जैं० ग्र० प्र० सं० (भाग १) की प्रस्ता० पृ० ३५। जैं० सा० इ०, पृ० ३७८। तत्त्वा० सुख० वृत्तिकी प्रस्ता० पृ० ४७।

परम्पराका परिचय देते हुए उन्हें शुभचन्द्रका शिष्य बतलाया है। यह दान प्रशस्ति वि० सं० १५१९ में लिखी गई है और उस समय जिनचन्द्र मौजूद थे। चूंकि यह जिनचन्द्र शुभचन्द्रके शिष्य थे अतः यह भी भास्करनन्दिके गुरु नहीं हो सकते।

चौथे जिनचन्द्र वे हैं जिनका नाम श्रवणबेलगोलाके शिला लेख नं० ५५-(६९) में द्वितीय माघनन्दि आचार्यके पश्चात् आया है। पं० ए० शान्तिराज शास्त्रीने सुखबोध वृत्तिकी अपनी प्रस्तावनामें बिना किसी उपपत्तिके इन्हीं जिनचन्द्र को भास्करनन्दिका गुरु होनेकी संभावना की है और लिखा है कि वह माघनन्दि आचार्य १२५० में जीवित थे ऐसा उल्लेख है। अतः किन्हीं विद्वानोंने उनके उत्तर काल भावी जिनचन्द्राचार्यका काल १२७५ माना है। किन्तु शास्त्रीजीने यह नहीं स्पष्ट किया कि यह कौन सम्वत् है।

श्रवणबेलगोलाके उक्त शिलालेखका संभावित समय लगभग शक सं० १०२२ (वि० सं० ११५७) है। उसमें उल्लिखित माघनन्दिका समय १२५० कैसे हो सकता है। कर्नाटक कविचरितेके अनुसार एक माघनन्दिका समय ई० सन् १२६० (वि० सं० १३१७) है। वे माघनन्दि श्रावकाचारके कर्ता हैं और उन्होंने शास्त्रसारसमुच्चयपर कनड़ीमें टीका लिखी है। शास्त्रीजीका अभिप्राय शायद उन्हींसे है। किन्तु उक्त शिलालेखमें उल्लिखित माघनन्दि उनसे भिन्न हैं और इसलिए उनके पश्चात् उल्लिखित जिनचन्द्रका भी वह समय नहीं हो सकता जो शास्त्रीजीने लिखा है। और बिना किसी आधारके इन जिनचन्द्र-को भास्करनन्दिका गुरु भी नहीं माना जा सकता। उक्त शिलालेखमें जिनचन्द्र-को व्याकरणमें पूज्यपादके तुल्य, तर्कमें अकलंकके तुल्य और कवितामें भारविके तुल्य बतलाया है। किन्तु भास्करनन्दिके गुरु तो महा सैद्धान्त थे, उसका शिला-लेखमें कोई निर्देश नहीं है। अतः उसके आधारपर भास्करनन्दिका समय निर्धारित नहीं किया जा सकता। उसका आधार तो उनकी टीका ही हो सकती है।

भास्करनन्दि पूज्यपाद, अकलंक और विद्यानन्दके पश्चात् हुए हैं यह उनकी टीकाके मंगल श्लोकमें आगत 'विद्यानन्दाः' पदसे स्पष्ट है। उन्होंने यशस्तिलक (वि० सं० १०१७), गोम्मटसार, संस्कृत पञ्चसंग्रह (वि० सं० १०७३) और वसुनन्दि श्रावकाचारसे पद्य उद्धृत किये हैं। वसुनन्दि विक्रम-की बारहवीं शताब्दीके विद्वान हैं। अतः भास्करनन्दि उसके पश्चात् ही किसी समय हुए हैं।

तत्त्वार्थसूत्रकी दो अप्रकाशित टीकाएँ

तत्त्वार्थसूत्र अपनी विशेषताओंके कारण अपने जन्मकालसे ही अत्यधिक

लोकप्रिय रहा है। उसपर पूज्यपाद देवनन्दिने सर्वार्थसिद्धि नामक टीका संस्कृतमें रची। और सर्वार्थसिद्धिको गर्भित करके अकलंकदेवने तत्त्वार्थवार्तिक जैसा महान् दार्शनिक ग्रन्थ रचा। तथा स्वामी विद्यानन्दने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ग्रन्थ रचा। इन तीनों टीका ग्रन्थोंमें तत्त्वार्थसूत्रके रहस्योंके उद्घाटनके साथ ही साथ तत्कालीन जैन तथा जैनेतर विचारधाराओंका चित्रण तथा निरसन बड़े पाण्डित्यपूर्ण ढंगसे किया गया है।

इन तीनों महान् टीका ग्रन्थोंके पश्चात् भी तत्त्वार्थसूत्रपर अनेक छोटी बड़ी टीकाएँ विभिन्न ग्रन्थकारोंने रचीं, किन्तु उन सबमें प्रायः सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकका ही चर्वितचर्वण पाया जाता है। ऐसी दो टीकाएँ मुझे देखनेका सौभाग्य प्रथम वार ही प्राप्त हुआ है। ये दोनों टीकाग्रन्थ देहलीके धर्मपुराके लाला हरसुखराय शुगनचन्दजीके मन्दिरके शास्त्र भण्डारसे लाला पन्नालालजी अग्रवाल द्वारा प्राप्त हुए थे।

इनमेंसे एक टीका के रचयिता पं० योगदेव हैं। इस टीकाका नाम सुखबोध है। टीकाका आरम्भ करते हुए उन्होंने महावीर स्वामीको नमस्कार करते हुए लिखा है—

विनष्टसर्वकर्माणं मोक्षमार्गोपदेशकम्।
तद्गुणोद्भूतिलाभाय सर्वज्ञं जगतो गुरुम् ॥१॥
आलम्बनं भवाम्भोधौ पततां प्राणिनां परम्।
प्रणिपत्य महावीरं लब्ध्वा(ब्धा)ऽनन्त चतुष्टयम् ॥२॥
संक्षेपितागमाव्यासां (?) मुग्धबुद्धि प्रबोधिकाम्।
सुखबोधाभिधां वक्ष्ये वृत्तिं तत्त्वार्थगोचराम् ॥३॥

अर्थात्—'मोक्षमार्गके उपदेष्टा, सर्वकर्मोंसे रहित, जगतके गुरु, संसाररूपी समुद्रमें गिरे हुए प्राणियोंके आलम्बन, अनन्त चतुष्टयके धारी भगवान महावीर-को उन गुणोंकी प्राप्तिके लिए नमस्कार करके, मुग्धबुद्धि जनोंके प्रबोधके लिए सुखबोध नामकी तत्त्वार्थसूत्रकी संक्षिप्त वृत्ति कहूँगा।'

आगे लिखा है—'पादपूज्य-विद्यानन्दाभ्यां यत् वृत्तिद्वयमुक्तं तत् केवल-तर्कागमपाठकैरबलाबालादिभिर्ज्ञातुं न शक्यते। ततः संस्कृत-प्राकृत-पाठकानां सुखज्ञानकारणं वृत्तिरियमभिधीयते।'

अर्थात्—पादपूज्य और विद्यानन्दने जो दो वृत्तियाँ रची हैं, वे तर्क और आगमसे भरपूर हैं। अतः उनसे अनभिज्ञ स्त्रियाँ और बालजन उन्हें नहीं पढ़ सकते। इस लिए संस्कृत और प्राकृतके पाठकोंको सुखपूर्वक ज्ञान करानेके लिए यह वृत्ति रची जाती है।'

इस तरह मंगल, वृत्तिका नाम तथा उद्देश बतलानेके पश्चात् 'मोक्षमार्गस्य नेतारम्' आदि श्लोककी व्याख्यासे इस वृत्तिका आरम्भ होता है। यह श्लोक सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें पाया जाता है। किन्तु पूज्यपादने उसकी व्याख्या नहीं की और तत्त्वार्थवार्तिक तथा तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिकमें तो उक्त श्लोक ही नहीं आता है। जिससे प्रतीत होता है कि उक्त मंगल श्लोक सर्वार्थसिद्धिकारका होना चाहिए। किन्तु उत्तरकालीन प्रायः सभी टीकाकारोंने, जो विक्रमकी तेरहवीं शताब्दीमें तथा उसके पश्चात् हुए हैं, उक्त मंगल श्लोकको सूत्रकारका मानकर उसकी भी व्याख्या की है।

योगदेवकी वृत्ति सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिकको ही सामने रखकर रची गई है; क्योंकि उसका दोनोंके साथ शब्दशः मेल पाया जाता है। फिर भी उन्होंने पादपूज्यके साथ अकलंकदेवके नामका उल्लेख नहीं किया, यह देखकर आश्चर्य होता है। वृत्ति संस्कृतमें है और सूत्रके मात्र भावार्थको स्पष्ट कर देना ही उसका प्रयोजन जान पड़ता है। कहीं-कहीं प्रसंगवश कुछ विशेष कथन भी किया गया है, किन्तु वह सब उक्त दोनों ग्रन्थोंका ही ऋणी है। एक तरहसे इसे सर्वार्थ सिद्धिका संक्षिप्त संस्करण कह सकते हैं। भाषा साधारण है, शब्दोंमें उलटफेर करदेनेके कारण सर्वार्थसिद्धिका माधुर्य और सौष्ठव इसमें नहीं है।

परिचयके लिए नीचे दो सूत्रोंकी टीकाएँ दी जाती हैं—

१. तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ॥२॥

येन स्वरूपेण जीवाद्यर्थो व्यवस्थितस्तेनैव प्रतीयमानतत्त्वार्थः, तस्य श्रद्धानं तत्त्वार्थे विपरीताभिनिवेशाभावात् सम्यग्दर्शनं सम्यक्त्वं ॥

२. -प्रमाणनयैरधिगमः ॥

प्रमाणनयानग्रे आचार्यो विशेषेण भणिष्यति। प्रमाणेन नयैश्च जीवादि-तत्त्वार्थानांमधिगमो निश्चयो भवति।

उक्त दो उद्धरणोंसे यह नहीं समझ लेना चाहिए कि सब सूत्रोंकी टीका इतनी संक्षिप्त है। ऐसी संक्षिप्त टीकाके उदाहरण तो कम ही हैं। इसकी प्रतिकी पृष्ठ संख्या १४८ है। प्रत्येक पृष्ठमें १० पंक्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्तिमें बत्तीस अक्षर हैं। अतः टीका लगभग १५०० श्लोक प्रमाण है।

टीकाकी अन्तिम प्रशस्ति इस प्रकार है—

'शुद्धेद्धतपःप्रभावपवित्रपादपद्मरजःकिंजल्कपुञ्जस्य मनःकोणैकदेशक्रोडीकृता-खिलशास्त्रार्थान्तरस्य पण्डितश्रीबन्धुदेवस्यगुणप्रबन्धानुस्मरणजातानुग्रहेण प्रमाण-नयनिर्णीताखिलपदार्थप्रपञ्चान श्रीमद् भुजबल भीमभूपालमार्तण्डसभायामनेकधालब्ध तर्कचक्रांकल्केनावलानरादीनामात्मनश्चोपकारार्थेन (थँ न) पांडित्यमदविलासात्

सुखबोधाभिधां वृत्ति कृतां भट्टारकेण कुम्भनगरवास्तव्येन पंडितश्रीयोगदेवेन प्रकटयन्तु संशोधयन्तु बुधा यदत्रायुक्तमुक्तं किञ्चिन्मतिविभ्रमसंभवादिति। छः प्रचंड पंडितमंडली मौनव्रतदीक्षागुरोर्योगदेवविदुषः कृतौ सुखबोधतत्त्वार्थवृत्तौ दशमः पादः समाप्तः। समाप्तेयं सुखबोधवृत्तिः पंडित श्रीयोगदेवकृता।'

इससे प्रकट होता है 'पण्डित योगदेव भट्टारक थे, और कुम्भनगरके निवासी थे। भूपाल मार्तण्ड भुजबल भीमकी सभामें उन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त थी। उनके सामने प्रचण्ड पण्डित मण्डली मूक हो गई थी। श्री पण्डित बन्धुदेवके अनुग्रह से उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था।'

यह पण्डित योगदेव कब हुए हैं, खोजने पर भी इसका कोई अनुसन्धान नहीं मिल सका। इन्होंने अपनी टीकामें किसी ग्रन्थका उद्धरण भी नहीं दिया। भास्कर नन्दिकी तत्त्वार्थ टीकाका नाम भी सुखबोध है। यह टीका मैसूर से प्रकाशित हो चुकी है। हमने नाम साम्यके कारण उसके साथ भी इस टीका का मिलान किया। किन्तु दोनोंमें हमें कोई साम्य नहीं मिला। अतः इनके समय के विषयमें अभी कुछ लिखनेमें हम असमर्थ हैं। किन्तु इसकी एक प्रति जयपुरके सेठ वधीचन्द्रजीके मन्दिरमें वि० सं० १६३८ की लिखी हुई है। अतः इससे पूर्व ही इसका रचा जाना निश्चित है।

तत्त्वार्थ सूत्रकी दूसरी टीकाका नाम तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर है। इसके प्रारम्भमें टीकाकारने एक प्राकृत गाथाके द्वारा मंगलाचरण करनेके पश्चात् १४ श्लोंकोंके द्वारा इस टीकाकी उत्पत्तिका वृत्तान्त तथा अपना परिचय दिया है।

लिखा है—इसी विख्यात भारत देशके हरन नामक जनपदमें सुनाम नाम का नगर है। वहाँ आर्य नयसेनकी परम्परामें धर्मचन्द्र नामके भट्टारक हुए, जो काष्ठासंघी थे। उनके पट्टपर प्रभाचन्द्र हुए। एक दिन वह धर्मका उपदेश दे रहे थे, काल्हुके पुत्र साधु हावाने प्रणाम करके निवेदन किया कि मुनिवर तत्त्वार्थका कथन करें। तब प्रभाचन्द्रने अपनी अल्पज्ञता बतलाये हुए तत्त्वार्थका कथन किया। वहाँसे वह विहार करके सकीट नामके नगरमें आये और जिनालयमें ठहर गये। वहाँ लम्बकञ्चुकान्वयमें साधु सकतुका पुत्र मोनिका था जो विद्वान और गुणी था उसने निवेदन किया—मुनिवर मेरे आगे सरल तत्त्वार्थ का कथन करें। तब भट्टारक प्रभाचन्द्रने तत्त्वार्थसूत्रके इस सुगमार्थ टिप्पणकी रचना की।

रचनाकाल आदि—इस ग्रन्थके अन्तमें भी प्रशस्ति है। उसमें लिखा है कि जम्बूद्वीपके भारत देशमें पञ्चाल नामका देश है, जो जैन तीर्थोंसे सुशोभित है।

काष्ठासंघमें भट्टारक सुरेन्द्र वगैरह तथा मुनीश्वर हेमकीर्ति हुए। हेमकीर्तिके पट्टपर धर्मचन्द्र हुए। उनके पट्टपर प्रभाचन्द्र हुए। एक बार विहार करते हुए भट्टारक प्रभाचन्द्र सकीट नामके नगरमें पधारे। उस नगरके श्रावक बड़े धर्मात्मा दानी और गुरुभक्त थे। वहाँके जिनालयमें भगवान ऋषभदेवका प्रतिबिम्ब था। प्रभाचन्द्रने अपने मनमें विचारा कि कोई उत्तम काव्य रचा जाये। तब सम्बत् १४८९ में भाद्रपद शुक्ला पंचमीको रविवारके दिन विशाखा नक्षत्रमें प्रभाचन्द्रने जैन नामक ब्रह्मचारिके लिये इस तत्त्वार्थ टिप्पणको रचा।

इस तत्त्वार्थ रत्न प्रभाकर नामके तत्त्वार्थ टिप्पणकी तीन प्रतियाँ हमारे सामने उपस्थित हैं। उनमेंसे दो प्रतियाँ धर्मपुरा दिल्लीके नये मन्दिरकी है। और एक प्रति सेठके कूंचेके मन्दिर की है। सेठके कूंचेके मन्दिरकी प्रति और नये मन्दिरकी आ० ६ (क) प्रति प्रायः समान हैं। किन्तु नये मन्दिरकी दूसरी प्रति आ० २४ (क) के प्रारम्भमें न तो मंगल गाथा है और न वे १३ श्लोक ही है जिनमें टीकाकी उत्पत्तिका विवरण आदि दिया है। उन सबके स्थानमें 'त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं', 'सिद्धेजयप्पसिद्धे', 'उज्जवणमुज्जवणं' इन तीन पद्योंकी व्याख्या है। ये पद्य और उनकी व्याख्या उक्त दोनों प्रतियोंमें नहीं है। उनका प्रारम्भ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदि श्लोककी व्याख्यासे होता है। और वहाँसे तीनों प्रतियाँ समान हैं। इस प्रकारका अन्तर कैसे पड़ा, कहा नही जा सकता।

विज्ञ पाठक जानते है मूल तत्त्वार्थ सूत्रकी जो प्रतियाँ सर्वत्र पाई जाती हैं उन सबके प्रारम्भमें उक्त तीन पद्य प्रायः पाये जाते हैं। वे तीनों पद्य तत्त्वार्थ सूत्रके नहीं हैं यह निश्चित है। कब, कैसे, किसके द्वारा ये पद्य तत्त्वार्थ सूत्रके प्रारम्भमें जोड़ दिये गये, यह अभी तक अज्ञात है। किन्तु तत्त्वार्थरत्नप्रभाकर की एक प्रतिके आरम्भमें इनकी व्याख्या पाई जानेसे यह सिद्ध होता है कि यदि यह व्याख्या त० प्र० के कर्ताकी ही है तो विक्रमकी पद्रहवीं शताब्दीमें अथवा उससे भी पहले उक्त तीन पद्य तत्त्वार्थसूत्रके अंग बन चुके थे। अस्तु,

यह टिप्पण संस्कृत और हिन्दीकी मिश्रण शैलीमें लिखा गया है, यह इसकी भाषा शैलीकी विशेषता है। संस्कृत और प्राकृत मिश्रित भाषामें तो धवला-जय धवला जैसे महान टीका ग्रन्थ उपलब्ध हैं। किन्तु संस्कृतके साथ हिन्दीके मिश्रणसे रची गई कोई टीका मेरे देखनेमें नहीं आई थी। इस टीकामें हिन्दी अंश ही अधिक है।

प्रारम्भके कुछ सूत्रोंकी टीका तो संस्कृतमें ही है, किन्तु उसके पश्चात् मिश्रित रूपमें है। कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

'एवं गुण विराज मानं जीव तत्त्वं, व्यवहारी प्राण दश, पञ्चेन्द्रिय प्राण पंच,

मनवचन काय प्राण तीन, उस्वास निश्वास प्राण एक, आव प्राण एक, एवं व्यवहार नय प्राण दश भवति, निश्चय प्राण चार चत्वारि भवन्ति ।'

'भाव पंच कथ्यते ।··प्रथम उपशम भाव चतुर्थगुण स्थान ते एकादशम गुण स्थानलग होइ । प्रथम द्वितीय तृतीय गुणस्थाने उपशम भाव भवति (?) । उपशम सम्यक्त्वं न भवति । क्षायिकभाव चतुर्थगुणस्थान आदि चतुर्दश गुणस्थान अंते भवति । क्षायिक सम्यक्त्वं चतुर्थ गुणस्थानात् भवति ।'

'तत्र वाग्गुप्ति कोऽर्थः । बचन करि मार बंध न बोलई ।।१।। मनगुप्ति को विशेषः मन करि मार बंधन विक्रिय परिणाम चित्त बिजइ नाही ।।२।। ईर्या समिति कोर्थः । एक दंड प्रमाण भूमि देखत चालई । जीवरक्षा निमित्ते ।।३।।

टीकाकार प्रभाचन्द्र संस्कृत और प्राकृतके अच्छे विद्वान ज्ञात होते हैं । और उनका अध्ययन भी बहुत विस्तृत जान पड़ता है क्योंकि उनकी इस टीकामें संस्कृत और प्राकृत पद्योंके उद्धरण बहुत हैं । और वे उद्धरण मूलाचार, गोम्मटसार, तत्त्वार्थसार, आराधनासार, तत्त्वसार, स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा आदि अनेक ग्रन्थोंसे दिये गये हैं । फिर भी इस तरह की संस्कृत मिश्रित हिन्दीमें टीका करनेका कारण यह हो सकता है कि जिन ब्र० जैन तथा साधु हावाके लिये यह टीका रची गई वे संस्कृतके पूरे ज्ञाता न हों। और संस्कृत प्राकृतके विद्वान होनेके कारण भट्टारक प्रभाचन्द्र तत्कालीन लोक भाषामें रचना करनेमें निष्णात न हों, आज भी काशीमें संस्कृतके विद्वान संस्कृत मिश्रित भाषा बोलते हुए पाये जाते हैं ।

तत्त्वार्थसूत्रकी हरिभद्रीय टीका[1]

तथोक्त स्वोपज्ञ तत्त्वार्थ भाष्यपर एक छोटी वृत्ति भी है । इसके रचयिता हरिभद्र हैं । किन्तु यह वृत्ति केवल हरिभद्राचार्यकी ही कृति नहीं है, बल्कि इसकी रचनामें कम-से-कम तीन आचार्योंका हाथ है । जिसमेंसे एक हरिभद्र भी हैं । उन्होंने साढ़े पाँच अध्यायोंपर वृत्ति रची है । इसके पश्चात् तत्त्वार्थ भाष्यके शेष भागपर जो वृत्ति है उसकी रचनामें दो आचार्योंका हाथ तो अवश्य है । उनमेंसे एकका नाम यशोभद्र है और दूसरे उनके शिष्य हैं जिनके नामका कोई पता नहीं । यशोभद्रके उस शिष्यने केवल दसवें अध्यायके अन्तिम सूत्रके भाष्यपर वृत्ति लिखी है, हरिभद्रकी टीकाके पश्चात्के शेष बचे भागके ऊपर यशोभद्रकी वृत्ति है । यह बात यशोभद्रके शिष्यने अपनी टीकामें स्वयं लिखी है । यथा—

१. यह टीका रतलामस्थ श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी नामक संस्थाकी ओरसे प्रकाशित हुई है ।

'सूरि यशोभद्रस्य (हि) शिष्येण समुद्धृता स्वबोधार्थम् ।
तत्त्वार्थस्य हि टीका जडकायार्जनाधृता यात्यां नृद्धृता ॥१॥
(यंर्जुनोद्धृताऽन्त्यार्धा) ।

हरिभद्राचार्येणारब्धा विवृताऽर्धषडध्यायाश्च ।
पूज्यै पुनरुद्धृतेयं तत्त्वार्थार्द्धस्य टीकान्त्ये ॥२॥ ति,

'एतदुक्तं भवति हरिभद्राचार्येणार्द्धषण्णामध्यायानामाद्यानां टीका कृता, भगवता तु गन्धहस्तिना सिद्धसेनेन नव्या कृता तत्त्वार्थ टीका, नव्यैर्वादस्थानैर्व्याकुला, तस्या एव शेषमुद्धृतञ्चाचार्येण (शेषं मया) स्वबोधार्थं, साऽत्यन्तगुर्वी च डुपडुपिका निष्पन्नेत्यलं प्रसङ्गेन ।'—(हरि० टी०, पृ० ५२१) ।

'अर्थात् हरिभद्राचार्यने आदिके साढ़े पाँच अध्यायोंकी टीका बनाई । भगवान गन्धहस्ती सिद्धसेनने तत्त्वार्थकी नई टीका रची जो नये वादोंसे भरपूर है । उसीको उद्धृत करके आचार्य यशोभद्रने और शेष मैंने अपने बोधके लिये वृत्ति रची । सिद्धसेनकी टीका अत्यन्त गुर्वी है सो उसमें अवतरण करनेके लिये यह डुपडुपिका टीका निष्पन्न हुई ।'

अब प्रश्न यह है कि इस टीकाके आद्य रचयिता हरिभद्र कौन हैं और वे कब हुए हैं ।

श्वेताम्बर परम्परामें हरिभद्र नामके अनेक ग्रन्थकार हुए है । किन्तु उन सबमें मूर्धन्य याकिनी सूनु भवविरहांक हरिभद्र ही हैं । और परम्परासे उन्हें ही इस लघुवृत्तिका रचयिता माना जाता है । ऊपर जो इस टीकाके अन्तिम भागसे एक उद्धरण दिया है उससे भी ऐसा ही प्रतीत होता है क्योंकि उसमें सिद्धसेनकृत टीकाको 'नव्या' कहा है ।

श्री आत्मानन्द जन्म शताब्दी स्मारक ग्रन्थमालाके प्रथम पुष्पके रूपमें तत्त्वार्थ सूत्रका पं० सुखलालजी कृत जो हिन्दी विवेचन प्रकाशित हुआ है उसकी प्रस्तावनामें (पृ० ४७-५४) पंडितजीने भी यशोभद्र सूरिके शिष्यके ऊपर उद्धृत वचनोंके आधारपर विस्तारसे प्रकाश डालकर यही नतीजा निकला है कि वे हरिभद्र याकिनी सूनु ही हो सकते हैं, दूसरे नहीं । किन्तु जैन संस्कृति संशोधन मंडल वाराणसीसे प्रकाशित तत्त्वार्थ सूत्र विवेचनके संस्करणकी भूमिकामें (पृ० ४२-४३) पंडितजीने उक्त लम्बी चर्चाको स्थान न देकर केवल इतना ही लिखा है—'श्वेताम्बर परम्परामें हरिभद्र नामके कई आचार्य हो गये हैं जिनमेंसे याकिनीसूनु रूपसे प्रसिद्ध सैकड़ों ग्रन्थोंके रचयिता आ० हरिभद्र ही इस छोटी वृत्तिके रचयिता माने जाते हैं । परन्तु इस बारेमें कोई असंदिग्ध प्रमाण अभी हमारे सामने नहीं

है। मुनि [1]श्रीजम्बूविजयजीने हरिभद्र वृत्ति और सिद्धसेनीय वृत्ति दोनोंकी तुलना की है और बतलाया है कि हरिभद्रने सिद्धसेनीय वृत्तिका अवलम्बन लिया है। अगर यह बात ठीक है तो कहना होगा कि सिद्धसेनकी वृत्तिके बाद ही हरिभद्रीय वृत्तिकी रचना हुई है।'

इससे प्रकट है कि उक्त टीकाके रचयिता हरिभद्रका व्यक्तित्व और समय अभी तक अनिर्णीत ही है।

हमने हरिभद्रीय वृत्ति और सिद्धसेनीय वृत्तिका मिलान करके देखा तो बराबर यह प्रमाणित हुआ कि एक के रचयिताने दूसरेकी कृतिको न केवल देखा है किन्तु उसका अनुसरण भी किया है और ऐसा करने वाला व्यक्ति हरिभद्र ही है, सिद्धसेन नहीं। किन्तु हरिभद्रने सिद्धसेनका अन्धानुकरण नहीं किया, उनके अनुकरणमें भी उनके व्यक्तित्वकी छाप सुस्पष्ट प्रतीत होती है। तथा उनकी टीकामें कई एक बातें ऐसी भी हैं जो टीकाकारकी दार्शनिकता तथा स्वतंत्र व्यक्तित्वकी परिचायक हैं। नीचे ऐसी कुछ बातें दी जाती हैं।

१. सूत्र १-३ की टीकामें भाष्यमें आगत 'अनादौ संसारे' पदका व्याख्यान करते हुए दोनों टीकाकारोंने सृष्टि कर्तृत्वका खण्डन किया है। सिद्धसेनने उसी प्रसंगमें सिद्धि विनिश्चय गत सृष्टि परीक्षाको देखनेकी बात लिखी है किन्तु हरिभद्रने 'निर्णीतमेतदन्यत्र' अन्य ग्रन्थमें इसका निर्णय किया है, इतना मात्र लिखा है। ऐसा लिखना लेखकके व्यक्तित्वका परिचायक है। इससे यह भी आशय निकलता है कि टीकाकारने स्वयं किसी अन्य ग्रन्थमें उक्त विषयका विचार किया है। ऐसे प्रसंग दो एक और भी मिलते हैं। यथा—सूत्र १-१९ की टीकामें लिखा है—'नायनरश्मिविधानं मनोनिर्गमनं चान्यत्र निराकृतमिति नेहाभिधीयते'। अर्थात् आँखोंसे किरणें निकलती हैं और मन बाहर जाता है इसका खण्डन अन्यत्र किया है इस लिये यहाँ नहीं कहते।' यदि टीकाकारके इन उल्लेखोंका आशय स्वयं अपने द्वारा अन्यत्र लिखे जाने से है तब तो ऐसा लिखने वाले हरिभद्र याकिनी सूनु ही हो सकते हैं। किन्तु उनके उपलब्ध ग्रन्थों में हमें उक्त चर्चाएँ देखने को नहीं मिल सकीं!

२. सूत्र १-३ की ही टीकामें यह शंका की गई है कि जब सभी जीवोंके साथ कर्मका सम्बन्ध अनादि है तो जीवोंको कालभेदसे सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति क्यों होती है? इसके समाधानमें कहा गया है कि सम्यग्दर्शनका लाभ विशिष्टकाल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषकार रूप सामग्रीसे होता है और वह सामग्री प्रत्येक जीवकी भिन्न-भिन्न होती है। इसी प्रसंगमें सिद्धसेन दिवाकरके सन्मति तर्कसे

---

१. आत्मानन्द प्रकाश, वर्ष ४५, अंक १०, पृ० १९३।

'कालो सहाव णियई' आदि गाथा भी उद्धृत कीगई है, सिद्धसेनीय टीकामें यह चर्चा नहीं है।

३. सूत्र १-४ के भाष्यका व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'औपशमिकादि-भावयुक्ता.' विशेषणसे निःस्वभाव जीववादका व्यवच्छेद किया है क्योंकि किन्हींका कहना है कि 'निःस्वभावाः जीवाः संवृतैः सन्तः'। दूसरों का कहना है 'अकार्या-करणैक स्वभावाः' यह भी सिद्धसेनीय टीकामें नहीं है।

४. सूत्र १-३१ के भाष्यमें 'भगवतो केवलिनो····अनुसमयमुपयोगो भवति' ऐसा एक वाक्य है। सिद्धसेन और हरिभद्रने 'अनु समयं' की व्युत्पत्ति तो समान ही की है। यथा—'अनुगतः—अव्यवहितः समयः—अत्यन्ताविभागःकालो यत्र कालसन्ताने स कालसन्तानोऽनुसमयः तमनुसमयं' किन्तु दोनोंके अर्थमें आकाश पातालका अन्तर है। उसका कारण यह है कि श्वेताम्बर परम्परामें आगमिक पक्ष केवलीके ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग एक साथ नहीं मानता, क्रमसे मानता है। सिद्धसेन कट्टर आगमिक पक्षी थे अतः उन्होंने 'अनुसमयं'का अर्थ किया है—'वारंवारेणोपयोगो भवतीति यावत्। एकस्मिन् समये केवलज्ञानोपयोगे वृत्ते ततोऽन्यस्मिन् केवलदर्शनोपयोग इति सर्वकालमवसेयम्।'

अर्थात् केवलीके वारंवार उपयोग होता है। एक समयमें केवल ज्ञानोपयोग होनेपर दूसरे समयमें केवल दर्शनोपयोग होता है इस प्रकार सदा होता रहता है।' किन्तु 'अनुसमयं' का यथार्थ अर्थ तो प्रति समय है। हरिभद्रने अपनी टीका-में यही अर्थ किया है। यथा—'प्रतिसमयमित्यर्थः, उपयोगः स्वग्रहण व्यापारो भवति ततः सदा केवलोपयोगद्वयभावात्···।' अतः हरिभद्र के अनुसार केवलीके सदा दोनों उपयोग रहते हैं।

इस तरह की विशेषताओंके कारण लघुवृत्तिके रचयिता हरिभद्र साधारण विद्वान प्रतीत नहीं होते। उनकी शैलीमें भी अपनी विशेषता है। उदाहरण तथा तुलनाके लिये सिद्धसेनीय तथा हरिभद्रीय टीकासे एक उद्धरण नीचे दिया जाता है—'अनादौ संसार इति च सृष्टिं निरस्यति। न हि कश्चिज्जगतः स्रष्टा कर्ता समस्ति पुरुषः, यथैव हि तेन केनचित् स्रष्टाः प्राण्यादि (?) मन्तस्तथाऽन्येऽपि प्राणिनः। कर्त्रन्तराभ्युपगमे चानवस्था।···नापि किञ्चित् सर्गे जगतः स्रष्टुः प्रयो-जनमस्ति प्रेक्षापूर्वकारिणः। क्रीड़ाद्यर्थमिति चेत् कुतः सर्गशक्तिः? प्राकृतत्वात्। सुखितदुखितदेवनारकसत्त्वोत्पादने चाकस्मिकः पक्षपातो द्वेषिता चेति।'—सि० टी०, भा० १, पृ० ३७।

'तस्मिन्ननादौ संसारे अनेन सृष्टिवादव्यवच्छेदमाह—स्रष्टारमन्तरेण तद-नुपपत्तेः, सति चास्मिन् स केन स्रष्टः? तदपराभ्युपगमेऽनवस्था, अनभ्युपगमे

तद्वदपरस्यासृष्टिः । रागादिरहितस्य च स्रष्टुः सर्जने सर्गे प्रयोजनभावः क्रीडा प्रयोजनाङ्गीकरणे रागादिमत्वं सुखितदुःखितदेवादिकरणेऽस्थानपक्षपातः । तत्स्व-भावत्वाभ्युपगमे न चालाद् (न प्रमाणं, न चास्मात्) कस्यचिदुत्पत्तिः । (हृ० टी०, पृ० २२-२३) ।

एक हरिभद्र जयसिंहके राज्यकालमें हुए हैं । उन्होंने उमास्वातिके प्रशमरति प्रकरण तथा कर्मग्रन्थों आदि पर संस्कृतमें वृत्तियाँ रची हैं । किन्तु तुलना करनेसे तत्त्वार्थ की वृत्ति उन हरिभद्रकी प्रतीत नहीं होती ।

चूँकि टीकाकार हरिभद्रका व्यक्तित्व अनिर्णीत है अतः टीकाके रचना कालका भी निर्णय कर सकना शक्य नहीं है । चूँकि सिद्धसेनकी टीकाका अनुसरण इसमें किया गया है । अतः इतना निश्चित है कि उसके पश्चात् ही इसकी रचना हुई है । सिद्धसेनने अपनी टीकामें सिद्धि विनिश्चयकातो उल्लेख किया ही है इसके सिवाय उनकी तत्त्वार्थ टीका अकलंकदेवके तत्त्वार्थ वार्तिककी भी ऋणी है यह हम पहले बतला आये हैं । तथा सिद्धसेन द्वादशारनयचक्रके टीका-कार सिंहसूरके प्रशिष्य थे और सिंहसूर विक्रमकी सातवीं शताब्दीमें अवश्य वर्तमान थे । अकलंकदेव भी उनके लघुसमकालीन थे । अतः सिद्धसेन विक्रमकी आठवीं शताब्दीके विद्वान थे । याकिनीसूनु हरिभद्रका[1] समय भी विक्रमकी ८वीं-९वीं शताब्दी सुनिश्चित है । यदि उक्त हरिभद्रीय टीका याकिनीसूनु हरिभद्र रचित है तो उसका रचनाकाल भी यही है । अन्यथा विक्रमकी आठवीं शताब्दी-के पश्चात् किसी समय वह रची गई है ।

तथा प्रवचन सारोद्धार वृत्ति (वि० सं० ११४८) में 'तथा च तत्त्वार्थ मूल टीकायां हरिभद्रसूरिः' करके हरिभद्रीय टीकाका उल्लेख पाया जाता है अतः इससे पहले उसका रचा जाना सिद्ध होता है ।

यशोभद्र और उनके शिष्य

हरिभद्रने सभाष्य तत्त्वार्थ सूत्रके ५॥ अध्यायोंपर ही वृत्ति रची है । शेष अध्यायोंपर वृत्ति यशोभद्र और उनके किसी अज्ञात नाम शिष्यने रची है । यह बात यशोभद्रसूरिके शिष्यके वचनोंसे स्पष्ट है यह हम ऊपर बतला आये हैं । यशोभद्रने भी हरिभद्रका ही अनुसरण करते हुए उसी शैलीमें अपनी वृत्ति रची है । साधारण रीतिसे देखनेपर यह प्रतीत नहीं होता कि शेष वृत्तिके रचयिता कोई भिन्न व्यक्ति हैं । यशोभद्रने भी सिद्धसेनकी तत्त्वार्थ वृत्तिका ही अनुसरण विशेष रूपसे किया है और बहुतसे स्थलोंको शब्दशः ज्यों का त्यों अपना लिया

---

१. जै० सा० सं०, वर्ष १, अंक १ ।

है। हरिभद्रकृत ५।। अध्यायोंकी वृत्तिका जितना परिमाण (२७४ पृष्ठ) है। लगभग उतना ही परिमाण (२६२ पृष्ठ) यशोभद्रकी ४।। अध्यायोंकी वृत्तिका है। और उद्धृत वाक्योंकी संख्या तो हरिभद्रकी वृत्तिसे तिगुनी है। सिद्धसेनकी वृत्तिमें आगत एक भी उद्धरणको यशोभद्रने नहीं छोड़ा है।

श्वेताम्बर परम्परामें यशोभद्र[1] नामके भी अनेक आचार्य हुए हैं। एक यशोभद्र तो श्रुतकेवली भद्रबाहुके गुरु थे। दूसरे यशोभद्र साडेरक गच्छके थे। उनका स्वर्गवास वि० सं० १०२९ में हुआ था। तीसरे यशोभद्र स्थानक प्रकरणके रचयिता प्रद्युम्नसूरिके गुरु थे। यह पूर्णतल्ल गच्छके थे। चौथे यशोभद्र वृहद्गच्छके सर्वदेवसूरिके शिष्य थे। पाँचवें यशोभद्र राजगच्छके धर्मघोषसूरिके शिष्य थे। छठे यशोभद्र चन्द्रगच्छमें हुए। इसमेंसे प्रस्तुत यशोभद्र कौनसे हैं, यह अज्ञात है। एक यशोभद्रने हरिभद्रके षोडषक प्रकरणके ऊपर वृत्ति रची है। किन्तु प्रस्तुत यशोभद्रके साथ उनका ऐक्य भी विचारणीय है। यशोभद्रके जिस शिष्यने अन्तिम सूत्र पर वृत्ति रची उसका तो नाम भी ज्ञात नहीं है। अतः उसके सम्बन्धमें कुछ कह सकना शक्य नहीं है। उसकी वृत्ति भी उसके गुरुकी तरह सिद्धसेनकी वृत्तिका संक्षेपीकरण मात्र है।

श्रुतसागर सूरि

जैन परम्परामें ग्रन्थकार प्रायः संसारसे विरक्त मुनिजन ही विशेष हुए हैं। किन्तु उत्तरकालमें भट्टारकसम्प्रदायका प्रवर्तन होने पर भट्टारकोंमें भी अनेक विशिष्ट ग्रन्थकार हुए हैं। उनमें श्रुतसागर सूरिका नाम उल्लेखनीय है; क्योंकि उन्होंने अन्य अनेक छोटी बड़ी रचनाओंके साथ तत्त्वार्थसूत्र पर भी एक श्रुत-सागरी नामकी वृत्ति रची है। यह वृत्ति अनेक दृष्टियोंसे महत्वपूर्ण है और अपने रचयिताकी विद्वत्ताका ख्यापन करती है।

श्रुतसागरने अपनी रचनाओंके अन्तमें अपने गुरू आदिका नाम दिया है। वे मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगणमें हुए हैं। उनके गुरूका नाम विद्यानन्दि था। विद्यानन्दिके गुरूका नाम देवेन्द्रकीर्ति और देवेन्द्रकीर्तिके गुरुका नाम पद्मनन्दि था। ये बलात्कार गणकी सूरत शाखाके भट्टारक थे। विद्यानन्दिके पश्चात् मल्लिभूषण भट्टारक हुए। इन मल्लिभूषणके उपदेशसे श्रुतसागरने यशोधरचरित, मुकुटसप्तमी कथा और पल्यविधान कथा आदिकी रचना की थी।

श्रुतसागरने अपनेको देशव्रती, ब्रह्मचारी या वर्णी लिखा है। तथा नवनवति

---

१. जैन० सा० सं० इ० (गु०) के परिशिष्टमें 'यशोभद्र'।

महावादि विजेता, तर्क-व्याकरण-छन्द-अलंकार सिद्धान्त-साहित्यादि शास्त्र निपुण, प्राकृत व्याकरणादि अनेक शास्त्र चंचु, उभयभाषा कविचक्रवर्ती, तार्किक-शिरोमणि, परमागमप्रवीण आदि विशेषणोंसे अलंकृत किया है। तत्त्वार्थवृत्तिके अन्तिम सन्धिवाक्यमें[1] उन्होंने लिखा है कि मैंने श्लोकवार्तिक, सर्वार्थसिद्धि, न्यायकुमुद चन्द्रोदय, प्रमेयकमलमार्तण्ड, राजवार्तिक, प्रचण्ड अष्टसहस्री आदि ग्रन्थोंका गम्भीरतासे अध्ययन किया है। इससे प्रकट है कि श्रुतसागर अपने समयके अच्छे विद्वान और ग्रन्थकार थे।

श्रुतसागरने अपनी किसी भी रचनामें उसका रचनाकाल नहीं दिया। किन्तु अन्य आधारोंसे उनके समयका निर्णय हो जाता है जिनका विवरण निम्न प्रकार है—

१. पद्मनन्दिके[2] शिष्य देवेन्द्रकीर्तिका एक शिलालेख देवगढ़में है, जिसपर सम्वत् १४९३ अंकित है। यह देवेन्द्रकीर्ति श्रुतसागरके गुरूके गुरू थे।

२. सूरतके[3] एक मूर्तिलेखमें सं० १४९९ और एकमें सं० १५१३ अंकित है। ये दोनों मूर्तियां देवेन्द्रकीर्तिके शिष्य विद्यानन्दिके उपदेशसे प्रतिष्ठित हुई थीं। विद्यानन्दिके उपदेशसे प्रतिष्ठित अन्य मूर्तियों पर सं० १५१८, सं० १५३१ और सं० १५३७ अंकित है।

३. सूरतमें[4] पद्मावतीकी एक मूर्ति पर सं० १५४४ अंकित है। तथा उस समय विद्यानन्दिके पट्ट पर मल्लिभूषण विराजमान थे। इन्हीं मल्लिभूषणके उपदेशसे श्रुतसागरने कुछ कथाएं रची थीं और ये श्रुतसागर के गुरू भाई थे।

१. इत्यनवद्यगद्यपद्यविद्याविनोदनोदितप्रमोदपीयूषरसपानपावनमतिसमाजरत्नराजमतिसागरयतिराजराजितार्थनसमर्थेन तर्कव्याकरणछन्दोऽलंकारसाहित्यादिशास्त्रनिशितमतिना यतिना श्रीमद्देवेन्द्रकीर्तिभट्टारकप्रशिष्येण शिष्येण च सकलविद्वज्जनविहितचरणसेवस्य विद्यानन्दिदेवस्य संछर्दितमिथ्यामतदुर्गरेण श्रुतसागरेण सूरिणा विरचितायां श्लोकवार्तिक-सर्वार्थसिद्धि-न्यायकुमुदचन्द्रोदय-प्रमेयकमलमार्तण्ड-राजवार्तिकप्रचण्डाष्टसहस्रीप्रभृतिग्रन्थसन्दर्भनिर्भरावलोकनबुद्धिविराजितायां तत्त्वार्थटीकायां दशमोऽध्यायः।'—तत्त्वार्थवृत्ति। देखो—जै० सा० इ०, पृ० ३७१-३७७। जै० ग्र० प्र० सं०, भाग १, की प्रस्ता०, पृ० १४-१८।

२. भ० सम्प्र०, पृ० १६९।

३. भ० सम्प्र०, पृ० १६९।

४. वही, पृ० १७७।

४. ब्र० नेमिदत्तने[1] अपने आराधना कथाकोशकी प्रशस्तिमें विद्यानन्दिके पट्टधर मल्लिभूषण और उनके शिष्य सिंहनन्दिका गुरुरूपमें स्मरण करके श्रुतसागरका भी जयकार किया है। इससे प्रतीत होता है कि वह उस समय जीवित थे। किन्तु इन्हीं ब्र० नेमिदत्तने वि० सं० १५८५ में श्रीपाल चरित्र[2] भी रचा है और उसमें श्रुतसागरके द्वारा रचित श्रीपालका उल्लेख करते हुए श्रुतसागरको 'पूर्वसूरि' तथा उनके द्वारा रचित श्रीपालचरितको 'पुरा रचित' कहा है। इससे ज्ञात होता कि उम समय श्रुतसागरका अवसान हो चुका था।

५. श्रुतसागरने अपनी पल्यविधान[3] कथाकी प्रशस्तिमें लिखा है कि राजा भानुके मंत्री भोजराजकी पुत्रीके साथ श्रुतसागरने गजपन्था और तुंगीगिरिकी बन्दना की थी। राजा भानु ईडरके राव भाणजी हैं।

इनका राज्यकाल सं० १५०२ से १५२२ तक है। पल्य विधान कथाकी रचना मल्लिभूषणके उपदेशसे हुई है और उस समय विद्यानन्दिके पट्टपर वही विराजमान थे। विद्यानन्दिका पट्टकाल १४९९ से आरम्भ होता है और मल्लिभूषणका पट्टकाल वि० सं० १५४४ से १५५६ तक मिलता है। इन दोनोंका पट्टकाल ही श्रुतसागर सूरिका समय होना चाहिए। स्व० बाबा दुलीचन्दजीकी सं० १९५४ में लिखी गई ग्रन्थ सूचीमें श्रुतसागरका समय वि० सं० १५५० लिखा हुआ है। अतः वह विक्रमकी सोलहवीं शताब्दीके पूर्वार्धके विद्वान थे।

श्रुतसागरी टीका

तत्त्वार्थसूत्रपर श्रुतसागरजी रचित श्रुतसागरी टीका एक तरहसे पूर्वरचित सब टीकाओंका निचोड़ है। उसके प्रारम्भिक श्लोकसे ही यह बात ज्ञात हो जाती है। उसके द्वारा श्रुतसागरजीने तत्त्वार्थसूत्रकार उमास्वामीके साथ ही साथ पूज्यपाद, प्रभाचन्द्र, विद्यानन्दि और अकलंकको स्मरण किया है। ये चारों ही आचार्य तत्त्वार्थसूत्रके टीकाकार हैं। इनमें सबसे अन्तिम हैं प्रभाचन्द्र। उनकी छोटीसी टिप्पण रूप वृत्तिको तो उन्होंने प्रायः पूरा आत्मसात् कर लिया है।

वृत्तिका प्रारम्भ सर्वार्थसिद्धिके आरम्भिक शब्दोंकी शैलीको अपनाकर होता है। सर्वार्थसिद्धिमें उस प्रश्नकर्ता भव्यका नाम नहीं लिखा जिसके प्रश्नके ऊपरसे आचार्यने यह सूत्र ग्रन्थ रचा। प्रभाचन्द्रने उसको 'प्रसिद्धयैक नामा' लिखा है, श्रुतसागरने 'द्वैयाकनामा' लिखा है। १३वीं शताब्दीके बालचन्द्र मुनि द्वारा जो

---

१. वही, पृ० १७९।

२. जै० ग्र० प्र० सं०, १ भा०, पृ० १७।

३. भ० सम्प्र०, पृ० १७८।

तत्त्वार्थसूत्रकी कनडी टीका लिखी गई है उसमें उस प्रश्नकर्ताका नाम 'सिद्धय्य' पाया जाता है।

सर्वार्थसिद्धिके प्रारम्भमें पाये जाने वाले मंगल श्लोक 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' आदिका व्याख्यान भास्करनन्दिकी तरह श्रुतसागरने भी किया है। इससे प्रकट होता है कि १३वीं शताब्दीसे इस मंगल श्लोकको सूत्रकारका माना जाने लगा था।

श्रुतसागर सूरिका पूरा व्याख्यान एक तरहसे सर्वार्थसिद्धि नामक वृत्तिका ही व्याख्यान है। जो बातें वहाँ संक्षेपमें परिमित शब्दोंमें कहीं गई हैं उनको यहाँ स्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है। तथा यथास्थान ग्रन्थान्तरोंसे उद्धरण देकर विशेष कथन भी किया गया है। ग्रन्थान्तरोंसे उद्धरणोंकी संख्या काफी है और उससे प्रकट होता है कि श्रुतसागरने अपने पूर्ववर्ती आचार्योंके द्वारा रचित प्रायः सभी प्रमुख ग्रन्थों को पढ़ा था।

उन्होंने पाणिनिसूत्रोंके उद्धरण तो दिये ही हैं। कातंत्र व्याकरणके भी उद्धरण बहुतायतसे दिये हैं। कातंत्र व्याकरण भी जैनाचार्य रचित है। किन्तु उसका उपयोग इस तरह किसी अन्य टीकाकारके द्वारा हमारे देखनेमें नहीं आया।

इसमें सन्देह नहीं कि श्रुतसागरजी बहुश्रुत विद्वान थे। किन्तु उनके दो स्खलन उल्लेखनीय हैं।

प्रथम उन्होंने सूत्र २-५३ की व्याख्यामें लिखा है—

'गुरुदत्तपाण्डवादीनामुपसर्गेण मुक्तत्वदर्शनान्नास्त्यनपवर्त्यायुर्नियम इति न्यायकुमुदचन्द्रोदये प्रभाचन्द्रेणोक्तमस्ति।'

अर्थात् न्यायकुमुद चन्द्रोदयमें प्रभाचन्द्रने कहा है कि गुरुदत्त और पाण्डव आदिका उपसर्गके द्वारा मुक्तिलाभ देखा जाता है अतः अनपवर्त्यायुका नियम नहीं है।

किन्तु प्रभाचन्द्रके न्यायकुमुदचन्द्रमें कहीं भी ऐसा नहीं लिखा है। असलमें उक्त कथन प्रभाचन्द्रके तत्त्वार्थ टिप्पणमें है। वहाँ उन्होंने लिखा है—

'चरम देहस्योत्तमविशेषणात्तीर्थंकरदेहो गृह्यते। ततोऽन्येषां चरमदेहानामपि गुरुदत्त-पाण्डवादीनामग्न्यादिना मरणदर्शनात्'। अर्थात् इस सूत्रमें चरमदेहका उत्तम विशेषण है और उससे तीर्थङ्करके शरीरका ग्रहण किया जाता है। तीर्थंकरके सिवाय जो अन्य चरम शरीरी हैं जैसे गुरुदत्त और पाण्डव वगैरह, उनका अग्नि आदिसे मरण पाया जाता है।

श्रुतसागरजीके सन्मुख प्रभाचन्द्रका टिप्पण अवश्य था, सत्संख्या आदि सूत्र-

की व्याख्यामें उन्होंने उसको खूब अपनाया है फिर भी विस्मरणवश ही उनसे उक्त भूल हो गई जान पड़ती है।

२. सूत्र ९-४७ की वृत्तिमें उन्होंने लिखा है कि-'कुछ[1] असमर्थ महर्षि शीतकाल वगैरहमें कम्बल आदि ले लेते हैं। किन्तु न तो वे उसे धोते हैं, न सीते है। और न उसके लिए कोई प्रयत्न वगैरह ही करते हैं। शीतकाल बीतनेपर उसे त्याग देते हैं। कुछ मुनि शरीरमें दोष उत्पन्न होनेसे लज्जावश वस्त्रको ग्रहण कर लेते हैं। यह व्याख्यान भगवती आराधनामें कहे हुए अभिप्रायसे अपवाद रूप जानना चाहिए।'

किन्तु भगवती आराधनामें इस तरहका कोई विधान नहीं है। हाँ, उसके टीकाकार अपराजितसूरिने अपनी विजयोदया टीकामें आचेलक्य आदि दस कल्पोंका वर्णन करनेवाली गाथा ४२१ की व्याख्या करते हुए आचारांग आदि सूत्र ग्रन्थोंमें पाये जानेवाले कुछ वाक्योंके आधारपर यह स्वीकार किया है कि यदि भिक्षुका शरीरावयव सदोष हो, या वह परीषह सहनेमें असमर्थ हो तो वह वस्त्र ग्रहण कर लेता है।

श्रुतसागरजीका अभिप्राय भगवती आराधनाकी विजयोदया टीकासे ही जान पड़ता है। उसीके लिये उन्होंने भगवती आराधना लिख दिया है।

शैली और भाषा--श्रुतसागरजीकी शैली और भाषा, दोनों सुबोध हैं। न तो उनकी शैलीमें ही जटिलता है और न संस्कृत भाषामें ही। प्रथम वह सूत्रके शब्दोंका व्याख्यान करते हैं और फिर उसका सरल सुबोध संस्कृतमें स्पष्टीकरण करते हैं। जहाँ उनका विषयपर अधिकार है वहाँ भाषापर भी पूर्णाधिकार है। वाक्य रचना सरल और संक्षिप्त है। उसे दुरुह बनानेका प्रयत्न नहीं किया गया है। बल्कि सरल और सुस्पष्ट करनेका ही प्रयत्न किया गया है। उसे पढ़कर सर्वार्थसिद्धिमें कथित कोई बात अस्पष्ट नहीं रहती।

श्रुतसागरने कुन्दकुन्दाचार्यके षट् प्राभृतोंपर भी टीका बनाई है, किन्तु उसमें उन्हें सफलता नहीं मिली। इसका कारण यह हो सकता है कि षट् प्राभृतोंकी कोई अन्य टीका उनके सामने नहीं थी। जबकि तत्त्वार्थ सूत्रकी अनेक टीकाएँ उनके सामने उपस्थित थीं। फिर भी जो प्रौढ़ता इस टीका में है, षट् प्राभृतोंकी टीकामें उसका आभास नहीं मिलता। मालूम होता है कि यह टीका प्रौढ़वयमें लिखी गई है।

---

१. केचिदसमर्था महर्षयः शीतकालादौ कम्बलशब्दावाच्यं कौशेयादिकं गृह्णन्ति, न तत् प्रक्षालयन्ति न सीव्यन्ति, न प्रयत्नादिकं कुर्वन्ति, अपरकाले परिहरन्ति। केचिच्छरीरे उत्पन्नदोषा लज्जितत्वात् तथा कुर्वन्तीति व्याख्यानमाराधनाभगवतीप्रोक्ताभिप्रायेणापवादरूपं ज्ञातव्यम्'--श्रु० टी० पृ० ३१६।

अन्य रचनायें—श्रुतसागरजीकी जो रचनाएँ अब तक उपलब्ध हो सकी हैं, उनकी नामावली दी जाती है—१. यशस्तिलक चन्द्रिका, २. तत्त्वार्थवृत्ति, ३. तत्त्वत्रय प्रकाशिका (ज्ञानार्णवके गद्य भागकी सं० टीका), ४. जिनसहस्रनाम टीका, ५. महाअभिषेक टीका, ६. षट्पाहुड टीका, ७. सिद्ध भक्ति टीका, ८. सिद्धचक्राष्टक टीका, ९. ज्येष्ठ जिनवर कथा, १०. रविव्रत कथा, ११. सप्तपरम स्थान कथा, १२. मुकुट सप्तमी कथा, १३. अक्षय निधि कथा, १४. षोडश कारण कथा, १५. मेघ माला व्रत कथा, १७. चन्दन षष्ठी कथा, १७. लब्धि विधान कथा, १८. सुन्दर विधान कथा; १९. दशलक्षिणी व्रत कथा, २०. पुष्पांजलि व्रत कथा, २१. आकाशपंचमी कथा, २२. मुक्तावलि व्रत कथा, २३. निर्दुख सप्तमी कथा, २४. सुगन्ध दसमी कथा, २५. श्रवण द्वादशी कथा, २६. रत्नत्रय कथा, २७. अनन्त व्रत कथा, २८. अशोक रोहिणी कथा, २२. तपो लक्षणपंक्ति कथा, ३०. मेरुपंक्ति कथा, ३१. विमान पंक्ति कथा, ३२. पल्लविधान कथा, ३३. श्रीपाल चरित, यशोधर चरित, ३५. औदार्य चिन्तामणि स्वोज्ञवृत्ति युक्त (प्राकृत व्याकरण), श्रुतस्कन्ध पूजा। इसके सिवाय गुजरातीमें कुछ ग्रन्थ हैं।

यह द्रव्यानुयोगविषयक जैनसाहित्यका इतिहास है।

●

नामसूची

लेखक

जन्म : १९०३ ई०

जन्म-स्थान : नहटौर (बिजनौर), उ० प्र०

शिक्षण : स्थानीय पाठशाला तथा स्याद्वाद-म
वाराणसी (उ० प्र०)।

शैक्षणिक उपलब्धियाँ : न्यायतीर्थ (श्वे०
संस्कृत एसोशिएशन, कलकत्ता (प० बंगाल
शास्त्री, माणिकचन्द्र दि० जैन परीक्षाल

अध्यापन : धर्माध्यापक तथा प्राचार्य, स
विद्यालय वाराणसी (१९२७–१९७३)

मौलिक कृतियाँ : जैन साहित्यका इतिहास ३
धर्म, जैन-न्याय, प्रमाण-नय-निक्षेपप्रकाश,
प्रवेशिका, करणानुयोगप्रवेशिका, चरणानुय
भगवान् ऋषभदेव, दक्षिणमें जैन धर्म आ

सम्पादन-अनुवाद कृतियाँ : सोमदेव उपासक
स्वभावप्रकाशकनयनचक्र, तत्त्वार्थसूत्र, न्य
भाग, ? जयधवल आदि।

समाज-सेवा

१. अधिष्ठाता–स्याद्वाद-महाविद्यालय, वा
२. मंत्री–साहित्य-विभाग, दि० जैन संघ,
३. सम्पादक–जैन सन्देश, मथुरा।
४. सम्पादक–मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला
ज्ञानपीठ दिल्ली।
५. सम्पादक–जीवराज जैन ग्रंथमाला, सो
६. पूर्व अध्यक्ष, भा० दि० जैन विद्वत्परि

सम्मान : (क) सिद्धान्ताचार्यकी मानद उपा
जैन शोध संस्थान आरा (बिह
(ख) अन्य अनेकों स्थानों पर स्था
द्वारा सम्मानित, मानपत्रादि प्र